आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि समारोह-वर्ष के अंतर्गत
प्रकाशित
पण्डित सदासुख ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प

सहजसुख-साधन

लेखक :
ब्रह्मचारी श्री सीतलप्रसादजी

सम्पादक :
निहालचन्द पाण्ड्या
एम.ए., एलएल बी.
अजमेर

प्रकाशक :
वीतराग-विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
डॉ० नन्दलाल मार्ग (पुरानी मंडी)
अजमेर-३०५ ००१

प्रकाशकीय

विद्वद्वर्य पडित सदासुखदासजी कासलीवाल की अन्तिम धर्मस्थली प्रसिद्ध ऐतिहासिक जैन नगरी अजमेर के मूल निवासी अध्यात्मरसिक सेठ श्री पूनमचन्दजी लुहाडिया के हृदय में बहुत समय से यह अभिलाषा थी कि भारतवर्ष के कोने-कोने में विशेषतया अजमेर व उसके आसपास के क्षेत्रों में जैनतत्त्व का प्रचार-प्रसार तीव्र गति से हो, जिससे सभी प्राणी वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान कर सुखी हो सके – इस पवित्र भावना को लेकर उन्होंने दिनाक १६ अप्रेल १९८५ ई० को अजमेर स्थित 'बाल-भवन' नामक अपनी लाखों रुपयों की अचल सम्पत्ति 'वीतराग-विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट अजमेर' के नाम परिवर्तित कर दी।

साथ ही जिनवाणी के प्रचार-प्रसार हेतु आपने 'पंडित सदासुख ग्रन्थमाला' की स्थापना करके सत्साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में एक और महान कदम उठाया। इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत फरवरी १९८६ ई० में प्रथम पुष्प के रूप में एक महान उपयोगी संकलन 'मृत्यु-महोत्सव' (५००० प्रतियां) का प्रकाशन हुवा जो कि वर्त्तमान मे अनुपलब्ध है और जिसके पुनः प्रकाशन की तैयारी चल रही है।

श्रीमद् रायचन्द्र ग्रन्थमाला, आगास द्वारा १९७८ ई० में ब्र० सीतलप्रसादजी द्वारा हिन्दी में लिखित सहजसुख-साधन नामक एक ग्रंथ का गुजराती में प्रकाशन हुआ था। भाई श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया के हाथ में जब यह ग्रंथ आया और उन्होंने उसका स्वाध्याय किया तो उन्हें अत्यन्त उल्लास आया और मन गद्गद् हो गया। 'क्यों न सम्पूर्ण समाज इस महान आध्यात्मिक ग्रंथ का स्वाध्याय कर आत्मकल्याण के मार्ग में प्रवृत्त हो–इस भावना के फलस्वरूप उन्होंने इस ग्रंथ का प्रकाशन कराने का निश्चय किया।

इस संदर्भ में श्री दिगम्बर जैन पंचायत, फुलेरा (राज०) द्वारा सन् १९७१ ई० में हिन्दी में प्रकाशित प्रति प्राप्त हुई और उससे मुद्रण कार्य को

मूर्त रूप दिया। तदन्तर ऐसा विचार आया कि और कोई पुरानी प्रति मिले तो अच्छा रहे। कोशिश करते-करते श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत कालेज, जयपुर में एक प्रति प्राप्त हुई जिसका मुद्रण श्री मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत द्वारा सन् १९३४ ई० में हुआ था। इस प्रकार इस ग्रंथ के दो हिन्दी एवं एक गुजराती संस्करण तो वर्त्तमान जानकारी के अनुसार मुद्रित हुये ही हैं।

प्रस्तुत आध्यात्मिक ग्रंथ की रचना ब्रह्मचारी श्री सीतलप्रसादजी ने १९३४ ई० में अमरावती में की थी। इस ग्रंथ में उन्होंने जैन धर्म के विविध विषयों व मौलिक सिद्धान्तों को पूर्व आचार्यों एवं विद्वानों के द्वारा रचित ग्रंथों का समावेश करते हुये बड़े ही भावपूर्ण ढंग से सरल व सुबोध शैली में प्रस्तुत किया है; तथा अपनी अगाध साधना के परिणामस्वरूप निम्न ३१ छोटे-बड़े दिगम्बर जैन ग्रंथों का सार इस ग्रंथ में भर दिया है :-

१. समयसार
२. समयसार नाटक
३. प्रवचनसार
४. पंचास्तिकाय
५. अष्टपाहुड़
६. समयसार कलश
७. द्वादश अनुप्रेक्षा
८. भगवती आराधना
९. सर्वार्थसिद्धि
१०. समाधि शतक
११. आत्मानुशासन
१२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
१३. पद्मनंदि पञ्चविंशति
१४. ज्ञानार्णव
१५. स्वयंभूस्तोत्र
१६. इष्टोपदेश
१७. रत्नकरंड श्रावकाचार
१८. मूलाचार
१९. तत्त्वज्ञानतरंगिणी
२०. तत्त्वानुशासन
२१. योगसार
२२. सारसमुच्चय
२३. तत्त्वार्थसार
२४. तत्त्वसार
२५. बनारसी विलास
२६. द्यानत विलास
२७. ब्रह्म विलास
२८. पात्रकेसरीस्तोत्र
२९. वैराग्य मणिमाला
३०. सामायिक पाठ
३१. तत्त्व भावना

ऐसे परम हितकारी ग्रन्थ को पंडित सदासुख ग्रन्थमाला के द्वितीय पुष्प के रूप में प्रकाशित करते हुये हमें अपार हर्ष हो रहा है।

१९३४ ई० में सूरत में मुद्रित प्रतिलिपि में ब्रह्मचारीजी द्वारा लिखित भूमिका भी छपी हुई है। उस भूमिका को उपयोगी जानकर प्रस्तुत ग्रंथ में उसको प्रकाशित किया गया है, जिससे पाठकगण इस ग्रंथ की महिमा स्वयं ब्रह्मचारीजी के शब्दों में भी जान सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त अध्यात्मप्रवक्ता डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल, जयपुर ने अपना अमूल्य समय देकर प्रस्तुत ग्रंथ की मार्मिक प्रस्तावना लिखी है, उसके लिये हम उनके हृदय से आभारी हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन में श्रीमान् निहालचंद जी पाण्ड्या, एम. ए., एलएल.बी., अजमेर एवम् श्री राजमलजी जैन, जयपुर वालों ने अपना अमूल्य समय प्रदान किया है। अतः हम उनके भी अत्यन्त आभारी हैं।

इस वर्ष फाल्गुन की अष्टाह्निका महापर्व के अवसर पर ट्रस्ट द्वारा श्री पंचपरमेष्ठी विधान का आयोजन किया गया जिसमें ब्र० जतीशचन्दजी शास्त्री, इन्दौर वालों की प्रेरणा से प्रस्तुत ग्रंथ की कीमत कम करने में जिन धर्मप्रेमी महानुभावों ने आर्थिक रूप से अपना सहयोग प्रदान किया उनके भी हम हृदय से आभारी हैं तथा उनकी सूची इस पुस्तक में अलग से दी गई है।

यह ग्रन्थ लगभग ६० वर्ष पहले का लिखित है। उस वक्त की व आज की भाषा में काफी अन्तर होना स्वाभाविक है। परन्तु हमने ब्रह्मचारीजी की मूलभाषा में कोई परिवर्तन नहीं किया है, बड़े पैरों की जगह छोटे पैरे अवश्य किये हैं। सैटिंग व गेटअप में सुन्दरता लाने की इच्छा थी, परन्तु प्रूफरीडर महोदय से वांछित सहयोग नहीं मिला व इसी कारण से अशुद्धियाँ भी विशेष रहीं। फिर भी जो कुछ बन पड़ा वह विज्ञ पाठकों के सामने है।

सभी मुमुक्षु बन्धु इस ग्रन्थ के स्वाध्याय द्वारा शुद्धात्मा की साधना से सम्यक्त्वरूपी रत्न को प्राप्त कर साक्षात् सिद्धदशा को प्राप्त करें, इस पवित्र भावना के साथ,

पं० ज्ञानचन्द जैन
मन्त्री
वीतराग-विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
अजमेर (राज०)

प्रस्तावना

प्रस्तुत कृति 'सहजसुख-साधन' एक ऐसी अनुपम कृति है, जिसमें अध्यात्मरसिक ब्र० सीतलप्रसादजी ने ३१ आध्यात्मिक ग्रन्थों के महत्त्वपूर्ण मार्मिक अंशों को विषयवार संकलित कर दिया है, जिससे अध्यात्मप्रेमी पाठकों को परम हितकारी वह सब सामग्री एक स्थान पर उपलब्ध हो गई है, जो उन्हे इन ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त ही उपलब्ध हो पाती।

नौ अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में भूमिका के रूप में दश-पांच पृष्ठ लिखकर आत्मानुभवी आचार्यों एव आध्यात्मिक विद्वानों की वाणी संकलित कर दी गई है। प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में लिखे गये आचार्यों के छन्दों का सरल भाषा एवं सुबोध शैली में संक्षेप मे अर्थ दिया गया है, पर आध्यात्मिक विद्वानो के हिन्दी पद्यों का अर्थ लिखने की आवश्यकता नही समझी गई है।

ब्र० सीतलप्रसादजी की भावना आचार्यों की मार्मिक वाणी को जन-जन तक पहुँचाने की ही थी। अपनी भावना को व्यक्त करते हुए वे प्रशस्ति में लिखते है :-

> "सहजसुख-साधन निमित्त, जैन रिषिन के वाक्य।
> जो संग्रह हो जांय तो, पढ़ें भविक ते बाक्य ॥ ३९ ॥
> ऐसी इच्छा पायके, लिखा ग्रन्थ यह सार।
> भूल-चूक कछु होय तो विद्वत् लेहु सम्भार ॥ ४० ॥

दिगम्बर ऋषियों के वाक्य सहजानन्द के साधन होते है; अतः ग्रन्थ का नाम 'सहजसुख-साधन' सार्थक ही है।

सहजसुख अर्थात् सहजानन्द प्रत्येक आत्मा का सहज स्वभाव है। अपने इस सहज स्वभाव को भूलकर यह भगवान आत्मा सुख की आकांक्षा से पर की ओर देखता है, अनेक प्रकार के भोगो को भोगता है; फिर भी इसकी आकुलता कम नहीं होती; क्योंकि सच्चा सुख तो स्वयं में ही है, निज भगवान आत्मा में ही है।

भगवान आत्मा के इस सहजानन्द स्वभाव का भान भवदुःख से सतप्त प्राणियों को सहज भाव से हो—इस भावना से लिखे गए इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में भी भगवान आत्मा के सहजानन्द स्वभाव का स्मरण किया गया है और उस सहजानन्द स्वभाव को ही सभी प्रकार के भ्रमों का निवारण करनेवाला, परमशरण एवं परमशान्ति का दातार बताया गया है। तथा जिन्हें इस सहज सुखामृत के चखने का अत्यन्त उत्साह है, उनके

हित के लिए इस ग्रन्थ के लिखने का संकल्प व्यक्त किया गया है; जो उन्हींके शब्दों में इसप्रकार है :-

सहजानन्द स्वभाव को, सुमरण कर बहु बार ।
भाव द्रव्य से नमन कर, लहूँ सुबुद्धि उदार ।। १ ।।
आत्मधर्म जग सार है, यही कर्म क्षयकार ।
यही सहज सुखकार है, यही भर्म हरतार ।। ८ ।।
यही धर्म उत्तम महा, यही शरण धरतार ।
नमन करूँ इस धर्म को, सुख शान्ती दातार ।। ९ ।।
सहजानन्द सुधा महा, जे चाखन उत्साह ।
तिन हित साधन सार यह, लिखूं तत्त्व अवगाह ।। १० ।।

पुण्योदय से प्राप्त होने वाले सांसारिक सुख वस्तुतः दुःख ही हैं; क्योंकि वे पराधीन हैं, विषम हैं, बाधासहित हैं, और पचेन्द्रियों के भोगों से उत्पन्न होने के कारण पापबध के कारण हैं । इस बात को पहले ही अध्याय में अनेक तर्क एवं युक्तियों से सिद्ध किया गया है, तदर्थ चतुर्गति के दुःखों का विशद वर्णन किया गया है । ससार-सुखों को दुःख सिद्ध करनेवाले अनेकानेक आचार्य वचनों का प्रथम अध्याय में ही सकलन कर पाठकों के हृदय को कोमल बनाकर विषयों से अरुचि एवं सहज सुखस्वरूप भगवान आत्मा की सच्ची रुचि जागृत कराने का सफल प्रयास किया गया है ।

अज्ञानी जीवों की सर्वाधिक मूर्च्छा शरीर में होती है । यही कारण है कि प्रथम अध्याय में चतुर्गति दु खो का वर्णन करने के उपरान्त दूसरे अध्याय में शरीर के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है ।

सम्पूर्ण परपदार्थों में शरीर ही एक ऐसा परपदार्थ है, जो इस भगवान आत्मा से एकक्षेत्रावगाह रूप से सम्बन्धित है, जन्म से लेकर मरण तक इसका साथ रहता है; इसकारण सहज रूप मे इसमे भिन्नता भासित नहीं होती । माता-पिता, भाई-बहिन व स्त्री-पुत्रादि भी इसी के माध्यम से अपने लगते हैं । यदि एकबार इस शरीर का एकत्व-ममत्व टूट जाय तो स्त्री-पुत्रादि से भी ममत्व टूटते देर न लगेगी । शरीर से एकत्व-ममत्व तोड़ने का एक ही उपाय है कि इसके स्वरूप पर गहराई से विचार किया जाये; इसका भगवान आत्मा से किसप्रकार का सम्बन्ध है—इस बात पर चिन्तन किया जाय; साथ ही निज भगवान आत्मा के सच्चे स्वरूप की पहिचान भी आवश्यक है । यदि यह भगवान आत्मा एक बार स्वय को सही रूप में जान ले, स्वयं को अच्छी तरह पहिचान ले तो फिर आत्मा मे एकत्व हुए बिना नहीं रहेगा और शरीर से भिन्नता भी भासित हुए बिना नहीं रहेगा ।

यही कारण है कि चतुर्गति दुःखों के वर्णन के उपरान्त शरीर के स्वरूप पर गहराई से मंथन किया गया है ।

देह और आत्मा के सम्बन्ध को वस्त्र और देह के उदाहरण से ब्रह्मविलास में भैया भगवतीदासजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं :—

लाल वस्त्र पहरे सों देह तो न लाल होय,
लाल देह भये हंस लाल तो न मानिये ।
वस्त्र के पुरान भये देह न पुरान होय,
देह के पुराने जीव जीरन न जानिये ।
वस्त्र के नाश कछू देह कौ न नाश होय,
देह के नाश हुए नाश न बखानिये ।
देह दर्व पुदगल कि चिदानन्द ज्ञानमई,
दोउ भिन्न-भिन्न रूप 'भैया' उर आनिये ।

इसके उपरान्त तीसरे अध्याय में भोगों के स्वरूप का विचार किया गया है; क्योंकि अनादिकाल से यह आत्मा इन्द्रियों के भोगों में ही लिप्त रहा है, उनमें ही सुख मानता रहा है । जबतक भोगों की निस्सारता ध्यान में न आवेगी, तबतक उनसे विरक्ति सम्भव नहीं है । भोगों की असारता पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए ब्र० सीतलप्रसादजी इसी अध्याय में लिखते हैं –

"इन्द्रियों के भोग रोग के समान हैं, असार हैं । जैसे केले के खम्भे को छीला जावे तो कहीं भी गूदा या सार नहीं मिलेगा; वैसे इन्द्रियों के भोगो से कभी भी कोई सार फल नहीं निकलता है । इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा से कषाय की अधिकता होती है, लोलुपता बढ़ती है, हिंसात्मक भाव हो जाते हैं, धर्मभाव से च्युति हो जाती है; अतएव पापकर्म का भी बंध होता है ।"

इसप्रकार आरम्भ के तीन अध्यायों में संसार, शरीर और भोगों का स्वरूप दिखाकर, इनमे विरक्ति उत्पन्न कराकर, चौथे अध्याय में अतीन्द्रिय सहजसुख की चर्चा आरम्भ की गई है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, मूलत: पठनीय है । उसका प्रारम्भिक अंश इसप्रकार है :—

"गत अध्याय में यह भले प्रकार दिखा दिया है कि जिस सुख के पीछे संसारी अज्ञानी जीव बावले हो रहे हैं वह सुख सुख-सा भासता है, परन्तु वह सच्चा सुख नहीं है । इन्द्रियों के भोग द्वारा प्राप्त सुख तृष्णा के रोग का क्षणिक उपाय इतना असार है कि उस सुख के भोगते-भोगते तृष्णा का रोग अधिक-अधिक बढ़ता जाता है । भ्रम से, भूल से, अज्ञान से जैसे रस्सी में सर्प की बुद्धि हो, पानी में चन्द्र की परछाई को देखकर कोई बालक चन्द्रमा मान ले, सिंह कुए में अपने प्रतिबिम्ब को देख सच्चा सिंह जान ले, पक्षी दर्पण में अपने को ही देख दूसरा पक्षी मान ले, पित्त ज्वरवाला मीठे को कटुक जान ले, मदिरा से उन्मत्त पर की स्त्री को स्वस्त्री मान ले, इसी तरह मोहांध प्राणी ने विषय-सुख को सच्चा सुख मान लिया है ।

सच्चा सुख स्वाधीन है, सहज है, निराकुल है, समभाव मय है, अपना ही स्वभाव है। जैसे इक्षु का स्वभाव मीठा है, नीम का स्वभाव कड़वा है, इमली का स्वभाव खट्टा है, जल का स्वभाव ठण्डा है, अग्नि का स्वभाव गर्म है, चांदी का स्वभाव श्वेत है, सुवर्ण का स्वभाव पीला है, स्फटिक मणि का स्वभाव निर्मल है, कोयले का स्वभाव काला है, खड़ी का स्वभाव श्वेत है, सूर्य का स्वभाव तेजस्वी है, चन्द्र का स्वभाव शीत उद्योत है, दर्पण का स्वभाव स्वच्छ है, अमृत का स्वभाव मिष्ठ है; वैसे अपने आत्मा का स्वभाव सुख है।

जैसे लवण में सर्वाङ्ग खारपना, मिश्री में सर्वाङ्ग मिष्ठपना है, जल में सर्वाङ्ग द्रवपना है, अग्नि में सर्वाङ्ग उष्णपना है, चन्द्रमा में सर्वाङ्ग शीतलता है, सूर्य में ताप है, स्फटिक मे सर्वाङ्ग निर्मलता है, गोरस में सर्वाङ्ग चिक्कनता है, बालू में सर्वाङ्ग कठोरता है, लोहे में सर्वांग भारीपन है, रूई मे सर्वांग हल्कापन है, इत्र में सर्वांग सुगंध है, गुलाब के फूल में सर्वांग सुवास है, आकाश में सर्वांग निर्मलता है; वैसे आत्मा में सर्वांग सुख है। सुख आत्मा का अविनाशी गुण है। आत्मा गुणों में सर्वांग तादात्म्यरूप है।

जैसे लवण की कणिका जिह्वा द्वारा उपयोग में लवणपने का स्वादबोध कराती है, मिश्री की कणिका उपयोग में मिष्ठपने का स्वाद जनाती है; वैसे ही आत्मा के स्वभाव का एक समय मात्र भी अनुभव सहजसुख का ज्ञान कराता है। परमात्मा सहजसुख की पूर्ण प्रगटता मे ही परमानन्दमय अनन्त सुखी है. अनन्ते सिद्ध इसी सहजसुख के स्वाद में ऐसे मगन हैं, जैसे भ्रमर कमल पुष्प की गन्ध में आसक्त हो जाता है। सर्व ही अरहंत केवली इसी सहजसुख का स्वाद लेते हुए पाँच इन्द्रिय और मन के रहते हुए भी उनकी ओर नहीं झुकते हैं, इस आनन्दमयी अमृत के रसपान को एक क्षण को नहीं त्यागते हैं। सर्व ही साधु इस ही रस के रसिक हो सहजसुख के स्वाद के लिये मन को स्थिर करने के हेतु परिग्रह का त्याग कर प्राकृतिक एकान्त वन, उपवन, पर्वत, कंदरा, नदीतट का सेवन करते हैं, जगत के प्रपच मे, आरम्भपरिग्रह से मुह मोड, पाच इन्द्रियों की चाह की दाह को शमन कर, परम रुचि से आत्मिक स्वभाव में प्रवेश करके सहजसुख का पान करते हैं, तथा इसी सुख में मगन होकर वीतरागता की तीव्र ज्वाला से कर्मईंधन को भस्म करते हैं; अपने आत्मा को स्वच्छ करने का सदा साधन करते हैं।

सर्व ही देशव्रती श्रावक पांच अणुव्रतों की सहायता से संतोषी रहते हुए इसी सहजसुखामृत के पान के लिये प्रातः मध्याह्न तथा सायंकाल यथासम्भव सर्व से नाता तोड़, जगत प्रपंच से मुंह मोड़, एकान्त में बैठ मोह की डोर को तोड़, बड़े भाव से आत्मा के उपवन में प्रवेश करते हुए सहजसुख का भोग करते हुए अपने जन्म को कृतार्थ मानते हैं। सर्व ही सम्यग्दृष्टि अविरति भाव के धारी होते हुए भी सर्व जगप्रपंच से उदासीन रहते है, गृहस्थ में रहते हुए भी इन्द्रियसुख को नीरस, असुख व रागवर्द्धक जानते हुए, भेद-विज्ञान से अपने आत्मा के स्वभाव को आत्मामय यथार्थ पहचानते हुए, आत्मा में पर

के स्वभाव को लेशमात्र भी संयोग न करते हुए, अपने को शुद्ध सिद्धसम अनुभव करते हुए, इसी सहजसुख का स्वाद लेते हुए अपने को कृतार्थ मानते हैं ।

सहजसुख अपने आत्मा का अमिट अटूट अक्षय अनन्त भण्डार है । अनन्तकाल तक भी इसका भोग किया जावे तो भी परमाणु मात्र भी कम नहीं होता, जैसा का तैसा ही बना रहता है । कोई भी बलवती शक्ति ऐसी नहीं है जो इस सुख को हरण कर सके, आत्मा गुणी से इस गुण को पृथक् कर सके, आत्मा को सहजसुख से रहित कर सके । हर एक आत्मा सहजसुख समुद्र है ।"[1]

इस प्रकार चौथे अध्याय में अतीन्द्रिय सहजसुख का विस्तार से निरूपण कर पाँचवें अध्याय में भगवान आत्मा के एकत्व पर प्रकाश डाला गया है और छठवें अध्याय में सहजसुख के साधन रूप में आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान एवं आचरण को स्थापित किया गया है; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को सहजसुख का साधन बताया गया है ।

यही कारण है कि आगे सातवें, आठवें एवं नौवें अध्यायों में क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का विस्तार से निरूपण किया गया है । आचार्यों एवं विद्वानों के तत्सम्बन्धी आवश्यक छन्द तो प्रत्येक अध्याय में दिये ही गये हैं ।

इसप्रकार इस सहजसुख-साधन नामक ग्रन्थ में वह सब-कुछ सग्रहीत हो गया है, जो एक आत्मार्थी के लिये आवश्यक है । वैराग्यरस सरोवर इस कृति में सर्वत्र ही आत्महित की प्रेरणा दी गई है । अतः यह ग्रन्थ सहज ही सर्वोपयोगी बन गया है । सभी आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयों का यह पावन कर्त्तव्य है कि इसका स्वयं तो गहराई से स्वाध्याय करें हीं, अन्य भाई-बहिनों को भी इसके स्वाध्याय की प्रेरणा दें ।

अध्यात्मप्रेमी बन्धुवर श्री पूनमचन्दजी लुहाडिया ने इसके प्रकाशन की व्यवस्था कर एक बहुत ही अच्छा कार्य किया है । आशा है भविष्य में भी पण्डित सदासुख ग्रन्थमाला से इसीप्रकार के आध्यात्मिक ग्रन्थों का प्रकाशन कर मुमुक्षु भाइयों तक पहुँचाते रहेंगे ।

सभी आत्मार्थी मुमुक्षु भाई एवं बहिन इस ग्रन्थ का गहराई से अध्ययन कर अपने आत्मा में ही विद्यमान सहजसुख को प्राप्त कर अनन्त सुखी हों– इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ ।

श्री महावीर जयन्ती
१८ अप्रेल, १९८९ ई०

–(डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल
जयपुर

१. प्रस्तुत ग्रन्थ : पृष्ठ १००

भूमिका

मानव पर्याय एक दिन बदल जरूर जाती है, परन्तु पर्यायधारी द्रव्य नित्य बना रहता है। यह मानव पर्याय जीव और पुद्गल द्रव्यसे रचित है। दोनोकी अनादि संगति संसारमें होरही है। दोनोंमें वैभाविक परिणमन शक्ति है। इस कारण कार्माण शरीरमें बद्ध कर्मोंके विपाकसे आत्माकी राग द्वेष मोह परिणति होती है। इस अशुद्ध भावका निमित्त पाकर पुन: कार्माण शरीरमें कर्म पुद्गलोंका कर्मरूप बन्ध होता है। बीज वृक्षवत् एक दूसरेके विभाव परिणमनमें निमित्त होरहे हैं। मिथ्यात्व और अनंतानुबधी कषायके उदयसे यह जीव पुद्गलके मोहमें उन्मत्त होकर अपने असल जीव द्रव्यको भूला हुआ है। जिस-जिस पर्यायको यह जीव धारता है उसीमें तन्मय होजाता है और तद्रूप ही अपनेको मान लेता है। रातदिन इन्द्रिय सुखकी तृष्णामें आकुल होकर उसके शमनका उपाय करता है। परन्तु सत्य उपायको न पाकर तृष्णाका रोग अधिक-अधिक बढ़ता चला जाता है।

पुद्गलकी संगतिसे जीवको भी उसी तरह अनेक दु:ख व त्रास भोगने पड़ते है जैसे लोहेकी संगति से अग्नि पीटी जाती है। इस कर्म पुद्गलकी संगतिसे जीव उसी तरह पराधीन है जैसे पिंजरेमें बद पक्षी पराधीन है। सच्चा सहजसुख आत्माका गुण है। इसकी श्रद्धा बिना यह मूढ प्राणी विषय सुखका लोलुपी होकर भव भ्रमणमें सकट उठाता हुआ पराधीनताकी बेडीमें जकडा हुआ महान विपत्तिमें गृसित है। यदि उस प्राणीको अपने सहजसुखकी श्रद्धा हो जावे और यह ज्ञान होजावे कि वह महजसुख मेरे ही पास है तथा मुझे मेरे ही द्वारा मिल सकता है तब इसको स्वाधीन होनेका मार्ग मिल जावे। रागद्वेष मोह जब पराधीनताको आमंत्रण करते हैं तब वैराग्यपूर्ण आत्मज्ञान पराधीनता काटकर आत्माको स्वाधीन करता है।

जिस चिकनईसे बंध होता है उस चिकनईके सूखनेसे ही बंध कटता है। प्राचीन कालमें श्री रिषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभु, सुपार्श्व, चंद्रप्रभु, पुष्पदंत, सीतल, श्रेयांस, वासपूज्य, बिमल, अनंत, धर्म, शांति, कुंथु, अरह, मल्लि, मुनिसुव्रत. नमि, नेमि, पार्श्व, महावीर चौबीस तीर्थंकर होगए हैं। इनके मध्यमें अनगिनती महात्मा होगए हैं। श्री महावीर पीछे श्री गौतम, सुधर्म, जंबू तीन केवलज्ञानी हो गए हैं। इन सबोंने आत्माको पहचाना और जाना था कि आत्मा स्वभावसे शुद्ध ज्ञानदर्शन सुखवीर्यमय परमात्मा रूप ही है।

यह आत्मा भावकर्म रागद्वेषादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादिसे भिन्न है। इसी ज्ञानको सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान करके उन महात्माओंने इसी आत्माके शुद्ध स्वभावका ध्यानरूप सम्यक्चारित्र पाला। इसी रत्नत्रयमयी आत्म-समाधिके द्वारा अपनेको बन्धरहित मुक्त करके परमात्मपदमें स्थापित किया। उन्हीं तीर्थंकरादि महान् पुरुषोंके दिखाये हुये मार्गपर उनके पश्चात् अनेक महात्मा चले और अनेकोने उसी सार उपदेशको ग्रंथों के भीतर स्थापित किया।

अध्यात्ममय निश्चय धर्मके ग्रंथ निर्माताओंमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य का नाम अति प्रसिद्ध है। उनके निर्मापित पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, अष्टपाहुड़ आदिमें श्री समयसार एक अपूर्व ग्रंथ है, जो आत्माको आत्मारूप परसे भिन्न दिखानेको दर्पणके समान है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यके तीनों प्राभृतोके टीकाकार श्री अमृतचन्द्र आचार्य बड़े ही आत्मज्ञानी व न्यायपूर्ण सुन्दर लेखक हो गए हैं। श्री समयसारके अर्थको खोलनेवाले जयपुर निवासी पंडित जयचन्दजी होगए हैं। उनको आत्मख्याति नाम टीका आत्मतत्त्व झलकानेको अपूर्व उपकार करती है। कारंजा (बरार) निवासी श्रीसेनगणके विद्वान् भट्टारक श्री वीरसेन स्वामी समयसारके व्याख्यान करनेको एक अद्वितीय महात्मा हैं। उनके पास एक वर्षाकाल बिताकर मैंने समयसार आत्मख्यातिका वांचन किया था। श्री वीरसेनस्वामीके अर्थ प्रकाश से मुझ अल्प बुद्धिको विशेष लाभ पहुचा था। उसीके आश्रयसे और भी जैन साहित्यके मनन करनेसे तथा श्रीमद् राजचन्द्रजीके मुख्य शिष्य श्री० लघुराजजी महाराजकी पुनः प्रेरणासे इस ग्रन्थके लेखनमें इस बात का उद्यम किया गया है कि श्री तीर्थंकर प्रणीत जिन धर्मका बोध दर्शाया जावे व अनेक आचार्यों के वाक्योंका संग्रह कर दिया जावे जिससे पाठकगण स्वाधीनताकी कुंजीको पाकर अपने ही अज्ञानके कपाटोंको खोलकर अपनेही भीतर परमात्मदेवका दर्शन कर सकें।

जो भव्य जीव इस ग्रंथको आदिसे अंततक पढ़कर फिर उन ग्रंथोंका पठन करेंगे जिनके वाक्योंका इसमें संग्रह है तो पाठकोंको विशेष आत्मलाभ होगा। इसमें यथासम्भव जिनवाणीका रहस्य समझकर ही लिखा गया है। तोभी कहीं अज्ञान व प्रमादसे कोई भूल हो तो विद्वज्जन मुझे अल्पश्रुत जानकर क्षमा करें व भूल ठीक करलें। मेरी भावना है कि यह ग्रंथ सर्वजन पढ़कर आत्मज्ञानको पाकर सुखी हों।

अमरावती
आश्विन सुदी ८ वीर सं० २४६०
ता० १६-१०-१९३४

जैन धर्मप्रेमी—
ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद

प्रस्तुत ग्रंथ का मूल्य कम करने में सहायक दातारों की नामावली

		रु०
1.	श्री माणकचन्दजी लुहाड़िया, दिल्ली	1101
2.	,, नरेशचन्दजी लुहाड़िया, दिल्ली	1001
3.	,, विनयचन्दजी लुहाड़िया, बम्बई	1001
4.	श्रीमती चन्द्रप्रभादेवी धर्मपत्नी श्री पूनमचन्दजी लुहाड़िया, अजमेर	1001
5.	,, आशा जैन धर्मपत्नी श्री नरेशचन्दजी लुहाड़िया, दिल्ली	501
6.	,, मौनी जैन धर्मपत्नी श्री विनयचन्दजी लुहाड़िया, बम्बई	501
7	श्री लेखचन्दजी धर्मचन्दजी गदिया, अजमेर	501
8.	,, माणकचन्दजी पाण्ड्या, अजमेर	501
9.	,, निहालचन्दजी पाण्ड्या, अजमेर	501
10.	,, जयकुमारजी छाबड़ा, सीकर	501
11	,, कैलाशचन्दजी नरेन्द्रकुमारजी जैन, अजमेर	501
12.	,, नेमीचन्दजी ताराचन्दजी बडजात्या, अजमेर	251
13.	,, कुन्दकुन्द मूलचन्द फेमिली चेरिटेबल ट्रस्ट, अजमेर	221
14.	श्रीमती भंवरीदेवी कासलीवाल, अजमेर	211
15.	श्री शिखरचन्दजी तिलोकचन्दजी मोती, अजमेर	201
16.	,, चिरंजीलालजी खुशालचन्दजी गंगवाल, अजमेर	201
17.	,, भागचन्दजी महावीरचन्दजी भाभरी, अजमेर	201
18.	श्रीमती लादीबाई कासलीवाल, अजमेर	201
19.	गुप्तदान ह० श्री राजमलजी बडजात्या, अजमेर	200
20.	श्री प्रेमचन्दजी जैन, महावीर टेण्ट हाउस, अजमेर	151
21.	,, हीराचन्दजी बोहरा अजमेर वाले, कलकत्ता	151
22.	,, भंवरलालजी पदमचन्दजी गंगवाल, अजमेर	101
23.	,, भागचन्दजी बज, अजमेर	101
24.	,, सुमेरचन्दजी जैन, अजमेर	101
25.	,, ब्र० जतीशभाई, उदासीन आश्रम, इन्दौर	101
26.	,, सुजानमलजी गदिया, अजमेर	101
27.	,, भंवरलालजी पाटनी, अजमेर	101
28.	,, राजमलजी सुरेशचन्दजी बडजात्या, अजमेर	101
29.	,, रूपचन्दजी गदिया, अजमेर	101
30.	,, मास्टर मनोहरलालजी जैन, अजमेर	101

		रु०
31.	श्री हरकचन्दजी सेठी, सम्पादक 'सरेराह', अजमेर	101
32.	जैन युवा फैडरेशन, अजमेर शाखा	101
33.	श्री धनराजजी पाटोदी, अजमेर	101
34.	,, राजेन्द्रप्रकाशजी महावीरप्रकाशजी, अजमेर	101
35.	,, बकुल जैन पारमार्थिक ट्रस्ट, अजमेर	101
36.	श्रीमती शारदादेवी जैन, अजमेर	101
37.	,, सूरजबाई पाण्ड्या धर्मपत्नी श्री वीरचन्दजी पाण्ड्या, अजमेर	101
38.	,, कचनबाई पाण्ड्या धर्मपत्नी श्री माणकचन्दजी पाण्ड्या, अजमेर	101
39.	,, लक्ष्मीदेवी पाण्ड्या धर्मपत्नी श्री निहालचन्दजी पाण्ड्या, अजमेर	101
40.	,, लतादेवी दोसी धर्मपत्नी श्री नवलकुमारजी दोसी, अजमेर	101
41.	,, तीजादेवी धर्मपत्नी श्री सुगनचन्दजी बड़जात्या, फुलेरा	101
42.	,, तारादेवी धर्मपत्नी श्री गम्भीरमलजी सोनी, फुलेरा	101
43.	श्री बिरदीचन्दजी वैद, अजमेर	51
	योग	11,772

शुद्धि-पत्र

कृपया ग्रन्थ का स्वाध्याय प्रारम्भ करने से पूर्व निम्न अशुद्धियों को ठीक कर लेने का कष्ट करें :–

पृष्ठ सं.	पंक्ति सं.	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ सं.	पंक्ति सं.	अशुद्ध	शुद्ध
१३	५	दर्शालय	वर्षाकाल	२८८	२५	त्याग	त्यागी
१८	४	अनुभाव	अनुभाग	२६७	२१	तसरी	तीसरी
१६	२७	भावे	भावो	३१४	१६	सूक्ष्मता	सूक्ष्म तथा
३२	१४	वाडवानल	बड़वानल	३१६	२४	मैं तो इस	मैं तो
३६	१६	प	न	३३०	२१	उकनो	उनको
३६	२५	रुद्ध	वृद्ध	३५८	२७	माववो	मानवो
६४	२४	अंग	अग	३७६	२४	बोग्य	योग्य
१३६	१७	ह	हू	३८२	१६	उकसा	एकसा
१३८	३	बहमें	भव मे	४१०	११	प्रकार	प्रकाश
१५३	१६	पपुंसक	नपुंसक	४२१	१६	कनेक	अनेक
१६६	७	परमात्मा हूँ	परमात्मा है	४५१	२६	बताना	बढ़ाना
२०५	२३	ल6	लू	४५३	४	मे कमी	कभी
२४२	१५	कर्मनत	कर्मगत	४५३	४	मे भी कमी	भी कभी
२४३	अंतिम	पतिवता	पवित्रता	४७२	अतिम	जिससे	जिसने
२४८	१३	पतमात्मा	परमात्मा	४८६	६	भावक	भाव का
२६१	१६	जिनभाव	निजभाव	४६८	४	समाधिध्य	समाधिमध्य
२८१	१६	संकुचिन	संकुचित	५०४	२५	विक्रत	विक्रम

विषय-सूची

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठवाँ अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नौवाँ अध्याय

सहजसुख-साधन

दोहा

सहजानंद स्वभाव को, सुमरण कर बहु बार ।
भाव-द्रव्य से नमन कर, लहूँ सुबुद्धि उदार ।।१।।

श्री जिनेन्द्र ऋषभेश से, वीर धीर पर्यन्त ।
वर्तमान चौबीस जिन, नमहुँ परम गुणवन्त ।।२।।

सिद्ध शुद्ध आतम विमल, परमानंद विकास ।
नमहुँ भाव निज शुद्ध कर, होय आतम हुल्लास ।।३।।

श्री गुरु आचारज गुणी, साधु संघ प्रतिपाल ।
निजाराम के रमण से, पायो ज्ञान विशाल ।।४।।

उपाध्याय श्रुत के धनी, ज्ञानदान कर्त्तार ।
अध्यातम सत ज्ञान से, किये भव्य उद्धार ।।५।।

साधु साधते आपको, निज अनुभव पथ लीन ।
कर्म कलंक मिटाय के, रहें सदा स्वाधीन ।।६।।

तीनों पद धर गुरुनि को, बार-बार सिर नाय ।
जिनवाणी पावन नमूँ, आत्मतत्त्व दरशाय ।।७।।

आत्मधर्म जग सार है, यही कर्म क्षयकार ।
यही सहज सुखकार है, यही भर्म हरतार ।।८।।

यही धर्म उत्तम महा, यही शरण धरतार ।
नमन करूँ इस धर्म को, सुख-शांति दातार ।।९।।

सहजानन्द सुधा महा, जे चाखन उत्साह ।
तिन हित साधन सार यह, लिखूँ तत्त्व अवगाह ।।१०।।

अध्याय प्रथम

संसार स्वरूप

'संसरणं संसारः परिवर्तनम्' संसार उसको कहते हैं, जहाँ जीव संसरण या भ्रमण करता रहता है, एक अवस्था से दूसरी अवस्था को धारता है, उसको छोड़कर फिर अन्य अवस्था को धारता है। संसार में थिरता नही, ध्रुवता नहीं, निराकुलता नहीं, संसार दुखों का समुद्र है।

शरीर सम्बन्धी दुःख हैं जन्मना, मरना, वृद्ध होना, रोगी होना, अशक्त होना, भूख-प्यास से पीड़ित होना, गर्मी-सर्दी से कष्ट पाना, डाँस-मच्छरादि से पीड़ित होना, बलवानों द्वारा शस्त्रघात सहना आदि। मन सम्बन्धी दुःख हैं इष्ट-वियोग व अनिष्ट-संयोग तथा रोग-पीड़ा से शोकित व खेदित होना, पर की संपत्ति अधिक देखकर ईर्षाभाव से संतापित रहना, बहुत धनादि परिग्रह की प्राप्ति की तृष्णा से आकुलित रहना, अपनी हानि करने वाले पर द्वेष व क्रोध भाव से कष्ट पाना, अपमानकर्त्ता को हानि करने के भाव से पीडित रहना, संताप व कष्ट दातारों से भयभीत रहना, इच्छानुकूल वस्तु न पाकर क्षोभित रहना, आदि।

शारीरिक तथा मानसिक दुःखों से भरा हुआ यह संसाररूपी खारा समुद्र है, जैसे खारे समुद्र से प्यास बुझती नहीं, वैसे संसार के नाशवन्त पदार्थों के भोग से तृष्णा की दाह शमन होती नही। बड़े-बड़े सम्राट भी संसार के प्रपंचजाल से कष्ट पाते हुए अन्त में निराश हो मर जाया करते है।

इस संसार के चार गतिरूपी विभाग हैं। नरकगति, तिर्यञ्चगति, देवगति, मनुष्यगति। इनमें से तिर्यञ्चगति व मनुष्यगति के दुःख तो प्रत्यक्ष प्रगट हैं। नरकगति व देवगति के दुःख यद्यपि प्रगट नही हैं, तथापि आगम के द्वारा श्रीगुरु वचन प्रतीति से जानने योग्य हैं।

नरकगति के दुःख

नरकगति में नारकी जीव दीर्घकाल तक वास करते हुए कभी भी सुख शांति नहीं पाते। निरंतर परस्पर एक-दूसरे से क्रोध करते हुए वचन-प्रहार, शस्त्र-प्रहार, काय-प्रहार आदि से कष्ट देते व सहते रहते हैं। उनकी भूख-प्यास की दाह मिटती नहीं, यद्यपि वे मिट्टी खाते हैं, वेतरणी नदी का खारा जल पीते हैं; परन्तु इससे न क्षुधा शांत होती है, न प्यास बुझती है। शरीर वैक्रियिक होता है, जो छिदने-भिदने पर भी पारे के समान मिल जाता है। वे सदा मरण चाहते हैं, परन्तु वे पूरी आयु भोगे बिना नरकपर्याय छोड़ नही सकते। जैसे यहाँ किसी जेलखाने में दुष्ट बुद्धिधारी चालीस-पचास कैदी एक ही बड़े कमरे में धर दिये जावें, तो वे एक-दूसरे को सतायेंगे, परस्पर कुवचन बोलेंगे, लड़ेंगे, मारेंगे, पीटेंगे और सब ही दुःखी होंगे व घोर कष्ट पाने पर रुदन करेंगे, चिल्लावेंगे तो भी कोई कैदी उनपर दया नहीं करेगा। उलटे वाक्प्रहार के बाणों से उनके मन को छेदित किया जायगा। यही दशा नरक धरा में नारकी जीवों की है।

वे पंचेन्द्रिय सैनी नपुंसक होते है। पांचों इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा रखते है, परन्तु उनके शमन का कोई साधन न पाकर निरन्तर क्षोभित व संतापित रहते हैं। नारकियों के परिणाम बहुत खोटे रहते हैं। उनके अशुभतर कृष्ण, नील व कापोत तीन लेश्यायें होती हैं, ये लेश्यायें बुरे भावो के दृष्टान्त है। सबसे बुरे कृष्ण लेश्या के, मध्यम बुरे नील लेश्या के, जघन्य खोटे कापोत लेश्या के भाव होते हैं। नारकियों में पुद्गलों का स्पर्श, रस, गंध, वर्ण सर्व बहुत अशुभ वेदनाकारी रहता है। भूमि कर्कश दुर्गन्धमयी होती है। हवा छेदक व असह्य चलती है। शरीर उनका बहुत ही कुरूप भयावना होता है, जिसके देखने से ग्लानि आ जावे। अधिक शीत व अधिक उष्णता की घोर वेदना सहनी पड़ती है। इसतरह नरकगति में प्राणी बहुकाल तक तीव्र-पाप के फल से घोर वेदना सहते हैं। जो रौद्रध्यानी हैं, वे अधिकतर नरकगति में जाते है।

दुष्ट परघातक, स्वार्थसाधक, हिंसक परिणामों की प्रणाली को रौद्रध्यान कहते हैं, यह चार प्रकार का है :—

१. हिंसानन्दी :– दूसरे प्राणियों को कष्ट देकर, कष्ट दिलाकर व कष्ट देते हुए जानकर, जिसके मन में बड़ी प्रसन्नता रहती है; वह हिंसानन्दी रौद्रध्यानी है। वह मानवों को रोगी, शोकी, दुःखित, भूखे-प्यासे देखकर भी दया नहीं लाता है; किन्तु उनसे यदि कुछ अपना मतलब निकलता हुआ जानता है, तो उनकी हिंसा करके उनसे धनादि ग्रहण कर लेता है। किसी देश के मानव कारीगरी के द्वारा मेहनत-मजूरी करके अपना पेट भरते हैं, हिंसानन्दी ऐसा उद्योग करता है कि वैसी कारीगरी की वस्तु स्वयं बनाकर व बनवाकर उस देश में सस्ते दाम में विक्रय करता है और उस देश की कारीगरी का सत्यानाश करके व आप धनी होकर अपने को बड़ा चतुर मानता है व बड़ा ही प्रसन्न होता है।

हिंसानन्दी वैद्य दिन-रात यही चाहता है कि प्रजा में रोगों की वृद्धि हो, जिससे मेरा व्यापार चले। वह रोगी को जो शीघ्र अच्छा हो सकता है, देर तक बीमार रख के अपना स्वार्थ साधता है। हिसानन्दी अनाज का व्यापारी यह चाहता है कि अन्न पैदा न हो, दुर्भिक्ष पड़ें, लोगों को अन्न का कष्ट हो, जिसमें मेरा अन्न अच्छे दामों में बिके और मैं धनवान हो जाऊँ। हिसानन्दी वकील यह चाहता है कि भाई-भाई में, माता-पुत्र में, परस्पर झगड़ा हो, मुकदमा चले, मैं खूब धन कमाऊँ व जगत के प्राणी परस्पर मार-पीट करे, फौजदारी चले, मुझे खूब धन मिले। हिंसानन्दी वेश्या यह चाहती है कि धनिक पुत्र अपनी स्त्री से स्नेह न करके मुझसे स्नेह करे और मुझे अपना सब धन दे डाले तथा धर्म-कर्म से शून्य हो जावे। हिंसानन्दी चोर मानवों को गोली से, खड्‌ग से मारकर धन लूट लेते हैं।

हिंसानन्दी देवी-देवताओं के नाम पर पशुओं की निर्दयता से बलि करता हुआ, शिकार में पशुओं का घात करता हुआ व मांसाहार के लिए पशुओं का बध करता हुआ बड़ा ही प्रसन्न होता है। हिसानन्दी व्यापारी पशुओं के ऊपर भारी बोझा लादकर उनको मार-मारकर चलाता है। भूखे-प्यासे होने पर भी अन्नादि नहीं देता है। दुःखी करके अपना काम लेता है। हिंसानन्दी ग्राम में, वन में आग लगाकर प्रसन्न होता है। थोड़ी-सी बात में क्रोधित हो मानवों को मार डालता है। जगत में हिंसा होती हुई सुनकर प्रसन्न होना, हिंसानन्दी का भाव रहता है। हिंसानन्दी व्यर्थ बहुत पानी फेंककर,

भूमि खोदकर, अग्नि जलाकर, वायु को आकुलित कर, वृक्षों को काटकर प्रसन्न होता है। हिंसानन्दी के बड़े क्रूर परिणाम रहते हैं। यदि कोई अपना दोष स्वीकार करके आधीनता में आता है तो भी उस पर क्षमा नहीं करता है और उसे जड़मूल से नाश करके ही प्रसन्नता मानता है।

२. **मृषानंदी :–** जो असत्य बोल करके, असत्य बुलवा करके, असत्य बोला हुआ जान करके व सुन करके प्रसन्न होता है, वह मृषानंदी रौद्रध्यानी है। मृषानंदी धन कमाने के लिये भारी असत्य बोलता है, उसको दया नहीं आती है कि यदि इसे मेरी मायाचारी विदित होगी तो कष्ट पायेगा। मृषानंदी टिकट मास्टर मूर्ख गरीब ग्रामीण स्त्री को असत्य कहकर अधिक दाम लेकर कम दाम का टिकट दे देता है। मृषानंदी झूठा मुकदमा चलाकर, झूठा कागज बनाकर, झूठी गवाही देकर दूसरों को ठगकर बड़ा प्रसन्न होता है। मृषानंदी हिसाब-किताब में भोले ग्राहक से अधिक दाम लेकर असत्य कहकर विश्वास दिलाकर ठग लेता है। मृषानंदी गरीब विधवा के गहनों का डिब्बा रखकर पीछे मुकर जाता है और उसे धोखा देकर अपने को बड़ा ही चतुर मानता है। मृषानंदी मिथ्याधर्म की कल्पनाओं को इसलिए जगत में फैलाता है कि भोले लोग विश्वास करके खूब धन चढ़ायेंगे, जो मुझे मिल जायगा। उसे धर्म के बहाने ठगते हुए कुछ भी दया नहीं आती है।

३. **चौर्यानंदी :–** चोरी करके, चोरी कराके व चोरी हुई जानकर जो प्रसन्न होता है, वह चौर्यानदी रौद्रध्यानी है। चौर्यानंदी अनेक प्रकार के जालों से चाहे जिसका धन बिना विचारे ठग लेता है, छिपके चुरा लेता है, डाका डाल कर ले लेता है, प्राणवध करके ले लेता है, छोटे-छोटे बच्चों को फुसलाकर जंगल में ले जाता है, उनका गहना उतारकर उन्हें मारकर फेंक देता है। चौर्यानंदी चोरों से मित्रता करके चोरी का माल सस्ते दाम में खरीदकर धनिक होकर अपना बड़ा गौरव मानता है, झूठा सिक्का चलाकर, झूठे नोट बनाकर प्रजा को ठगता है। घी में चरबी, तेल व चाहे जो कुछ मिलाकर ठीक घी कहकर बेचता है और धन कमाता है। वह कम तोलकर व कम नापकर धोखा देकर धन एकत्र करने में बड़ा ही राजी रहता है। चौर्यानंदी चोरी करने की शिक्षा देकर अनेकों को चोरी के व्यवसाय में फँसा देता है।

४. परिग्रहानंदी :– जो तृष्णावान होकर अन्याय से दूसरों को कष्ट देकर भी धनादि परिग्रह को एकत्र करने की तीव्र लालसा रखता है, वह परिग्रहानंदी रौद्रध्यानी है। परिग्रहानंदी स्त्रियों के उचित हकों को मारकर व भाईयों के हकों को मारकर लक्ष्मी अपनाना चाहता है। वह दूसरों को अपने से अधिक परिग्रह देखकर निरन्तर यह भावना करता है कि या तो मेरा धन बढ़ जावे या इन दूसरों का धन नष्ट हो जावे। परिग्रहानंदी धर्म सेवन के लिए समय नहीं निकालता है। धर्म के समय में धन के संचय के आरम्भ में लगा रहता है। परिग्रह के लिए भारी से भारी पाप करने में उसको ग्लानि नही आती है। अत्यन्त तृष्णावान होकर जगत के मानवों को व पशुओं को कष्टदायक व्यापार का आरम्भ करता है। वृद्धि होने पर भी धनाशा त्यागता नही। परिग्रह के मोह में अन्धा बना रहता है। परिग्रहानंदी को जब कभी धन की व कुटुम्ब की हानि हो जाती है, तब घोर विलाप करता है। प्राण निकलने के समान उसको कष्ट होता है।

इन चारों ही प्रकार के रौद्रध्यान करनेवाले प्राणियों के भाव अशुभ रहते हैं। उनके कृष्ण, नील, कापोत लेश्या सम्बन्धी भाव पाये जाते है, जिससे वे नरक आयु बांधकर नरक चले जाते हैं वहां भी ये ही तीन लेश्याएं होती हैं। अन्याय-पूर्वक आरम्भ करने का व तीव्र धनादि का मोह प्राणी को नरक में पटक देता है।

तिर्यंचगति के दुःख

तिर्यञ्चगति में छह प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं :–

१. एकेन्द्रिय स्थावर :– जैसे पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक तथा वनस्पतिकायिक; ये सब सचित्तदशा में हवा के द्वारा जीते है व बढ़ते हैं, हवा न मिलने से मर जाते हैं। खान की व खेत की मिट्टी जीव-सहित है। सूखी व जली हुई मिट्टी जीवरहित है। कूप, बावड़ी, नदी का पानी सचित्त है। गर्म किया हुआ, रौंदा हुआ, टकराया हुआ पानी जीवरहित है। लाल ज्योतिमय स्फुलिगों के साथ जलती हुई अग्नि सचित्त है। गर्म कोयलों में अचित्त आग है। समुद्र, नदी, सरोवर व उपवन की गीली हवा सचित्त है। गर्म व सूखी धुएं वाली हवा अचित्त है। फल-फूल, पत्ता, शाखा, हरी-भरी सचित्त

वनस्पति है । सूखा व पका फल, गर्म व पकाया हुआ सागादि व यंत्र से छिन्न-भिन्न किया हुआ साग फलादि व लवणादि से स्पर्श रस गंधादि बदलाया हुआ साग फलादि जीवरहित अचित्त वनस्पति है ।

जीवसहित सचित्त एकेन्द्रिय जीवों को एक स्पर्शन इन्द्रिय से छूकर ज्ञान होता है, इसे मतिज्ञान कहते हैं। स्पर्श के पीछे सुख व दुःख का ज्ञान होता है, इसे श्रुतज्ञान कहते हैं । ये दो ज्ञान के धारी होते हैं, इनके चार प्राण पाये जाते है – स्पर्शनेन्द्रिय, शरीर का बल, श्वासोच्छ्वास, आयुकर्म ।

२. द्वेन्द्रिय :– जैसे सीप, शंख, कौड़ी, केंचुआ, लट आदि । इनके दो इन्द्रियाँ होती हैं स्पर्शन और रसना, ये इनसे जानते हैं । इनके प्राण छह होते हैं, एकेन्द्रिय से दो प्राण अधिक होते हैं, रसना इन्द्रिय और वचन बल । एकेन्द्रिय की तरह इनके भी दो ज्ञान होते हैं ।

३. तेन्द्रिय :– जैसे कुन्थु, चोंटी,कुम्भी, बिच्छू, घुन, खटमल, जूं । इनके घ्राणेन्द्रिय अधिक होती है; ये छूकर, स्वाद लेकर या सूंघकर जानते हैं । ज्ञान दो होते है – मति, श्रुत । प्राण एक अधिक होता है । घ्राण को लेकर सात प्राण होते है ।

४. चौन्द्रिय :– जैसे मक्खी, डांस, मच्छर, भिड, भ्रमर, पतंगा आदि । इनके आँख अधिक होती है, इससे आठ प्राण व दो ज्ञान मति-श्रुत होते हैं ।

५. पंचेन्द्रिय (मनरहित असैनी) :– जैसे कोई जाति के पानी में पैदा होने वाले सर्प । इनके कान भी होते हैं, इससे नौ प्राण व मति-श्रुत ज्ञान होते हैं ।

६. पंचेन्द्रिय (मनसहित सैनी) :– जैसे चार पगवाले मृग, गाय, भैंस, कुत्ता, बिल्ली, बकरा, घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि । दो पगवाले पक्षी जैसे मोर, कबूतर, तीतर, बटेर, काक, चील, हंस, मैना, तोता आदि । उर से चलनेवाले नागादि व जल में पैदा होनेवाले मछली, मगरमच्छ, कछुए आदि । इनके मन बल को लेकर दश प्राण होते हैं । साधारण दो ज्ञान मति-श्रुत होते हैं । मन एक सूक्ष्म हृदय स्थान में कमल के आकार अंग होता है, जिसकी सहायता से सैनी प्राणी संकेत समझ सकता है, शिक्षा ग्रहण कर सकता है, कारण-कार्य का विचार कर सकता है, तर्क-वितर्क कर सकता है व अनेक उपाय सोच सकता है ।

छह प्रकार के तिर्यंचों को क्या-क्या दुःख हैं, वे सब जगत को प्रगट हैं। एकेन्द्रिय जीवों के अकथनीय कष्ट हैं। मिट्टी को खोदते है, रौंदते हैं, जलाते हैं कूटते हैं, उसपर अग्नि जलाते हैं। धूप की ताप से मिट्टी के प्राणी मर जाते हैं। मिट्टी के शरीरधारी का देह एक अंगुल के असंख्यातवें भाग बहुत ही छोटा होता है। एक चने के दाने के बराबर सचित्त मिट्टी में अनगिनत पृथ्वीकायिक जीव हैं। जैसे हमें कोई कूटे, छीले, कुल्हाड़ी से छेदे तो स्पर्श का कष्ट होता है वैसे पृथ्वी के जीवों को हल चलाने आदि से घोर कष्ट होता है, वे पराधीनपने सहते हैं, कुछ बचने का उपाय नहीं कर सकते, भागने में असमर्थ हैं।

सचित्त जल को गर्म करने, मसलने, रौंदने आदि से महान कष्ट उसी तरह होता है, जैसे पृथ्वी के जीवों को। इनका शरीर भी बहुत छोटा होता है। एक पानी की बूंद में अनगिनत जलकायिक जीव होते हैं।

पवनकायिक जीव भीतादि की टक्करों से, गर्मी के झोकों से, जल की तीव्र वृष्टि से, पंखों से, हमारे दौड़ने-कूदने से टकराकर बड़े कष्ट से मरते है। इनका शरीर भी बहुत छोटा होता है। एक हवा के छोटे झोंके में अनेक वायु-कायिक प्राणी होते हैं।

अग्नि जल रही है, उसे पानी से बुझाते है, मिट्टी डालकर बुझाते है व लोहे से निकलते हुए स्फुलिंगों को घन की चोटों से पीटते है, तब उन अग्नि-कायिक प्राणियों को स्पर्श का बहुत दुःख होता है, इनका शरीर भी बहुत छोटा होता है। एक उठती हुई अग्नि की लौ में अनगिनत अग्निकायिक जीव है।

वनस्पति दो प्रकार की होती है -- एक साधारण, दूसरी प्रत्येक।

जिस वनस्पति का शरीर एक हो व उसके स्वामी बहुत से जीव हों, जो साथ-साथ जन्में व साथ-साथ मरें, उसको साधारण वनस्पति कहते हैं। जिसका स्वामी एक ही जीव हो, उसको प्रत्येक वनस्पति कहते है। प्रत्येक के आश्रय जब साधारणकाय रहते हैं, तब उस प्रत्येक को सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जब साधारणकाय उनके आश्रय नहीं होते है, तब उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है। जिन पत्तों में, फलादि में, जो रेखाएं बंधन आदि निकलते हैं, वे जबतक न निकलें तबतक उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं, और जब

वे निकल आते हैं, तब उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। तुच्छ फल सप्रतिष्ठित प्रत्येक के दृष्टान्त हैं ।

साधारण वनस्पति को ही एकेन्द्रिय निगोद कहते हैं । बहुधा आलू, घुईयाँ, मूली, गाजर, भूमि में फलने वाली तरकारियाँ साधारण या सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति होती हैं। अपनी मर्यादा को प्राप्त पकी ककड़ी, नारंगी व पका आम, अनार, सेव, अमरूद आदि प्रत्येक वनस्पति हैं । इन वनस्पतिकायिक प्राणियों को बड़ा कष्ट होता है । कोई वृक्षों को काटता है, छीलता है, पत्तों को नोंचता है, तोड़ता है, फलों को काटता है, साग छोंकता है, पकाता है, घास को छीलता है । पशुओं के द्वारा और मानवों के द्वारा इन वनस्पति जीवों को बड़ी निर्दयता से कष्ट दिया जाता है । वे बेचारे पराधीन होकर स्पर्श द्वारा घोर वेदना सहते हैं व बड़े कष्ट से मरते हैं ।

इस तरह एकेन्द्रिय प्राणियों के कष्टों को विचारते हुए रोएँ खड़े हो जाते हैं । जैसे कोई किसी मानव की आंख बन्द कर दे, जबान पर कपड़ा लगा दे, हाथ-पैर बांध दे और मुग्दरों से मारे, छीले, पकावे, कुल्हाड़ी से टुकड़े करे, तो वह मानव महाकष्ट वेदन करेगा; पर कह नहीं सकता, चिल्ला नहीं सकता, भाग नही सकता; इसी तरह ये एकेन्द्रिय प्राणी अपने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के अनुसार जानकर घोर दुःख सहन करते हैं । वे सब उनके ही बांधे हुए असाता-वेदनीय आदि पापकर्म के फल हैं ।

दोइन्द्रिय प्राणियों से चौइन्द्री प्राणियों को विकलत्रय कहते है । ये कीड़े, मकोड़े, पतंगे, चींटी, चींटे आदि पशुओं व मानवो से व हवा, पानी, आग आदि से भी घोर कष्ट पाकर मरते हैं । बड़े सबल जंतु छोटों को पकड़ कर खा जाते हैं । बहुत से भूख-प्यास से, पानी की वर्षा से, आग जलने से, दीपक की लौ से, नहाने व धोने के पानी से, बुहारने से, फटकारने से, कपड़ों से, शस्त्रों से तड़फ-तड़फ कर मरते हैं । पैरों के नीचे, गाड़ियों के नीचे, भार के नीचे, चौकी, पलंग, कुर्सी सरकाने से, बिछौना बिछाने से दबकर, टुकड़े होकर, कुचलकर प्राण देते हैं। निर्दयी मानव जान-बूझकर इनको मारते हैं । मक्खियों के छत्तों में आग लगा देते हैं, मच्छरों को हाथों से, मुरछलों से मारते हैं ।

रात्रि को भोजन बनाने व खाने से बहुत से भूखे प्यासे जन्तु अग्नि में व भोजन में पड़कर प्राण गमाते हैं। सड़ी-बुसी चीजों में ये पैदा हो जाते हैं, अनाज में पैदा हो जाते हैं। इनको धूप में, गली में डाल दिया जाता है, गर्म कड़ाओं में पटक दिया जाता है, आटे, मैंदे एवं शक्कर की बोरी में बहुत से चलते-फिरते दीख पड़ते हैं तो भी हलवाई लोग दया न करके उनको खौलते हुए पानी में डाल देते हैं। रेशम के कीड़ों को औटते पानी में डालकर मार डालते हैं। इन विकलत्रयों के दुःख अपार हैं।

पंचेन्द्रियों के दुःखों को विचारा जावे तो विदित होगा कि जिन पशु-पक्षियों का कोई पालक नहीं है, उनको रात-दिन भोजन ढूंढते हुए बीतता है, पेटभर खाने को नहीं मिलता है, वे बेचारे भूख-प्यास से, अधिक गर्मी-सर्दी से, अधिक वर्षा से तड़फ-तड़फ कर मरते हैं। शिकारी निर्दयता से गोली व तीर मारकर मार डालते हैं। मांसाहारी पकड़ कर कसाईखानों में तलवार से सिर अलग करते हैं। पशुबलि करने वाले धर्म के नाम पर पकड़ कर बड़ी ही कठोरता से मारते हैं। जिनको पाला जाता है, उनसे बहुत अधिक काम लिया जाता है, ज्यादा बोझा लादा जाता है, जितना चाहिये उतना घास-दाना नहीं दिया जाता है। थके-माँदे होने पर भी कोड़ों की मार से चलाया जाता है, बेकाम व जखमी होने पर यों ही जंगल में व रास्ते में कही पटक दिया जाता है। वे भूखे-प्यासे व रोग की वेदना से तड़फ-तड़फ कर मरते हैं। पिंजरों में बन्द किया जाता है, वे स्वतंत्रता से उड़ नही सकते।

मछलियों को पकड कर जमीन पर छोड़ दिया जाता है, वे तडफ-तड़फ कर मरती हैं, जाल में फँस कर प्राण गमाती हैं। हाथियों को दांत के लिये मार डाला जाता है। बैल, गाय, भैंसों को हड्डी के लिये, चमड़े के लिये मारा जाता है।

जीते हुये पशुओं को उबाल कर चरबी निकाली जाती है। उनको कोड़ों से मारकर चमड़ा खीचा जाता है। सबल पशु-पक्षी निर्बलों को मारकर खाते हैं। हिंसक मानव पशुओं को घोर कष्ट देते हैं, अपना स्वार्थ साधते है, उनके अंगों को छेद डालते हैं, उनकी पूंछ काट डालते है, उनको घोर मानसिक व

शारीरिक कष्ट देते हैं। इस तरह पंचेन्द्रिय तिर्यंचों को असहनीय दुःख सहना पड़ता है।

तिर्यंचगति में व मनुष्यगति में कितने प्राणी तीव्र पाप के उदय से लब्धऽपर्याप्त पैदा होते हैं। जो गर्मी-सर्दी, पसीना, मलादि में सम्मूर्छन जन्म पाते हैं, वे एक श्वास में अठारह बार जन्मते-मरते हैं। उनकी आयु १/१८ श्वास होती है। स्वास्थ्ययुक्त पुरुष की नाड़ी फड़कन की एक श्वास होती है। ४८ मिनट या एक मुहूर्त में ऐसे ३७७३ श्वास होते हैं। ऐसे जीव एक अंतर्मुहूर्त में ६६,३३६ नीचे प्रमाण क्षुद्र भव धरकर जन्म-मरण का कष्ट पाते हैं :—

पृथ्वीकायिक	बादर के	लगातार	६०१२	जन्म
पृथ्वीकायिक	सूक्ष्म के	लगातार	६०१२	जन्म
जलकायिक	बादर के	लगातार	६०१२	जन्म
जलकायिक	सूक्ष्म के	लगातार	६०१२	जन्म
वायुकायिक	बादर के	लगातार	६०१२	जन्म
वायुकायिक	सूक्ष्म के	लगातार	६०१२	जन्म
अग्निकायिक	बादर के	लगातार	६०१२	जन्म
अग्निकायिक	सूक्ष्म के	लगातार	६०१२	जन्म
साधारण वनस्पति	बादर के	लगातार	६०१२	जन्म
साधारण वनस्पति	सूक्ष्म के	लगातार	६०१२	जन्म
प्रत्येक वनस्पति	के	लगातार	६०१२	जन्म
कुल एकेन्द्रियों	के	लगातार	६६,१३२	जन्म
द्वेन्द्रियों	के	लगातार	८०	जन्म
तेन्द्रियों	के	लगातार	६०	जन्म
चौइन्द्रियों	के	लगातार	४०	जन्म
पंचेन्द्रियों	के	लगातार	२४	जन्म
			६६,३३६	जन्म

पंचेन्द्रियों के २४ में से ८ असैनी तिर्यंच, ८ सैनी तिर्यंच, ८ मनुष्य के गर्भित हैं। तिर्यंचगति के महान दुःखों में पड़ने लायक पाप अधिकतर आर्तध्यान से बंधता है।

आर्तध्यान :– दुःखित व शौकित भावों की प्रणाली को आर्तध्यान कहते हैं। इसके चार भेद हैं :–

(क) इष्टवियोगज आर्तध्यान :– प्रिया, पुत्र, माता-पिता, भाई-बहिन के मरने पर व किसी बन्धु व मित्र के परदेश जाने पर व धनादि की हानि होने पर शोक भाव करके भावों को दुःखित रखना, सो इष्टवियोगज आर्तध्यान है।

(ख) अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान :– अपने मन को न रुचनेवाले चाकर, भाई, पुत्र, न रुचनेवाली स्त्री आदि के होने पर व मन को न रुचनेवाले स्थान, वस्त्र, भोग व उपभोग के पदार्थ होने पर उनका सम्बन्ध कैसे छूटे ? इस बात की चिन्ता करना अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान है।

(ग) पीड़ाचिन्तवन आर्तध्यान :– शरीर में रोग होने पर, उसकी पीड़ा से क्लेशित भाव रखना पीड़ाचिन्तवन आर्तध्यान है।

(घ) निदान आर्तध्यान :– आगामी भोग मिले, इस चिन्ता से आकुलित भाव रखना निदान आर्तध्यान है।

आर्तध्यानी रात-दिन इष्टवस्तु के न पाने पर व अनिष्ट के संयोग होने पर व पीड़ा होने से व आगामी भोग की तृष्णा से क्लेशित भाव रखता है। कभी रुदन किया करता है, कभी उदास हो पड़ जाता है, कभी रुचि से भोजन-पान नहीं करता है। शोक से धर्म-कर्म छोड़ बैठता है। कभी छाती पीटता है, कभी चिल्लाता है, कभी आघात तक कर लेता है। रोगी होने पर रात-दिन हाय-हाय करता है। भोगों की प्राप्ति के लिये भीतर से तड़फड़ाता है। अनिष्ट सम्बन्ध दूर करने के लिये चिन्तित रहता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों के साधन में मन नहीं लगता है।

मायाचार से भी तिर्यच आयु का बंध होता है। जो कोई कपट से दूसरों को ठगते हैं, विश्वासघात करते हैं, कपट से अपनी प्रतिष्ठा कराते हैं, वे तिर्यंच आयु का बंध करते हैं।

एक मुनि ने एक नगर के बाहर चार मास का वर्षा योग धारण किया था। योग समाप्त होने पर वह दूसरे दिन वहाँ से विहार कर गये। दूसरे एक मुनि निकटवर्ती ग्राम से आकर वहीं ठहर गए। तब नगर के नर-नारी आकर मुनि वन्दना पूजा करते हुए ऐसा कहने लगे कि आपने हमारे नगर के बाहर दर्शालय में योग साधन किया, हमारा स्थान पवित्र हुआ आदि-आदि। उस समय उन मुनि को कहना चाहिये था कि मैं वह मुनि नहीं हूँ, परन्तु वह अपनी पूजा देखकर चुप रहे। कपट से अपना परिचय नही दिया। इस माया के भाव से मुनि ने पशुगति बाँध ली और मरकर हाथी की पर्याय पाई।

एकेन्द्रिय से चौइन्द्रिय तक को कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्याएँ होती हैं। पंचेन्द्रिय असैनी के पीत सहित चार, सैनी पंचेन्द्रियों के पीत, पद्म, शुक्ल सहित छहों हो सकती हैं। अधिकतर खोटी लेश्यारूप भावों से तिर्यचायु बाँध कर एकेन्द्री आदि में आकर जन्मते हैं। तिर्यचगति के कष्ट प्रत्यक्ष प्रगट हैं, वे प्रत्यक्ष पाप के फल बता रहे हैं। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

देवगति के दुःख

देवगति में यद्यपि शारीरिक कष्ट नहीं हैं, परन्तु मानसिक कष्ट बहुत भारी हैं। देवों में छोटी-बड़ी पदवियाँ होती हैं, विभूति, सम्पदा कम व अधिक होती है, उनमें दस दरजे हैं :–

(१) राजा के समान इन्द्र,
(२) पिता, भाई के समान सामानिक,
(३) मंत्री के समान त्रायस्त्रिंश,
(४) सभा निवासी सभासद के समान पारिषद,
(५) इन्द्र के पीछे खड़े होने वाले आत्मरक्ष,
(६) कोतवाल के समान लोकपाल,
(७) सेना बनने वाले अनीक,
(८) प्रजा के समान प्रकीर्णक,
(९) दास के समान वाहन बनने वाले आभियोग्य,
(१०) कांतिहीन क्षुद्रदेव किल्विषक।

इन दस जातियों में भी अनेक भेद होते हैं, नीची पदवीवाले ऊँचों को देखकर मन में बड़ा ईर्षाभाव रखते हैं, जला ही करते हैं।

भोग-सामग्री अनेक होती हैं। एक समय एक ही इन्द्रिय द्वारा भोग हो सकता है। इच्छा यह होती है कि पाँचों इन्द्रियों के भोग एक साथ भोगूँ, सो भोगने की शक्ति न होने पर आकुलता होती है। जैसे किसी के सामने पचास प्रकार की मिठाई परोसी जावे तो वह बार-बार घबड़ाता है कि किसे खाऊँ, किसे न खाऊँ, चाहता यह है कि मैं सबको एक साथ भोगूँ। शक्ति न होने पर वह दुःखी होता है। इसी तरह देव मन में क्षोभित हो कष्ट पाते हैं। जब किसी देवी का मरण होता है, तब इष्टवियोग का दुःख होता है। जब अपना मरण काल आता है, तब वियोग का बड़ा दुःख होता है; सबसे अधिक कष्ट मानसिक तृष्णा का होता है। अधिक भोग करते हुए भी उनकी तृष्णा बढ़ जाती है। यद्यपि कुछ दान, पूजा, परोपकार आदि शुभ भावों से पुण्य बाँधकर देव होते हैं; परन्तु मिथ्यादर्शन के होने से वे मानसिक कष्ट में ही जीवन बिताते हैं।

शरीर को ही आपा जानना, इन्द्रिय सुख को ही सुख समझना, आत्मा पर व अतीन्द्रिय सुख पर विश्वास न होना मिथ्यादर्शन है। सच है मिथ्यादृष्टि हर जगह दुःखी रहता है, क्योंकि उसे तृष्णा की दाह सदा सताती है।

मनुष्यगति के दुःख

इस गति के दुःख प्रकट ही हैं। जब गर्भ में नौ मास रहना पड़ता है, तब उल्टा टँगकर दुर्गंध स्थान में रहकर नरक सम महान दुःख होता है। गर्भ से निकलते हुए घोर कष्ट होता है। शिशु अवस्था में असमर्थ होने के कारण खाने-पीने को न पाकर बार-बार रोना पड़ता है, गिरकर पड़कर दुःख सहना पड़ता है, अज्ञान से जरा-सा भी दुःख बहुत वेदित होता है। किसी के छोटी वय में माता-पिता मर जाते हैं, तब बड़े दुःख से जीवन बिताना पड़ता है। कितने ही रोग से पीड़ित रहते हैं, कितने अल्प आयु में मर जाते हैं, कितने ही दरिद्रता से दुःखी रहते हैं, कितने ही इष्टमित्र व इष्टबन्धु के वियोग से, कितने अनिष्ट भाई व मालिक व सेवक के संयोग से दुःखी रहते हैं।

मानव गति में बड़ा दुःख तृष्णा का होता है। पाँचों इन्द्रियों के भोगों की घोर तृष्णा होती है। इच्छित पदार्थ नहीं मिलते हैं, तब दुःख होता है। यदि मनोज्ञ पदार्थ चेतन या अचेतन छूट जाते हैं, तब उनके वियोग से घोर कष्ट होता है। किसी की स्त्री दुःखदाई होती है, किसी के पुत्र कुपुत्र होते हैं, किसी के भाई कष्टदायक होते हैं। चाह की दाह में बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा भी जला करते हैं। मानव गति में घोर शारीरिक व मानसिक कष्ट हैं।

जिन किन्हीं मानव, पशु व देवों को कुछ सुख देखने में आता है, वह ऐसा विनाशीक व अतृप्तिकारी है कि उससे आशा-तृष्णा बढ़ जाती है। वह सुख अपने फल में कष्टदायक ही होता है। जैसे मृग की पानी रहित जंगल में मृगतृष्णारूप चमकती घास या बालू से प्यास नहीं बुझती, मृग पानी समझ कर जाता है, परन्तु पानी न पाकर अधिक तृषातुर हो जाता है; वैसे ही संसारी प्राणी सुख पाने की आशा से पाँचों इन्द्रियों के भोगों में बार-बार जाते हैं, भोग करते है; परन्तु विषयसुख की तृषा को मिटाने की अपेक्षा बढ़ा लेते हैं, जिससे उनका संताप भव-भव में कभी भी नही मिटता।

असल बात यह है कि यह संसार केले के खंभे के समान असार व दुःखों का समुद्र है। इसमें जो आसक्त है, इसमें जो मगन है, ऐसे मूढ़ मिथ्यादृष्टि वहिरात्मा को चारों ही गति में कही भी सुख नहीं मिलता है। वह कहीं शारीरिक व कही मानसिक दुःखों को ही भोगता है। तृष्णा की आताप से अनतबार जन्म-मरण करता हुआ चारों गतियों में भ्रमण करता हुआ फिरता है।

यह संसार अथाह है, अनादि व अनन्त है। इस संसारी जीव ने पाँच प्रकार के परिवर्तन अनंतबार किये है। वे परिवर्तन है :— द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भव परिवर्तन, भाव परिवर्तन। इनका अति संक्षेप से स्वरूप यह है :—

१. द्रव्य परिवर्तन :— पुद्गल द्रव्य के सर्व ही परमाणु व स्कन्धों को इस जीव ने क्रम-क्रम से ग्रहण करके व भोग करके छोड़ा है। एक ऐसे द्रव्य परिवर्तन में अनंतकाल बिताया है।

२. क्षेत्र परिवर्तन :— लोकाकाश का कोई प्रदेश शेष नहीं रहा, जहाँ यह क्रम-क्रम से उत्पन्न न हुआ हो। इस एक क्षेत्र परिवर्तन में द्रव्य परिवर्तन से भी अधिक अनन्तकाल बीता है।

३. काल परिवर्तन :– **उत्सर्पिणी :** जहाँ आयु, काय, सुख बढ़ते जाते हैं। **अवसर्पिणी :** जहाँ ये घटते जाते हैं। इन दोनों युगों के सूक्ष्म समयों में कोई ऐसा समय शेष नहीं रहा, जिसमें इस जीव ने क्रम-क्रम से जन्म व मरण न किया हो। इस एक काल परिवर्तन में क्षेत्र परिवर्तन से भी अधिक अनन्तकाल बीता है।

४. भव परिवर्तन :– चारों ही गतियों में नौ ग्रैवेयिक तक कोई भव शेष नहीं रहा, जो इस जीव ने धारण न किया हो। इस एक भव परिवर्तन में काल परिवर्तन से भी अधिक अनन्तकाल बीता है।

५. भाव परिवर्तन :– इस जीव ने आठ कर्मों के बँधने योग्य भावों को प्राप्त किया है। इस एक भाव परिवर्तन में भव परिवर्तन से भी अधिक अनंतकाल बीता है।

इस तरह ये पाँचों परिवर्तन इस संसारी जीव ने अनंतबार किये है।

इस संसार के भ्रमण का मूल कारण मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शन के साथ अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग भी है। जो मिथ्यादृष्टि ससार के भोगों की तृष्णा स हिसा, झूँठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह के अतिचाररूपी पाँच अविरति भावों में फँसा रहता है, वही मिथ्यादृष्टि आत्महित में प्रमादी रहता है। तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय करता है तथा मन-वचन-काय को अति क्षोभित रखता है।

इस असार संसार में अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही कष्ट पाता है, उसी के लिये ही संसार का भ्रमण है। जो आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि होता है, वह संसार से उदास व वैराग्यवान हो जाता है व अतीन्द्रिय आत्मिक सच्चे सुख को पहचान लेता है, वह मोक्ष प्राप्ति का प्रेमी हो जाता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। यदि कर्मों के उदय से कुछ काल किसी गति में रहना भी पड़ता है तो वह संसार में लिप्त न होने से, संसार में प्राप्त शारीरिक-मानसिक कष्टों को कर्मोदय विचार कर समताभाव से भोग लेता है। वह हर एक अवस्था में आत्मिक सुख (जो सच्चा सुख है) को स्वतन्त्रता से भोगता रहता है, यह बात सच है।

मिथ्यादृष्टि सदा दुःखी – सम्यग्दृष्टि सदा सुखी।

जैनाचार्यों ने संसार का स्वरूप क्या बताया है, सो पाठकों को उनके नीचे लिखे अनुभवपूर्ण वाक्यों से प्रगट होगा :-

श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं :-

पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं ॥२४॥

भावार्थ :- इस द्रव्य-क्षेत्रादि पाँच तरह के संसार भ्रमण में जहाँ यह जीव जन्म, बुढ़ापा, मरण, रोग, भय के महान कष्ट पाता है; श्री जिनेन्द्र के धर्म को न जानता हुआ दीर्घकाल तक भ्रमण किया करता है।

सव्वेपि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे ॥२५॥

भावार्थ :- प्रथम पुद्‌गल द्रव्य परिवर्तन में इस एक जीव ने सर्व ही पुद्‌गलों को बार-बार अनन्त बार ग्रहण कर और भोगकर छोड़ा है।

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तण्णत्थि जण्ण उप्पण्णं।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥२६॥

भावार्थ :- दूसरे क्षेत्र परिवर्तन में यह जीव बार-बार सर्व ही लोकाकाश के प्रदेशों में क्रम-क्रम से जन्मा है। कोई स्थान ऐसा नहीं है जहाँ बहुबार पैदा न हुआ हो और अनेक प्रकार के छोटे व बड़े शरीर न धारे हों।

अवसप्पिणिउस्सप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे ॥२७॥

भावार्थ :- तीसरे काल परिवर्तन में इस जीव ने उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के सर्व समयों में बहुत बार जन्म-मरण किया है। कोई समय बचा नहीं जिसमें यह अनंतबार जन्मा या मरा न हो।

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लवा दुगेवज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदीब्भमिदा ॥२८॥

भावार्थ :- चौथे भव परिवर्तन में नरक की जघन्य आयु से लेकर ऊर्ध्व लोक की ग्रैवेयिक की उत्कृष्ट आयु तक सर्व ही जन्मों को इस जीव ने बहुबार मिथ्यादर्शन के कारण धारण करके भ्रमण किया है।

सव्वे पयडिट्ठिदिग्रो अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि ।
जीवो मिच्छत्तावसा भमिदो पुण भावसंसारे ॥२९॥

भावार्थ :– पाँचवें भाव परिवर्तन में यह जीव मिथ्यादर्शन के कारण आठों कर्मों के सर्व ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाव व प्रदेश इन चार प्रकार के बन्ध स्थानों को धारता हुआ बार-बार भ्रमा है ।

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए ।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ॥३०॥

भावार्थ :– जो जीव पुत्र व स्त्री के लिए पाप की बुद्धि से धन कमाता है, दया, धर्म व दान छोड़ देता है, वह जीव संसार में भ्रमण करता है ।

मम पुत्तं मम भज्जा मम धणधण्णो त्ति तिव्वकंखाए ।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीहसंसारे ॥३१॥

भावार्थ :– मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरे धन-धान्यादि इत्यादि तीव्र तृष्णा के वश यह जीव धर्म की बुद्धि को त्यागकर इस दीर्घ संसार में भ्रमता रहता है ।

मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जेण्णभासियं धम्मं ।
कुधम्मकुलिंगकुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे ॥३२॥

भावार्थ :– मिथ्यादर्शन के उदय से यह जीव श्री जिनेन्द्र कथित धर्म की निंदा करता है और मिथ्या धर्म, मिथ्या गुरु व मिथ्या तीर्थ को पूजता है; इसलिए संसार में भ्रमता है ।

हंतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरपाणं ।
परदव्वपरकलत्तं गहिऊण य भमदि संसारे ॥३३॥

भावार्थ :– यह जीव अनेक जन्तु-समूह को मारता है, मांस, मदिरा, मधु खाता है, परद्रव्य व परस्त्री को ग्रहण कर लेता है; इसलिये संसार में भ्रमता है ।

जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च ग्रहणिसं जीवो ।
मोहंधयारसहिग्रो तेण दु परिपडदि संसारे ॥३४॥

भावार्थ :– यह जीव मोह के अंधेरे में अंधा होकर, रात दिन उद्योग करके, विषय-भोगों के लिए पाप किया करता है; इसीलिये इस संसार में भ्रमता है ।

संजोगविप्पजोगं लाहालाहं च सुहं च दुक्खं च।
संसारे भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च ।।३५।।

भावार्थ :– इस संसार में जीवों को संयोग-वियोग, लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान हुआ करता है।

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसार घोर कांतारे।
जीवस्सण संसारो णिच्चयण कम्मणिम्मुक्को ।।३७।।

भावार्थ :– कर्मों के वश होकर यह जीव इस भयानक संसार वन में भ्रमता फिरता है। निश्चय नय से विचार किया जावे तो इस जीव के ससार नहीं है। यह तो कर्मों से भिन्न ही है।

संसारमदिक्कन्तो जीवोवादेयमिदि विचिंतिज्जो।
संसारदुहक्कन्तो जीवो सो हेयमिदि विचिंतिज्जो ।।३८।।

भावार्थ :– जो जीव संसार से पार हो गया है, उसकी भी अवस्था ग्रहण करने योग्य है ऐसा विचार करना चाहिये। तथा जो जीव ससार के दुःखों में फंसा है, यह संसार दशा त्यागने योग्य है ऐसा मनन करना चाहिये।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड़ में कहते हैं :–

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव ।।८।।

भावार्थ :– हे जीव ! तूने भयानक नरकगति में, पशुगति मे, कुदेवगति में व मनुष्यगति में तीव्र कष्ट पाए है। अब तो तू शुद्ध आत्मतत्व की भावना कर ! वही जिन या कषायों को जीतनेवाला परमात्मारूप है।

सत्तसुणरयावासे दारुणभीसाइं असहणीयाइं।
भुत्ताइं सुइरकालं दुक्खाइं णिरंतरं सहिय ।।९।।

भावार्थ :– सात नरकों के आवासों में तीव्र, भयानक, असहनीय दुःखो को दीर्घकाल तक निरन्तर भोगकर तूने कष्ट सहा है।

खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च।
पत्तोसि भावरहिओ तिरयगईए चिरं कालं ।।१०।।

भावार्थ :– हे जीव ! तूने पशुगति में शुद्ध भावे को न पाकर चिरकाल तक खोदे जाने के, गर्म किये जाने के, जलाने के, धक्के खाने के, छेदे जाने के, रोके जाने के दुःख पृथ्वीकायादि में क्रम से पाए हैं।

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि।
दुक्खाइ मणुयजम्मे पत्तोसि अणंतयं कालं ॥११॥

भावार्थ :– हे जीव! तूने मनुष्यगति में पुनः पुनः जन्म लेकर अनंतकाल अकस्मात् वज्रपात गिरने आदि के, शोकादि के, मानसिक कर्म के द्वारा सहज उत्पन्न रागद्वेषादि के, तथा रोगादि शारीरिक-ऐसे चार तरह के कष्ट पाए हैं।

सुरणिलएसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं।
संपत्तोसि महाजस दुःखं सुहभावणा रहिओ ॥१२॥

भावार्थ :– हे महायशस्वी जीव! तूने देवों के स्थानों में प्रिय देव या देवी के वियोग के काल में तथा ईर्ष्या संबंधी मानसिक दुःख शुद्ध आत्मा की भावना से शून्य होकर उठाया है।

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं।
अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलाहु अहिययरं ॥१८॥

भावार्थ :– हे महायशस्वी जीव! तूने अनन्त मानव जन्म धारण करके भिन्न-भिन्न माता के स्तनों का दूध पिया है, जो एकत्र करने पर समुद्र के जल से अधिक हो जायेगा।

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलाहु अहिययरं ॥१९॥

भावार्थ :– तूने माता के गर्भ से निकल कर फिर मरण किया, तब भिन्न-भिन्न जन्मों की अनेक माताओं ने रुदन किया। उनके आँखों के आँसुओं को एकत्र किया जावे तो समुद्र के जल से अधिक ही हो जायेगा।

तिहुयण सलिलं सयलं पीयं तिण्हाइ पीडिएण तुमे।
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥२३॥

भावार्थ :– हे जीव! तूने तीन लोक का सर्व पानी प्यास की पीड़ा से पीड़ित होकर पिया है। तो भी तेरी तृषा या तृष्णा न मिटी। अब तू इस संसार के नाश का विचार कर।

छत्तं सं तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि।
अन्तोमुहुत्तमज्झे पत्तोसि निगोयवासम्मि ॥२८॥

भावार्थ :– हे जीव! तूने एक श्वास के अठारहवें भाग आयु को धारकर निगोद की लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था में एक अंतर्मुहूर्त के भीतर ६६३३६ जन्म-मरण किये है। इनका हिसाब पीछे लिख चुके है।

रयणत्तए अलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे ।
इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तं समायरह ॥३०॥

भावार्थ :— रत्नत्रयमयी जिनधर्म को न पाकर तूने ऊपर प्रमाण इस दीर्घसंसार में भ्रमण किया है, ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है । अब तू रत्नत्रय को पाल ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य पंचास्तिकाय में कहते हैं :—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो व ॥१३०॥

भावार्थ :— इस संसारी जीव के रागादि भाव होते हैं, उनके निमित्त से आठ कर्मों का बन्ध होता है, कर्मों के उदय से एक गति से दूसरी गति में जाना है । जिस गति में जाता है, वहाँ स्थूल शरीर होता है, उस देह में इन्द्रियाँ होती है । उन इन्द्रियों से भोग्य पदार्थों को भोगता है तब फिर राग व द्वेष होता है । इस तरह इस संसाररूपी चक्र में इस जीव का भ्रमण हुआ करता है । किसी के यह संसार अनादि अनन्त चला करता है, किसी के अनादि होने पर भी अन्त हो जाता है ।

श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा में कहते है :—

मिच्छत्तेणो छण्णो मग्गं जिणदेसिदं अपेक्खंतो ।
भमिहदी भीमकुडिल्ले जीवो संसार कंतारे ॥१३॥

भावार्थ :— यह जीव मिथ्यादर्शन से ढका हुआ व श्री जिनेन्द्र कथित मार्ग पर श्रद्धान न लाता हुआ इस संसाररूपी अति भयानक व कुटिल वन में भ्रमण किया करता है ।

तत्थ जरामरण भयं दुक्खं पियविप्पओग वीहणयं ।
अप्पियसंजोगं विषय रोग महावेदणाओ य ॥१६॥

भावार्थ :– इस संसार में बूढ़ापना, मरण, भय, क्लेश, भयानक इष्ट-वियोग, अनिष्टसंयोग, रोग आदि की महान वेदनाओं को यह जीव सहा करता है।

जायंतो या मरंतो जलथलखयरेसु तिरियणिरएसु।
माणुस्से देवत्ते दुक्खसहस्साणि पप्पोदि ॥१७॥

भावार्थ :– यह जीव पशुगति, नरकगति, मनुष्यगति व देवगति में तथा जलचर, थलचर, नभचर प्राणियों में जन्मता व मरता हुआ सहस्रों कष्टो को भोगता है।

संजोगविप्पओगा लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे अणुभूवा माणं च तहावमाणं च ॥१६॥
एवं बहुप्पयारं संसारं विविहदुक्खथिरसारं।
णाऊण विचिंतिज्जो तहेव लहुमेव णिस्सारं ॥२०॥

भावार्थ :– इस संसार में इस जीव ने संयोग-वियोग, लाभ-हानि, सांसारिक सुख-दुःख, मान-अपमान का अनुभव किया है। इस तरह इस ससार के नाना प्रकार के सदा ही मिलने वाले दुःखों को जानकर यह असार समार जिस उपाय से कम हो वह उपाय विचारना चाहिए।

श्री समंतभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं :–

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम्।
इदंजगज्जन्मजरान्तकार्त्तं निरंजनां शांतिमजीगमस्त्वम् ॥१२॥

भावार्थ :– यह संसार अनित्य है, अशरण है, अहंकार बुद्धि से संसारी प्राणियों में मिथ्यात्व भाव प्रवेश हो रहा है। यहाँ ससारी जीव नित्य जन्म, जरा व मरण में दुःखी हैं – ऐसा जानकर हे संभवनाथ! आपने निर्मल शांति को ही भजा।

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्त्ता निशि शेरते प्रजाः।
त्वमार्य्य नक्तं दिवमप्रमत्तवानजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ॥४८॥

भावार्थ :– संसार के प्राणी अपने जीवन की तथा काम-भोगों की तृष्णा से पीड़ित होकर दिन भर परिश्रम करके थक जाते हैं व रात को सो रहते है। इस तरह कभी तृष्णा को व संसार के कष्टों को नहीं मिटा सकते, ऐसा जान

कर हे शीतलनाथ ! आपने आलस्य टालकर इस संसार के नाश के लिये आत्मिक वीतराग मार्ग में रात-दिन सदा जागृत रहना ही स्वीकार किया ।

श्री शिवकोटि मुनि भगवती आराधना में कहते हैं :—

णिरयेसु वेयणाओ अणोवमाओ असादबहुलाओ ।
कायणिमित्तं पत्तो अणंतसो तं बहु विधाओ ॥१५६२॥

भावार्थ :— हे मुने ! इस संसार में काय के निमित्त असंयमी होकर तूने ऐसा कर्म बांधा, जिससे नरक में जाकर बहुत प्रकार की उपमा रहित बहुत असाता सहित वेदना अनन्तबार भोगी ।

ताड़णतासणबन्धण,—वाहणलंछणविहेडणं दमणं ।
कण्णच्छेदणणासा,—वेहणणिल्लंछणं चेव ॥१५८२॥

छेदणभेदणडहणं, णिच्छलणं गालणं छुहा तण्हा ।
भक्खणमद्दणमलणं, विकत्तणं सीदउण्हं च ॥१५८३॥

जं अत्ताणो णिप्पडियम्मो बहुवेदणट्टिओ पडिओ ।
बहुएहि मदो दिवसेहि, चडयडंतो अणाहो तं ॥१५८४॥

रोगा विविधा बाधाउ, तह य तिव्वं भयं च सव्वत्तो ।
तिव्वा उ वेदणाओ, धाडणपादाभिघादा य ॥१५८५॥

इच्चेवमादि दुक्खं, अणंतखुत्तो तिरिक्खजोणीए ।
जं पत्तो सि अदीदे, काले चिंतेहि तं सव्वम् ॥१५८७॥

भावार्थ :— हे मुने ! तिर्यंचगति में तूने नाना प्रकार की लाठी, घूसे व चाबुकों की ताड़ना भोगी, शस्त्रनि की त्रास सही, दृढ़ता से बांधा गया, नाक बींधी गई, हाथ-पगादि बांधे गए, गला बांधा गया, पिंजरे में डाला हुआ तीव्र दुःख पाया, तथा कान छेदे गये, नाक छेदी गई, शस्त्रों से बींधा गया, घसीटा गया आदि दुःख भोगे, बहुत बोझे से हाड़ टूट गए, मार्ग में बोझ लादे बहुत दूर रात-दिन चलना पड़ा, आग में जला, जल में डूबा, परस्पर खाया गया, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी की घोर वेदना भोगी, पीठ गल गई, असमर्थ होकर कीचड़ में पड़ा रहा, घोर धूप में पड़ा रहा । जो-जो क्लेश पाये हैं, उनका विचार करो । नाना प्रकार के रोग सहे, सर्व तरफ से डरता रहा तथा दुष्ट मनुष्य व पशुओं

से घोर कष्ट पाया, वचन का तिरस्कार महा, पगों की मार दीर्घकाल तक सही इत्यादि दुःख अनन्तबार तिर्यंच योनि में तूने गत काल में भोगे है, उन सबका अब विचार करो ।

देवत्तमाण्सते जं ते जाएण सकयकम्मवसा।
दुक्खाणि किलेसा वि य, अणंतखुत्ता समण्भूदम् ॥१५८८॥

भावार्थ :– हे मुने ! अपने किये हुए कर्मों के वश से देवगति में तथा मनुष्यगति में पैदा होकर अनन्तबार बहुत दुःख क्लेश भोगे हैं ।

जं गब्भवासकुणिमं, कुणिमाहारं छुहादिदुःखं च।
चितं तस्स य सुचियसुहिदस्स दुःखं चयणकाले ॥१६०१॥

भावार्थ :– देवों को मरते हुए ऐसा चिंतवन होता है जो मेरा गमन अब तिर्यञ्चगति व मनुष्यगति के गर्भ में होगा । दुर्गंध गर्भ मे रहना, दुर्गंध आहार लेना, भूख-प्यास सहना पड़ेगा, ऐसा विचारते बहुत कष्ट होता है ।

एवं एवं सव्वं दुक्खं च दुगदिगंद च जपत्ते ।
तत्तो अणंत भागो होज्जणवा दुक्खमिमंगते ॥१६०२॥

भावार्थ :–इस मनुष्य पर्याय में निर्धनता, सप्त धातुमय मलीन रोगों की भरी देह का धारना, कुदेश में बसना, स्वचक्र-परचक्र का दुःख सहना, बैरी समान बांधवों में रहना, कुपुत्र का संयोग होना, दुष्ट स्त्री की संगति होना, नीरस आहार मिलना, अपमान सहना, चोर, दुष्ट राजा व मंत्री व कोतवाल द्वारा घोर त्रास सहना, दुष्काल में कुटुम्ब का वियोग होना, पराधीन रहना, दुर्वचन सहना, भूख-प्यास आदि सहना इत्यादि दुःखों का भरा मनुष्य जन्म है ।

तण्हा अणंतखुत्तो, संसारे तारिसी तुमं आसि ।
जं पसमेदुं सव्वोदधीणमुदगं पि ण तीरेज्ज ॥१६०५॥

आसी अणंतखुत्तो, संसारे ते क्षुधा वि तारिसिया ।
जं पसमेदुं सव्वो, पुग्गलकाओ ण तीरिज्ज ॥१६०६॥

भावार्थ :– हे मुने ! संसार में तुमने ऐसी प्यास की वेदना अनंतबार भोगी, जिसके शान्त करने को सर्व समुद्रों का जल समर्थ नहीं तथा ऐसी क्षुधा वेदना अनंतबार भोगी, जिसके शान्त करने को सर्व पुद्गल काय समर्थ नही ।

जावं तु किंचि दुःखं, सारीरं माणसं च संसारे ।
पत्तो अणंतखुत्तं कायस्स ममत्तिदोसेण ।।१६६७।।

भावार्थ :– हे मुने ! इस संसार में जो कुछ शारीरिक व मानसिक दुःख अनंतबार प्राप्त हुए हैं, सो सर्व इस शरीर में ममता के दोष से प्राप्त हुए हैं ।

णत्थि भयं मरणसमं, जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्खं ।
जम्मणमरणादंकं छिण्णममत्तिं सरीरादो ।।१६६६।।

भावार्थ :– इस संसार में मरण के समान भय नहीं है, जन्म के समान दुःख नहीं है । इसलिये जन्म-मरण से व्याप्त इस शरीर से ममता छोड़ ।

श्री पूज्यपादस्वामी सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं : –

'अत्र जीवा-अनादिसंसारेऽनन्तकालं नानायोनिषु दुःखं भोगं भोगं पर्यटन्ति । न चात्र किंचिन्नियतमस्ति, जलबुद्बुदोपमं जीवितं, विद्युन्मेघादिविकारचपलाभोग-सम्पदइत्येवमादि जगत्स्वभावचिंतनात् संसारात् संवेगो भवति' ।।१२-७।।

भावार्थ :– इस जगत में जीव अनादिकाल से अनंतकाल तक नाना योनियों में दुःख भोगते हुए भ्रमण किया करते हैं । जल के बुल-बुले के समान जीवन क्षणिक है । बिजली की चमक, बादलों के विघटन के समान भोग सम्पदा अथिर है, ऐसा जगत का स्वभाव विचारने से भय होता है ।

श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक में कहते हैं :–

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ।।१५।।

भावार्थ :– इस संसार के दुःखों का मूल यह शरीर है, इसलिये आत्म-ज्ञानी को इसका ममत्व छोड़कर व इन्द्रियों से विरक्त होकर अंतरंग आत्मध्यान करना चाहिये ।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवांछति ।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ।।४२।।

भावार्थ :– शरीर को आत्मा मानकर अज्ञानी सुन्दर शरीर व मनोहर भोगों की सदा वांछा किया करता है, परन्तु तत्वज्ञानी इस शरीर को ही नहीं चाहते हैं ।

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ।।४९।।

भावार्थ :– जो शरीर में आत्मबुद्धि रखने वाले हैं, उनको यह संसार विश्वास योग्य तथा रमणीक भासता है, परन्तु आत्मबुद्धि धारकों का इस संसार में न विश्वास है, न उनकी रति है।

स्वबुद्धया यावद्गृह्णीयात् कायवाक् चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ।।६२।।

भावार्थ :– जब तक कोई शरीर, वचन, काय को आत्मारूप मानता रहेगा, तब तक संसार का दुःख है। जब आत्मा को इनसे भिन्न विचारने का अभ्यास करेगा, तब दुःखों से छूट जायगा।

श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश में कहते हैं :–

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते।
यावत्तावद्भवंत्यन्या प्रचुरा विपदः पुरः ।।१२।।

भावार्थ :– इस संसार की घटी यंत्र में इतनी विपत्तियां है कि जब एक दूर होती है, तब दूसरी अनेक आपदाएं सामने आकर खड़ी हो जाती है।

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते।
दह्यमानमृगाकीर्णवनांतरतरुस्थवत् ।।१४।।

भावार्थ :– जैसे कोई मानव वन के वृक्ष पर बैठा हुआ यह तमाशा देखे कि वन में आग लगी है, मृग भागे जाते हैं, परन्तु आप स्वयं न भागे और वह यह न विचारे कि आग इस वृक्ष को जलाने वाली है; इसी तरह संसार में मूर्ख प्राणी दूसरों की विपदाओं को देखा करता है, परन्तु मेरे पर आपत्तियां आने वाली है, मेरा मरण होने वाला है, ऐसा नही देखता है।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते है :–

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारीण्यलं।
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ।।
तत्तावत्स्मरसि स्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान्निर्धनः ।।५३।।

भावार्थ :– हे जीव ! तूने इस संसार में नरक आदि योनियों में अत्यन्त दु:ख भोगे हैं, जिनके स्मरण करने से आकुलता पैदा होती है, उन दु:खों की बात से दूर ही रहो, इस नरभव में तू निर्धन हुआ है; परन्तु नाना प्रकार भोगों का अभिलाषी है । काम से पूर्ण स्त्रियों के मंद हास्य और काम के बाण समान तीक्ष्ण कटाक्षों से बेंधा हुआ तू पाले से भरे हुए वृक्ष की दशा को प्राप्त हुआ है । इस दु:ख ही को तू विचार कर । काम की तृष्णा भी बड़ी दु:खदाता है ।

उत्पन्नोस्यतिदोषधातुमलवद्देहोसि कोपादिमान् ।
साधिव्याधिरसि प्रहीणचरितोस्यऽस्यात्मनो वञ्चकः ॥
मृत्युव्याप्तमुखान्तरोऽसि जरसा ग्रस्तोसि जन्मिम् वृथा-
किं मत्तोऽस्यसि किं हितारिरहितो किं वासि बद्धस्पृहः ॥५४॥

भावार्थ :– हे अनंत जन्म के धरनहारे अज्ञानी जीव ! तू इस संसार में अनेक योनियों में उपजा है । अब यहाँ तेरा शरीर दोषमई धातु से बना अति-मलीन है, तेरे भीतर क्रोधादि कषाय हैं । तू शरीर के रोग व मन की चिन्ता से पीड़ित है, हीन आचार में फँसा है, अपनी आत्मा को ठग रहा है, जन्म-मरण के बीच में पडा है, बुढ़ापा सता रहा है; तो भी वृथा बावला हो रहा है, मालूम होता है तू आत्मा के हित का शत्रु है, तेरी इच्छा अपना बुरा ही करने की झलकती है ।

उग्रग्रीष्म कठोर घर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः ।
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः ॥
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रय साकुल—
स्तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥५५॥

भावार्थ :– भयानक गर्म ऋतु के सूर्य की तप्तायमान किरणों के समान इन्द्रियों की इच्छाओं से आकुलित यह मानव हो रहा है । इसकी तृष्णा दिन पर दिन बढ़ रही है सो इच्छानुकूल पदार्थों को न पाकर विवेक रहित हो अनेक पाप रूप उपायों को करता हुआ व्याकुल हो रहा है व उसी तरह दु:खी है जैसे जल के पास की गहरी कीचड़ में फँसा हुआ दुर्बल बूढ़ा बैल कष्ट भोगे ।

शरणमशरणं वो बंधवो बंध मूलं ।
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम् ॥
विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत् ।
त्यजत भजत धर्म्मं निर्म्मलं शर्म्मकामाः ॥६०॥

भावार्थ :– जिस घर को तू रक्षक समझता है, वही तुझे मरण से बचा नहीं सकता। ये भाई-बन्धु सर्व स्नेह के बंधन के मूल हैं, दीर्घकाल से परिचय में आई हुई तेरी स्त्री अनेक आपदाओं का द्वार है; ये तेरे पुत्र स्वार्थ के सगे तेरे शत्रु हैं। ऐसा विचार कर इन सबको तज और यदि तू सुख को चाहता है तो तू पवित्र धर्म की सेवा कर।

अवश्यं नश्वरैरेभिरायुः कायादिभिर्यदि।
शाश्वतं पदमायाति मुधाऽऽयातमवेहि ते ॥७०॥

भावार्थ :– ये आयु शरीरादि अब अवश्य नाश होने वाले हैं, यदि इन की ममता छोड़ने से अविनाशी मोक्षपद तेरे हाथ में आ सकता है तो सहज में ही आया जान।

गलत्यायुः प्रायः प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं।
खलः कायोप्यायुर्गतिमनुपतत्येष सततम् ॥
किमस्यान्यैरन्यैर्द्वयमयमिदं जीवितमिह।
स्थिता भ्रान्त्या नावि स्वमिव मनुते स्थास्नुमपधीः ॥७२॥

भावार्थ :– यह आयु प्रकट ही अरहट की घडी के जल की तरह छिन-छिन गल रही है, यह दुष्ट शरीर भी आयु की गति के अनुसार निरन्तर पतन-शील है, जरावान होता जाता है, जिनसे जीवन है, वे आयु व काय ही क्षण-भंगुर हैं व विनाशीक हैं तब पुत्र स्त्री व धनधान्यादि के सम्बन्ध की क्या बात, वे तो छूटने ही वाले हैं तो भी यह अज्ञानी अपने को थिर मानता है। जैसे नांव में बैठा पुरुष चलता हुआ भी भ्रम से अपने को थिर मान लेता है।

बाल्ये वेत्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितम्।
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन्वने यौवने ॥
मध्ये वृद्धतृषार्जितुम् वसु पशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभि-
र्वृद्धो वार्द्धमृतः क जन्मफलितं धर्मो भवेन्निर्मलः ॥८९॥

भावार्थ :– हे जीव ! बालावस्था में तू पूर्णांग न पाता हुआ अपने हित या अहित को कुछ भी नहीं जानता है। जवानी में स्त्री रूपी वृक्षों के वन में भ्रमता हुआ काम भाव से अन्धा बन गया है। मध्य वय में बढ़ी हुई धन की तृष्णा से पशु के समान खेती आदि कर्मों को करता हुआ क्लेश पाता है। बुढ़ापे

में अधमरा हो गया । तब बता नर जन्म को सफल करने के लिये तू पवित्र धर्म को कहाँ पालन करेगा ।

श्री पद्मनन्दि मुनि अनित्य पंचाशत् में कहते हैं—

सर्वत्रोद्गतशोकदावदहनव्याप्तं जगत्काननं ।
मुग्धास्तत्र वधू मृगी गतधियस्तिष्ठंति लोकैणकाः ।।
कालव्याध इमान्निहंति पुरतः प्राप्तान् सदा निर्दयः ।
तस्माज्जीवति नो शिशुर्न च युवा वृद्धोपि नो कश्चन ।।३४।।

भावार्थ :– यह संसार रूप वन सर्व जगह शोकरूपी दावानल से व्याप्त हो रहा है । यहाँ विचारे भोले लोगरूपी हिरण स्त्रीरूपी मृगी में प्रेम कर रहे हैं, अचानक कालरूपी शिकारी आकर निर्दयी हो सामने से इनको मारता है इस कारण न तो बालक मरण से बचता है, न युवा बचता है और न वृद्ध बचता है । इस संसार में मरण सर्व को घात करता है ।

वांछत्यैव सुखं तदत्र विधिना दत्तं परं प्राप्यते ।
नूनं मृत्युमुपाश्रयन्ति मनुजास्तत्राप्यतो बिभ्यति ।।
इत्थं कामभयप्रसक्तहृदया मोहान्मुधैव ध्रुव ।
दुःखोर्मिप्रचुरे पतंति कुधियः संसारघोरार्णवे ।।३६।।

भावार्थ :– यह जीव इस संसार में निरन्तर इन्द्रियजनित सुख ही की वांछा करता है, परन्तु उतना ही मिलता है जितना पुण्य कर्म का उदय है । इच्छा के अनुसार नहीं मिलता है । निश्चय से मरण सब मानवों को आने वाला है । इसलिये यह जीव मरने से भय करता रहता है । ऐसे यह कुबुद्धि जीव काय की तृष्णा और भय से मलीन चित्त होता हुआ मोह से वृथा ही दुःख रूपी लहरों से भरे हुए इस भयानक समुद्र में गोते खाता है ।

आपन्मयसंसारे क्रियते विदुषा किमापदि विषादः ।
कस्त्रस्यति लंघनतः प्रविधाय चतुःपथे सदनं ।।४६।।

भावार्थ :– यह संसार आपत्तियों का घर है । यहाँ रोग, शोक, इष्ट-वियोग, अनिष्ट संयोग, जरा, मरणरूपी आपदाएं आने ही वाली हैं । इसलिये विद्वान को आपत्ति आने पर शोक नहीं करना चाहिये । जो कोई चौराहे पर अपना मकान बनाएगा उसको लोग उल्लंघन करेंगे ही, उससे कौन भय करेगा ।

स्वकर्म्मव्याघ्रेण स्फुरितनिजकालादिमहसा ।
समाघ्रातः साक्षाच्छरणरहिते संसृतिवने ।।
प्रिया मे पुत्रा मे द्रविणमपि मे मे गृहमिदं ।
वदन्नेवं मे मे पशुरिव जनो याति मरणं ।।४८।।

भावार्थ :– जैसे अशरण वन में बलवान् सिंह से पकड़ा हुआ पशु 'मैं मैं' करता मर जाता है, वैसे इस शरण रहित संसाररूपी वन में उदय प्राप्त अपने कर्मरूपी सिंह से पकड़ा हुआ प्राणी मेरी स्त्री, मेरे पुत्र, मेरा धन, मेरा घर ऐसे पशु की तरह 'मैं मैं' करता हुआ मरण को प्राप्त हो जाता है ।

लोकागृहप्रियतमासुतजीवितादि ।
वाताहतध्वजपटाग्रचलं समस्तं ।।
व्यामोहमत्र परिहृत्य धनादिमित्रे ।
धर्मे मतिं कुरुत किं बहुभिर्वचोभिः ।।५४।।

भावार्थ :– हे लौकिकजनो ! यह घर, स्त्री, पुत्र, जोवन आदि मर्व पदार्थ उसी तरह चंचल हैं, विनाशीक हैं, जैसे पवन से हिलती हुई ध्वजा के कपड़े का अग्रभाग चंचल है इसलिये तू धनादि व मित्रों में मोह को छोड़कर धर्मसाधन में बुद्धि को धारण कर । अधिक वचनों से क्या कहा जावे ।

श्री अमितगति आचार्य तत्वभावना या बृहत् सामायिक पाठ में कहते है :–

असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगैः-
स्तनुधनसुतहेतोः कर्म्म यादृक् करोषि ।
सकृदपि यदि तादृक् संयमार्थं विधत्से-
सुखममलमनंतं किं तदा नाऽश्नुषेऽलं ।।६६।।

भावार्थ :– हे मूढ़ प्राणी ! तू शरीर, धन, पुत्र के लिये असिकर्म, मसिकर्म, विद्याकर्म, शिल्पकर्म तथा वाणिज्यकर्म से जैसा परिश्रम करता है, वैसा यदि तू एक दफे भी संयम के लिये करे तो तू निर्मल अनंतसुख क्यों नहीं भोग सकेगा ?

दिनकरकरजाले शैत्यमुष्णत्वमिंदोः ।
सुरशिखरिणि जातु प्राप्यते जंगमत्वं ।।
न पुनरिह कदाचित् घोरसंसारचक्रे ।
स्फुटमसुखनिधाने भ्राम्यता शर्म्म पुंसा ।।६८।।

भावार्थ :– कदाचित् सूर्य ठंडा हो जावे, चन्द्रमा उष्ण हो जावे, मेरु पर्वत चलने लग जावे तो भी इस भयानक दुःखों के भरे हुए संसार चक्र में भ्रमण करते हुए प्राणी को सच्चा सुख नहीं प्राप्त हो सकता है ।

श्वभ्राणामविसह्यमंतरहितं दुर्जल्पमन्योन्यजं ।
दाहच्छेदविभेदनाद्यिजनितं दुःखं तिरश्चां परं ॥
नृणां रोगवियोगजन्ममरणं स्वर्गौकसां मानसं ।
विश्वं वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्या मतिर्मुक्तये ॥७६॥

भावार्थ :– हे भव्य जीव ! तू इस जगत को सदा कष्टों से भरा हुआ देखकर इनसे मुक्ति पाने की बुद्धि कर । नारकियों के असह्य, अनन्त, वचन अगोचर पारस्परिक दुःख होता है । तिर्यंचों के अग्नि में जलने का, छेदन-भेदन आदि के द्वारा महान् दुःख होता है । मानवों के रोग, वियोग, जन्म, मरण का दुःख है । देवों के मानसिक कष्ट है ।

यावच्चेतसि बाह्यवस्तुविषयः स्नेहः स्थिरो वर्तते ।
तावन्नश्यति दुःखदान कुशलः कर्म प्रपंचः कथं ॥
आर्द्रत्वे वसुधातलस्य सजटाः शुष्यंति किं पादपाः ।
भृज्जत्तापनिपातरोधनपराः शाखोपशाखान्विताः ॥६६॥

भावार्थ :– जब तक तेरे मन में बाहरी पदार्थों के सम्बन्ध में राग-भाव दृढ़ता से मौजूद है, तब तक तेरे किस तरह दुःखकारी कर्म नाश हो सकते हैं ? जब पृथ्वी पानी से भीगी हुई है, तब उसके ऊपर सूर्य ताप के रोकने वाले अनेक शाखाओं से मंडित जटाधारी वृक्ष कैसे सूख सकते हैं ?

रामाः पापाविरामास्तनयपरिजना निर्मिता बह्वनर्था ।
गात्रं व्याध्यादिपात्रं जितपवनजवा मूढलक्ष्मीरशेषा ॥
किं रे दृष्टं त्वयात्मन् भवगहनवने भ्राम्यता सौख्यहेतु-
र्येन त्वं स्वार्थनिष्ठो भवसि न सततं बाह्यमत्यस्य सर्वम् ॥६८॥

भावार्थ :– हे मूढ़ ! ये स्त्रियाँ पाप वर्द्धक अहितकारी है । ये पुत्र परिजन बहुत अनर्थ के कारण हैं । यह शरीर रोग शोक से पीड़ित है । यह सम्पूर्ण सम्पदा हवा से अधिक चंचल है । इस संसार रूपी भयानक वन में हे आत्मा ! तूने क्या देखा है ? जिससे तू सर्व बाहरी पदार्थों को छोड़कर अपने आत्महित में सदा के लिये लीन नहीं होता है ।

सकललोकमनोहरणक्षमाः करण यौवन जीवित संपदः ।
कमलपत्रपयोलवचंचलाः किमपि न स्थिरमस्ति जगत्त्रये ।।१०६।।

भावार्थ :– सर्व जन के मन को हरने वाली इन्द्रियाँ, युवानी, जीतव्य व सम्पदाएं उसी तरह चंचल हैं; जैसे कमल के पत्ते पर पड़ी हुई पानी की बूंद चंचल है । इन तीनों लोकों में कोई भी पर्याय स्थिर रह नहीं सकती ।

जननमृत्युजरानलदीपितं जगदिदं सकलोऽपि विलोकते ।
तदपि धर्ममतिं विदधाति नो रतमना विषयाकुलितो जनः ।।११८।।

भावार्थ :– यह सर्व जगत जन्म, मरण, जरा की अग्नि से जल रहा है, ऐसा देखते हुए भी यह विषयों की दाह से आकुलित प्राणी उनमें मन को लीन करता हुआ धर्म साधन में बिलकुल बुद्धि को नहीं लगाता है ।

श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं :–

चतुर्गतिमहावर्त्ते दुःखवाडवदीपिते ।
भ्रमन्ति भविनोऽजस्रं वराका जन्मसागरे ।।१।।

भावार्थ :– चार गति रूपी महान भंवरवाले तथा दुःख रूपी वाड़वानल से प्रज्वलित इस संसार रूपी समुद्र में जगत के दीन प्राणी निरन्तर भ्रमा करते हैं ।

रूपाण्येकानि गृह्णाति त्यजत्यन्यानि सन्ततम् ।
यथा रङ्गेऽत्र शैलूषस्तथायं यन्त्र वाहकः ।।८।।

भावार्थ :– जैसे नृत्य के अखाड़े में नृत्यकार अनेक भेषों को धारता है और छोड़ता है, वैसे यह प्राणी सदा भिन्न-भिन्न रूपों को, शरीरों को ग्रहण करता है और छोड़ता है ।

देवलोके नृलोके च तिरश्चि नरकेऽपि च ।
न सा योनिर्न तद्रूपं न तद्देशो न तत्कुलम् ।।१२।।

भावार्थ :– इस संसार की चार गतियों में फिरते हुए जीव के वह योनि, वह रूप, वह देश, वह कुल, वह सुख-दुःख, वह पर्याय नहीं है, जो निरन्तर गमनागमन करने से प्राप्त न हुई हो ।

भूपः कृमिर्भवत्यत्र कृमिश्चामरनायकः ।
शरीरी परिवर्त्तेत कर्मणा वंचितो बलात् ।।१५।।

भावार्थ :– इस संसार में यह प्राणी कर्मों के फल से ठगा हुआ, राजा से मरकर लट हो जाता है और लट का जीव क्रम-क्रम से इन्द्रपद पा लेता है।

माता पुत्री स्वसा भार्या सैव संपद्यतेऽङ्गजा।
पिता पुत्रः पुनः सोऽपि लभते पौत्रिकं पदम् ॥१६॥

भावार्थ :– इस संसार में प्राणी की माता मरकर पुत्री हो जाती है, बहन मरकर स्त्री हो जाती है, वही स्त्री मरकर अपनी ही पुत्री हो जाती है, पिता मरकर पुत्र हो जाता है, फिर वही मरकर पुत्र का पुत्र हो जाता है, इस प्रकार उलट-पुलट हुआ करती है।

श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहतै-
स्तिर्यक्षु श्रमदुःखपावकशिखासंभारभस्मीकृतैः।
मानुष्येऽप्यतुलप्रयासवशगैर्देवेषु रागोद्धतैः
संसारेऽत्रदुरन्तदुर्गतिमये बम्भ्रम्यते प्राणिभिः ॥१७॥

भावार्थ :– इस दुर्निवार दुर्गतिमय संसार में जीव निरन्तर भ्रमण करते है। नरकों में तो ये सूली, कुल्हाड़ी, घाणी, अग्नि, क्षार, जल, छुरा, कटारी आदि से पीड़ा को प्राप्त हुए नाना प्रकार के दुःखों को भोगते हैं। पशुगति में अग्नि की शिखा के भार से भस्म होकर खेद और दुःख पाते है। मनुष्य गति में भी अतुल परिश्रम करते हुए नाना प्रकार के कष्ट भोगते है। देवगति में राग भाव मे उद्धत होते हुए दु.ख सहते हैं।

श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञान-तरंगिणी में कहते हैं :–

दृश्यन्ते गंधनावावनुजसुतसुताभीरुपित्रंबिकासु
ग्रामे गेहे खभोगे नगनगरखगे वाहने राजकार्ये।
आहार्येऽगे वनादौ व्यसनकृषिमुखे कूपवापीतडागे
रक्ताश्च प्रेषणादौ यशसि पशुगणे शुद्धचिद्रूपके न ॥२२-११॥

भावार्थ :– इस संसार में कोई मनुष्य तो इत्र-फुलेल आदि सुगंधित पदार्थों में रागी हैं। बहुत से छोटा भाई, पुत्र, पुत्री, स्त्री, पिता, माता, ग्राम, घर, इन्द्रिय भोग, पर्वत, नगर, पक्षी, वाहन, राजकार्य, भक्ष्य पदार्थ, शरीर, वन, सात व्यसन, खेती, कुआ, बावड़ी, सरोवर आदि में राग करने वाले हैं। बहुत से मनुष्य व वस्तुओं को इधर उधर भेजने में, यश, लाभ में, तथा पशुओं के पालन में मोह करने वाले हैं; परन्तु शुद्ध आत्मा के स्वरूप के प्रेमी कोई नहीं हैं।

कीर्ति वा पररंजनं खविषयं केचिन्निजं जीवितं
संतानं च परिग्रहं भयमपि ज्ञानं तथा दर्शनं ।
अन्यस्याखिलवस्तुनो रुगयुतिं तद्धेतुमुद्दिश्य च
कुर्युः कर्म विमोहिनो हि सुधियश्चिद्रूपलब्ध्यै परं ।।६-६।।

भावार्थ :– इस संसार में बहुत से मोही पुरुष कीर्ति के लिये काम करते हैं, अनेक दूसरों को रंजायमान करने के लिये, बहुत से इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति के लिये, अपने जीवन की रक्षा के लिये, संतान व परिग्रह प्राप्ति के लिये, भय मिटाने के लिये, ज्ञान-दर्शन पाने के लिये, रोग मिटाने के लिये काम करते है । कोई बुद्धिमान ही ऐसे हैं जो शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति के लिये उपाय करते हैं ।

एकेंद्रियादसंज्ञाख्यापूर्णपर्यंतदेहिनः ।
अनंतानंतमाः संति तेषु न कोऽपि तादृशः ।।
पंचाक्षिसंज्ञिपूर्णेषु केचिदासन्नभव्यतां ।
नृत्वं चालम्य तादृक्षाः भवंत्यार्याः सुबुद्धयः ।।१०-११।।

भावार्थ :– इस संसार में एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेंद्रिय तक अनतानंत जीव हैं, उनमें किसी के भी सम्यग्दर्शन के पाने की योग्यता नही है । पंचेन्द्रिय सैनी में भी जो निकट भव्य मनुष्य हैं, आर्य हैं व सुबुद्धि है वे ही मुख्यता से सम्यक्ती होकर चिद्रूप का ध्यान कर सकते है ।

पूरे ग्रामेऽटव्यां नगशिरसि नदीशादिसुतटे
मठे दर्यां चैत्योकसि सदसि रथादौ च भवने ।
महादुर्गे स्वर्गे पथनभसि लतावस्त्रभवने
स्थितो मोही न स्यात् परसमयरतः सौख्यलवभाक् ।।६-१७।।

भावार्थ :– जो मानव मोही हैं पर पदार्थ में रागी हैं, वे चाहे पुर, ग्राम, पर्वत का शिखर, समुद्र व नदी के तट, मठ, गुफा, वन, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किला, स्वर्ग, भूमि, मार्ग, आकाश, लतामण्डप, तम्बू आदि स्थानों पर कहीं भी निवास करें; उन्हें निराकुल सुख रंचमात्र भी प्राप्त नहीं हो सकता ।

पण्डित बनारसीदासजी बनारसीविलास में कहते हैं :–

[सवैया इकतीसा]

जामें सदा उतपात रोगनिसों छीजे गात।
कछू न उपाय छिन-छिन आउ खपनो।
कीजे बहु पाप और नरक दुःख चिंता व्याप।
आपदा कलाप में विलाप ताप तपनो ॥
जामें परिग्रह को विषाद मिथ्या बकवाद।
विषै भोग सुख हैं सवाद जैसो सपनो।
ऐसो है जगत वास जैसो चपला विलास।
जामें तू मगन भयो त्यागि धर्म अपनो ॥ ९ ॥
जग में मिथ्याति जीव भ्रम करै है सदीव।
भ्रम के प्रवाह में बहा है आगे बहेगा ॥
नाम राखिवे को महारम्भ करें दंभ करै।
यो न जाने दुर्गति में दुःख कौन सहेगा ॥
बार-बार कहे मैं ही भागवंत धनवंत।
मेरा नाम जगत में सदाकाल रहेगा।
याही ममता सो गहि आयो है अनन्त नाम।
आगे योनि-योनि में अनंत नाम गहेगा ॥ १० ॥

[कवित्त]

जैसे पुरुष कोई धन कारन, हींडत दीप-दीप चढ़ि यान।
आवत हाथ रतन चिंतामणि, डारत जलधि जानि पाषान ॥
तैसे भ्रमत-भ्रमत भवसागर, पावत नर शरीर परधान।
परम जतन नहि करत बनारसि, खोवत वादि जनम अज्ञान ॥ ४ ॥
ज्यों जड़मूल उखाड़ि कलपतरु, बोवत मूढ कनक को खेत।
ज्यों गजराज बेचि गिरिवर सम, कूर कुबुद्धि मोल खर लेत ॥
जैसे छांड़ि रतन चिंतामणि, मूरख कांच खण्ड मन देत।
तैसे धरम विसारि बनारसि, धावत अधम विषयसुख हेत ॥ ५ ॥
ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साजि मतंगजु ईंधन ढोवै।
कंचन भाजन धूरि भरै शठ, मूढ सुधारस सों पग धौवै ॥

बाहित काग उड़ावन कारण, डारि महामणि मूरख रोवै ।
त्यों यह दुर्लभ देह 'बनारसि, पाय अजान अकारथ खोवै ।। ६ ।।

[सवैया तेईसा]

मात-पिता, सुत, बन्धु, सखी जन, मीत हितू सुख कामिन कीके ।
सेवक राजि मतंगज वाजि, महादल साजि रथी रथ नीके ।।
दुर्गति जाय दुःखी विललाय परै सिर आय अकेले ही जीके ।
पंथ कुपंथ सुगुरु समझावत और सगे सब स्वारथ ही के ।। १५ ।।

पंडित द्यानतरायजी अपने द्यानतविलास में कहते हैं :–

[सवैया तेईसा]

हाट बनाय के बाट लगाय के, टाट बिछाय के उद्यम कीना ।
लेन को बाढ़ सु देन को घाट, सुवांटनि फेरि ठगे बहु दीना ।।
ताहू में दान को भाव न रंचक, पाथर की कहुँ नाव तरी ना ।
'द्यानत' याही ते नर्क में वेदनि, कोड़ किरोड़न और सही ना ।। ८१ ।।

नर्कन माँहि कहे नहि जाँहि, सहे दुःख जे जब जानत नाही ।
गर्भ मंझार कलेश अपार, तले सिर था तब जानत नाहीं ।।
धूल के बीच में कीच नगीच में, नीच क्रिया सब जानत नाही ।
द्यानत दाव उपाय करो जम, आवहिगो जब जानत नाहीं ।। ४४ ।।

आए तजि कौन धाम, चलवो है कौन ठाम,
करत हो कौन काम, कछूहू विचार है ।
पूरब कमाय लाय, यहां आइ खाय गए,
आगे को खरच कहा बांध्यो निरधार है ।।
बिना लिये दाम, एक कोस गाम को न जात,
उतराई दिये बिना कौन भयो पार है ।
आजकाल विकराल काल सिंघ आवत है,
में करूं पुकार धर्मधार जो तैयार है ।। २४ ।।

[सवैया इकतीसा]

केई-केई वार जीव भूपति प्रचण्ड भयो,
केई-केई वार जीव कीट रूप धरो है ।
केई-केई वार जीव नवग्रीवक जाय वस्यो,
केई-केई वार जीव सातवें नरक जावतरो है ।।
केई-केई वार जीव राघो मच्छ होइ चुक्यो,
केई-केई वार साधारन काय वरो है ।
सुख और दुःख दोउ पावत है जीव सदा,
यही जान ज्ञानवान हर्ष शोक हरो है ।। १६ ।।
याही जगमांहि चिदानंद आप डोलत है,
भर्म भाव धरे हरे आतम सकति को ।
कष्टकर्म रूप जे जे पुद्‌गल के परिनाम,
तिनको सरूप मान मानत सुमति को ।।
जाही समै मिथ्या मोह अन्धकार नाशि गया,
भयो परकाश भानु चेतन को तन को ।
ताही समै जान्यो आप आप, पर पररूप,
मानि भव भावरी निवारो चारों गति को ।। ७५ ।।

[छप्पय]

कबहुँ चढत गजराज बोझ, कबहुँ सिर भारी ।
कबहुँ होत धनवंत, कबहुँ जिम होत भिखारी ।।
कबहुँ असन लहि सरस कबहुँ, नीरस नहीं पावत ।
कबहुँ बसन शुभ सघन, कबहुँ तन नगन दिखावत ।।
कबहुँ स्वछन्द बन्धन, कबहुँ, करमचाल बहु लेखिये ।
यह पुन्य-पाप फल प्रगट जग, राग-दोष तजि देखिये ।। ५२ ।।
कबहुँ रूप अति सुभग, कबहुँ दुर्भग दुःखकारी ।
कबहुँ सुजस जस प्रगट, कबहुँ अपजस अधिकारी ।।
कबहुँ अरोग शरीर, कबहुँ बहु रोग सतावत ।
कबहुँ वचन हित मधुर, कबहुँ कछु बात न आवत ।।

कबहुँ प्रवीन, कबहुँ मुगध, विविध रूप नर देखिये ।
यह पुन्य-पाप फल प्रगट जग, राग दोष तजि देखिये ।। ५३ ।।

[सवैया इकतीसा]

रुजगार बनै नाहिं धन तो न घरमाँहि,
खाने की फिकर बहु नारि चाहे गहना ।
देने वाले फिरि जाहिं मिलत उधार नाहिं,
साँझ मिले चोर धन आवे नाहिं लहना ।।
कोऊ पूत जारी भयो घरमाहिं सुत थयो,
एक पूत मरि गयो ताकौ दुःख सहना ।
पुत्री वर जोग भई व्याही सुता मरि गई,
एते दुःख सुख मानै तिसे कहा कहना ।। ४० ।।

शिष्य को पढ़ावत हैं हेम को गढावत है,
मान को बढ़ावत हैं नाना छल छान के ।
कौड़ी कौड़ी मांगत हैं कायर हो भागत है,
प्रात उठे जागत हैं स्वारथ पिछान के ।।
कागद को लेखत हैं केई नग पेखत है,
केई कृषि देखत हैं आपनी युवनि के ।
एक सेर नाज काज अपनो सरूप त्याज,
डोलत हैं लाज काज धर्म काज हान के ।। ३६ ।।

देखो चिदानंद राग ज्ञान दृष्टि खोल करि,
तात मात भ्रात सुत स्वारथ पसारा है ।
तू तो इन्हें आप मानि ममता मगन भयो,
वह्यो भर्म माहिं निज धर्म को विसारा है ।।
यह तो कुटुम्ब सब दुख ही को कारण है,
तजि मुनिराज निज कारज विचारा है ।
ताते धर्म सार स्वर्ग मोक्ष सुखकार,
सोई लहे भवपार जिनधर्म ध्यान धारा है ।। ३४ ।।

[कुण्डलिया]

यह संसार असार है, कदली वृक्ष समान ।
यामें सारपनो लखै, सो मूरख परधान ।।
सो मूरख परधान मान कुसुमनि नभ देखें ।
सलिल मथै घृत चहैं शृङ्ग सुन्दर खर पेखें ।।
अगिनि माहिं हिम लखें सर्प मुख माहिं सुधा तह ।
जान जान मन मांहि नांहि संसार सार यह ।। ३० ।।

भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास में कहते हैं :—

[सवैया तेईसा]

काहे को देह सों नेह करै तू, अन्त न राखी रहेगी ये तेरी ।
मेरी ये मेरी कहा करै लच्छि सों, काहू की ह्वै के कहुँ रहि तेरी ।।
मानि कहा रहो मोह कुटुम्ब सों, स्वारथ के रस लागे सवेरी ।
ताने तू चेत विचच्छन चेतन, झूठि ये रीति सवै जग केरी ।।८८।।

[सवैया इकतीसा]

कोटि कोटि कष्ट सहै कष्ट में शरीर दहे,
धूमपान किये पै प पायो भेद तन को ।
वृक्षनि के मूल रहे जटानि में झूल रहे,
मानमध्य भूलि रहे किये कष्ट तन को ।।
तीरथ अनेक नए तीरथ न कहूँ भये,
कीरति के काज दियो दान हूँ रतन को ।
ज्ञान बिना वेर वेर क्रिया फेर फेर,
कियो कोऊ कारज न आतम जतन को ।। ६४ ।।

[सवैया तेईसा]

बालक है तब बालक सी बुधि, जोबन काम हुताशन जारे ।
रुद्ध भयो तन अङ्ग रहे थकि, आये हैं श्वेत गए सब कारे ।।
पांय पसारि परचो धरनी मंहि, रोवै रटै दुःख होत महारे ।
वीती यों बात गयो सब भूलि, तू चेतत क्यों नहिं चेतनहारे ।।५१।।

[सवैया इकतीसा]

देखत हो कहां-कहां केलि करै चिदानंद,
आतम सुभाव भूलि और रस राचो है।
इंद्रिन के सुख में मगन रहे आठों जाम,
इंद्रिन के दुख देख जानै दुख साचो है।।
कहूँ क्रोध, कहूँ मान, कहूँ माया, कहूँ लोभ,
अहंभाव मानि मानि ठौर ठौर माचो है।
देव, तिरयंच, नर, नारकी, गतीन फिरै,
कौन कौन स्वांग धरै यह ब्रह्म नाचो है।। ३६।।

पाय नर देह कहो कीना कहा काम तुम,
रामा-रामा, धन-धन करत विहातु है।
कैक दिन कैक छिन रही है शरीर यह,
याके संग ऐसे काज करत सुहातु है।।
जानत है यह घर मरवे को नाहिं डर,
देख भ्रम भूलि मूढ़ फूलि मुसकातु है।
चेतरे अचेत पुनि चेतवे को ठौर यह,
आज काल पींजरे सो पक्षी उड़ जातु है।। २१।।

विकट भवसिंधु तारू तारिवे को तारू कौन,
ताके तुम तीर आये देखो दृष्टि धरिके।
अबके संभारेते पार भले पहुँचते हो,
अबके संभारे बिन बूड़त हो तरिके।।
बहुरि फिर मिलवो न ऐसो संजोग कहूं,
देव-गुरु-ग्रन्थ करि आये यही धरिके।
ताहि तू विचार निज आतम निहारि भैया,
धारि परमात्मा विशुद्ध ध्यान करिके।। ७।।

धूम्रन के धौर हर देखि कहा गर्व करे,
ये तो छिन मांहि जाइ पौन परसत ही।

सन्ध्या के समान रंग देखत ही होय भंग,
दीपक पतंग जैसे काल गरसत ही ॥
सुपने में भूप जैसे इन्द्र धनु रूप जैसे,
ओसबूंद धूप जैसे दुरे दरसत ही ।
ऐसो ही भरम सब कर्मजालवर्गणा को,
तामें मूढ मग्न होय मरै तरसत ही ॥१७॥

जहाँ तोहि चलिबो है साथ तू तहां को ढूढ़ि,
यहां कहा लोगनि सों रह्यो तू लुभाय रे ।
संग तेरे कौन चलै देख तू विचार हिये,
पुत्र कै, कलत्र, धन-धान यह काय रे ॥
जाके काज पाप करि भरतु है पिंड निज,
ह्वै है को सहाय तेरे नर्क जब जाय रे ।
तहां तो इकेलो तू ही पाप-पुण्य साथ दोय,
तामें भलो होइ सोई कीजे हंसराय रे ॥

—

अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नही है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती । उन्हें परिणमित करना चाहे वह कोई उपाय नही है, वह तो मिथ्यादर्शन ही है ।

—मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ५२

दूसरा अध्याय

शरीर स्वरूप

इस संसार में जितनी आत्माएँ भ्रमण कर रही है, वे सब शरीर के संयोग में हैं। यदि शरीर का सम्बन्ध न होता तो सर्व ही आत्माए सिद्ध परमात्मा होती, संसार का अभाव ही होता। वास्तव में दूध-पानी की तरह शरीर और आत्मा का सम्बन्ध हो रहा है। आत्मा बडा ही सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थ है जबकि शरीर जड़ मूर्तिक पुद्गल परमाणुओं के स्कंधो से बना है। इसलिये संसारी प्राणियों की स्थूल दृष्टि में आत्मा के होने का विश्वास नही होता, क्योंकि रात-दिन शरीर का ही प्रभुत्व व साम्राज्य हो रहा है, आत्मा का महत्व ढक रहा है।

यह मोही प्राणी बाहरी स्थूल शरीर को ही आपा मान रहा है, उसके जन्म में, मैं जन्मा; उसके मरण में, मै मरा; उसके रोगी होने पर, मै रोगी, उसके दुर्बल होने पर, मै दुर्बल; उसके वृद्ध होने पर, मै वृद्ध; उसके निरोगी होने पर, मैं निरोगी; उसके सबल होने पर, मै सबल, उसके जवान होने पर, मैं जवान; ऐसा मान रहा है। यदि वह धनवान माता-पिता से जन्मा है तो अपने को धनवान मानता है। यदि निर्धन से जन्मा है तो निर्धन मानता है। राज्य कुलवाला अपने को राजा दरिद्र कुलवाला अपने को दरिद्री, कृषक कुलवाला अपने को किसान, जुलाहे के कुलवाला अपने को जुलाहा, दर्जी कुलवाला अपने को दरजी, धोबी कुलवाला अपने को धोबी, चमार कुलवाला अपने को चमार, सुनार कुलवाला अपने को सुनार, लुहार कुलवाला अपने को लुहार, बढ़ई कुलवाला अपने को बढ़ई, थवई कुलवाला अपने को थवई, रंगरेज कुलवाला अपने को रंगरेज, माली कुलवाला अपने को माली मान रहा है।

शरीर की जितनी दशायें होती है, वे सब मेरी हैं ऐसा घोर अज्ञान तम छाया हुआ है। शरीर के मोह में इतना उन्मत्त है कि रात-दिन शरीर की

चर्चा करता है । सवेरे से संध्या होती है, संध्या से सवेरा होता है । शरीर की ही रक्षा, शरीर के ही शृंगार का ध्यान रहता है । इसे साफ करना है, इसे धोना है, इसे कपड़े पहनाने हैं, इसे चंदन लगाना है, इसे भोजन-पान कराना है, इसे व्यायाम कराना है, इसे परिश्रम कराना है, इसे आराम देना है, इसे शयन कराना है, इसे आभूषण पहिनाने हैं, इसे वाहन पर ले जाना है, इसके लिये द्रव्य कमाना है, इसके सुखदाता स्त्री, नौकर, चाकरों की रक्षा करनी है, इसके विरोधी शत्रुओं का संहार करना है – इसी धुन में इतना मस्त है कि इसे अपने आत्मा को जानने की व समझने की फुरसत ही नहीं मिलती है ।

जिस शरीर के मोह में आपको भूलकर काम किया करता है, वही शरीर पुराना पड़ते-पड़ते या जवानी में ही या बालवय में ही आयुकर्म के समाप्त होने पर छूटने लगता है तो महा-विलाप करता है; मैं मरा, मै मरा, मेरे साथी छूटे, मेरा धन छूटा, मेरा घर छूटा, मेरा सर्वस्व लुट गया, ऐसा मेरा-मेरा करता हुआ मरता है और तुरन्त ही दूसरा स्थूल शरीर प्राप्त कर लेता है ।

जिसकी सगति से यह बावला हो रहा है, उसका स्वभाव क्या है ? इसका यदि विचार किया जावेगा, विवेक बुद्धि से इस बात का मनन किया जावेगा तो विदित होगा कि 'शरीर' का भिन्न सड़न, गलन, पड़न, मिलन, बिछुडन स्वभाव है; जब कि 'मै' अखण्ड, अविनाशी, अजात, अजर, अमर, अमूर्तिक, शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा ईश्वर स्वरूप परमानन्दमय अनुपम एक सत् पदार्थ हूँ ।

समारी जीवों के सर्व शरीर पाँच तरह के पाये जाते हैं – कार्मण, तेजस, आहारक, वैक्रियिक और औदारिक । सबसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय कार्मण शरीर है, सबसे स्थूल औदारिक है. तथापि सबसे अधिक पुद्गल के परमाणुओं का संघट्ट कार्मण में है, उसमे बहुत कम तैजस आदि में क्रम से है । सबसे अधिक परम बलिष्ट शक्ति कार्मण में है, उसमे कम शक्ति क्रम से और शरीरों में है ।

कार्मण शरीर, कार्मण वर्गणा रूपी सूक्ष्म स्कंधों से बनता है । इसके बनने में मुख्य कारण संसारी जीवों के शुभ व अशुभ राग-द्वेष-मोहमयी भाव तथा मन-वचन-काय योगों का हलन-चलन है । यही अन्य चार शरीरो के बनाने का निमित्त कारण है । इसी के फल से बिजली (Electric) की सी शक्ति

को रखने वाली तैजस वर्गणा रूपी सूक्ष्म स्कंधों से तैजस शरीर बनता है। ये दो शरीर प्रवाहरूप से संसारी जीव के साथ अनादिकाल से चले आ रहे हैं। जब तक मोक्ष न हो, साथ रहते हैं; मोक्ष होते ही छूट जाते हैं; तो भी ये एक से नहीं रहते हैं, इनमें से पुरानी कार्मण तथा तैजस वर्गणाएं छूटती रहती है व नई कार्मण व तैजस वर्गणाएं मिलती रहती हैं।

यदि किसी मिथ्यादृष्टि मोही बहिरात्मा सैनी पंचेन्द्रिय के कार्मण शरीर की परीक्षा की जावे तो पुरानी से पुरानी कार्मण वर्गणा उसके कार्मण शरीर में सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर (सागर अनन्त वर्षों को कहते हैं) से अधिक पुरानी नहीं मिल सकेगी। आहारक शरीर भी सूक्ष्म है, यह शरीर तपस्वी ऋद्धिधारी महामुनियों के योगबल से बनता है। पुरुषाकार एक हाथ का सफेद बड़ा मुन्दर पुतला मस्तक द्वार से निकलता है और एक अन्तर्मुहूर्त तक ही बना रह सकता है, फिर दूसरा बन सकता है। यह शरीर साधु की भावना के अनुसार तार के समान किसी अरहंतकेवली व श्रुतकेवली के दर्शन को जाता है, कोई सूक्ष्म शका किसी तत्व में होती है वह दर्शनमात्र से मिट जाती है। कार्य लेने तक ही यह बना रहता है, फिर विघट जाता है।

वैक्रियिक शरीर और औदारिक शरीर दो शरीर ऐसे है, जो चारो गतिधारी प्राणियों के स्थूल शरीर हैं – जीवन तक रहते हैं, फिर छूट जाते है, नये प्राप्त होते हैं। देवगति व नरकगति वाले प्राणियों के स्थूल शरीरो को वैक्रियिक तथा तिर्यच और मनुष्यगति वाले प्राणियों के स्थूल शरीर को औदारिक कहते हैं।

नारकियों का वैक्रियिक शरीर बहुत ही अशुभ दुर्गन्धमय आहारक वर्गणाओं से बनता है। वे वर्गणाएं नामकर्म के फल से स्वय मिल जाती हैं और एक अन्तर्मुहूर्त में जितना बड़ा शरीर होना चाहिये, उतना बड़ा तैयार हो जाता है। यह शरीर बहुत ही असुहावना, डरावना, हुंडकसंस्थानमय पापकर्म के फल को दिखानेवाला होता है। इस शरीर को वैक्रियिक इसलिये कहते है कि इसमें विक्रिया करने की शक्ति होती है। नारकी इच्छानुसार अपने शरीर को सिंह, भेड़िया, कुत्ता, नाग, गरुड़ आदि बुरे पशुरूपों में बदल सकते हैं, वे अपने अंगों को ही शस्त्र बना लेते हैं। परस्पर दुःख देने के साधन बनाने में

उनके शरीर नाना प्रकार की अपृथक् विक्रियाएँ करते रहते हैं। इस शरीर में ऐसी शक्ति होती है कि छिन्न-भिन्न होने पर भी पारे के समान मिल जाता है। नारकी निरन्तर पीड़ा से आकुलित हो चाहते हैं कि यह शरीर छूट जावे, परन्तु वह शरीर पूरी आयु भोगे बिना छूटता नही, उसका अकाल मरण होता नहीं। वे ऐसे शरीर में रत नहीं होते हैं, इसी से उनको नारत भी कहते हैं।

देवों के भी स्थूल शरीर को वैक्रियिक कहते हैं। यह शरीर भी एक अंतर्मुहूर्त में स्वयं नामकर्म के उदय से सुन्दर सुहावनी सुगन्धमय आहारक वर्गणाओं से बनता है। यह सुन्दर व कांतिकारी होता है। पुण्य कर्म के कमती-बढ़ती होने के कारण सर्व देवों का शरीर एक-सा सुन्दर नही होता है; कोई कम, कोई अधिक; इसी से देव परस्पर एक-दूसरे को देखकर ईर्षावान होकर मन में घोर दुःख पाते है। अपने को दूसरों के मुकाबले में कम सुन्दर देखकर कुढ़ते हैं व रात-दिन मन ही मन में जलते रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी देवों को यह बड़ा मानसिक दुःख रहता है।

शरीर सुन्दर होने से वे देव शरीर के मोह में रत रहते हुए शरीर में प्राप्त पांचों इन्द्रियों के भोगों मे बडे आसक्त रहते है। इनके शरीर में अपृथक् तथा पृथक्-पृथक् विक्रिया करने की शक्ति होती है। एक देव या देवी अपने एक शरीर के बहुत शरीर बनाकर आत्मा को सब में फैला देते हैं और मन द्वारा सर्व शरीरों से काम लिया करते है। एक ही शरीर से बने हुये भिन्न-भिन्न शरीरों को भिन्न-भिन्न स्थानों में भेजकर काम लेते है। छोटा-बड़ा, हलका-भारी नाना प्रकार करने की शक्ति उनके वैक्रियिक शरीर मे होती है। एक देवी अनेक प्रकार शरीर बनाकर क्रीड़ा क्रिया करती है। इन देवों में शरीर संबंधी सैर, भ्रमण, नाच, गाना, नाटक, खेल, तमाशा इतना अधिक होता है कि ये रात-दिन इस ही राग-रंग में मगन होकर शरीर के ही सुख में आसक्त हो शरीर रूप ही अपने को मान लेते हैं। मिथ्यात्वी देवों को स्वप्न में भी ख्याल नहीं आता है कि हम शरीर से भिन्न कोई आत्मा हैं।

शरीर के गाढ़ मोह के कारण कोई प्रिय देवी मरती है तो देवों को महान कष्ट होता है। अपना मरण निकट होता है तो बड़ा दुःख होता है। वे चाहते हैं कि और अधिक जीते रहें, परन्तु आयुकर्म के समाप्त होते ही उनको

शरीर छोड़ना पड़ता है। अकाल-मरण तो इनमें भी नहीं होता है। आर्तध्यान से शरीर छोड़ते हैं। कोई-कोई मर करके वृक्ष वनस्पतिकाय में या रत्नादि पृथ्वीकाय में, कोई-कोई मृग, श्वान, अश्व, हाथी, वृषभ पशुओं में और मोर, कबूतर आदि पक्षियों में उत्पन्न हो जाते हैं। कोई-कोई दीन-हीन मनुष्यों में जन्म लेते हैं। जैसा मोहकर्म वश पापकर्म बांधते हैं, वैसे ही कम बुरी व अधिक बुरी योनी में आकर जन्म पाते हैं। शरीर का मोह देवों को पन्चेन्द्रिय से एकेन्द्रिय तक की योनी में पटक देता है, जहाँ से उन्नति करके फिर पन्चेन्द्रिय होना उनके लिये अनंतकाल में भी दुर्लभ हो जाता है।

तिर्यञ्चगति मे एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि व वायुकायादिकों का शरीर भी आहारक वर्गणाओं से बनता है, ये वर्गणाए कुछ शुद्ध है। वनस्पतियों का शरीर पृथ्वी आदि धातुओं से व आहारक वर्गणाओं से बनता है। विकलत्रय व पंचेन्द्रिय पशुओं का शरीर भिन्न-भिन्न प्रकार की अच्छी-बुरी आहारक वर्गणाओं से बनता है, जिससे किन्ही का शरीर सुन्दर, किन्ही का असुन्दर होता है, किन्हीं का दुर्गधमय, किन्ही का सुगन्धमय होता है। असैनी पचेन्द्रिय तक सर्व पशुओं के मन नही होता है, इससे उनके विचारने की शक्ति ही नही होती है कि वे यह विचार सके कि आत्मा कोई भिन्न है व शरीर कोई भिन्न है। वे अपने को शरीर रूप ही माना करते हैं, उनकी तीव्र आसक्ति शरीर में होती है। जो सैनी पंचेन्द्रिय पशु है, उनके मन होता है, वे विचार कर सकते हैं, परन्तु उनको शरीर व आत्मा की भिन्नता के ज्ञान पाने का अवसर क्वचित् ही होता है। वे भी शरीर में मोही होते हुए शरीर से ही अपना जन्म-मरण मानते रहते हैं व शरीर के छेदन-भेदन, भूख-प्यास से बहुत कष्ट भोगते है।

मनुष्यगति में इस कर्मभूमि के मनुष्यों का शरीर भी सुन्दर-असुन्दर नाना प्रकार की आहारक वर्गणाओं से बनता है। पहिले तो शरीर की उत्पत्ति में कारण गर्भ है। वहाँ अति मलीन, पुरुष का वीर्य व स्त्री के रज का सम्बन्ध होता है, तब गर्भ बनता है। उसमें जीव अन्य पर्याय से आता है, तब वह चारों तरफ की ओर भी आहारक वर्गणा रूपी पुद्गल को ग्रहण करता है। विग्रह-गति से आया हुआ जीव मनुष्यगति में एक साथ आहारक वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनो वर्गणा को ग्रहण करता है। अन्तर्मुहूर्त तक अपर्याप्त अवस्था

कहलाती है। जबतक उन वर्गणाओं में आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा और मन इनके बनने की शक्ति का प्रकाश न हो, तब तक वह मानव अपर्याप्त कहलाता है, फिर वह पर्याप्त हो जाता हैं।

मानव का शरीर नौ मास के अनुमान महान कष्ट में पूरा बनता है। तब तक इस जीव को गर्भ स्थान में उल्टा रहना पड़ता है। वह स्थान महा अपवित्र दुर्गधमय होता है। माता-द्वारा खाये हुए भोजनपान द्वारा वह वहाँ अपना खाद्य ग्रहण करके बढ़ता है। अंगोपांग सिकुड़े हुए एक झिल्ली के भीतर रहते है। जब वह गर्भ से निकलता है तो उस बालक को बड़ा भारी कष्ट होता है। बाल्यावस्था में शरीर बड़ी कठिनाई से माता द्वारा पाला जाता है। भूख-प्यास लगती है, समय पर दूध व अन्नादि मिलता है, कभी नही मिलता है तब रोता है, मल-मूत्र से अपने को सान लेता है।

मानव इस स्थूल शरीर को ऊपर से चिकना देखकर इसमें लुभा जाते है, परन्तु इस औदारिक शरीर के सम्बन्ध में विचार नही करते हैं। यदि भले प्रकार शरीर के स्वभाव पर विचार किया जावे तो कोई भी बुद्धिमान ऐसे अशुचि, मैले, घिनावने शरीर की संगति पसन्द न करे। इसकी उत्पत्ति का कारण माता-पिता का अत्यन्त मलीन रज-वीर्य है। यह मलमयी गर्भस्थान में बढ़ता है। इसके भीतर सात धातु व उपधातु हैं।

सात धातुये है रस, रुधिर, मांस, मेद (चरबी), हाड, मिंजी, शुक्र (वीर्य) जो भोजन-पान किया जाता है, वह इन दशाओं में पलटते-पलटते अनु-मान एक मास में वीर्य को तैयार करता है।

सात उपधातुयें हैं – वात, पित्त, श्लेष्म, सिरा, स्नायु, चर्म, उपराग्नि। इनके भरोसे पर शरीर बना रहता है। यदि इनमें से कोई उपधातु बिगड़ जाती है तो रोग पैदा हो जाता है। यदि कोई ऊपर की खाल का ढकना जरा भी हटादे तो इस शरीर पर मक्खियां बैठ जायेंगी। इतना घिनावना दीखेगा कि स्वयं को ही बुरा लगेगा। इस शरीर के भीतर मल, पीप अनेक कीड़े बिलबिला रहे हैं। यह मैल के घड़े के समान मलीन पदार्थों से भरा है। शरीर में करोड़ों रोम छिद्र हैं, उनसे रात-दिन पसीनारूपी मैल ही निकलता है। नव बड़े द्वारों

से निरन्तर मैल ही निकलता है । नव द्वार हैं – दो कर्णछिद्र, दो आँख, दो नाक छिद्र, एक मुख, दो कमर के वहाँ लिंग व गुदा ।

यह शरीर निरन्तर झड़ता रहता है व नये पुद्गलों से मिलता रहता है । अज्ञानी समझते हैं कि यह शरीर थिर है, परन्तु यह सदा अथिर रहता है । जैसे एक सेना के व्यूह में युद्ध के समय सिपाही मरते जाते हैं, नये उनकी जगह को आकर भर देते हैं; वैसे ही इस शरीर में पुराने परमाणु झड़ते हैं, नये मिलते हैं, बालकपन, कुमारपन, जवानीपन, इन तीनों में कुछ सुन्दर दीखता है । जरा आने पर निर्बल व असुन्दर होने लगता है । इसकी अवस्था एक-सी नहीं रहती है । इसमें अनगिनती रोग, ज्वर, खांसी, श्वास, पेटदर्द, सिरदर्द, कमरदर्द, गठिया, जलोदर, कोढ़ आदि पैदा होते रहते हैं । इसके छूट जाने का कोई नियम नहीं ।

देव व नारकियों का शरीर तो पूरी आयु होने पर ही छूटता है, परन्तु कर्मभूमि के मनुष्य व तिर्यंचों का अकालमरण भी हो जाता है । जैसे दीपक में तेल इतना हो कि रातभर जलेगा, परन्तु यदि तेल किसी कारण से गिर जावे तो दीपक जल्दी ही बुझ जायगा । इसी तरह आयुकर्म की वर्गणाएं समय-समय फल देके खिरती रहती हैं, वे यदि इसी समान उदय में आती रहती है, कोई प्रतिकूल कारण नहीं होता है तब तो पूरी आयु भोग ली जाती है; परन्तु असातावेदनीय के उदय से यदि तीव्र असाध्य रोग हो जावे, विष खाने में आ जावे, तलवार लग जावे, अग्नि में जल जावे, जल में डूब जावे व और कोई अकस्मात् हो जावे तो आयुकर्म की उदीर्णा हो जाती है अर्थात् अवशेष आयु-कर्म की वर्गणाएं सब एकदम झड़ जाती हैं और मरण हो जाता है ।

ऐसे पतनशील, मलिन, घिनावने, रोगाक्रांत शरीर से अज्ञानीजन मोह करके रात-दिन इसी के संवारने में लगे रहते हैं व अपने को शरीररूप ही मान लेते हैं और शरीर के मोह में इतने मूर्च्छावान हो जाते है कि वे अपने आत्मा की तरफ दृष्टिपात भी नहीं करते हैं । धर्मसाधन से विमुख रहते है । अन्त में रौद्रध्यान से नरक या आर्तध्यान से पशुगति में चले जाते हैं ।

यद्यपि यह मानव का शरीर मलीन, क्षणभंगुर व पतनशील है, तथापि यदि इसको सेवक के समान रक्खा जावे व इससे अपने आत्मा का हित किया

जावे तो इसी शरीर से आत्मा अपनी बड़ी भारी उन्नति कर सकता है । तप करके व आत्मध्यान करके ऐसा उपाय कर सकता है जो फिर कुछ काल पीछे शरीर का सम्बन्ध ही छूट जावे । नौकर को इतनी ही नौकरी दी जाती है, जिससे वह बना रहे व आज्ञा में चलकर हमारे काम में पूरी-पूरी मदद दे । इसी तरह शरीर को दुरुस्त रखने के लिये योग्य भोजन-पान देना चाहिये । इसे ऐसा खान-पान न देना चाहिये, जिससे यह आलसी, रोगी व उन्मत्त बन जावे । इसको अपने अधीन रखना चाहिये, शरीर के अधीन आप नहीं होना चाहिये ।

इस शरीर से बुद्धिमान ऐसा यत्न करते हैं, जिससे फिर यह शरीर प्राप्त नहीं होवे, कर्मों की पराधीनता मिट जावे और यह आत्मा स्वाधीन हो जावे । इस मानव शरीर को यदि धर्मसाधन में लगा दिया जावे तो इससे बहुत उत्तम फलों की प्राप्ति हो सकती है । यदि भोगों में लगाया जावे तो अल्प भोग रोगादि आकुलता के उत्पन्न कराने वाले होते है और उनसे तृप्ति भी नहीं होती है । यह शरीर काने सांठे के समान है । काने सांठे को खाने से स्वाद ठीक नही आता है, परन्तु यदि उसे बो दिया जावे तो वह अनेक सांठों को पैदा कर देता है ।

संयम का साधन-मुनिधर्म का साधन केवल मात्र इस मानव शरीर से ही हो सकता है । पशु कदाचित् श्रावक धर्म का साधन कर सकते हैं । नारकी व देव तो श्रावक का संयम नही पाल सकते हैं, केवल व्रतरहित सम्यग्दृष्टि ही हो सकते है । सम्यग्दृष्टि ज्ञानी इन्द्रादिदेव यह भावना भाया करते हैं कि कब आयु पूरी हो और कब हम मनुष्य देह पावें । जो तप साधन कर कर्मों को जलावें और आत्मा को मुक्त करें, जन्म मरण से रहित करें, उसे सिद्ध पद में पहुँचावें, – ऐसे उपकारी मानव जन्म को पाकर मानवों के शरीर को चाकर के समान रखकर इसकी सहाय से गृहस्थाश्रम में तो धर्म, अर्थ, काम तीन पुरुषार्थों को साधना चाहिये और मुनिपद में धर्म और मोक्ष को ही साधना चाहिये ।

बुद्धिमानों को धर्मसाधन में यह भी नहीं देखना चाहिये कि अभी तो हम कुमार हैं, अभी तो हम जवान हैं, बुढ़ापे में धर्म साधन कर लेंगे । अकाल-

मरण की संभावना होने से हमारा यह विचार ठीक नहीं है । मानवों के सिर पर सदा ही मरण खड़ा रहता है, मालूम नहीं कब आ जावे। इसलिये हर एक पन में अपनी शक्ति के अनुसार धर्म का साधन करते रहना चाहिये, जिससे मरते समय पछताना न पड़े । मानव शरीर का सम्बन्ध अवश्य छूटेगा, उसी के साथ लक्ष्मी, परिवार, सम्पदा सब छूटेगी । तब इस शरीर व उसके संबंधियों के लिये बुद्धिमान को पापमय, अन्यायमय, हिंसाकारी जीवन नहीं बिताना चाहिये । स्वपर उपकारी जीवन बिताकर इस शरीर को सफल करना चाहिये । इसमें रहना एक सराय का वास मानना चाहिये ।

जैसे सराय में ठहरा हुआ मुसाफिर सराय के दूसरे मुसाफिरों से स्नेह करते हुए भी मोह नहीं करता है, वह जानता है कि सराय से शीघ्र जाना है, वैसे ही शरीर में रहते हुए बुद्धिमान प्राणी शरीर के साथियों से मोह नही करते हैं, प्रयोजन वश स्नेह रखते हैं । वे जानते हैं कि एक दिन शरीर छोड़ना पड़ेगा तब ये सब संबंध स्वप्न के समान हो जायेंगे । शरीर झौंपड़ी को पुद्गल से बनी जानकर हमें इससे मोह या मूर्छा भाव नहीं रखना चाहिये। यह झौपड़ी है, हम रहने वाले आत्मा अलग हैं । झौपड़ी जले हम नहीं जल सकते, झौपडी गले हम नहीं गल सकते, ? झौपड़ी पड़े हम नही पड़ सकते. झौपड़ी पुरानी पड़े हम जर्जरित नही हो सकते ।

यह पुद्गलरूप है, पूरन-गलन स्वभाव है, जड़ है, मूर्तिक है तथा हम अमूर्तिक अखंड आत्मा है । हमारा इसका वैसा ही सबंध है, जैसे देह और कपड़ों का । कपड़ा फटे, सड़े, गले, छूटे हमारी देह न कटती है, न सडती है न गलती है, कपड़ा लाल, पीला, हरा हो, देह लाल, पीली, हरी नही होती है. इसी तरह शरीर बालक हो, युवान हो, वृद्ध हो, रोगी हो, पतनशील हो; हम आत्मा हैं, हम बालक नही युवान नही, वृद्ध नहीं, रोगी नहीं पतनशील नही । ज्ञानी को यही उचित है कि इस शरीर के स्वभाव का विचार करके इससे मोह न करे ।

इस शरीर की अपवित्रता तो प्रत्यक्ष प्रगट है । जितने पवित्र पदार्थ है, शरीर का स्पर्श पाते ही अशुचि हो जाते हैं । पानी, गंध, माला, वस्त्र आदि शरीर के स्पर्श के बाद दूसरे उसको ग्रहण करना अशुचि समझते है । नगर व

ग्राम में सारी गंदगी का कारण मानवों के शरीर का मल है। ऐसे अपवित्र शरीर भी पूजनीय व पवित्र माने जाते हैं, यदि आत्मा धर्म रत्नों से विभूषित हो। अतएव हम सबको उचित है कि हम इस मानव देह को पुद्गलमयी, अशुचि नाशवंत व आयुकर्म के आधीन क्षणिक समझकर इसके द्वारा जो कुछ आत्म-हित साधन हो सके सो शीघ्र करलें। यदि विलम्ब लगाया तो यह शरीर धोखा दे जायेगा और मरते समय पछताना पड़ेगा कि हमने कुछ नही किया।

शरीर का स्वरूप आत्मा के स्वरूप से बिलकुल विलक्षण है। इसे अपने से भिन्न जानकर इससे वैराग्यभाव ही रखना चाहिये और इसी शरीर से ऐसा यत्न करना चाहिये, जिससे फिर इस शरीर की प्राप्ति ही न हो, फिर इस शरीर के जेलखाने में आना ही न पड़े और हम सदा के लिये स्वाधीन परमानन्दमय हो जावें। हमको मिथ्यात्व रूपी अधंकार से निकलकर सम्यक्त्व के प्रकाश में आने का पूरा-पूरा यत्न करना चाहिये।

जैनाचार्यो ने शरीर का स्वरूप कैसा बतलाया है, सो नीचे के शास्त्रों के वाक्यों से प्रगट होगा :-

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने द्वादशानुप्रेक्षा में कहा है :-

दुग्गंधं बीभत्थं कलिमल भरिदं अचेयणो मुत्तम्।
सडणपडणं सहावं देहं इदि चिन्तये णिच्चम् ।।४४।।

भावार्थ :- ज्ञानी को नित्य ऐसा विचारना चाहिये कि यह शरीर दुर्गधमय है, घृणामय है, मैल से भरा है, अचेतन है, मूर्तिक है, इसका स्वभाव ही सड़ना व पड़ना है।

देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा ।।४६।।

भावार्थ :- देह के भीतर बसा, परन्तु देह से जुदा, कर्मो से भिन्न अनंत सुख समुद्र, अविनाशी, पवित्र आत्मा है - ऐसी सदा भावना करने योग्य है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड में कहते हैं :-

एक्केक्कंगुलि वाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया ।।३७।।

भावार्थ :— इस मनुष्य के देह में एक-एक अंगुल में छियानवे-छियानवे रोग होते हैं, तब कहो, सर्व शरीर में कितने-कितने रोग होंगे ।

ते रोया विय सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे ।
एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ।।३८।।

भावार्थ :— हे महायश ! तूने पूर्व भवों में उन रोगों को परवश हो सहा है, ऐसे ही फिर सहेगा; बहुत क्या कहें ?

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले ।
उयरे वसिओसि चिरं नवदसमासेहि पत्तेहिं ।।३९।।

भावार्थ :—हे मुने ! तू ऐसे महान अपवित्र उदर में नौ मास तथा दस मास बसा; जो उदर पित्त और आँतों से बेढ़ा है, जहां मूत्र, फेफस, कलेजा, रुधिर, श्लेष्म और अनेक कीड़े पाये जाते है ।

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं ।
असुई असिया बहुसो मुणिवर ! बालत्तपत्तेण ।।४१।।

भावार्थ :— हे मुनिवर ! तू बालपने के काल में अज्ञान अवस्था में अशुचि, अपवित्र स्थान में अशुचि में लोटा और बहुत बार अशुचि वस्तु भी खाई ।

मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंधम् ।
खरिसवसपूयखिब्भिस भरियं चिंतहि देहउडं ।।४२।।

भावार्थ :— हे मुने ! तू देहरूपी घड़े को ऐसा विचार कि यह देहघट मांस, हाड, वीर्य, रुधिर, पित्त, आंतो से झड़ती मुरदे की सी दुर्गन्ध, अपक्व मल, चरबी, पीप आदि मलिन वस्तुओं से पूर्ण भरा है ।

श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार में द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं :—

असुइविलिविले गब्भे वसमाणो वत्थिपडलपच्छण्णो ।
मादूइसेभलालाइयं तु तिव्वासुहं पिबदि ।।३३।।

भावार्थ :— अपवित्र मूत्र, मल, श्लेष्म, पित्त, रुधिरादि से घृणायुक्त गर्भ में बसा हुआ, मांस की झिल्ली से ढका हुआ, माता के कफ द्वारा पाला हुआ — यह जीव महान दुर्गंध रस को पीता है ।

मंसट्ठिसिंभवसरुहिरचम्मपित्तं तमुत्तकुणिपकुडिं ।
बहुदुःखरोगभायण सरीरमसुभं वियाणाहि ।।३४।।

भावार्थ :– मांस, हाड, कफ, चरबी, रुधिर, चमड़ा, पित्त, आंतें, मूत्र, पीप आदि से भरी अपवित्र यह शरीररूपी कुटी अनेक दुःख और रोगों का स्थान है – ऐसा जान।

अत्थं कामसरीरादियं पि सव्वमसुभत्ति णादूण।
णिव्विज्जंतो झायसु जह जहसि कलेवरं असुइं ॥३५॥

भावार्थ :– द्रव्य, काम भोग, शरीरादि ये सब तेरे बिगाड़ करने वाले अशुभ हैं – ऐसा जानकर इनसे वैराग्यवान होकर; ऐसा आत्मध्यान कर, जिस से यह अपवित्र शरीर का सम्बन्ध सदा के लिये छूट जावे।

मोत्तूणं जिणक्खादं धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोगम्मि।
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो ॥३६॥

भावार्थ :– देव, असुर, तिर्यंच नारकी व मानवो से भरे हुए इस लोक मे एक जिनेन्द्र प्रणीत धर्म को छोड़कर कोई शुभ तथा पवित्र वस्तु नहीं है।

इसी मूलाचार की अनागारभावना अधिकार में कहते हैं :–

रोगाणं आयदणं वाधिसदसमुच्छिदं सरीरघरं।
धीरा खणमवि रागं ण करेंति मुणी सरीरम्मि ॥७७॥

भावार्थ :– यह शरीर रूपी घर रोगों का भण्डार है। सैकड़ों आपत्तियों को व रोगों को झेलकर बना हुआ है। ऐसे शरीर में धीर-वीर मुनि क्षणमात्र भी राग नही करते हैं।

एवं सरीरमसुई णिच्चं कलिकलुसभायणमचोक्खं।
अंतोछाइद ढिड्ढिस खिब्भिसभरिदं अमेज्झघरं ॥७८॥

भावार्थ :– यह शरीर महान अशुचि है, नित्य राग-द्वेष पैदा करने का कारण है, अशुभ वस्तुओं से बना है, चमड़े से ढका है, भीतर पीप, रुधिर, मांस, चरबी, वीर्य आदि से पूर्ण है तथा मल-मूत्र का भण्डार है।

अट्ठिणिछण्णं णालिणिबद्धं कलिमलभरिदं किमिउलपुण्णं।
मंसविलित्तं तयपडिछण्णं सरीरघरं तं सददमचोक्खं ॥८३॥

भावार्थ :–यह शरीर रूपी घर हड्डियों से बना है, नसों से बँधा है, मलमूत्रादि से भरा है, कीड़ों से पूर्ण है, मांस से भरा है, चमड़े से ढका है, यह तो सदा ही अपवित्र है।

एवारिसे सरीरे दुग्गंधे कुणिमपूदियमचोक्खे ।
सडणपडणे असारे रागं ण करिंति सप्पुरिसा ॥८४॥

भावार्थ :- ऐसे दुर्गंधित, पीपादि से भरे, अपवित्र सड़ने पड़ने वाले, सार रहित, इस शरीर में सत्पुरुष राग नहीं करते है ।

श्री समंतभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं :-

अजङ्गमं जंगमनेययन्त्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ॥३२॥

भावार्थ :- हे सुपार्श्वनाथ भगवन् ! आपने जगत के कल्याण के लिये यह उपदेश दिया है कि यह शरीर स्वयं जड़ है, जीव द्वारा काम करता है, जैसे किसी स्थिर यंत्र को कोई चलने-फिरने वाला प्राणी चलावे । तथा यह शरीर घृणायुक्त, अपवित्र, नाशवंत व संताप उत्पन्न करने वाला है, इससे राग करना वृथा है ।

श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं :-

देहस्स सुक्कसोणिय, असुईपरिणामकारणं जह्मा ।
देहो वि होइ असुई, अमेज्झघयपूरओ व्व तदो ॥१००३॥

भावार्थ :- इस देह की उत्पत्ति का कारण महा अशुचि माता का रुधिर, पिता का वीर्य है । जैसे – मलिन घी से बनाया हुआ घेवर, सो भी मलिन होता है, वैसे अशुचि बीज से पैदा हुई देह भी अशुचि है ।

कललगदं दसरत्तं, अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं ।
थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गब्भम्मि तं वीयं ॥१००६॥
तत्तो मासं बुब्बुदभूदं, अच्छदि पुणो वि घणभूदं ।
जायदि मासेण तदो, य मंसपेसी य मासेण ॥१००७॥
मासेण पंच पुलगा, तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण ।
अंगाणि उवंगाणि य, णरस्स जायंति गब्भम्मि ॥१००८॥
मासम्मि सत्तमे तस्स, होदि चम्मणहरोमणीप्पत्ती ।
फुंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥१००९॥
सव्वासु अवत्थसु वि, कललादीयाणि ताणि सव्वाणि ।
असुईणि अमेज्झाणि य, विहिंसणिज्जाणि णिच्चंपि ॥१०१०॥

भावार्थ :– गर्भ में माता का रुधिर पिता के वीर्य से मिला हुआ दश रात्रि तक हिलता रहता है, फिर दश रात्रि काला होकर ठहरता है, फिर दश दिन में थिर होता है, फिर दूसरे महीने में बुदबुदा रूप होकर ठहरता है। तीसरे मास में वह कठोर होकर ठहरता है। चौथे मास में मांस की डली होकर ठहरता है। पांचवें मास में उस मांस की डली में पांच पुलक निकलते हैं – एक मस्तक का आकार, दो हाथों का व दो पगों का आकार। छठे मास में मनुष्य के अग-उपांग प्रगट होते हैं। सातवें मास में चाम, नख, रोम की उत्पत्ति होती है। आठवें मास में गर्भ में कुछ हिलता है। नवमें या दसवें मास में गर्भ स निकलता है। ऐसे जिस दिन गर्भ में माता का रज, पिता का वीर्य स्थित हुआ, उसी दिन से यह जीव महान मलिन दशा में ही रहा।

कुणिमकुडी कुणिमेहि य, भरिदा कुणिमं च सवदि सव्वत्तो।
भाणं य अमिज्झमयं, अमिज्झभरिदं सरीरमिणं ॥१०२५॥

भावार्थ :– यह देह मलिन वस्तुओं की कुटी है व मलिन पदार्थों से ही भरी है व सर्व द्वारों से व शरीर के अंग व उपांगो से सड़े दुर्गन्ध मल को नित्य बहाती है। जैसे मल से बना बर्तन मल ही से भरा हो, वैसा ही यह शरीर है।

अट्ठीणि होंति तिण्णि दु, सदाणि भरिदाणि कुणिममज्झाए।
सव्वम्मि चेव देहे संधीणि संवति तावदिया ॥१०२६॥
ण्हारूण णवसदाइं, सिरासदाणि हवंति सत्त व।
देहम्मि मंसपेसी-, ण होंति पंचेव य सदाणि ॥१०२७॥
चत्तारि सिराजाला-, णि होंति सोलसयकंडराणि तहा।
छच्चे व सिराकुच्चा, देहे दो मंसरज्जू य ॥१०२८॥
सत्त तयाओ काले-, जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि।
देहम्मि रोमकोडी-, ण होंति असीदी सदसहस्सा ॥१०२९॥
पक्कामयासयत्था, य अंतगंजाऊ सोलस हवंति।
कुणिमस्स आसया स-त्त होंति देहे मणुस्सस्स ॥१०३०॥
थूण उ तिण्णि देह-, म्मि होंति सत्तसरं च मम्मसदं।
णव होंति वणमुहाइं, णिच्चं कुणिमं सवंताई ॥१०३१॥
देहम्मि मत्थुलिंगं, अञ्जलिमितं सयप्पमाणेण।
अञ्जलिमेत्तो मेदो, ओनो वि य तत्तियो चेव ॥१०३२॥

तिण्णि य वसज्जलीओ, छच्चेव य अंजलीउ पित्तस्स ।
सिंभो पित्तसमाणो, लोहिवमद्धाढयं हववि ॥१०३३॥
मुत्तं आढयमेत्तं, उच्चारस्स य हवंति छप्पत्था ।
वीसं णहाणि दन्ता, बत्तीसं होंति पगदीए ॥१०३४॥
किमिणो व वणो भरिदं, सरीरियं किमिकुलेहि बहुगेहिं ।
सव्वं देहं अप्फुं-, दिऊण वादा ठिदा पंच ॥१०३५॥
एवं सव्वे देह-, म्मि अवयवा कुणिमपुग्गला चेव ।
एक्कं पि णत्थि अंगं, पूयं सुचियं च जं होज्ज ॥१०३६॥

भावार्थ :– इस देह में सड़ी हुई मीजी से भरे तीन सौ हाड़ हैं, तीन सौ संधियां हैं, नवसौ (स्नायु) नसें हैं, सात सौ छोटी (सिरा) नसें हैं, पांचसौ मांस की डली हैं, चार नसों के जाल हैं, सोलह कंडरा है, छह सिरामूल है, दो मांस की रस्सी हैं, सात त्वचा हैं, सात कलेजे हैं, अस्सी लाख करोड़ रोम है, वक्राशय व आमाशय में तिष्ठती सोलह आंतों की पष्टि हैं, सात मल के आश्रय हैं, तीन स्थूणी हैं, एक सौ सात मर्मस्थान हैं, नव मल निकलने के द्वार है, देह में मस्तिष्क अपनी एक अंजली प्रमाण है, एक अंजली प्रमाण मेद धातु है। एक अंजली प्रमाण वीर्य है, मांस के भीतर चरबी या घी अपनी तीन अजली प्रमाण है, पित्त छह अंजली प्रमाण हैं, कफ भी छह अंजली प्रमाण है, रुधिर आध आढ़क प्रमाण है, मूत्र आध आढ़क प्रमाण है, आठ सेर का आढ़क होता है, मल छह सेर है, देह में बीस नख है। बत्तीस दांत हैं। यह प्रमाण सामान्य कहा है, विशेष हीन व अधिक भी होता है, देशकाल रोगादि के निमित्त से अनेक प्रकार होता है। सड़े हुए घाव की तरह कीड़ों से भरा हुआ यह देह है, सर्व देह को व्यापकर पांच पवन हैं। ऐसे इस देह में सर्व ही अंग व उपांग दुर्गन्ध पुद्गल है। इस देह में ऐसा एक भी अंग नहीं है, जो पवित्र हो – सर्व अशुचि ही है।

जसि होज्ज मच्छियाप-, त्तसरिसिया तयाए णो पिहिदं ।
को णाम कुणिमभरियं, सरीरमालध्दुमिच्छेज्ज ॥१०३७॥

भावार्थ :–जो यह देह मक्खी के पर समान पतली त्वचा से ढका न हो तो इस मैल से भरे हुए शरीर को कौन स्पर्शना चाहेगा ?

परिदड्ढसव्वचम्मं, पंडुरगत्तं मुयंतवणरसियं ।
सुट्ठु वि दयिद महिलं, दट्ठुं पिणरो ण इच्छेज्ज ।।१०३८।।

भावार्थ :– जो इस देह का सर्व चमड़ा जल जावे और सफेद शरीर निकल आवे और घावों से रस झड़ने लग जावे तो अपनी प्यारी स्त्री भी उसे देखना पसन्द न करेगी ।

इंगालो धोवंतो, ण हु सुज्झदि जहा पयत्तेण ।
सव्वेहिं समुद्देहिं, सुज्झदि देहो ण धुव्वंतो ।।१०४३।।

भावार्थ :– जैसे कोयला को सर्व समुद्र के जल से धोने पर भी उजला नही हो सकता, वैसे ही देह को बहुत जलादि से धोने पर भी भीतर से पसीना आदि मल ही निकलेगा ।

सिण्हाणब्भंगुब्व, – ट्टणेहि मुहदन्त अच्छिधुवणेहिं ।
णिच्चं पि धोवमाणो, वादि सदा पूदियं देहो ।।१०४४।।

भावार्थ :– स्नान तथा अतर, फुलेल, उबटना से धोने पर व मुख, दाँत नेत्रों के धोने पर व नित्य स्नानादि करने पर भी यह देह सदा दुर्गन्ध ही वमती है।

अन्तो वहिं च मज्झे, व कोइ सारो सरीरगे णत्थि ।
एरंडगो व देहो, णिस्सारो सव्वहिं चेव ।।१०४६।।

भावार्थ :– जैसे एरण्ड की लकड़ी में कुछ सार नहीं है, वैसे ही इस मनुष्य की देह में भीतर-बाहर कुछ भी सार नही है ।

जदि दा रोगा एकम्मि, चेव अच्छिम्मि होंति छण्णउदी ।
सव्वम्मि चेव देहे, होवव्वं कदिहि रोगेहिं ।।१०५३।।

पंचेव य कोडीओ, अट्ठासट्ठि तहवे लक्खाइं ।
णव णवदिं च सहस्सा, पंचसया होंति चुलसीदी ।।१०५४।।

भावार्थ :– जो एक नेत्र में छियानवे रोग होते हैं, तो सम्पूर्ण देह में कितने रोग होंगे ? पाँच करोड़, अडसठ लाख, निन्यागवे हजार, पाँच सौ चौरासी (५,६८,६६,५८४) रोग देह में उपजने योग्य हैं ।

रूवाणि कट्ठकम्मादियाणि चिट्ठति सारवेंतस्स ।
धणिदं पि सारवेंत – स्स ठादि थिरसरीरमिमं ।।१०५६।।

भावार्थ :– काष्ठ व पत्थर की मूर्तियाँ सँवारी हुई बहुत काल ठहर सकती हैं, परन्तु यह मनुष्य की देह अत्यन्त सस्कार करते हुए भी बहुत देर नहीं ठहरती है।

श्री पूज्यपादस्वामी 'सर्वार्थसिद्धि' में कहते हैं :–

"शरीरमिदमत्यन्ताशुचिशुक्रशोणितयोन्यशुचि संवर्धितमवस्करवत् अशुचिभाजनं त्वङ्मात्रप्रच्छादितम् अतिपूतिरसनिष्यन्दि स्रोतो विलम् अंगारवत् आत्मभावं आश्रितमपि आश्वेवापादयति स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासमाल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वम् अपहर्त्तुमस्य।"

भावार्थ :– यह शरीर अत्यन्त अशुचि है। वीर्य और रुधिर की योनि में अशुचि पदार्थो से बढ़ा है। मलभाजन के समान अशुचि का बर्तन है। ऊपर से त्वचा से ढँका है। इसके द्वारों से अत्यन्त अपवित्र मल बहा करता है। जैसे अंगार को हाथ में लेने से हाथ जल जाता है, वैसे इस शरीर को अपना मानने से अपना शीघ्र ही घात होता है। स्नान, विलेपन, धूप, वस्त्र, मालादि कोई भी पदार्थ इस देह की अशुचिता दूर नहीं कर सकते हैं।

श्री पूज्यपादस्वामी 'इष्टोपदेश' में कहते हैं :—

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥१८॥

भावार्थ :– यह शरीर निरन्तर क्षुधादि से पीडित रहता है व नाशवंत है। इसकी संगति को पाकर पवित्र भोजन भी, वस्त्रादि पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं। ऐसे नाशवंत व अपवित्र शरीर के लिये धनादि की वांछा वृथा है।

श्री पूज्यपादस्वामी 'समाधिशतक' में कहते हैं :—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥

भावार्थ :– सर्व ससार के दुःखों का मूल इस देह से राग करना है। इसलिये आत्मज्ञानी इससे राग छोड़कर व इन्द्रियों को संकोचकर अपने आत्मा में प्रवेश करते हैं।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवांछति ।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

भावार्थ :– जो मूर्ख देह को आत्मा मान लेता है वह यह चाहा करता है कि शरीर सुन्दर बना रहे व मनोहर इन्द्रियों के पदार्थ सदा प्राप्त होते रहें। तत्त्वज्ञानी इस शरीर से छूटना ही चाहता है।

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥६३॥
जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥
नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं बुध्यते बुधः ॥६५॥
रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

भावार्थ :– जैसे मोटे कपड़ों को पहनने पर भी कोई आपको मोटा नहीं मानता है, इसी तरह अपने शरीर को मोटा देखकर ज्ञानी अपने आत्मा को मोटा नही मानते है। पुराने कपड़े देखकर कोई अपने को पुराना नही मानता है, इसी तरह बुद्धिमान अपने शरीर को पुराना देखकर आत्मा को पुराना नहीं मानते है। वस्त्रो का नाश होते जानकर कोई अपना नाश नही मानता है, वैसे ही देह को नाश होते देखकर बुद्धिमान अपना नाश नहीं मानते हैं वस्त्र को लाल देखकर कोई अपने को लाल नही मानता है, वैसे ही देह को लाल देखकर कोई बुद्धिमान अपनी आत्मा को लाल नही मानता है। शरीर से आत्मा भिन्न है।

प्रविशद्गलितां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।
स्थिति भ्रांत्या प्रपद्यन्ते तममात्मानमबुद्धयः ॥६९॥

भावार्थ :– समान आकार बना रहने पर भी इस शरीररूपी सेना के चक्र में नए परमाणु मिलते हैं, पुराने झड़ते हैं, तो भी अज्ञानी इस शरीर को थिर मानकर अपना माना करता है।

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यंगेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

भावार्थ :– ज्ञानी जानते हैं कि शरीर ही गोरा, मोटा, दुबला होता है, आत्मा नहीं । आत्मा तो मात्र सदा ज्ञानशरीर धारी है, वह पुद्गल नही; शरीर पुद्गल है ।

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेह निष्पत्ते रात्मन्येवात्मभावना ।।७४।।

भावार्थ :– इस शरीर में ही आत्मापने की भावना करना अन्य-अन्य देह प्राप्त करने का हेतु है तथा शरीर से भिन्न आत्मा में ही आत्मापने की भावना करना इस शरीर से छूटने का उपाय है ।

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम् ।।७६।।

भावार्थ :– जो इस शरीर में ही अपनेपन की गाढ़ बुद्धि रखते है, वे अपना नाश जानकर निरन्तर डरते रहते हैं कि कही पुत्र, मित्र आदि का वियोग न हो जाय, कहीं मेरा मरण न हो जाय ।

श्री गुणभद्राचार्य 'आत्मानुशासन' में कहते हैं :—

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः ।
कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालयं ।
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ।।५६।।

भावार्थ :– हे निर्बुद्धि ! यह शरीररूप घर तेरे बंदीघर के समान है, इससे वृथा प्रीति मत कर । यह शरीररूपी कैदखाना हड्डीरूपी मोटे पापागों से गठा हुआ है, नसों के जालरूपी बंधनों से बेढ़ा हुआ है, चमड़े से छाया हुआ है, रुधिर व मांस से लिप्त है; इसे दुष्ट कर्मरूपी वैरी ने रचा है, इसमें आयु-कर्मरूपी गाढ़ी बेड़ी है ।

दीप्तोभयाग्रवातारिदारुदरगकीटवत् ।
जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे शरीरे बत सीदसि ।।६३।।

भावार्थ :– जैसे दोनों तरफ आग से जलते हुए एरंड के काष्ठ के बीच में प्राप्त कीड़ा महान दुःखी होता है, वैसे जन्म तथा मरण से व्याप्त इस शरीर में यह प्राणी कष्ट पाता है ।

उपायकोटिदूरक्ष्ये स्वतस्तत इतोऽन्यतः ।
सर्वतः पतनःप्राये काये कोऽयं तवाग्रहः ॥६६॥

भावार्थ :– हे प्राणी ! तेरा इस शरीर में कौनसा आग्रह है कि मैं इसकी रक्षा कर लूंगा, यह तो करोड़ों उपायों के करने से भी नही रहेगा । न आप ही रक्षा कर सकता है, न दूसरा कोई बचा सकता है, यह तो अवश्य पतनशील है ।

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखेऽपि निवसन् ।
व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम् ॥
इमां दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च यतते ।
यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महतः ॥६७॥

भावार्थ :– सर्व प्रकार अपवित्र और बहुत दुःखों को देने वाले इस शरीर में रहता हुआ यह मानव इस देह से विरक्त नहीं होता है, किन्तु अधिक प्रीति करता है तथापि ऐसा देखकर साधुजन सार उपदेश देकर इस प्राणी को शरीर मे विरक्त करने का यत्न करते है । महान पुरुषो का अनुराग परहित में रहा करता है ऐसा देखो । यह प्राणी शरीर के मोह से कष्ट पावेगा इसीलिये सत पुरुष शिक्षा देकर इसको आत्मज्ञान पर आरूढ़ करने का उद्यम करते हैं ।

इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तमुक्तम् ।
एतावदेव कथितं तव संकलय्य सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम् ॥६८॥

भावार्थ :– 'ऐसा है, वैसा है'-ऐसा बहुत कहने से क्या ? हे जीव ! तूने इस संसार में शरीर को बार-बार भोगा है और छोड़ा है । अब तुझे छोडा है । अब तुझे संकोच करके इतना ही कहा जाता है कि प्राणियों के लिये यह शरीर सर्व आपदाओं का स्थान है ।

विमृश्योच्चैर्गर्भात्प्रभृति मृतिपर्यंतमखिलं
मुधाप्येतत् क्लेशाशुचिभयनिकाराद्यबहुलम् ।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ॥१०५॥

भावार्थ :– ज्ञानी लोगों के लिये यह शरीर त्यागने योग्य है; क्योंकि वे विचारते हैं कि यह सर्व शरीर गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त वृथा ही क्लेश, अप-

वित्रता, भय, पराभव, पीप आदि से पूर्ण है। फिर जो इस शरीर के राग छोड़ने से मुक्ति का लाभ हो तो ऐसा कौन मूर्ख है जो इसको त्याग करने में समर्थ न हो ?

आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि, कांक्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मानम् ।
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्युर्मूलं ततस्तनुरनर्थपरम्पराणाम् ॥१९५॥
शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि ।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितम् ॥१९६॥

भावार्थ :– प्रथम ही शरीर की उत्पत्ति होती है, उस शरीर में इन्द्रियां विषम विषयों को चाहती हैं, वे विषय भोग महानपने की हानि करते है, महा-क्लेश के कारण हैं, भय के करने वाले हैं, पाप के उपजाने वाले हैं व निगोदादि कुयोनि के दायक है। इसलिये यह शरीर ही अनर्थ की परम्परा का मूल कारण है। मूर्ख लोग कैसा न करने योग्य काम करते हैं, शरीर को पोषते है, विषय-भोगों को सेवते हैं, उनको विवेक नही, वे विष पीकर जीना चाहते हैं।

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोद्गतौ ।
प्रांते जंतोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीरके ॥२०१॥

भावार्थ :– इस शरीर की उत्पत्ति तो माता है, मरण इसका पिता है, मानसिक शारीरिक दुःख इसके भाई है, अन्त में जरा इसका मित्र है तो भी इस शरीर में तेरी आशा है-यह बड़ा आश्चर्य है।

शुद्धोप्यशेषविषयावगमोप्यमूर्तोप्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोसि ।
मूर्तं सदाऽशुचि विचेतनमन्यदत्र किंवा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम् ॥२०२॥

भावार्थ :– हे चिदानन्द ! तू तो शुद्ध है, सर्व पदार्थो का ज्ञाता है, अमूर्तिक है तो भी इस जड़ शरीर ने तुझे अपवित्र कर दिया है। यह शरीर मूर्तिक है, सदा अपवित्र चेतना रहित है, यह तो केशर कर्पूरादि सुगन्ध वस्तुओं को भी दूषित कर देता है। इस शरीर को धिक्कार हो ! धिक्कार हो ! !

हा हतोसितरां जन्तो येनास्मिस्तव सांतम् ।
ज्ञानं कायाऽशुचिज्ञानं तत्त्यागः किल साहसः ॥२०३॥

भावार्थ :– हाय हाय ! हे प्राणी ! तू अत्यन्त ठगाया गया, नष्ट भया, तू शरीर से ममत्व करके अति दुःखी भया। अब तू विचार, यह शरीर अशुचि

है, ऐसा जानना यही सच्चा ज्ञान है तथा इसका ममत्व तजना ही साहस का काम है ।

श्री अमितगति तत्त्वभावना में कहते हैं :—

संयोगेन दुरन्तकल्मषभुवा दुःखं न किं प्रापितो ।
येन त्वं भवकानने मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिते ।।
संगस्तेन न जायते तव यथा स्वप्नेऽपि दुष्टात्मना ।
किंचित्कर्म तथा कुरुष्व हृदये कृत्वा मनो निश्चलम् ।।१७।।

भावार्थ :— जरा व मरण रूपी व्याघ्र समूह से भरे हुए इस संसार-वन में महान पाप को उत्पन्न करने वाले इस शरीर के संयोग से ऐसा कौनसा दुःख है ? जो तूने प्राप्त नहीं किया है । अब तू अपने मन को निश्चल कर के ऐसा काम कर, जिससे तुझे स्वप्न में भी इस दुष्ट शरीर का फिर संग न हो ।

दुर्गंधेन मलीमसेन वपुषा स्वर्गापवर्गश्रियः ।
साध्यंते सुखकारिणा यदि तदा संपद्यते का क्षतिः ।।
निर्माल्येन विगर्हितेन सुखदं रत्नं यदि प्राप्यते ।
लाभः केन न मन्यते बत तदा लोकस्थितिं जानता ।।१८।।

भावार्थ :— यह शरीर तो दुर्गन्धमय अशुचि है । ऐसे शरीर से यदि स्वर्ग व मोक्ष देने वाली सुखकारी सम्पत्ति प्राप्त हो सकें तो क्या हानि है ? उसके लिये यत्न करना ही चाहिये । यदि किसी निन्दनीक तुच्छ वस्तु के बदले में सुखदाई रत्न प्राप्त हो सके तो लोक की मर्यादा को जानने वाले को लाभ क्यों न मानना चाहिये ?

एकत्रापि कलेवरे स्थितिधिया कर्माणि संकुर्वता ।
गुर्वी दुःखपरंपरानुपरता यत्रात्मना लभ्यते ।।
तत्र स्थापयता विनष्टममतां विस्तारिणीं संपदम् ।
का शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा न प्राप्यते कथ्यताम् ।।४३।।

भावार्थ :— इस शरीर के साथ रहते हुए मूढ आत्मा ने शरीर को स्थिर मानकर जो पाप कर्म किये हैं, उससे दुःखों की परम्परा इसने उठाई है । यदि यह इस शरीर से ममता हटा ले तो ऐसी कौनसी सम्पत्ति है, जो इसको प्राप्त न हो सके ? क्या इन्द्र की, क्या चक्रवर्ती की, क्या नारायण की ?

चित्रोपायविवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो ।
भावाः पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः ।।

तत्र स्वं निजकर्मपूर्ववशगाः केषां भवन्ति स्फुटं ।
विज्ञायेति मनीषिणा निजमतिः कार्या सदात्मस्थिता ।।१२।।

भावार्थ :-- अनेक प्रकार के उपायों से पालते रहने पर भी जहां इस आत्मा के साथ देह नही रह सकती-छूट जाती है, व पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्री, जवाई, पिता आदि कैसे इसके साथी रह सकते हैं ? ये सब अपने-अपने कर्म के वश जाने वाले हैं, ऐसा जानकर बुद्धिमान को सदा आत्मा के हित मे अपनी बुद्धि रखनी योग्य है ।

श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते है :--

सर्वदैव रुजाक्रान्तं सर्वदैवाशुचेर्गृहम् ।
सर्वदा पतनप्रायं देहिनां देहपञ्जरम् ।।८।।

भावार्थ :-- इन जीवों का देह रूपी पिंजरा सदा ही रोगों से व्याप्त सर्वथा अशुचि का घर व सदा ही पतनशील है ।

तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभिः ।
विरज्य जन्मनः स्वार्थे यैः शरीरं कदर्थितम् ।।६।।

भावार्थ :-- इस शरीर के प्राप्त होने का फल उन्होंने ही लिया, जिन्होंने संसार से विरक्त होकर अपने-अपने आत्मकल्याण के लिये ध्यानादि पवित्र कर्मों से इसे क्षीण किया ।

भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभिः ।
सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम् ।।११।।

भावार्थ :-- इस जगत में ससार से उत्पन्न जो-जो दुःख जीवों को सहने पड़ते हैं, वे सब इस शरीर के ग्रहण से ही सहने पड़ते हैं ।

कर्पूरकुंकुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि ।
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ।।१२।।

भावार्थ :-- कपूर, केशर, अगर, कस्तूरी, हरिचन्दनादि सुन्दर-सुन्दर पदार्थो को भी यह मनुष्यों का शरीर संसर्ग मात्र से मैला कर देता है ।

अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानाम्
कुथितकुणपगंधैः पूरितं मूढ गाढम् ।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ।।१३।।

भावार्थ :– हे मूढ प्राणी ! इस संसार में मनुष्यों का देह चर्म के परदे से ढका हुआ हाडों का पिंजरा है । तथा बिगड़ी हुई राध की दुर्गन्ध से परिपूर्ण है । रोग रूपी सर्पों का घर है । काल के मुख में बैठा हुआ है । ऐसा शरीर प्रीति करने योग्य कैसे हो सकता है ?

श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरंगिणी में कहते हैं :–

दुर्गन्धं मलभाजनं कुविधिना निष्पादितं धातुभि-
रंग तस्य जनैर्निजार्थमखिलैराख्या धृता स्वेच्छया ।
तस्याः किं मम वर्णनेन सततं किं निंदनेनैव च
चिद्रूपस्य शरीरकर्मजनिताऽन्यस्याप्यहो तत्त्वतः ॥९-८॥

भावार्थ :– यह शरीर दुर्गन्धमय है, विष्ठा, मूत्र, आदि मलों का घर है, अशुभ कर्म के उदय से मज्जा आदि धातुओं से बना है । तथापि मूढ जनों ने अपने स्वार्थ के लिये इच्छानुसार इसकी प्रशंसा की है । परन्तु मुझे इस शरीर की प्रशसा और निंदा से क्या प्रयोजन ? क्योंकि मैं तो निश्चय से, शरीर और कर्म से उत्पन्न हुए रागादि विकारों से रहित शुद्ध चिद्रूप हूं ।

देहोऽहं कर्मरूपोऽहं मनुष्योऽहं कृशोऽकृशः ।
गौरोऽहं श्यामवर्णोऽहमद्विजोऽहंद्विजोऽथवा ॥१०-२॥
अविद्वानप्यहं विद्वान् निर्धनो धनवानहं ।
इत्यादि चिंतनं पुंसामहंकारो निरुच्यते ॥१०-३॥ युग्मं ॥

भावार्थ :– मैं शरीर हूँ, मैं कर्मरूप हूँ, मैं मानव हूँ, मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं गोरा हूँ, मै काला हूँ, मैं क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं विद्वान हूँ, मैं निर्धन हूँ, मै धनवान हूँ इत्यादि मन में विचार करना अहंकार है । मूढ मानव इसी अहंकार में चूर रहते हैं ।

पं. बनारसीदास समयसार नाटक में कहते हैं :–

[सवैया तेईसा]

देह अचेतन प्रेत दरी रज, रेत भरी मल खेत की क्यारी ।
व्याधि की पोट अराधि की ओट उपाधि की जोट समाधि सों न्यारी ॥
रे जिय देह करे सुख हानि, इते पर तोहि तो लागत प्यारी ।
देह तो तोहि तजेगी निदान पै, तू ही तजे क्यों न देह की यारी ॥७६॥

[सवैया इकतीसा]

रेत की सी गढ़ी किधो, मढ़ी है मसान की सी,
अंदर अन्धेरी जैसी कंदरा है सैल की।
ऊपर की चमक दमक पटभूषन की,
धोखे लागे भली जैसी कली है कनैल की ।।
औगुन की ओंडी, महा मोंडी मोह की कनोडी,
माया की मसूरति है मूरति है मैल की।
ऐसी देह याही के स्नेह याकी संगति सों,
हो रही हमारी मति कोलू केसे बैल की ।।७८।।
ठौर-ठौर रक्त के कुण्ड कंसनि के झुण्ड,
हाड़नि सो भरी जैसे थरी है चुडैल की।
थोड़े से धका के लगे ऐसे फट जाय मानो,
कागद की पुरी कीधों चादर है चैल की ।।
सूचे भ्रम वानिठानि मूढनि सो पहिचानि,
करै सुख हानि अर खान बद फैल की।
ऐसी देह याही के सनेह याकी संगति सों,
हो रही हमारी मति कोलू केसे बैल की ।।७९।।
कोउ कूर कहे काया जीव दोउ एक पिंड,
जब देह नसेगी तब ही जीव मरेगो।
छाया को सो छल किधो माया को सो परपंच,
काया में समाय फिर काया को न धरेगो ।।
सुधी कहें देह सो अव्यापक सदीव जीव,
समय पाइ परकों ममत्व परिहरेगो।
अपने सुभाव आइ धारना धरा में धाई,
आप में मगन होके, आपा शुद्ध करेगो ।।६९।।

[सवैया तेईसा]

पण्डित द्यानतराय द्यानतविलास में कहते है :—

बालकबाल खियालन खियाल जुवान सियान गुमान भुलाने ।
ये घरबार सबै परिवार शरीर सिंगार निहार फुलाने ।।
वृद्ध भये तन रिद्ध गई खिदि सिद्ध व कामन पाट तुलाने ।
द्यानत काय अमोलक पाय न मोक्ष द्वार किवाड़ खुलाने ।।३८।।

पण्डित भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास में कहते हैं :--

लाल वस्त्र पहरे सों देह तो न लाल होय,
लाल देह भये हंस लाल तो न मानिये ।
वस्त्र के पुराना भये देह न पुरानी होय,
देह के पुराने जीव जीरन न जानिये ।।

वस्त्र के नाश कछू देह को न नाश होय,
देह के नाश हुए नाश न बखानिये ।
देह दर्व पुद्गल की चिदानंद ज्ञानमई,
दोउ भिन्न-भिन्न रूप भैया उर आनिये ।।१०।।

[सवैया इकतीसा]

मांस हाड़ लोहू सानि पूतरी बनाई काहू,
चाम सों लपेट तामें रोम केश लाए है ।
तामें मल मूत भरि क्रम कई कोटि धरे,
रोग संच करि-करि लोक में ले आए हैं ।।

बोले वह खांउ-खांउ बिन दिये गिरि जाउं,
आगे को न धरुं पांउ ताही वे लुभाए हैं ।
ऐसे मोह भ्रम में अनादि के भ्रमाए जीव,
देखें परतक्ष तऊ चक्षु मानो छाए है ।।१४।।

चाम के शरीर माहिं वसत लजात नाहि,
देखत अशुचि तऊ लीन होय तन में ।
नारि बनी काहे की विचार कछू करे नाहिं,
रीझ-रीझ मोह रहे चाम के बदन में ।।

लक्ष्मी के काज महाराज पद छांडि देत,
डोलत है रंक जैसे लोभ की लगन में।
तनकसी ग्राउ में उपाय कई कोउ करे,
जगत के वासी देख हांसी ग्रावे मन में ॥७॥
ग्रचेतन की देहरी न कीजे तासो नेहरी,
सु ग्रौगुन की गेहरी महान दुःख भरी है।
याही के सनेह री न ग्रावे कर्म छेहरी,
पावे दुःख तेहरी जिन याकी प्रीति करी है ॥
ग्रनादि लगी जेहरी जु देखत ही खेहरी,
तू यामें कहा लेहरी रोगन की दरी है।
काम गजकेहरी सु राग द्वेष केहरी तू तामे,
दृष्टि देयरी जो मिथ्यात हरी है ॥
देख देह खेत क्यारी ताकी ऐसी रीति न्यारी,
बोए कछू ग्रान उपजत कछू ग्रान है।
पंच ग्रमृत रस सेती पोखिये शरीर नित,
उपजे रुधिर मांस हाडनि को ठान है ॥
एते पर रहे नाहि कीजिये उपाय कोटि,
छिनक में विनशि जाय, नांउ न निशान है।
एतो देख मूरख उछाइ मन माहि धरे,
ऐसी झूठ बातनि को सांच करि मान है ॥१०१॥

[सवैया तेईसा]

बालपने तब बालनि के संग खेलो है ताकी ग्रनेक कथा रे।
जोबन ग्राय रमो रमनी रस सोऊ तो बात विदित जथा रे ॥
वृद्ध भवो तन कंपत डोलत, लारें परे मुख होत विथारे।
देख शरीर के लच्छन भइया तू, चेतत क्यों नहि चेतन हारे ॥५२॥
तू ही जु ग्राय वसो जननी उर, तू ही रम्यो नित बालक तारे।
जोबन ता जु भई फुनि तोही को, ताहि के जोर ग्रनेक ते मारे ॥

वृद्ध भयो तुही अंग रहे सब, बोलत वैन कहे तु तरारे।
देखि शरीर के लच्छन भइया तू, चेतत क्यों नहि चेतनहारे ।।५३।।

[सवैया इकतीसा]

सात धातु मलिन हैं महा दुर्गन्धभरी,
तासों तुम प्रीति करी लहत आनंद हो।
नरक निगोद के सहाई जे करन पंच,
तिनही की सीख संचि चलत सुछंद हो ।।
आठों जाम गहे काम राग रस रंग राचि,
करत किलोल मानो माते जो गयंद हो।
कछू तो विचार करो कहां कहां भूलि फिरो,
भले जु भले जु भैया भले चिदानंद हो ।।४६।।

[सवैया तेईसा]

रे मन मूढ कहा तुम भूले हो, हंस विचार लगै पर छाया।
या में सरूप नहीं कछु तेरो जु, व्याधि की खोट बनाई है काया ।।
सम्यक रूप सदा गुन तेरो है, और बनी सब ही भ्रम माया।
देख तू रूप अनूप विराजत, सिद्ध समान जिनंद बताया ।।४७।।
चेतन जीव निहार हु अंतर, ये सब हैं पर की जड़ काया।
इन्द्र समान जो मेघ घटा महि, शोभित है पै रहे नहि छाया ।।
रैन समें सुपनो जिम देखि तु, प्रात भये सब झूठ बनाया।
त्यो नदि नाव संजोग मिल्यो सब, चेतो चित्त जु चेतन राया ।।४८।।
देह के नेह लग्यो कहा चेतन, न्यारिय को अपनी करि मानी।
याही सों रीझ अज्ञान में मांनिके, याही में आपके तू हो रहो थानी ।।
देखत है परतक्ष विनाशी, तऊ अनचेतन अन्ध अज्ञानी।
होहु सुखी अपनो बल फोरि के, मानि कह्यो सर्वज्ञ की बानी ।।४९।।
वे दिन क्यों न विचारत चेतन, मात की कूंख में आय बसे हैं।
ऊरध पाउँ लगे निशिवासर, रंच उसासनु को तरसे हैं ।।
आउ संजोग बचे कहुँ जीवित अरु, लोगन की तब दिष्टि लसे हैं।
आज भये तुम जोबन के रस, भूलि गए कितते निकसे हैं ।।३२।। *

तीसरा अध्याय

भोगों का स्वरूप

जैसे संसार असार है, शरीर अशुचि है; वैसे ही इन्द्रियों के भोग अतृप्तिकारी, अथिर और तृष्णा के बढ़ाने वाले हैं। इनके भोगने से किसी को भी तृप्ति नहीं हो सकती है। जैसे जलरहित वन में मृग प्यासा होता है, वहाँ जल तो है नहीं; परन्तु दूर से उसको चमकती घास में या बालू में जल का भ्रम हो जाता है। वह जल समझकर जाता है, परन्तु वहाँ जल को न पाकर अधिक प्यासा हो जाता है। फिर दूर से देखता है तो दूसरी तरफ जल के भ्रम से जाता है, वहाँ पर भी जल न पाकर और अधिक प्यासा हो जाता है। इस तरह बहुत बार भ्रम में भटकते रहने पर भी उसको जल नहीं मिलता है। अन्त में वह प्यास की बाधा से तड़फ-तड़फ कर प्राण दे देता है।

यही हाल हम संसारी प्राणियों का है, हम सब सुख चाहते हैं, निराकुलता चाहते हैं। भ्रम यह हो रहा है कि इन्द्रियों के भोग करने से सुख मिल जायगा, तृप्ति हो जायगी। इसलिये यह प्राणी कभी स्पर्शनेन्द्रिय के भोग के लिये स्त्री सम्बन्ध करता है, कोमल पदार्थों को स्पर्श करता है, कभी रसना इन्द्रिय के भोग के लिये इच्छित पदार्थों को खाता है, कभी घ्राण इन्द्रिय के भोग के लिये अतर, फुलेल, पुष्पादि सूंघता है, कभी चक्षु इन्द्रिय के भोग के लिये रमणीक चेतन-अचेतन पदार्थों को देखता है, कभी कर्णेन्द्रिय के भोग के लिये मनोहर गानादि सुनता है। इस तरह पांचों इन्द्रियों का भोग बार-बार करता है, परन्तु तृप्ति नहीं पाता है।

जैसे खाज को खुजाने से और खाज का कष्ट बढ़ जाता है, वैसे इन्द्रिय भोगों को जितना किया जाता है उतनी ही अधिक तृष्णा बढ़ जाती है। तृष्णा ही क्लेश है, बाधा है, चिंता का कारण है। यदि किसी को स्त्री का भोग एकबार हुआ है तो वह बार-बार भोगना चाहता है। शक्ति न होने पर

कष्ट पाता है या स्त्री की इच्छा न होने पर दुःख भोगता है। यदि कोई मिठाई खाई है तो उससे बढ़िया मिठाई खाने की बार-बार इच्छा होती है, यदि नहीं मिलती है तो बड़ा दुःख मानता है, यदि मिल जाती है तो अधिक इच्छा बढ़ जाती है। यदि किसी ने किसी सुगंध को सूंघा है तो उससे बढ़िया सुगंध के सूंघने की इच्छा हो जाती है, नहीं मिलती है तो बड़ा दुःख पाता है, यदि मिल जाती है तो और अधिक तृष्णा बढ़ जाती है।

यदि किसी ने किसी तमाशे को देखा है तो इसमे बढ़िया तमाशा देखने की इच्छा हो जाती है, यदि नही मिलता है तो कष्ट पाता है, यदि मिल जाता है तो अधिक तृष्णा बढ़ा लेता है। यदि कोई मनोहर गाना सुना है तो उससे बढ़िया सुनना चाहता है। यदि नही मिलता है तो दुःख मानता है, यदि मिल जाता है तो इच्छा को अधिक बढ़ा लेता है। बहुत से प्राणियों को इच्छानुसार भोग नही मिलने है, चाहते वे कुछ हैं, मिलते कुछ है, तब वे बहुत दुःखी होते है। किसी के यहां निमन्त्रण था, जाने वाले ने यह इच्छा की, वहां बढ़िया मिठाइयाँ मिलेंगी, परन्तु वहां ऐसा भोजन था, जो वह रोज खाता था उससे भी घटिया था। बस, इच्छानुसार न पाकर वह मनमे बहुत क्लेश मानता है। जिनको इच्छानुसार मिल जाता है उनकी तृष्णा बढ जाती है। मनुष्य का शरीर तो पुराना पड़ता जाता है, इन्द्रियों की शक्ति घटती जाती है, परन्तु भोगों की तृष्णा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढती जाती है।

जब यह प्राणी तृष्णा होते हुए भोगों को असमर्थता के कारण भोग नहीं सकता है तो इसे बड़ा दुःख होता है। वृद्धों से पूछा जावे कि जन्म भर तक आपने इन्द्रियों के भोग भोगे, इनसे अब तो तृप्ति हो गई होगी ? तब वे वृद्ध यदि सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी नहीं है, मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है तो यही जबाब देंगे कि यद्यपि विषयों के भोग की शक्ति नहीं है।

शरीर निर्बल है, दांत गिर गए हैं, आंखों से दिखता नहीं, कानों से सुनाई नहीं देता, हाथ-पगों में बहुत देर खड़े होने की व बहुत देर बैठने की शक्ति नहीं रही है; तथापि पांचों इन्द्रियों के भोग की तृष्णा तो पहले से बहुत बढ़ी हुई है। यह वस्तु का स्वभाव है कि इन्द्रियों के भोगों से तृष्णा

बढ़ती ही जाती है, कभी तृप्ति नहीं होती है । यह जीव अविनाशी है, अनादि अनन्त है । चारों गतियों में भ्रमरण करते हुए इसने अनन्त जन्म कभी एकेन्द्रिय के, कभी द्वेन्द्रिय के, कभी तेंद्रिय के, कभी चौन्द्रिय के, कभी पचेन्द्रिय के, पशु के, मानव के, देव के, नारकी के धाररण किये हैं । तथा नरक के सिवाय तीन गतियों में यथासंभव पांचों इन्द्रियों के भोग भी भोगे है; परन्तु आज तक इस मानव की एक भी इन्द्रिय की तृष्णा शांत नहीं हुई ।

इन इन्द्रियों के भोगों में दूसरे पदार्थो की आवश्यकता होती है । यदि वे भोग्य पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, उनका वियोग हो जाता है तो इस प्राणी को बड़ा भारी कष्ट होता है । कभी प्रिय स्त्री का वियोग हो जाता है, तब यह गृहस्थी के सब आराम से छूट जाता है । कभी प्रिय पुत्र का, कभी प्रिय पुत्री का, कभी हितकारिरणी माता का, कभी पिता का, कभी प्रेमपात्र मित्र का, कभी आज्ञाकारी सेवक का, कभी आजीविका देने वाले स्वामी का वियोग हो जाता है, तब बड़ा भारी कष्ट हौता है । कभी धन की हानि हो जाती है, तब इन्द्रियों के भोग योग्य मनवांछित पदार्थ संग्रह नही कर सकता, इसलिए बड़ा ही दु:खी होता है ।

इन्द्रियों के भोगों को भोगते-भोगते तृष्णा को बढ़ाते हुए कदाचित् अपना मरण आ जाता है, तब सर्व भोगों के चेतन अचेतन पदार्थो के छूट जाने का बड़ा भारी शोक करता है, रोता है, तड़फता है । इन इन्द्रियों के भोगों में रात-दिन मगन रहते हुए, यह ऐसा भोग्य पदार्थो में मोही हो जाता है कि इसे धर्म की चर्चा बिलकुल नहीं सुहाती है । सबेरे से ही शरीर की सेवा में लग जाता है । दिनभर धन कमाता है, रात को थककर सो जाता है । तृष्णा की अधिकता से बहुत मनोहर पदार्थो को भोगना चाहता है । जब न्याय से धन नही आता है, तब अन्याय पर कमर कस लेता है । असत्य बोलकर, विश्वासघातकर, चोरी कर, किसी के प्राण तक लेकर धन का संचय करता है । उसके भीतर से दया व प्रेम चले जाते हैं, परम प्रेमी मित्र को भी अवसर पाकर ठग लेता है । अधिक धन पाने की लालसा से जुआ खेलने लग जाता है । जुए में धन हारता है, तब चोरी करने लगता है ।

कुसंगति में पड़कर मदिरापान, मांसाहार की आदत डाल लेता है। स्व-स्त्री में संतोष न पाकर वेश्याओं में या पर-स्त्रियों में आसक्त हो जाता है। भोगों की तृष्णावश घोर से घोर पाप कर्म करने लगता है, अनाथ विधवाओं का धन छीन लेता है, झूठा मुकदमा बनाकर धन लेने का उपाय करता है। यदि राज्य विरुद्ध काम करने पर कभी दण्ड पाता है तो कारावास में जाकर अपनी सब प्रतिष्ठा गवां देता है। सर्व संसार के दुःखों का मूल भोगों की तृष्णा है– घोर पापों से मरकर कुगति में जन्म पाता है, मनुष्य से एकेन्द्रिय तक हो जाता है।

यदि विचार कर देखा जावे तो संसार के सर्व ही मिथ्यादृष्टि प्राणी इन्द्रियों के भोगो की लोलुपता से रात-दिन आकुल-व्याकुल व प्रयत्नशील बने रहते हैं। पिपीलिकाएँ इसी तृष्णावश बहुत-सा दाना एकत्र करती हैं, मक्खियां मधु को एकत्र करती है, पतगे चक्षु इन्द्रिय के रागवश दीपक की लौ में जलकर प्राण गवांते हैं, भ्रमर नासिका इन्द्रिय के वश हो कमल के भीतर दबकर मर जाते हैं, मछलियाँ रसना इन्द्रिय के वश हो जाल में फंसकर तड़फ-तड़फ कर प्राण गवांती है, हस्ती स्पर्शन इन्द्रिय के वश हो पकड़ लिये जाते हैं। मृग कर्ण इन्द्रिय के वश हो जाल में घिरकर पराधीन हो जाते हैं। इन इन्द्रियों की तृष्णा के वशीभूत होकर यह प्राणी बिलकुल अन्धा हो जाता है। अनन्त जन्म बीत गए हैं, इसने इसी अन्ध भाव में जन्म गवाँया और अब गवाँ रहा है।

इन्द्रिय सुख सच्चा सुख नही है, माना हुआ है। जो जिसमें सुख मान लेता है, उसको उसी मे सुख भासता है। यह पराधीनता है, दूसरे पदार्थों के सयोग के बिना इन्द्रिय सुख नही होता। उनका समागम होने के लिये बहुत सा उद्यम करके कष्ट सहना पड़ता है तो भी यदि पुण्यकर्म की अतरङ्ग मदद न हो तो उद्यम करते हुए भी इच्छित पदार्थ का लाभ नही होता है जगत में बहुत कम ऐसे पुण्यात्मा हैं जिनको चाहे हुए पदार्थ मिले, बहुधा इसी दुःख से पीड़ित रहते हैं कि चाहते तो थे कि स्त्री आज्ञाकारिणी होगी, परन्तु वह ऐसी नही निकली, चाहते तो थे कि पुत्र सुपुत्र, आज्ञाकारी होंगे, परन्तु ये तो कुपुत्र निकल गये, चाहते तो थे कि यहाँ आने से दुःख घटेगा, उल्टा दुःख बढ़ गया

है । चाहते तो थे कि मुनीम सच्चा मिलेगा, परन्तु यह तो स्वार्थी व हानिकारक निकल गया ।

यदि इच्छानुसार पदार्थ मिल भी जाते हैं तो सदा बने नहीं रहते, उनका वियोग हो जाता है, तब फिर बडा कष्ट होता है । पांचों इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा इतनी सताती है कि इच्छा होती है कि इन सबका सुख एक साथ भोग लूँ; परन्तु ऐसा कर नहीं सकता । एक इन्द्रिय से ही एक काल में एक ही विषयभोग हो सकता है । तब यह एक को छोड़ दूसरे में, दूसरे को छोड़ तीसरे में इस तरह आकुलता से भोगता फिरता है, परन्तु तृप्ति किसी भी तरह मिलती नही है । इन्द्रिय सुख की मग्नता से बहुधा प्राणी शक्ति से या मर्यादा से अधिक भोग कर लेते है, तब शरीर बिगड़ जाता है, रोग पैदा हो जाता है । रोगी होने पर सब विषयभोग छूट जाते है । इन भोगों से वे चक्रवर्ती सम्राट भी तृप्ति नही पाते, जिनको अधिक पुण्यात्मा होने के कारण पांचो इन्द्रियो के भोग की सामग्री मनवांछित प्राप्त हो जाती है । बड़े-बडे देव बड़े पुण्यात्मा होते हैं, इच्छित भोग प्राप्त करते है व दीर्घकाल तक भोग करते है तो भी तृप्ति नही पाते है, मरण समय उनके छूटने का घोर क्लेश भोगते है ।

इन्द्रियों के भोग जब अतृप्तिकारी है, तृष्णावर्धक है, व अथिर नाशवन्त है, तब यह प्राणी क्यों उनकी इच्छा नही छोड़ता है ? इसका कारण यही है कि इसके पास दूसरा उपाय नही है, जिससे यह इच्छा को तृप्त कर सके । यदि इसको सच्चा सुख मालूम होता व सच्चे सुख का पता मालूम होता तो यह अवश्य झूठे इन्द्रिय सुख की तृष्णा छोड़ देता । मिथ्यादर्शन के कारण इसकी अहं बुद्धि अपने इस नाशवत शरीर में ही हो रही है । इसको अपने आत्मा का पता नहीं है, न इसको अपने आत्मा के स्वरूप का विश्वास है । सच्चा सुख आत्मा में है, जिसको अपने आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, वह सच्चे सुख को पहचान लेता है । सच्चा सुख क्या है ? यह आगे बताया जायगा ।

यहां प्रश्न हो सकता है कि जब इन्द्रियों के भोग करने से झूठा सुख होता है, जो अधिक तृष्णारूपी रोग को बढ़ाता है तो फिर इन इन्द्रियों से क्या काम लेना चाहिये ? ज्ञानी को यह विश्वास पक्का कर लेना चाहिये कि

इन्द्रिय सुख सच्चा सुख नहीं है, यह सुखाभास है, सुखसा झलकता है, अतएव सुख की प्राप्ति के लिये इन इन्द्रियों का भोग करना अज्ञान है, तब फिर इन्द्रियों से क्या काम लेना चाहिये ? शरीर धर्म का साधन है, शरीर की रक्षा के लिये व शरीर की रक्षार्थ न्यायपूर्वक धन कमाने के लिये तथा धर्म के साधनों को प्राप्त करने के लिये इन्द्रियों से काम लेना चाहिये ।

स्पर्शनेंद्रिय से पदार्थों को स्पर्श कर उनके गुण-दोष मालूम करने चाहिये कि यह पदार्थ ठंडा है या गर्म है, चिकना है या रूखा है, कोमल है या कठोर है, हलका है या भारी है । गृहस्थी को संतान की आवश्यकता होती है । इसलिये स्वस्त्री में इसका उपयोग संतान के लाभ के लिये लेना योग्य है, कभी शरीर में उष्णता बढ़ जाती है तब उसकी शांति के लिये भी स्वस्त्री में उसका उपयोग किया जा सकता है । विषयभोग के हेतु से यदि स्पर्शनेंद्रिय का भोग होगा तो तृष्णा बढ़ जायगी स्वस्त्री में भी मर्यादा से अधिक प्रवर्तेगा तो आप भी रोगी व निर्बल होगा व स्त्री भी रोगी व निर्बल होगी तथा तृष्णा की अधिकता से स्वस्त्री को रमने योग्य न पाकर परस्त्री व वेश्या में रमन करने लग जायगा ।

रसना इन्द्रिय से उन ही पदार्थों को खाना-पीना योग्य है, जिनसे शरीर का स्वास्थ्य ठीक बना रहे, शरीर सबल रहकर कर्तव्य कर्म को पालन कर सके । इन्द्रियों का उपयोग यदि शरीर रक्षार्थ होगा तब तो इस इन्द्रिय का सदुपयोग है । यदि भोगार्थ उपयोग होगा तो यह प्राणी लोलुप हो जायगा । शरीर के लिये हानिकारक पदार्थ भी खाने पीने लग जायगा, भक्ष्य अभक्ष्य का विवेक छोड़ बैठेगा । जिसका कुफल यह होगा कि रस के स्वाद की गृद्धता बढ़ जायगी तथा रोगो में ग्रसित हो जायगा । रसना इन्द्रियवाले के ही वचन बोलने की शक्ति होती है । उन वचनों का सदुपयोग आत्मकल्याण व परोपकार में व आवश्यक शरीर रक्षा व उसके साधनों के लिये करना योग्य है । वचनों का दुरुपयोग असत्य, गाली, असभ्य विकथाओं के कहने से होता है । यदि इनकी आदत हो जाती है तो इन कुत्सित बातों के कहने की तृष्णा बढ़ जाती है ।

घ्राण इन्द्रिय का उपयोग शरीर रक्षार्थ सुगन्ध व दुर्गन्ध को पहचानना

है । हवा, पानी, भोजन स्थान स्वास्थ्य को लाभकारी हैं या अलाभकारी हैं ऐसा जानना है ।

चक्षु इन्द्रिय का उपयोग शरीर व उसके साधनों के लिये पदार्थों को देखना है । धार्मिक व लौकिक उन्नति के लिये शास्त्रों को व उत्तमोत्तम पुस्तकों को पढ़ना है अथवा ज्ञान की वृद्धि हेतु उपयोगी स्थानों व पदार्थों को देखना है ।

कर्ण इन्द्रिय का उपयोग शरीर व उसके रक्षार्थ साधनों के मिलाने के लिये वार्तालाप सुनना है तथा धार्मिक व लौकिक उन्नति के लिये उत्तम उपदेशों को सुनना है ।

इस तरह ये पांचों इन्द्रियाँ उपयोगी हैं, बशर्ते इनसे योग्य काम लिया जावे । विषय भोग की तृष्णावश इनका उपयोग न करके आवश्यक कार्यो के लिये इनका उपयोग करना योग्य है, तब ये मानव की उन्नति में सहायक हो जाती हैं । यदि भोगों की तृष्णावश इनका उपयोग होता है तो तृष्णा को बढ़ाकर, क्लेश को बढ़ाकर रोग को पैदाकर प्राणी को इस लोक में भी आकुलित कर देती है व परलोक में भी इनकी तृष्णा से बहुत कटुक फल भोगना पड़ता है । ज्ञानी बुद्धिमान वही है, जो इन इन्द्रियों का सच्चा उपयोग करके इस जीवन में भी लौकिक व पारलौकिक उन्नति करता है व भविष्य में भी मिष्ट फल भोगता है ।

इन्द्रियों के भोग रोग के समान है, असार है । जैसे केले के खम्भे को छीला जावे तो कही भी गूदा या सार नही मिलेगा, वैसे इन्द्रियों के भोगों से कभी भी कोई सार फल नही निकलता है । इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा से कषाय की अधिकता होती है, लोलुपता बढ़ती है, हिसात्मक भाव हो जाते है, धर्मभाव मे च्युति हो जाती है, अतएव पापकर्म का भी बंध होता है ।

पाप के उदय का यह फल होता है कि चक्रवर्ती सातवे नर्क में चला जाता है । एक धनिक मरकर सर्प हो जाता है, श्वान हो जाता है, एकेन्द्रिय वृक्ष हो जाता है, ऐसी नीच गति में पहुँच जाता है कि फिर उन्नति करके मानव होना बहुत

ही कठिन हो जाता है। इसलिये इन्द्रियों के सुख को सुख मानना भ्रम है, मिथ्यात्व है, भूल है, अज्ञान है, धोखा है। बुद्धिमान को उचित है कि इन्द्रिय-सुखों की श्रद्धा को छोड़े, इनकी लोलुपता छोड़े, इनमें अन्धापन छोड़े, जो इन ही के दास हो जाते हैं, वे अपनी सच्ची उन्नति नहीं कर सकते है। वे इन्द्रियों की इच्छानुसार वर्तते हुए कुमार्गगामी हो जाते हैं। हितकारी व उचित विषय-भोग करना, अहितकारी व अनुचित विषयभोग न करना इसका विवेक अपने भावों से निकल जाता है।

इन्द्रियों के दासत्व में ऐसे अन्धे हो जाते हैं कि वे धर्म, अर्थ, काम तीनों गृहस्थ के पुरुषार्थों के साधन में कायर, असमर्थ व दीन हो जाते है। चाह की दाह में जलते रहकर शरीर को रोगाक्रांत, रुधिरक्षय, दुर्बल बनाकर शीघ्र ही इसको त्यागकर चले जाते है। जिस मानव जन्म से आत्मकल्याण करना या परोपकार करना था, उसको उसी तरह वृथा गवाँ देते हैं, जैसे कोई अमृत के घड़े को पीने के काम में न लेकर पग धोने में बहा दे, अगर चंदन के वन को ईंधन समझकर जला डाले, आम के वृक्षों को उखाड़कर बबूल बो देवे, हाथ का रत्न काक के उड़ाने के लिये फेंक देवे, हाथी पाकर भी उस पर लकड़ी ढोवे, राजपुत्र होकर के भी एक मदिरावाले की दुकान में नौकरी करे।

हर एक मानव को उचित है कि वह अपनी पांचों इन्द्रियों को और मन को अपने आधीन उसी तरह रखे, जैसे मालिक घोड़ों को अपने आधीन रखता है। वह जहां चाहे वहां उनको ले जाता है। उनकी लगाम उसके हाथ में रहती है। यदि वह घोड़ों के आधीन हो जाता है तो वह घोड़ों से अपना काम नहीं ले सकता है। जो इन्द्रियों को और मन को अपने आधीन रख सकते है, वे इनकी सहायता से चमत्कार युक्त उन्नति कर सकते हैं। जो इनके दास हो जाते हैं, वे भव-भव में दुखों को पाते हैं। अतएव इन्द्रिय भोगों को असार जानकर सच्चे सुख का प्रेमी होना योग्य है।

इन भोगों के सम्बन्ध में जैनाचार्य क्या कहते हैं सो नीचे लिखे वाक्यों से जानना योग्य है।

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं :—

वर भवणजाणवाहणसयणासण देवमणुवरायाणं ।
मादुपिदुसजणभिच्चसंबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा ॥३॥

भावार्थ :– बड़े २ महल, सवारी, पालकी, शय्या, आसन जो इन्द्र व चक्रवर्तियों के होते हैं तथा माता, पिता, चाचा, सज्जन सेवक आदि के सब सम्बन्ध अथिर हैं ।

सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं जोवणं बलं तेजं ।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ।।४।।

भावार्थ :– सर्व इन्द्रियों का रूप, आरोग्य, जवानी, बल, तेज, सौभाग्य सुन्दरता ये सब इन्द्रधनुप के समान चंचल हैं ।

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं ।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ।।६।।

भावार्थ :– जिस शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध दूध जल के समान है वही जब शीघ्र नाश हो जाता है, तब भोग व उपभोग के साधन जो चेतन व अचेतन द्रव्य हैं वे थिर कैसे हो सकते है ?

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार में कहते है :–

मणुआऽसुरामरिंदा, अहिद्दुआ इंदिएहिं सहजेहिं ।
असहंता तं दुक्खं, रमंति विसएसु रम्मेसु ।।६३।।

भावार्थ :– चक्रवर्ती राजा धरणेन्द्र व स्वर्ग के इन्द्र आदि अपने शरीर के साथ उत्पन्न हुई इन्द्रियों की पीड़ा से घबड़ाये हुए – उस इन्द्रिय भोग की चाह रूपी दुःख को सहन करने को असमर्थ होकर भ्रम से रमणीक इन्द्रियों के पदार्थो को भोगते हैं परन्तु तृप्ति नही पाते हैं ।

जेसिं विसयेसु रदी, तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं ।
जदि तं ण हि सब्भावं, वावरो णत्थि विसयत्थं ।।६४।।

भावार्थ :– जिन प्राणियों की इन्द्रियों के भोगों में रति है उनको स्वभाव से ही दुःख जानो क्योंकि यदि स्वभाव से पीड़ा या आकुलता या चाह की दाह न हो तो कोई इन्द्रियों के भोगों में नही प्रवर्ते । तृष्णा की बाधा से भ्रम में भूलकर मेरी तृष्णा मिट जायेगी, ऐसा समझकर विषयो में प्रवर्तता है परन्तु तृष्णा तो मिटती नही ।

सोक्खं सहावसिद्धं, णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसयेसु रम्मेसु ।।७५।।

भावार्थ :– देवों को भी आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न सहज आत्मिक सुख का लाभ नही होता इसीलिये सच्चे सुख को न पाकर शरीर की पीड़ा से घबड़ाये हुए कि हमारी बाधा मिट जायेंगी, रमणीक विषयों में रमते हैं परन्तु तृष्णा को शमन नहीं कर सकते ।

ते पुण उदिण्णतण्हा, दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि ।

इच्छंति अणुहवंति या आमरणं दुक्खसंतत्ता ।।७६।।

भावार्थ :– संसारी प्राणी तृष्णा के वशीभूत होकर तृष्णा की दाह से दुःखी होते हुए इन्द्रियों के भोगों के सुख को बारबार चाहते हैं और भोगते हैं । मरण पर्यन्त ऐसा करते हैं, तथापि दुःख से संतापित ही रहते हैं । इन्द्रियों के भोग से चाह की दाह मिटती नहीं, यहाँ तक कि मरण हो जाता है । जैसे – जोंक विकारी खून को तृष्णावश पीती ही रहती है, संतोष नहीं पाती है, यहाँ तक कि उसका मरण हो जाता है ।

सपरं ब धासहिदं विच्छिण्णं बंध कारणं विसमं ।

जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुःक्खमेव तथा ।।८०।।

भावार्थ :– जो पाँचों इन्द्रियो के भोगों से सुख होता है वह सुख नहीं है किन्तु दुःख ही है क्योंकि एक तो वह पराधीन है, अपनी इन्द्रियों में भोगने योग्य शक्ति हो व पुण्य के उदय से इच्छित पदार्थ मिले तब कहीं होता है, स्वाधीन नहीं है । दूसरे क्षुधा, तृषा आदि रोगादि की बाधा सहित है, बीच में विघ्न आ जाता है । तीसरे विनाशीक है, भोग्य पदार्थ बिजली के चमत्कारवत् नष्ट हो जाते है या आप जल बुदबुद के समान शरीर छोड़ देता है । चौथे कर्म बंध के कारण है क्योंकि राग भाव बिना इन्द्रियो के भोग होते है । जहाँ राग है वहां बन्ध है, पांचवे विषम हैं – चंचल है, एक सा सुख नही होता है तथा समताभाव को बिगाड़ने वाले है ।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड़ में कहते हैं :–

ताव ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।

विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ।।६६।।

भावार्थ :– जब तक यह आत्मा इन्द्रियों के विषयभोगों में आसक्त होकर प्रवृत्ति करता है तब तक आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता । जो योगी इन विषयभोगों से विरक्त है वही आत्मा को यथार्थ पहचान सकता है ।

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्टा ।
हिंडंति चाउरंगं विसयेसु विमोहिया मूढा ॥६७॥

भावार्थ :– कोई मानव शास्त्र द्वारा अनुभवपूर्वक आत्मा को नहीं जानकर भी अपने स्वभाव की भावना से भ्रष्ट होते हुए, मूढ़बुद्धि रखते हुए इन्द्रियों के विषय-भोगों में मोहित होकर चारों गतियो में भ्रमण किया करते हैं ।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया ।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥६८॥

भावार्थ :– परन्तु जो कोई इन्द्रियों के असार भोगों से विरक्त होकर आत्मा को जानकर उसकी भावना तप व मुनियों के मूलगुणादि के साथ करते हैं वे अवश्य चार गतिरूपी संसार को छेद डालते हैं इसमें सदेह नही ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य शीलपाहुड़ में कहते हैं :–

वारि एक्कम्मि यजम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो ।
विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकांतारे ॥२२॥

भावार्थ :– यदि कोई प्राणी विष खा ले तो उसकी वेदना से वह एक ही जन्म में कष्ट से मरेगा । परन्तु जिन प्राणियों ने इन्द्रियों के भोग रूपी विष को खाया है वे इस संसार वन में बार-बार भ्रमते फिरते हैं, बार-बार मरते है ।

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणुएसु दुक्खाइं ।
देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासता जीवा ॥२३॥

भावार्थ :– जो जीव विषय भोगों मे आसक्त है वे नरक में घोर वेदनाओं को, पशु व मानव गति मे दुःखों को व देवगति में दुर्भाग्य को प्राप्त करते हैं ।

आदेहि कम्मगंठी जा बद्धा विसयरागरागेहिं ।
तं छिंदंति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥२७॥

भावार्थ :– इस आत्मा ने जो कर्मों की गांठ इन्द्रिय भोगों में राग करने से बांधी है, उसको कृतार्थ पुरुष तप, संयम, शीलादि गुणों से स्वयं छेद डालते हैं ।

(५) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा में कहते है :–

दुग्गमदुल्लहलाभा भयपउरा अप्पकालिया लहुया ।
कामा दुक्खविवागा असुहा सेविज्जमाणा वि ॥३२॥

भावार्थ :— इन्द्रिय सम्बन्धी काम भोग बड़ी कठिनता से व परिश्रम से मिलते हैं। उनके छूटने का भय भरा रहता है, बहुत थोड़े काल टिकने वाले हैं, असार हैं तथा कर्मबंध कारक दुःखरूपी फल को देने वाले हैं। अतएव सेवन किये जाने पर भी अशुभ हैं, हानिकारक हैं।

अणिहुदमणसा एदे इंदियविसया णिगेण्हिदुं दुक्खं।

मंतोसहिहीणेण व दुट्ठा आसीविसा सप्पा ॥४२॥

भावार्थ :— जब तक मन को रोका न जावे, तब तक इन्द्रियों को रोकना अति कठिन है। जैसे मन्त्र व औषधि के बिना दुष्ट आशीविष जाति के सर्प वश नहीं किये जा सकते।

धित्तेसिमिंदियाणं जेसिं वसदो दु पावमज्जणिय।

पावदि पावविवागं दुक्खमणंतं भवगदिसु ॥४३॥

भावार्थ :— इन इन्द्रियों को धिक्कार हो जिनके वश में पड़ के प्राणी पापों को बांधकर उनके फल से चारों गतियों में अनन्त दुःख को पाते हैं।

(६) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार के समयसार अधिकार में कहते हैं :—

अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भोवत्थाण कारणं जीओ।

मरदि य मारावेदि य अणंतसो सव्वकालं तु ॥९६॥

भावार्थ :— यह प्राणी सदा काल अनन्त बार गृह, पशु, वस्त्रादि के निमित्त व जीने के निमित्त व जिह्वाइन्द्रिय और काम भोग के निमित्त आप मरता है व दूसरों को मारता है।

जिब्भोवत्थणिमित्तं जीवो दुक्खं अणादिसंसारे।

पत्तो अणंतसो तो जिब्भोवत्थे जयह दाणिं ॥९७॥

भावार्थ :— इस रसना और स्पर्शनेन्द्रिय के निमित्त इस जीव ने अनादि काल से इस संसार में अनंतबार दुःख पाया है इसलिये इस जीभ को और उपस्थ इन्द्रिय को अब तो वश रखना योग्य है।

बीहेदव्वं णिच्चं कट्ठत्थस्स वि तहित्थिरूवस्स।

हवदि य चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स ॥९९॥

भावार्थ :— काठ के बने हुए स्त्री के रूप को देखने से भी सदा भय रखना चाहिये। क्योंकि निमित्त कारण से इस जीव का मन विकारी हो जाता है।

घिदभरियघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंतअग्गिसमा ।
तो महिलेयं ढुक्का णट्ठा पुरिसा सिवं गया इयरे ॥१००॥

भावार्थ :– पुरुष घी से भरे हुए घट के समान है, स्त्री जलती हुई आग के समान है । इस कारण बहुत से पुरुष स्त्री के संयोग से नष्ट हो चुके । जो बचे रहे वे ही मोक्ष पहुंचे हैं ।

मायाए बहिणीए धूआए मूइ वुड्ढ इत्थीए ।
बीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूवं णिरावेक्खं ॥१०१॥

भावार्थ :– स्त्री के रूप को देखने से बिना किसी अपेक्षा के सदा ही भयभीत रहना चाहिये । चाहे वह माता का रूप हो, चाहे बहन का हो, चाहे वह कन्या का हो, चाहे गूंगी का हो व चाहे वृद्ध स्त्री का हो ।

(७) श्री समंतभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं :–

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णाभयाप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपस्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥१३॥

भावार्थ :– यह इन्द्रिय भोग का सुख बिजली के चमत्कार के समान चंचल है । यह मात्र तृष्णारूपी रोग के बढ़ाने का ही कारण है । तृष्णा वृद्धि निरन्तर ताप पैदा करती है, वह ताप सदा प्राणी को दुःखी रखता है । हे सम्भवनाथ स्वामी ! आपने ऐसा उपदेश दिया है ।

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा ।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः ॥३१॥

भावार्थ :– जीवों का सच्चा स्वार्थ अपने स्वरूप में ठहरना है, क्षणभंगुर भोगों को भोगना नहीं है । इन भोगों के भोगने से तृष्णा बढ जाती है, दुःख की ज्वाला शांत नहीं होती । हे सुपार्श्वनाथ ! आपने ऐसा उपदेश दिया है ।

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्त-
मित्यात्मवान्विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत ॥८२॥

भावार्थ :– तृष्णा की ज्वालाएँ जलती रहती हैं । इन्द्रियों की इच्छानुसार इष्ट पदार्थों के भोगने पर भी इनकी शांति नही होती है । उल्टी तृष्णा

की ज्वालाएँ बढ़ जाती हैं । उस समय यह इन्द्रिय भोग स्वभाव से शरीर के ताप को हरता है परन्तु फिर अधिक बढ़ा देता है, ऐसा जानकर हे आत्मज्ञानी कुंथुनाथ ! आप विषयों के सुख से वैराग्यवान हो गए ।

(८) स्वामी समंतभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं :-

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।

पापबीजे सुखऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥१२॥

भावार्थ :- यह इन्द्रिय सुख पुण्यकर्म के आधीन है, अन्त होने वाला है । दुःखो के साथ इसका लाभ होता है व पाप बांधने का कारण है, ऐसे सुख में आस्थारहित श्रद्धान भाव निःकांक्षित अंग कहा गया है ।

(६) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं :-

भोगोपभोगसुक्खं, जं जं दुक्खं च भोगणासम्मि ।

एदेसु भोगणासे, जादं दुक्खं पडिविसिट्ठम् ॥१२४६॥

भावार्थ :- भोग उपभोग करने से जो-जो सुख होता है, जब उन भोग उपभोग का नाश होता है तब जो-जो दुःख होता है, वह सुख की अपेक्षा बहुत अधिक होता है -- भोग के संयोग होने पर जो सुख मालूम हुआ था, भोग के वियोग होने पर बहुत अधिक दुःख होता है ।

देहे छुधादिमहिदे, चले य सत्तस्स होज्ज किह सुक्खं ।

दुक्खस्य य पडियारो, रहस्सणं चेव सुक्खं खु ॥१२५०॥

भावार्थ :- यह देह क्षुधा आदि से पीड़ित रहती है व विनाशीक है, इसमें रहते हुए जीवों को सुख कैसे हो सकता है ? जो इन्द्रियों का सुख है वह दुःख का क्षणिक उपाय है, पीछे अधिक तृष्णा की बाधा बढ़ जाती है । ये सुख सुखाभास हैं, मोही जीवों को सुख से दीखते हैं, पीड़ा मालूम हुए बिना कोई इन्द्रिय सुख में नहीं पड़ता है ।

जह कोढिल्लो अग्गिं, तप्पन्तो णेव उवसमं लभदि ।

तह भोगे भुञ्जन्तो, खणं पि णो उवसमं लभदि ॥१२५१॥

भावार्थ :- जैसे कोढ़ी पुरुष आग से तापता हुआ भी शांति को नहीं पाता है वैसे संसारी जीव भोगों को भोगते हुए भी क्षणभर भी शांति को नहीं पाता है । जितना २ वह तापता है उतनी-उतनी तापने की इच्छा बढ़ती जाती

है; वैसे ही जितना – जितना इन्द्रिय भोग किया जाता है वैसे – वैसे भोग की बाधा बढ़ती जाती है ।

सुट्ठ वि मग्गिज्जन्तो, कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो ।
तह णत्थि सुहं मग्गिज्जन्त भोगेसु अप्पं पि ॥१२५५॥

भावार्थ :– जैसे बहुत अच्छी तरह ढूंढने पर भी केले के खम्भे में कहीं भी सार या गूदा नहीं निकलेगा वैसे भोगों को भोगते हुए भी अल्प भी सुख नहीं है ।

ण लहवि जह लेहंतो सुक्खल्लयमट्ठियं रसं सुणहो ।
सो सगतालुगरुहिरं, लेहंतो मण्णए सुक्खं ॥१२५६॥
महिलाविभोगसेवी, ण लहइ किंचि वि सुहं तहा पुरिसो ।
सो मण्णदे वराओ, सगकायपरिस्समं सुक्खं ॥१२५७॥

भावार्थ :– जैसे कुत्ता सूखे हाडों को चाबता हुआ रस को नही पाता है, हाडों की नोंक से उसका तालवा कट जाता है जिससे रुधिर निकलता है, उस खून को पीता उसे हाड से निकला मान सुख मान लेता है; वैसे स्त्री आदि के भोगों को करता हुआ कामी पुरुष कुछ भी सुख को नहीं पाता है । काम की पीड़ा से दीन हुआ अपनी काय के परिश्रम को ही सुख मान लेता है ।

तह अप्पं भोगसुहं जह धवंतस्स अहिदवेगस्स ।
गिम्हे उण्हे तत्तस्स, होज्ज छाया सुहं अप्पं ॥१२५८॥

भावार्थ :– जैसे अति गर्मी के समय में बहुत वेग से दौड़ते हुए पुरुष को किसी वृक्ष की छाया में ठहरने से अल्पकाल सुख होता है; वैसे ही तृष्णा से अति दुःखी प्राणी को भोगों का अति अल्प क्षणिक सुख होता है ।

दीसइ जलं व मयतण्हिया दु जह वणमयस्स तिसिदस्स ।
भोगा सुहं व दीसंति, तह य रागेण तिसियस्स ॥१२६०॥

भावार्थ :– जैसे वन में तृषा से पीड़ित वन के मृग को वनतृष्णा नाम की प्यास जल-सी दीखती है, वह जल जानकर दौड़ता है, वहाँ जल नहीं, इस तरह कई तरफ भागते हुए भी जल नहीं पाता; वैसे तीव्र राग की तृष्णा से पीड़ित पुरुष को भोगों में सुख दीखता है परन्तु सुख नहीं है ।

जहजह भुंजइ भोगे, तहतह भोगेसु बड्ढदे तण्हा ।
अग्गी व इंधणाइं, तण्हं दीवंति से भोगा ॥१२६३॥

भावार्थ :– संसारी जीव जैसे जैसे भोगों को भोगता है वैसे वैसे भोगों में तृष्णा बढ़ती जाती है। जैसे आग में लकड़ी डालने से आग बढ़ती है वैसे भोग तृष्णा को बढ़ाते हैं।

जीवस्य णत्थि तित्ती, चिरं पि भोर्गहि भुंजमाणेहिं।
तित्तीए विणा चित्तं, उब्बूरं उब्बुदं होई ॥१२६४॥

भावार्थ :– चिरकाल तक भोगों को भोगते हुए भी इस जीव को तृप्ति नहीं होती है। तृप्ति बिना चित्त घबड़ाया हुआ उड़ा फिरता है।

जह इंधणेहि अग्गी, जह व समुद्दो णदीसहस्सेहिं।
तह जीवा ण हु सक्का, तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥१२६५॥

भावार्थ :– जैसे ईंधन से आग तृप्त नहीं होती है व जैसे समुद्र हजारों नदियों से तृप्त नहीं होता है वैसे जीव काम भोगों से कभी तृप्त नहीं हो सकते।

देविंदचक्कवट्टी, य वासुदेवा य भोगभूमीया।
भोगेहिं ण तिप्पंति हु, तिप्पदि भोगेसु किह अण्णो ॥१२६६॥

भावार्थ :– इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, भोगभूमियां ही जब भोगों से तृप्त नही हो सकते हैं तो और कौन भोगों को भोगकर तृप्ति पा सकेगा ?

अप्पायत्ता अज्झ-, प्परदो भोगरमणं परायत्तं।
भोगरदीए चइदो, होदि ण अज्झप्परमणेण ॥१२७०॥

भावार्थ :– अध्यात्म में रति स्वाधीन है, भोगों में रति पराधीन है; भोगों से तो छूटना ही पड़ता है, अध्यात्म रति में स्थिर रह सकता है। भोगों के भोग में अनेक विघ्न आते हैं, आत्मरति विघ्न रहित है।

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए ण णासो ण विग्घो वा ॥१२७१॥

भावार्थ :– भोगों का सुख नाश सहित है व अनेक विघ्नों से भरा हुआ है, परन्तु भले प्रकार पाया हुआ आत्मसुख नाश और विघ्न से रहित है।

एगम्मि चेव देहे, करिज्ज दुक्खं ण वा करिज्ज अरी।
भोगा से पुण दुक्खं करंति भवकोडिकोडीसु ॥१२७४॥

भावार्थ :– वैरी है सो एक ही देह में दुःख करता है परन्तु ये भोग इस जीव को करोड़ों जन्मों में दुःखी करते हैं।

णच्चा दुरन्तमद्धुव-, मत्ताणमतप्पयं अविस्सामं ।
भोगसुहं तो तह्मा, विरदो मोक्खे मदिं कुज्जा ॥१२८३॥

भावार्थ :– इन इन्द्रियों के भोगों को दुःखरूपी फल देने वाले, अथिर, अशरण तथा अतृप्ति के कर्त्ता व विश्राम रहित जानकर ज्ञानियों को इनसे विरक्त होकर मोक्ष के लिये बुद्धि करनी चाहिये ।

(१०) श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश में कहते हैं :–

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां ।
तथा ह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि ॥६॥

भावार्थ :– संसारी प्राणियों को इन्द्रियों के द्वारा होने वाला सुख-दुःख आदि काल की वासना से भासता है । भ्रम से इन्द्रिय सुख, सुख दीखता है । ये ही इन्द्रियों के भोग व भोग्य पदार्थ आपत्ति के समय ऐसे भासते हैं, जैसे रोग संकट में पुत्रादि का संग भी बुरा मालूम पड़ता है । शोक के समय इष्ट भोग भी नही सुहाते हैं ।

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥१७॥

भावार्थ :– ये इन्द्रियों के भोग प्रारम्भ में बहुत संताप देने वाले है । उनकी प्राप्ति के लिये बहुत कष्ट उठाना पड़ता है । जब ये भोग मिल जाते है तब भोगते हुए तृप्ति नही होती है, तृष्णा बढ़ जाती है, उनसे वियोग होते हुए बड़ा भारी दुःख होता है । ऐसे भोगों को कौन बुद्धिमान आसक्त होकर सेवन करेगा ? कोई नहीं । सम्यग्दृष्टि गृहस्थ इन भोगों को त्यागने योग्य समझ कर संतोषसे न्यायपूर्वक भोगते हुए भी उदास रहते है ।

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥३०॥

भावार्थ :– ज्ञानी विचारता है कि मैंने जगत के सब ही पुद्गलों को बार-बार मोह के वशीभूत हो भोगा है और त्यागा है । अब मैं समझ गया हूँ । मैं अब झूठन के समान भोगों में क्यो इच्छा करूं ?

(११) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक में कहते हैं :–

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहं ।
तान्प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्वतः ॥१६॥

भावार्थ :– ज्ञानी विचारता है कि मैं अपने आत्मा से छूटकर पांचों इन्द्रियों के द्वारा विषयों में बारबार गिरा हूँ। उनमें लिप्त होने से मैंने निश्चय से अपने आत्मा के स्वरूप को नहीं पहचाना, अब इनका मोह छोड़ना ही उचित है।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ।।५५।।

भावार्थ :– इन इन्द्रियों के भोगों में लिप्त हो जाने से कोई भी ऐसी बात नहीं हो सकती जिससे आत्मा का कल्याण हो। तो भी अज्ञानी अज्ञान के भाव से उन्हीं में रम जाया करता है।

(१२) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं :–

आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै-
स्तद्भूयोप्यविकुत्सयन्नभिलषस्य प्राप्तपूर्वं यथा ।
जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान्यावद्दुराशामिमा-
मंहःसंहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्तीं हरेत् ।।५०।।

भावार्थ :– हे मूढ़ ! इस संसार में विषयी जीवों ने कौतूहल करके भोगकर जिन पदार्थों को छोड़ा है, उनकी तू फिर अभिलाषा करता है। ऐसा रागी भया है मानो ये भोग पहिले कभी पाए ही न थे। इनको तो तूने अनत-वार भोगा है और अनंत जीवों ने भी अनंतबार भोगा है। इनकी तुझे ग्लानि नहीं आती है ? ये तो झूठन के समान हैं, इनसे तुझे कभी शांति नहीं मिल सकती है। तुझे तब ही शांति मिलेगी जब तू इस प्रवल बैरी की ध्वजा के समान आशा को छोड़ेगा। विषयों की आशा कभी मिटती नहीं, यही बड़ी दुःखदायिनी है।

भंक्त्वाभाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं
मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वाञ्जिघांसुर्मुधा ।
यद्यत्साधुविगर्हितं हतमिति तस्यैव धिक्कामुकः
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ।।५१।।

भावार्थ :– काले नाग के समान प्राणों के हर्त्ता ये भोग हैं। इनके भोगने की अति अभिलाषा करके तूने कुगति का बंध किया। परलोक का भय

न किया, जीवों पर दया न करी, वृथा अपने सब सुख घाते। धिक्कार हो तेरी इस बुद्धि को। जिन पदार्थों की साधुओं ने निन्दा की है, उन ही का तू प्रेमी भया है, इन ही के कारण तू काम, क्रोध महा भयंकर पिशाचों के वश में होकर क्या-क्या हिंसादि पापरूपी अनर्थ न करेगा ?

उग्रग्रीष्मकठोरघर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः।
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल-
स्तोयोपांतदुरन्तकर्द्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥५५॥

भावार्थ :– गर्मी की ऋतु में तीव्र सूर्य की किरणों के समान आताप देने वाले इन पांचों इन्द्रियों से संतापित होकर इस मनुष्य ने अपनी तृष्णा बढ़ाली है। जब इस विवेकहीन को मनवांछित विषयभोग न मिले, तब यह अनेक पापरूप उपायों को करता हुआ उसी तरह घबड़ाता है, जैसे नदी के तट कीचड़ में फँसा दुर्बल बूढ़ा बैल महा कष्ट भोगता है।

लब्धेन्धनोज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरन्धनः।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः ॥५६॥

भावार्थ :– अग्नि तो ईंधन के पाने पर जलती है परन्तु ईंधन के न पाने पर बुझ जाती है। परन्तु इन्द्रियों के भोगों की मोह रूपी अग्नि बड़ी भयानक है जो दोनों तरह जलती रहती है। यदि भोग्य पदार्थ मिलते हैं तो भी जलती रहती है, यदि नहीं मिलते हैं तो भी जलती रहती है। इसकी शांति होना बड़ा दुर्लभ है।

दृष्ट्वा जनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं
स्वल्पोप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम्।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य
दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य ॥१९१॥

भावार्थ :– हे मूढ़ ! तू लोगों को देखकर उनकी देखादेखी क्यों विषय भोगों की इच्छा करता है। यह विषय भोग थोड़े से भी सेवन किये जावें तो भी महान अनर्थ को पैदा करते हैं। जैसे रोगी मनुष्य थोड़ा भी घी दूध आदि का सेवन करे तो उसको वे दोष उत्पन्न करते हैं, वैसा दोष दूसरे को नहीं उत्पन्न करते हैं। इसलिये विवेकी पुरुषों को विषयाभिलाषा करना उचित नहीं है।

(१३) श्री अमितगति आचार्य तत्वभावना में कहते हैं :—

बाह्यं सौख्यं विषयजनितं मुंचते यो दुरन्तं।
स्थेयं स्वस्थं निरुपममसौ सौख्यमाप्नोति पूतम् ॥
योऽन्यैर्जन्यं श्रुतिविरतये कर्णयुग्मं विधत्ते।
तस्यच्छन्नो भवति नियतः कर्णमध्येऽपि घोषः ॥३६॥

भावार्थ :— जो कोई दुःख रूपी फल को देने वाले इस बाहरी इन्द्रिय विषयों के सुख को छोड़ देता है वही स्थिर, पवित्र, अनुपम आत्मीय सुख को पाता है। जो कोई दूसरों के शब्द कानों में न पड़ें इसलिये अपने दोनों कानों को ढकता है, उसी के कान में एक गुप्त शब्द निरन्तर होता रहता है।

व्यावृत्येन्द्रियगोचरोरुगहने लोलं चरिष्णुं चिरं।
दुर्वारं हृदयोदरे स्थिरतरं कृत्वा मनोमर्कटम् ॥
ध्यानं ध्यायति मुक्तये भवततेर्निमुक्तभोगस्पृहो।
नोपायेन बिना कृता हि विषयः सिद्धि लभंते ध्रुवम् ॥५४॥

भावार्थ :— जो कोई कठिनता से वश करने योग्य इस मन रूपी बन्दर को जो इन्द्रियों के भयानक वन में लोभी होकर चिरकाल से चर रहा था, हृदय में स्थिर करके बांध देते हैं और भोगों की वांछा छोड़कर परिश्रम के साथ ध्यान करते हैं वे ही मुक्ति को पा सकते हैं। बिना उपाय के निश्चय से सिद्धि नही होती है।

पापानोकहसकुले भववने दुःखादिभिर्दुगंमे।
यैरज्ञानवशः कषायविषयैस्त्वं पिडितोऽनेकधा ॥
रे तान् ज्ञानमुपेत्य पूतमधुना विध्वंसयाशेषतो।
विद्वांसो न परित्यजन्तिसमये शत्रूनहत्वा स्फुटं ॥६५॥

भावार्थ :— इस संसार वन में, जो पाप रूपी वृक्षों से पूर्ण है व दुःखों से अति भयानक है, जिन कषायों से और इन्द्रियों के भोगों से तू अपने अज्ञान से बार बार दुःखित किया गया है, उनको अब तू पवित्र ज्ञान को प्राप्त करके जड़मूल से बिलकुल नाश कर डाल, विद्वान लोग समय पाकर शत्रुओं को बिना मारे नहीं छोड़ते हैं।

भीतं मुञ्चति नांतको गतघृणो भैषीर्वृथा मा ततः।
सौख्यं जातु न लभ्यतेऽभिलषितं त्वं माभिलाषीरिदं ॥
प्रत्यागच्छति शोचितं न विगतं शोकं वृथा मा कृथाः।
प्रेक्षापूर्वविधायिनो विदधते कृत्यं निरर्थं कथम् ॥७३॥

भावार्थ :– मरण जब आता है तब उससे भय करने पर भी वह छोड़ता नहीं। इसलिये तू उससे घृणा छोड़ दे और भय मत कर। जब तू इच्छित विषय भोगों को कदापि पा नहीं सकता तो उनकी वांछा मत कर। जिसका मरण हो गया वह शोक करने पर जब लौटके आता नहीं तब तू वृथा शोक मत कर; विचार पूर्वक काम करने वाले किसी भी काम को वृथा नही करते हैं।

यो निःश्रेयसशर्मदानकुशलं संत्यज्य रत्नत्रयम्।
भीमं दुर्गमवेदनोदयकरं भोगं मिथः सेवते ॥
मन्ये प्राणविपर्ययादिजनकं हालाहलं वल्भते।
सद्यो जन्मजरांतकक्षयकरं पीयूषमत्यस्य सः ॥१०१॥

भावार्थ :– जो कोई मूढ़ मोक्ष के सुख को देने वाले रत्नत्रय धर्म को छोड़कर भयानक व तीव्र दुःख के फल को पैदा करने वाले भोगों को बार बार सेवन करता है, मैं ऐसा मानता हूँ कि वह जन्म जरा मरण के नाशक अमृत को शीघ्र फेंककर प्राणों को हरने वाले हलाहल विष को पीता है।

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रं सताम्।
सूरीणां यदनश्वरीमनुपमां दत्ते तपः संपदम् ॥
तच्चित्रं परमं यदत्र विषयं गृह्णाति हित्वा तपो।
दत्तेऽसौ यदनेकदुःखमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ ॥६७॥

भावार्थ :– यदि चक्रवर्ती तप के लिये चक्र को त्याग देता है तो इससे सज्जनों को कोई आश्चर्य नहीं भासना है। यदि तपस्वियों को यह तप अनुपम अविनाशी संपदा को देता है इसमें भी कोई आश्चर्य नही। बड़ा भारी आश्चर्य तो यह है कि जो तप को छोड़कर विषय भोगों को ग्रहण करता है वह इस महान भयानक संसार-समुद्र में अपने को अनेक दुःखों के मध्य में पटक देता है।

(१४) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव में कहते है :–

यदक्षविषयोद्भूतं दुःखमेव न तत्सुखम्।
अनन्तजन्मसन्तानक्लेशसंपादकं यतः ॥५-२०॥

भावार्थ :– इन्द्रियों के विषय सेवन से जो सुख होता है वह दुःख ही है; क्योंकि यह विषय सुख अनन्त संसार की परिपाटी में दुःखों को ही पैदा करने वाला है।

दुःखमेवाक्षजं सौख्यमविद्याव्याललालितम् ।
मूर्खास्तत्रैव रज्यन्ते न विद्मः केन हेतुना ॥१०॥

भावार्थ :– इस जगत में इन्द्रियों का सुख दुःख ही है। यह अविद्या रूपी सर्प से पोषित है। मूर्ख न जाने किस हेतु से इस सुख में रंजायमान होते हैं।

अतृप्तिजनकं मोहदावबह्नेर्महेन्धनम् ।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ॥१३॥

भावार्थ :– श्री जिनेन्द्रों ने कहा है कि यह इन्द्रियजन्य सुख तृप्ति देने वाला नही है। मोहरूपी दावानल को बढ़ाने को ईन्धन के समान है। आगामी काल में दुःखों की परिपाटी का बीज है।

नरकस्यैव सोपानं पाथेयं वा तदध्वनि ।
अपवर्गपुरद्वारकपाटयुगलं दृढम् ॥१४॥
विघ्नबीजं विपन्मूलमन्यापेक्षं भयास्पदम् ।
करणग्राह्यमेतद्धि यदक्षार्थोत्थितं सुखम् ॥१५॥

भावार्थ :– यह इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ सुख नरक के जाने के लिये सीढ़ी है, या नरक के मार्ग में जाते हुए मार्ग का खर्च है। मोक्ष नगर का द्वार बन्द करने को मजबूत किवाड़ों की जोड़ी है, विघ्नों का बीज है, विपत्तियों का मूल है, पराधीन है, भय का स्थान है तथा इन्द्रियों से ही ग्रहण करने योग्य है।

वर्द्धते गृद्धिरश्रान्तं सन्तोषश्चापसर्पति ।
विवेको विलयं याति विषयैर्वञ्चितात्मनाम् ॥१८॥

भावार्थ :– जिनका आत्मा इन्द्रियों के विषयों से ठगाया गया है, उनकी विषय-लोलुपता निरन्तर बढ़ती जाती है, सन्तोष चला जाता है तथा विवेक भी भाग जाता है।

विषस्य कालकूटस्य विषयाख्यस्य चान्तरम् ।
वदन्ति ज्ञाततत्त्वार्था मेरुसर्षपयोरिव ॥१९॥

भावार्थ :— तत्वज्ञानियों ने कहा है कि कालकूटविष और विषयसुख में मेरु पर्वत और सरसों के समान अन्तर है। कालकूट विष जब सरसों के समान तुच्छ है तब विषय सुख मेरु पर्वत के समान महान दुःखदाई है।

आपातमात्ररम्याणि विषयोत्थानि देहिनाम्।
विषयाकानि पर्यन्ते विद्धि सौख्यानि सर्वथा ॥२५॥

भावार्थ :— हे आत्मन्! ऐसा जान कि विषयों के सुख प्राणियों को सेवते समय सुन्दर भासते हैं परन्तु उनका जब फल होता है तब विष के समान कटुक है।

उदधिरुदकपूरैरिन्धनैश्चित्रभानु-
र्यदि कथमपि दैवात्तृप्तिमासादयेताम्।
न पुनरिह शरीरी कामभोगैर्विसंख्ये-
श्चिरतरमपि भुक्तैस्तृप्तिमायाति कैश्चित् ॥२८॥

भावार्थ :— इस जगत में समुद्र तो नदियों से कभी तृप्त नही होता, और अग्नि ईंधन से कभी तृप्त नहीं होती सो कदाचित् दैवयोग से तृप्ति प्राप्त करलें, परन्तु यह जीव चिरकाल पर्यन्त नाना प्रकार के काम भोगादिक भोगने पर भी कभी तृप्त नहीं होता।

अपि संकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्प्पति ॥३०॥

भावार्थ :— मानवों को जैसे जैसे इच्छानुसार भोगों की प्राप्ति होती जाती है वैसे वैसे ही उनकी तृष्णा बढ़ती हुई सर्व लोक पर्यन्त फैल जाती है।

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धाः।
बद्धास्ते वारिबंधे ज्वलनमुपगता पत्रिणश्चाक्षिदोषात् ॥
भृङ्गा गंधोद्धताशाः प्रलयमुपगता गीतलोलाः कुरङ्गाः।
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थे रागः ॥३५॥

भावार्थ :— रसना इन्द्रिय के वश होकर मछलियां मरण को प्राप्त होती हैं हाथी स्पर्श इन्द्रिय के वश होकर गड्ढ़े में गिराए जाते हैं, बांधे जाते है, पतंगे नेत्र इन्द्रिय के वश होकर आग की ज्वाला में जल कर मरते हैं, भ्रमर गंध के लोलुपी होकर कमल के भीतर मर जाते हैं, मृग गीत के लोभी होकर प्राण गमाते हैं। ऐसे

एक एक इन्द्रिय के वश प्राणी मरते हैं तो भी देहधारियों का राग इन्द्रियों के विषयों से बना ही रहता है ।

यथा यथा हृषीकाणि स्ववशं यांति देहिनाम् ।
तथा तथा स्फुरत्युच्चैहृदि विज्ञानभास्करः ॥११॥

भावार्थ :– जैसे जैसे प्राणियों के वश में इन्द्रियां आती जाती हैं वैसे २ आत्मज्ञान रूपी सूर्य हृदय में ऊँचा २ प्रकाश करता जाता है ।

श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरङ्गिणी में कहते हैं :–

कल्पेशनागेशनरेशसंभवं चित्ते सुखं मे सततं तृणायते ।
कुस्त्रीरमास्थानकदेहदेहजात् सदेति चित्रं मनुतेऽल्पधीः सुखं ॥१०-६॥

भावार्थ :– मैंने शुद्ध चिद्रूप के सुख को जान लिया है इसलिये मेरे चित्त में देवेन्द्र, नागेन्द्र और इन्द्रों के सुख जीर्ण तृण के समान दीखते हैं, परन्तु जो अज्ञानी है वह स्त्री, लक्ष्मी, घर, शरीर और पुत्रादि के द्वारा होने वाले क्षणिक सुख को, जो वास्तव में दुःख रूप है, सुख मान लेता है ।

खसुखं न सुखं नृणां किंत्वभिलाषाग्निवेदनाप्रतीकारः ।
सुखमेव स्थितिरात्मनि निराकुलत्वाद्विशुद्धपरिणामात् ॥४-१७॥

भावार्थ :– इन्द्रिय जन्य सुख सुख नहीं है, किन्तु जो तृष्णारूपी आग पैदा होती है उसकी वेदना का क्षणिक उपाय है । सुख तो आत्मा में स्थित होने से होता है, जब परिणाम विशुद्ध हों व निराकुलता हो ।

पुरे ग्रामेऽटव्यां नगशिरसि नदीशादिसुतटे
मठे दर्यां चैत्योकसि सदसि रथादौ च भवने ।
महादुर्गे स्वर्गे पथनभसि लतावस्त्रभवने
स्थितो मोही न स्यात् परसमयरतः सौख्यलवभाक् ॥६-१७॥

भावार्थ :– जो मनुष्य मूढ़ और पर पदार्थों में रत हैं वे चाहे नगर में हों, ग्राम में हों, वन में हों, पर्वत के शिखर पर हों, समुद्र के तट पर हों, मठ, गुहा, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किले में हों, स्वर्ग में हों, भूमि, मार्ग, आकाश में हों, लतामण्डप व तंबु आदि किसी भी स्थान पर हों उन्हें निराकुल सुख रंचमात्र भी प्राप्त नहीं हो सकता ।

बहून् वारान् मया भुक्तं सविकल्पं सुखं ततः।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम ॥१०-१७॥

भावार्थ :– मैंने इन्द्रिय जन्य सुख को बार बार भोगा है, वह कोई अपूर्व नहीं है, वह तो आकुलता का कारण है। मैंने निर्विकल्प आत्मीक सुख कभी नहीं पाया उसी के लिये मेरी इच्छा है।

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत्।
निराकुलत्वतः शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखं ॥१६-४॥१

भावार्थ :– इन्द्रियों के विषयों के भोगने में प्राणियों को वास्तव में आकुलता होने के कारण से दुःख ही होता है परन्तु शुद्ध आत्मा के अनुभव करने से निराकुलता होती है तब ही सच्चा सुख होता है।

(१६) पं. बनारसीदास जी बनारसीविलास में कहते है :–

[सवैया इकतीसा]

ये ही हैं कुगति की निदानी दुःख दोष दानी,
इन ही की संगति सों संगभार वहिये।
इनकी मगनता सों विभो को विनाश होय,
इन ही की प्रीति सो अनीति पंथ गहिये॥
ये ही तपभाव को विडारें दुराचार धारैं,
इनही की तपत विवेक भूमि दहिये।
ये ही इंद्री सुभट इनहि जीतै सोई साधु,
इनको मिलापी सो तो महापापी कहिये॥७०॥
मौन के धरैया गृह त्याग के करैया विधि,
रीति के सधैया पर निंदा सों अपूठे है।
विद्या के अभ्यासी गिरिकंदरा के वासी शुचि,
अंग के अचारी हितकारी वैन छूटे हैं॥
आगम के पाठी मन लाए महाकाठी भारी,
कष्ट के सहनहार रामा हूँ सों रूठे हैं।
इत्यादिक जीव सब कारज करत रीते,
इन्द्रियन के जीते बिना सब अंग झूठे हैं॥७१॥

धर्म तरू भंजन को महामत्त कुन्जर से,
आपदा भण्डार के भरन को करोरी हैं।
सत्यशील रोकवे को पौढ़ परदार जैसे,
दुर्गति का मारग चलायवे को धोरी हैं।।
कुमति के अधिकारी कुनय पन्थ के बिहारी,
भद्र भाव इंधन जरायवे को होरी है।
मृषा के सहाई दुर्भावना के भाई ऐसे,
विषयाभिलाषी जीव अघ के अघोरी हैं।।७२।।

(१७) पं० द्यानतरायजी द्यानतविलास में कहते हैं :-

[कवित्त]

चेतनजी तुम जोड़त हो धन, सो धन चलै नहीं तुम लार।
जाको आप जानि पोषत हो, सो तन जरिके ह्वं है छार।।
विषयभोग को सुख मानत हो, ताको फल है दुःख अपार।
यह संसार वृक्ष सेमर को, मानि कह्यो मैं कहूँ पुकार।।३२।।

[सवैया इकतीसा]

सफरस फास चाहे रसना हू रस चाहे,
नासिका सुवास चाहे नैन चाहे रूप को।
श्रवण शबद चाहे काया तो प्रमाद चाहे,
वचन कथन चाहे मन दौर धूप को।।
क्रोध क्रोध कर्यों चाहे मान मान गह्यो चाहे,
माया तो कपट चाहे लोभ लोभ कूप को।
परिवार धन चाहे आशा विषय सुख चाहे,
एतै वैरी चाहे नाहीं सुख जीव भूप को।।४६।।
जीव जोपै स्याना होय पांचों इन्द्रि वसि करै,
फास रस गन्ध रूप सुर राग हरिके।
आसन बतावै काय वच को सिखावै मौन,
ध्यानमांहि मन लावै चंचलता गरिके।।

क्षमा करैं क्रोध मारे विनय धरि मान गारे,
सरल सो छल जारे लोभ दशा टरिके।
परिवार नेह त्यागे विषय सैन छांडि जागे,
तब जीव सुखी होय बैरि बस करिके ॥४७॥

वसत अनन्त काल बीतत निगोद मांहि,
अक्षर अनन्त भाग ज्ञान अनुसरे हैं।
छासठि सहस तीन से छतीस वार जीव,
अन्तर मुहूरत में जन्में अर मरे हैं॥
अंगुल असंख भाग तहाँ तन धारत है,
तहां सेती क्यों ही क्यों ही कै निसरै है।
यहाँ आय भूल गयो लागि विषय भोग विषै,
ऐसी गति पाय कहा ऐसे काम करे है ॥४८॥

बार बार कहे पुनरुक्ती दोष लागत है,
जागतन जीव तू तो सोयो मोह झग में।
आतमसेती विमुष गहे राग दोष रूप्य पंच,
इन्द्री विषय सुख लीन पग पग में॥
पावत अनेक कष्ट होत नांहि अष्ट नष्ट,
महापद भ्रष्ट भयो भमे सिष्ट जग में।
जाग जगवासी उदासी ह्वै के विषय सों,
लाग शुद्ध अनुभव जो आवे नांहि जग में ॥१८॥

(१८) भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास में कहते हैं :--

[सवैया तेईसा]

काहे को कूर तू भूरि सहे दुख पंचन के परपंच भषाए।
ये अपने रस को नित पोषत है तो ही तुम लोभ लगाए॥
तू कछु भेद न बूझत रंचक तोहि दगा करि देत वधाए।
है अब के यह दाव भलो तोहि जीति ले पंच जिनन्द बताए ॥१४॥

[छप्पय]

रसना के रस मीन प्रान पल मांहि गँवावै ।
अलि नाशा परसंग रैनि बहु संकट पावै ।।
मृग करि श्रवन सनेह देह दुर्जन को दीनी ।
दीपग देखि पतंग दृष्टि हित कैसी कीनी ।।
फरश इन्द्रिवश गज पड़ो सु कौन-कौन संकट सहै ।
एक-एक विषवेल सम तू पंचनि सेवत सुख चहै ।।४।।

[सवैया इकतीसा]

सुनो राय चिदानन्द कहे जो सुबुद्धि रानी,
कहैं कहा वेर वेर नेक तोहि लाज है ।
कैसी लाज कहो कहा हम कछु जानत न,
हमें यहां इन्द्रिन को विषय सुख राज है ।।
अरे मूढ़ विषय सुख सेयेतें अनन्तबार,
अजहूँ अघायो नाहिं कामी सिरताज है ।
मानस जनम पाय आरज सु खेत आय,
जो न चेते हंसराय तेरो ही अकाज है ।।१४।।
देखत हो कहां कहां केलि करे चिदानंद,
आतम सुभाव भूलि और रस राच्यो है ।
इन्द्रिन के सुख में मगन रहे आठों जाम,
इन्द्रिन के दुःख देखि जाने दुःख सांचो है ।।
कहूँ क्रोध कहूँ मान कहूँ माया कहूँ लोभ,
अहंभाव मानि मानि ठौर ठौर माच्यो है ।
देव तिरयंच नर नारकी गतीन फिरै,
कौन कौन स्वांग धरे यह ब्रह्म नाच्यो है ।।३६।।

जौं लौ तुम और रूप ह्वै रहे हे चिदानन्द,
तौंलो कहूँ सुख नाहिं रावरे विचारिये ।
इन्द्रिन के सुख को जो मान रहे सांचो सुख,
सो तो सब दुःख ज्ञान दृष्टि सो निहारिये ।।
ए तो विनाशीक रूप छिन में और सरूप,
तुम अविनाशी भूप कैसे एक धारिये ।
ऐसो नर जन्म पाय नेक तो विवेक कीजे,
आप रूप गहि लीजे कर्म रोग टारिये ।।४२।।

जीवै जग जीते जन तिन्हें सदा रैन दिन,
सोचत ही छिन छिन काल छीजियतु है ।
धनी होय धन होय पुत्र परिवार होय,
बड़ो विस्तार होय जस लीजियतु है ।।
देह तो निरोग होय सुख को संजोग होय,
मन वंछ भोग होय जौं लो जीजियतु है ।।
चहे वंछ पूरी होय पै न वंछ पूरी होय,
आउ थिति पूरी होइ तौलों कीजियतु है ।।४४।।
नागरिन संग कई सागरनि केलि कीये,
रागरंग नाटक सों तउ न अघाए हो ।
नर देह पाय तुम्हें आयु पल्ल तीन भई,
तहाँ तो विषय कलोल नाना भांति गाए हो ।
जहां गए तहाँ तुम विषय सों विनोद कीनों,
ताही ते नरक में अनेक दुःख पाए हो ।
अज हूँ संभार विषय डारि क्यों न चिदानन्द,
जाके संग दुःख होय ताही से लुभाए हो ।।८।।

नर देह पाए कहो कहा सिद्धि भई तोहि,
विषय सुख सेये सब सुकृत गंवायो है।
पंचइन्द्री दुष्ट तिन्हें पुष्ट करि पोष राखे,
आई गई जरा तब जोर बिललायो है ।।
क्रोध मान माया लोभ चारों चित रोक बैठे,
नरक निगोद को संदेसो वेग आयो है ।
खाय चल्यो गांठ की कमाई कौड़ी एक नाहिं,
तोसो मूढ़ दूसरो न ढूंढ्यो कोऊ पायो है ।।११।।
देखहु रे दक्ष एक बात परतक्ष नई,
अच्छन की संगति विचच्छन भुलानो है ।
वस्तु जो अभक्ष्य ताहि भच्छत है रैन दिन,
पोषिवेको पक्ष करे मच्छ ज्यों लुभानो है ।।
विनाशीक लक्ष ताहि चक्षु सो विलोके थिर,
वह जाय गच्छ तब फिरे जो दीवानो है ।
स्वच्छ निज अक्ष को विजक्ष के न देखे पास,
मोह जक्ष लागे वच्छ ऐसे भरमानो है ।।७।।
अरे मन बौरे तोहि बारबार समझाऊं,
तजि विषयभोग मन सों अपनि तू ।
ये तो विष बेलि फल दीसत हैं परतच्छ,
कैसे तोहि नीके लागे भयो है मगन तू ।।
ऐसे भ्रम जाल मांहि सोयो है अनादि काल,
निज सुधि भूलि ठग्यो करम ठगनि तू ।
तोरि महा मोह डोरि आतम सों लव जोरि,
जाग जाग जाग अब ज्ञान की जगन तू ।।११।।

चौथा अध्याय

सहज सुख या अतीन्द्रिय सुख

गत अध्याय में यह भले प्रकार दिखा दिया है कि जिस सुख के पीछे संसारी अज्ञानी जीव बावले हो रहे हैं वह सुख सुखसा भासता है परन्तु वह सच्चा सुख नहीं है। इन्द्रियों के भोग द्वारा प्राप्त सुख तृष्णा के रोग का क्षणिक उपाय इतना असार है कि उस सुख के भोगते भोगते तृष्णा का रोग अधिक अधिक बढ़ता जाता है। भ्रम से-भूल से-अज्ञान से जैसे रस्सी में सर्प की बुद्धि हो, पानी में चन्द्र की परछाईं को देखकर कोई बालक चन्द्रमा मान ले, सिंह कुए में अपने प्रतिबिम्ब को देख सच्चा सिंह जानले, पक्षी दर्पण में अपने को ही देख दूसरा पक्षी मानले, पित्त ज्वरवाला मीठे को कटुक जानले, मदिरा से उन्मत्त परकी स्त्री को स्वस्त्री मानले, इसी तरह मोहांध प्राणी ने विषय सुख को सच्चा सुख मान लिया है।

सच्चा सुख स्वाधीन है, सहज है, निराकुल है, समभाव मय है, अपना ही स्वभाव है। जैसे इक्षु का स्वभाव मीठा है, नीम का स्वभाव कड़वा है, इमली का स्वभाव खट्टा है, जल का स्वभाव ठन्डा है, अग्नि का स्वभाव गर्म है, चांदी का स्वभाव श्वेत है, सुवर्ण का स्वभाव पीला है, स्फटिक मणिका स्वभाव निर्मल है, कोयले का स्वभाव काला है, खड़ी का स्वभाव श्वेत है, सूर्य का स्वभाव तेजस्वी है, चंद्र का स्वभाव शीत उद्योत है, दर्पण का स्वभाव स्वच्छ है, अमृत का स्वभाव मिष्ठ है वैसे अपने आत्मा का स्वभाव सुख है। जैसे लवण में सर्वांग खारपना, मिश्री में सर्वांग मिष्ठपना है, जल में सर्वांग द्रवपना है, अग्नि में सर्वांग उष्णपना है, चन्द्रमा में सर्वांग शीतलता है, सूर्य में ताप है, स्फटिक में सर्वांग निर्मलता है, गोरस में सर्वांग चिक्कनता है, बालू में सर्वांग कठोरता है, लोहे में सर्वांग भारीपन है, रुई में सर्वांग हलकापन है, इत्र में सर्वांग सुगन्ध है, गुलाब के फूल में सर्वांग सुवास है, आकाश में सर्वांग

निर्मलता है वैसे आत्मा में सर्वांग सुख है। सुख आत्मा का अविनाशी गुण है। आत्मा गुणों में सर्वांग तादात्म्य रूप है।

जैसे लवण की कणिका जिह्वा द्वारा उपयोग में लवणपने का स्वाद-बोध कराती है। मिश्री की कणिका उपयोग में मिष्टपने का स्वाद जनाती है; वैसे ही आत्मा के स्वभाव का एक समय मात्र भी अनुभव सहज सुख का ज्ञान कराता है। परमात्मा सहजसुख की पूर्ण प्रगटता से ही परमानन्दमय अनंत सुखी है, अनंते सिद्ध इसी सहज सुख के स्वाद में ऐसे मगन हैं जैसे भ्रमर कमल पुष्प की गंध में आसक्त हो जाता है। सर्व ही अरहंत केवली इसी सहजसुख का स्वाद लेते हुए पांच इन्द्रिय और मन के रहते हुए भी उनकी ओर नहीं झुकते हैं। इस आनन्दमयी अमृत के रसपान को एक क्षण को नहीं त्यागते हैं। सर्व ही साधु इस ही रस के रसिक हो सहज सुख के स्वाद के लिये मन को स्थिर करने के हेतु परिग्रह का त्यागकर प्राकृतिक एकांत वन, उपवन, पर्वत, कंदरा, नदी तट का सेवन करते हैं। जगत के प्रपंच से आरम्भ परिग्रह से मुंह मोड़ पांच इन्द्रियों की चाह की दाह को शमन कर परम रुचि से आत्मीक स्वभाव में प्रवेश करके सहज सुख का पान करते हैं, तथा इसी सुख में मगन होकर वीतरागता की तीव्र ज्वाला से कर्म ईंधन को भस्म करते हैं; अपने आत्मा को स्वच्छ करने का सदा साधन करते हैं।

सर्व ही देशव्रती श्रावक पांच अणुव्रतों की सहायता से संतोषी रहते हुए इसी सहज सुखामृत के पान के लिये प्रातः मध्यान्ह तथा सायंकाल यथा संभव सर्व से नाता तोड़ जगत प्रपंच से मुंह मोड़, एकांत में बैठ मोह की डोर को तोड़, बड़े भाव से आत्मा के उपवन में प्रवेश करते हुए सहज सुख का भोग करते हुए अपने जन्म को कृतार्थ मानते हैं। सर्व ही सम्यग्दृष्टि अविरति भाव के धारी होते हुए भी सर्व जगप्रपंच से उदासीन रहते हैं। गृहस्थ में रहते हुए भी इन्द्रिय सुख को नीरस, असुख व रागवर्द्धक जानते हुए भेदविज्ञान से अपने आत्मा के स्वभाव को आत्मामय यथार्थ पहचानते हुए, आत्मा में परके स्वभाव को लेशमात्र भी संयोग न करते हुए, अपने को शुद्ध सिद्धसम अनुभव करते हुए इसी सहज सुख का स्वाद लेते हुए अपने को कृतार्थ मानते हैं।

सहज सुख अपने आत्मा का अमिट अटूट अक्षय अनन्त भंडार है। अनन्त काल तक भी इसका भोग किया जावे तो भी यह परमाणु मात्र भी कम नहीं होता। जैसे का तैसा ही बना रहता है। कोई भी बलवती शक्ति ऐसी नहीं है जो इस सुख को हरण कर सके, आत्मा गुणी से इस गुण को पृथक् कर सके, आत्मा को सहज सुख से रहित कर सके। हर एक आत्मा सहज सुख समुद्र है। संसारी मोही जीव की दृष्टि कभी अपने आत्मा पर नहीं रुकती है। वह आत्मा को नहीं पहचानता है। आप आत्मा होते हुए भी आत्मा के प्रकाश में अपना जीवन रखते हुए भी आत्मा की महिमा से ही इन्द्रिय व मन से ज्ञान क्रिया करते हुए भी वह आत्मा को भूले हुए है। आत्मा के प्रकाश से जो शरीर दिखता है उसी रूप अपने को मान लेता है।

आत्मा के प्रकाश से जो चेतन व अचेतन पदार्थ शरीर को उपकारी दिखते हैं उनको अपना सखा मान लेता है व जो शरीर को अहितकारी दिखते हैं उनको अपना शत्रु जान लेता है। मैं स्वरूपवान, मैं बलवान, मैं धनी, मैं स्वामी, मैं सेवक, मैं कृषक, मैं रजक, मैं सुनार, मैं लुहार, मैं थवई, मैं जमींदार, ऐसा मानता हुआ शरीर के व इसके क्षणिक इन्द्रिय सुख के मोह में ऐसा पागल हो जाता है कि यह कभी भी "आत्मा मैं हूँ" – ऐसा विश्वास नहीं लाता। मैं शुद्ध वीतराग परमानन्द मय हूँ ऐसा ज्ञान नहीं पाता। मैं रागी द्वेषी नहीं, मैं बालक वृद्ध युवा नहीं, मैं शरीर में रहते हुए शरीर से उसी तरह पृथक् हूँ जैसे धान्य में रहते हुए भी तुष से चांवल पृथक् है, तिल में रहते हुए भी भूसी से तेल पृथक् है, जल में रहते हुए भी जल से कमल पृथक् है। अपने मूल स्वभाव को न जानता हुआ, सहज सुख का सागर होते हुए भी उस सहज सुख का किंचित् भी स्वाद न पाता हुआ विषय सुख से तृष्णा की आताप को बढ़ाता हुआ रात दिन संतापित रहता है। सहज सुख को न पाकर तृषा को शमन नहीं कर पाता है।

जैसे कस्तूरी मृग की नाभि में होती है वह उसकी सुगंध का अनुभव करता है परन्तु उस कस्तूरी को अपनी नाभि में न देखकर बाहर-बाहर ढूंढता है—जैसे हाथ में मुद्रिका होते हुए भी कोई भूल जावे कि मुद्रिका मेरे पास नहीं है और उस मुद्रिका को बाहर-बाहर ढूंढने लगे। जैसे मदिरा से उन्मत्त

अपने घर में बैठे हुए भी अपने घर को भूल जावे और बाहर ढूंढता फिरे व पूछता फिरे कि मेरा घर कहां है, उसी तरह यह अज्ञानी प्राणी सहज सुख को अपने पास रखते हुए भी व कभी उसका बिलकुल मलीन अनुभव, कभी कम मलीन अनुभव, कभी कुछ स्वच्छ स्वाद पाते हुए भी उस सहज सुख को भूले हुए है, और भ्रम से इन्द्रियों के विषयों में ढूंढता फिरता है कि यहां सुख होगा।

सुख आत्मा का गुण है। इसका परिणमन भी स्वभाव व विभावरूप दो प्रकार का है जैसे—चारित्र आत्मा का गुण है उसका परिणमन स्वभाव तथा विभाव रूप दो प्रकार का है। वीतराग रूप होना स्वभाव परिणमन है, कषाय रूप होना विभाव परिणमन है। इस विभाव परिणमन के भी दो भेद हैं—एक शुभ भाव परिणमन, एक अशुभ भाव परिणमन। जब मंद कषाय का रंग होता है तब शुभ भाव कहलाता है, जब तीव्र कषाय का रंग होता है तब अशुभ भाव कहलाता है। यदि चारित्र-गुण आत्मा में नहीं होता तो शुभ भाव व अशुभ भाव भी नहीं हो सकते थे।

इसी तरह सहज सुख का स्वभाव परिणमन तब है जब आत्मा की ओर उपयोगवान होता है। आत्मा में तल्लीन होता है, इसका विभाव परिणमन सांसारिक सुख या सांसारिक दुःख का अनुभव है। जब साता वेदनीय का उदय, रति कषाय का उदय होता है तब सांसारिक सुख रूप परिणमन होता है। जब असाता वेदनीय का उदय तथा अरति कषाय का उदय होता है तब सांसारिक दुःखरूप परिणमन होता है। यदि आत्मा में सुख गुण नहीं होता तो इन्द्रिय सुख व दुःख का भान भी नहीं होता क्योंकि इसमें कषाय के उदय का मैल मिश्रित है। इसलिए सच्चे सुख का स्वाद न आकर कषाय का ही स्वाद आता है, कभी प्रीतिरूप, कभी अप्रीतिरूप या द्वेष रूप स्वाद आता है।

जैसे लवण से मिले हुए जल को पीने से जल का स्वाद न आकर लवण का स्वाद आयेगा, खटाई से मिले जल को पीने से जल का स्वाद न आकर खटाई का स्वाद आयेगा, नीम की पत्ती से मिला जल पीने से नीम का कटुक स्वाद आयेगा, जल का स्वाद न आयेगा। शक्कर से मिला जल पीने से से शक्कर का मीठा स्वाद आयेगा, जल का शुद्ध स्वाद न आयेगा। इलायची,

बादाम, पिस्ता, किसमिस, शक्कर से मिला जल पीने से इन ही का मिश्रित स्वाद आयेगा, जल का अकेला निर्मल स्वाद न आयेगा। इसी तरह राग द्वारा इन्द्रिय सुख व द्वेष द्वारा इन्द्रिय दुःख भोगते हुए राग-द्वेष का स्वाद आता है, शुद्ध सुख का स्वाद नहीं आता है, इसीसे तृप्ति नहीं होती है।

जैसे वीतराग भाव या शांत भाव आत्मा के लिये हितकारी है वैसे शुद्ध सुख का अनुभव आत्मा के लिये हितकारी है। विभाव सुख की परिणति में राग द्वेष का मिश्रण होने से कर्म का बंध होता है। यहां यह कहने का प्रयोजन है कि यदि चारित्र गुण न होता तो राग द्वेष या कषाय भाव क्रोधादि भाव न होता वैसे यदि सुख गुण न होता तो सांसारिक सुख या दुःख का अनुभव किसी को न होता। यह अज्ञानी जीव जैसे अपने चारित्रगुण को भूले हुए है वैसे यह अपने सुख गुण को भी भूले हुए हैं। इसे कषाय के उदय से जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभाव की कलुषता का स्वाद आता है वैसे ही कषाय के उदय से इसे सांसारिक सुख या दुःख का मलीन अतृप्तिकारी स्वाद आता है।

जैसे किसी गंवार अज्ञानी पुरुष को मिट्टी से मिला हुआ पानी पीने को दिया जावे तो वह उस मटीले पानी को ही पी लेगा। खेद है कि उसे पानी का स्वाद नहीं आएगा किंतु जैसी मिट्टी होगी वैसी मिट्टी का ही स्वाद आयेगा। यदि वही पानी किसी बुद्धिमान को पीने दिया जाय तो वह विवेकी जल के ही स्वाद लेने का इच्छुक उस मटीले पानी को नहीं पीवेगा किन्तु उस पानी में कतकफल डालकर मिट्टी को नीचे बिठा देगा और वह पानी को साफ करके ही पीएगा और उस जल का असली स्वाद पाकर प्रसन्न होगा, उसी तरह जो अज्ञानी विषयों के झूंठे सुख में लुब्ध हैं, सच्चे सुख का स्वाद न पाते हुए कषाय का ही स्वाद पाकर मगन हैं वे इन्द्रिय सुख को ही सुख मानकर इसी की चाह की दाह में जलते हैं व इसी को बार बार भोगते हैं। सहज सुख के स्वाद को न पाकर कषाय के या राग भाव के स्वाद को पाते हैं, परन्तु भ्रम से मानते हैं कि हमने सुख भोगा, यही अनादि काल का बड़ा अज्ञान है।

विवेकी सज्जन संत पुरुष सच्चे सुख के अर्थी होकर जैसे कतकफल को डालकर स्वच्छ जल पीने वाले ने मिट्टी को अलग कर स्वच्छ जल पिया वैसे

भेद विज्ञान से शुद्ध निश्चय नय को डालकर राग के स्वाद को अलग करके निर्मल आत्मा का स्वाद लेते हुए सहज सुख का स्वाद पाकर परम तृप्त होते हैं। इन्द्रिय सुख का भोग मलीन कषाय की कलुपता का भोग है। सहज अतिन्द्रिय सुख का भोग स्वच्छ निर्मल आत्मा के सुख गुण का भोग है। इस सुख के भोग में वीतरागता है, इससे कर्म का बन्ध नहीं है किन्तु कर्म की निर्जरा है।

इन्द्रिय सुख पराधीन है, सहज सुख स्वाधीन है। इसके लिये न इन्द्रियों की जरूरत है न बाहरी पदार्थों की जरूरत है। इन्द्रिय सुख जब अपने आश्रयी भूत पदार्थों के बिगड़ने से बाधित हो जाता है तब सहज सुख स्वाधीन व स्वावलम्बन पर निर्भर रहने से बाधा रहित है। इन्द्रिय सुख जब बिल्कुल नाश हो जाता है, अपने शरीर छूटने पर या आश्रयीभूत विषय पदार्थ के वियोग होने पर नहीं रहता है तब यह सहज सुख अविनाशी आत्मा का स्वभाव होने से सदा ही बना रहता है। इन्द्रिय सुख राग भाव बिना भोगा नहीं जाता, इसलिये कर्म बन्ध का कारण है; सहज सुख वीतरागता से प्राप्त होता है, इससे वहां बन्ध नहीं किन्तु पूर्व बन्ध का नाश होता है। इन्द्रिय सुख आकुलतामय है, विषम है, समतारूप नहीं है। जबकि अतीन्द्रिय सुख निराकुल है तथा समतारूप है। इन्द्रिय सुख जब विष है जबकि सहजसुख अमृत है। इन्द्रिय सुख अन्धकार है जबकि सहज सुख प्रकाश है।

इन्द्रिय सुख रोग है, तब सहज सुख निरोग है। इन्द्रिय सुख कृष्ण है, सहज सुख श्वेत है। इन्द्रिय सुख कटुक है, सहज सुख मिष्ट है। इन्द्रिय सुख तापमय है, सहज सुख शीतल है। इन्द्रिय सुख बेड़ी है, सहज सुख आभूषण है। इन्द्रिय सुख मृत्यु है, सहज सुख जीवन है। इन्द्रिय सुख इन्द्रायण फल है, सहज सुख मिष्ट आम्र फल है। इन्द्रिय सुख वासरहित पुष्प है, सहज सुख परम सुगन्धित पुष्प है। इन्द्रिय सुख भयानक जंगल है, सहज सुख मनोहर उपवन है। इन्द्रिय सुख खारा पानी है, सहज सुख मिष्ट जल है। इन्द्रिय सुख गर्दभ स्वर है, सहज सुख कोयल स्वर है। इन्द्रिय सुख काक है, सहज सुख हंस है। इन्द्रिय सुख कांच खण्ड है, सहज सुख अमूल्य रत्न है। इन्द्रिय सुख आंधी है, सहज सुख मन्द सुगन्ध पवन है। इन्द्रिय सुख रात्रि है, सहज सुख प्रभात

है । इन्द्रिय सुख हर तरह से त्यागने योग्य है, सहज सुख हर तरह से ग्रहण करने योग्य है । एक संसार का विकट मार्ग है तब दूसरा सहज सुख मोक्ष का सुहावना सरल राजमार्ग है । सहज सुख को हर एक आत्मज्ञानी, चाहे वह नारकी हो, पशु हो या देव हो या दरिद्री मानव हो या धनिक मानव हो, कुरूप हो या सुरूप हो, बलिष्ठ हो या निर्बल हो, बहुत शास्त्रज्ञाता हो या अपढ़ हो, वन में हो या महल में हो, दिन में हो या रात में हो, सवेरे हो या सांझ हो, हर स्थान, हर समय, हरएक अवस्था में प्राप्त कर सकता है । जब कि इन्द्रिय सुख को वही पा सकता है जिसको इच्छित विषयभोग मिलें जिनका मिलना हरएक मानव को महादुर्लभ है ।

सहज सुख है इसका विश्वास साधारण मानवों को कराने के लिये विशेष समझाकर कहा जाता है कि इस जगत में इन्द्रिय सुख के सिवाय एक ऐसा सुख है जो मंदकषाय होने पर शुभ कार्य करते हुए हरएक विचारशील मानव के भोगने में आता है । परमात्मा के शुद्ध गुणों की भक्ति करते हुए, धर्मशास्त्र को एकचित्त हो पढ़ते हुए, रोगी की टहल सेवा करते हुए, बुभुक्षित को दयार्द्र होकर भोजन देते हुए, दुखियों का दुःख निवारणार्थ उद्यम करते हुए, समाज के उपकारार्थ उद्यम करते हुए, देश के गरीबों की सेवा करते हुए, परोपकारार्थ द्रव्य का दान करते हुए, नदी में डूबते को बचाते हुए, स्वयं सेवक बन कर एक मजदूर की तरह बोझा ढ़ोते हुए, पुलिस की तरह पहरा देते हुए इत्यादि कोमल व दया भाव से अर्थात् मंदकषाय से बिना किसी स्वार्थ की पुष्टि के बिना किसी लोभ या मान प्रतिष्ठा के हेतु जितना भी मन, वचन, काय का वर्तन व अपनी शक्तियों की बलि परोपकारार्थ की जाती है उस समय जो सुख का स्वाद आता है वह सुख इन्द्रिय सुख नहीं है ।

यह तो स्वयं सिद्ध है कि दानी, परोपकारी, स्वार्थत्यागी जब निष्काम कर्म करते हैं, बिना बदले की इच्छा के पर की सेवा करते हैं तब सुख अवश्य होता है । परोपकार करते हुए या भक्ति करते हुए व धर्मशास्त्र एक भाव से पढ़ते हुए पांचों इन्द्रियों के विषय का भोग नहीं किया जाता है । न किसी स्त्री का भोग है, न मिष्टान्न का सेवन है, न पुष्पों का सूंघना है, न सुन्दर रूप को देखना है, न कोई ताल सुर सहित गान का सुनना है ।

जब यह इन्द्रिय सुख नहीं है परन्तु सुख तो अवश्य है तब यह क्या है ? इसका समाधान यह है कि जैसे इन्द्रिय सुख का विभाव परिणमन है वैसे परोपकारादि शुभ कार्यों को मंद कषाय से करते हुए जो सुख होता है वह एक देश मंदकषाय मिश्रित स्वाभाविक सुख गुण का परिणमन है। इस सुख में तीव्र राग भाव नहीं है इसलिए जो मलीनता इन्द्रिय सुख भोग में होती है वह मलीनता इसमें नहीं है किन्तु भावों में त्याग भाव है, विरागभाव है, परहितार्थ स्वधन का स्वशक्ति का व्यय है, लोभ का कितने अंश त्याग है, इसीलिए ऐसी दशा में कुछ निर्मल सुख का भोग है। यहां विकारपना नहीं है। यह बात एक विवेकी को समझ में आ सकती है कि जितना अधिक स्वार्थ त्याग किया जाता है, जितना अधिक मोह हटाया जाता है, जितना अधिक लोभ छोड़ा जाता है उतना ही अधिक सुख का अनुभव होता है, चाहे वह अनुभव करने वाला आत्मा को जानता हो या न जानता हो, चाहे वह नास्तिक हो या आस्तिक हो, चाहे वह नागरिक हो या ग्रामीण हो, चाहे वह भारतीय हो या विदेशी हो, चाहे वह गरीब हो या अमीर हो।

यह वस्तु का स्वभाव है कि जो कोइ भी मिश्री खायेगा उसे मिश्री का स्वाद आयेगा। जो कोई भी लवण खायेगा उसे लवण का स्वाद आयेगा, चाहे वह व्यक्ति मिश्री को या लवण को नहीं भी पहचानता हो, उसी तरह चाहे कोई आत्मा को समझो या न समझो; जो कोई स्वार्थत्यागी निर्लोभी, परोपकारार्थ अपनी बलि करेगा या मंद कषाय से अन्य शुभ कार्य करेगा उसको उस सुख का स्वाद आवेगा ही जो आत्मा का स्वभाव है। यह सुख इन्द्रियसुख की अपेक्षा विशेष स्वच्छ है इसमें कषाय की कालिमा का अंश बहुत ही मंद है। आत्मा का अनुभव करने से व आत्मा का ध्यान करने से जो वीतरागता के कारण सुख का स्वाद आता है उससे यह कुछ ही दर्जे कम है।

यहां पाठकों को यह बताना है कि यह सुख कुछ मोह या लोभ के त्याग से हुआ है। यदि कोई अपने आत्मा के सिवाय सर्व पदार्थों से बिल्कुल मोह छोड़ दे तो बहुत निर्मलता के साथ सहज सुख का अनुभव होगा। जिनको इन्द्रिय सुख का ही विश्वास है, और किसी तरह के सुख पर जिनकी श्रद्धा नहीं है उनके लिये यहां पर परोपकार से अनुभव में आने वाले सुख को बताया

गया है कि यह इन्द्रियसुख से अन्य तरह का है व जो बिना इन्द्रियों के भोग के भोगने में आता है। यही सहजसुख का निश्चय कराता है। यदि आत्मा में सहज स्वाभाविक अतीन्द्रिय व सच्चा सुख नहीं होता तो स्वार्थत्यागी परोपकारियों को कभी भी भोगने में नहीं आता।

श्री गुरु परोपकारी जगत के प्राणियों को सहज सुख का पता बताते हैं कि यह सुख किसी जड़ पदार्थ में नहीं है न यह दूसरे से किसी को मिल सकता है। यह सुख प्रत्येक की आत्मा में है और आत्मा से ही प्रत्येक को बिना किसी वस्तु की सहायता से मिल सकता है। यह स्वाधीन है, हर एक की अपनी संपत्ति है। हर एक जीव इस सुख भण्डार को भूले हुए हैं, इसी से मृग-तृष्णा की तरह दु:खित है, संतापित है, सुख के लिए इन्द्रियों के विषयों में भटकता है, परन्तु सुख का पता नहीं पाकर सुखी नही हो सकता, सताप नही मिटा सकता, संसार के दु:खों का अन्त नही कर सकता जो इन्द्रिय सुख की तृष्णावश प्राणियों को सहना पड़ता है। मोहवश, भ्रमवश, अज्ञानवश प्राणी अपने पास अमृत होते हुए भी उसका पता न पाकर दु:खी हो रहे है।

सहज सुख के भोग में शरीर को भी हानि नही होती है—मुख प्रसन्न रहता है, शरीर हल्का रहता है, कितने ही रोग मिट जाते हैं, किन्तु इन्द्रिय सुख भोग में बहुधा मात्रा का उल्लंघन लोभवश कर दिया जाता है इससे अनेक रोग पैदा हो जाते हैं।

संसार, शरीर, भोग तोनों की क्या दशा है इस बात को भले प्रकार समझ कर जो कोई इस दु:खमय संसार से पार होना चाहे, इस अपवित्र शरीर के कारावास से सदा के लिये छूटना चाहे, इन नीरस विषय भोगो के धोखे से बचना चाहे, और सदा सुखमय जीवन बिताना चाहे उसको उचित है कि वह इस सहज सुख पर अपना विश्वास लावे। रत्न को पहचान कर जौहरी बने। इन्द्रिय सुख रूपी काच खण्ड को रत्न समझकर अपने को न ठगावे। सहज-सुख अपने ही पास है, अपना ही स्वभाव है, अपना ही गुण है, ऐसा जानकर हर एक विचारशील को बड़ा ही आनन्दित होना चाहिये और भली प्रकार अपने आत्मा को समझना चाहिये तथा उस साधन को समझ लेना चाहिये

जिससे सहज सुख अपने को मिल सके। इस पुस्तक में आगे साधना का ही लक्ष्य रखके कथन किया जायेगा। जैनाचार्यों ने इस सहज सुख के सम्बन्ध में निम्न प्रकार वर्णन किया है :-

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री प्रवचनसार में कहते हैं :-

सोक्खं वा पुण दुक्खं, केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जम्हा अदिंदियत्तं, जादं तम्हा दु तं णेयं ॥२०॥

भावार्थ :- केवली अरहंत के इन्द्रिय जनित ज्ञान तथा सुख नहीं हैं, किन्तु सहज अतीन्द्रिय ज्ञान है व सहज अतीन्द्रिय सुख है।

तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थि कादव्वं।
तध सोक्खं सयमादा, विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥६९॥

भावार्थ :- जिसकी दृष्टि अन्धेरे में देख सकती है उसको दीपक की कोई जरूरत नहीं है। यदि सहजसुख स्वयं आत्मा रूप है तब फिर इन्द्रियों के विषयों की क्या आवश्यकता है ?

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्ठा रमंति विसयेसु रम्मेसु ॥७५॥

भावार्थ :- सुख तो आत्मा का स्वभाव है, सो देवों को भी प्राप्त नहीं होता, तब वे देह की वेदना से पीड़ित होकर रमणीक विषयों में रमते हैं।

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा, ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥८५॥

भावार्थ :- जो मनुष्य साधुओं में श्रेष्ठ, तीन लोक के गुरु, देवों के देव, श्री अरहंत भगवान को भाव सहित नमन करते हैं वे अविनाशी सहज सुख को पाते हैं।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं :-

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तमं सोक्खं ॥२१९॥

भावार्थ :- इसी आत्म स्वरूप में नित्य रत हो, इसी में सन्तोष रख व इसी में तृप्त रह, तो तुझे उत्तम सहज सुख प्राप्त होगा।

जो समयपाहुडमिणं पढिदूणय अच्छतच्चदो णादुं ।
अच्छे ठाहिदि चेदा सो पावदि उत्तमं सुक्खं ।।४३७।।

भावार्थ :– जो इस समयसार ग्रन्थ को पढ़ करके और ग्रन्थ के अर्थ और भावों को जानकर शुद्ध आत्मीक पदार्थ में ठहरेगा वह उत्तम सुख को पावेगा ।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य दर्शन पाहुड़ में कहते हैं :–

लद्धूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गुत्तेण ।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसुक्खं लहदि मोक्खं च ।।३४।।

भावार्थ :– उत्तम गोत्र सहित मनुष्यपना पाकर के प्राणी सम्यग्दर्शन को पाकर अविनाशी सुख को तथा मोक्ष को पाते हैं ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य चारित्र पाहुड़ में कहते हैं :–

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी ।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ।।४३।।

भावार्थ :– जो ज्ञानी आत्मा चारित्र को धारण कर अपने आत्मा में परभाव या पदार्थ को नहीं जोड़े, सब पर से राग, द्वेष छोड़े सो ज्ञानी शीघ्र ही अनुपम सहज सुख पाता है ऐसा जानो ।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भाव पाहुड़ में कहते हैं :–

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव ।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छसि सासयं सुक्खं ।।६०।।

भावार्थ :– जो चार गति रूप संसार से छूटकर शीघ्र ही अविनाशी सहज सुख को चाहते हो तो भावों को शुद्ध करके शुद्ध आत्मा की भावना करो ।

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलमतुलं ।
पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ।।१६२।।

भावार्थ :– जो जिन धर्म की भावना भाते हैं, वे जीव सहज मोक्ष के सुख को पाते हैं । जो सुख कल्याण रूप है, अजर है, अमर है, अनुपम है, उत्तम है, श्रेष्ठ है, प्रशंसनीय है, शुद्ध है, महान् है ।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड़ में कहते हैं :–

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो ।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ।।४५।।

भावार्थ :– जो जीव मद, माया, क्रोध, लोभ से रहित होकर निर्मल स्वभाव से युक्त होता है, वही उत्तम सहज सुख को पाता है ।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि ।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ।।१०१।।

भावार्थ :– जो साधु वैराग्यवान हो, परद्रव्य से पराङ्.मुख हो व संसार के सुख से विरक्त हो वही अपने आत्मीक शुद्ध सहज सुख में लीन होता है ।

(७) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं :–

उवसम दया य खंती वड्ढइ वेरग्गदा य जह जह से ।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ ।।६३।।

भावार्थ :– जैसे जैसे शांतभाव, दया, क्षमा वैराग्य बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे अविनाशी सहज मोक्ष सुख की भावना बढ़ती जाती है–अधिक अधिक सुख अनुभव में आता है ।

उवसमखयमिस्सं वा बोधि लद्धूण भवियपुंडरिओ ।
तवसंजमसंजुत्तो अक्खयसोक्खं तदा लहदि ।।७०।।

भावार्थ :– जो भव्य उपशम, क्षायिक या क्षयोपशम सम्यक्त को प्राप्त करके तप व संयम पालेगा वह तब अक्षय सहज सुख को पावेगा ।

(८) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगार भावना में कहते हैं :–

एगंतं मग्गंता सुसमणा वरगंधहत्थिणो धीरा ।
सुक्कज्झाणरदीया मुत्तिसुहं उत्तमं पत्ता ।।२०।।

भावार्थ :– जो साधु एकान्त को ढूंढ़ने वाले हैं व गंधहस्ती के समान धीर हैं व शुक्लध्यान में लवलीन हैं वे मुक्ति के उत्तम सहज सुख को पाते हैं ।

(९) श्री समंतभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं :–

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशांतये ।।११५।।

भावार्थ :– हे मुनिसुव्रतनाथ स्वामी आपने अनुपम ध्यान के बल से आठ कर्ममल कलक को भस्म कर डाला और आप मोक्ष के सहज सुख को प्राप्त कर सुखी हो गए । आपके प्रसाद से मेरा संसार भी अंत होवे ।

(१०) स्वामी समंतभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं :–

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥१३१॥

भावार्थ :– निर्वाण जन्म, जरा, रोग मरण, शोक दुःख, भय से रहित है । शुद्ध सहज सुख से पूर्ण है, परम कल्याण रूप है तथा नित्य है ।

(११) श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश में कहते हैं :–

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥२१॥

भावार्थ :– यह आत्मा आत्मानुभव से ही प्रकट होता है । शरीरमात्र आकारवान है, अविनाशी है, सहज सुख का धनी अत्यन्त सुखी है व लोक अलोक का देखने वाला है ।

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः ।
जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

भावार्थ :– जो योगी व्यवहार के प्रपंच से बाहर ठहरकर आत्मा की भावना में लीन होते हैं उनको योगाभ्यास के द्वारा कोई अपूर्व परमानन्दमयी सहज सुख प्राप्त होता है ।

(१२) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक में कहते हैं :–

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम् ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानंदनिर्वृतिम् ॥३२॥

भावार्थ :– जब मैं इन्द्रियों के विषयों से अलग होकर अपने ही द्वारा अपने को अपने में स्थापित करता हूँ तब परमानन्दमयी सहज सुख से पूर्ण ज्ञान-मयी भाव को प्राप्त करता हूँ ।

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि ।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥५२॥

भावार्थ :– जो ध्यान को प्रारम्भ करता है उसको आत्मा में कष्ट व बाहर सुख मालूम पड़ता है परन्तु जिसकी भावना आत्मा में दृढ़ हो गई है उसको बाहर दुःख व आत्मा में ही सहज सुख अनुभव में आता है।

(१३) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं :–

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखं।
तत् ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥४६॥

भावार्थ :– धर्म वह है जहां अधर्म नहीं हो, सुख वहीं है जहां कोई दुःख नहीं हो, ज्ञान वहीं है जहां अज्ञान नहीं हो, वहीं गति है जहां से लौटना नहीं हो।

आराध्यो भगवान जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां सम्मता।
क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम् ॥
साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनःसाधनम्।
सम्यक् चेतसि चिन्तयन्तु विधुरं किं वा समाधौ बुधाः ॥११२॥

भावार्थ :– समाधि या ध्यान में तीन जगत के गुरु भगवान की तो अराधना होती है। संतों से सराहनीय प्रवृत्ति होती है। भगवान के चरणों का स्मरण यही कष्ट है, कर्मों की बहुत निर्जरा यही खर्च है, थोड़ा सा काल लगता है, मन का साधन किया जाता है, तथा इससे सहज अतीन्द्रिय सिद्धि सुख प्राप्त होता है। इसलिये भली प्रकार विचार करो, समाधि में कोई कष्ट नहीं है, किन्तु सहज सुख का परम लाभ है।

त्यजतु तपसे चक्रं चक्री यतस्तपसः फलम्।
सुखमनुपमं स्वोत्थं नित्यं ततो न तदद्भुतम् ॥
इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मकम्।
पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भोक्तुं जहाति महत्तपः ॥१६५॥

भावार्थ :– चक्रवर्ती तप के लिए चक्ररत्न का त्याग कर देते हैं क्योंकि तप का फल अनुपम आत्मा से उत्पन्न, सहज सुख का लाभ है। इस काम में तो कोई आश्चर्य नहीं है परन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जो कोई सुबुद्धि छोड़े हुए विष के समान विषय – सुख को फिर भोगने के लिये बड़े तप को छोड़ देता है।

सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते ।
सुखं सकलसंन्यासो दुःखं तस्य विपर्ययः ।।१८७।।

भावार्थ :– इस लोक में जो सहज सुख को पाता हुआ सुखी है, वही पर लोक में भी सुखी रहता है। जो यहां तृष्णा से दुःखी है सो पर लोक में भी दुःखी रहता है। वास्तव में सर्व वस्तु से जहां मोह का त्याग है वहीं सुख है, जहाँ पर वस्तु का ग्रहण है, वहीं दुःख है।

आत्मन्नात्मविलोपनात्मचरितैरासीद्दुरात्मा चिरं ।
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः ।।
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन्प्रत्यात्मविद्यात्मकः ।
स्वात्मोऽत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना ।।१९३।।

हे आत्मन् ! तू आत्मज्ञान के लोपने वाले विषय कषायादि में प्रवृत्त कर चिरकाल दुराचारी रहा। अब जो तू आत्मा के सम्पूर्ण कल्याण करने वाले ज्ञान वैराग्यादिक अपने ही भावों को ग्रहण करे तो तू श्रेष्ठ परमात्मा की दशा को प्राप्त होवे और तू केवल ज्ञानी हो जावे तथा अपने ही आत्मा से उत्पन्न जो आत्मीक सहज सुख है, उसमें शोभायमान होकर अपने शुद्धात्मीक भाव के साथ अपने अध्यात्मस्वरूप में ही स्थिर रहे।

स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत्सुखं यदि तपस्विनाम् ।
स्वाधीनसुखसम्पन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम् ।।२६७।।

भावार्थ :– जो तपस्वी स्वाधीन रहते हैं वे यदि काय क्लेश तप का दुःख बाहर से भोगते दिखते हैं परन्तु अन्तरंग में सुखी हैं। तो फिर परम स्वाधीन सुख से पूर्ण सिद्ध भगवान सदा सुखी क्यों न होंगे ? सिद्ध सहज सुख में सदा मगन रहते हैं।

(१४) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहते हैं :–

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नंदति सदैव ।।२२४।।

भावार्थ :– परमात्मा परम पद में रहते हुए, सर्व पदार्थों को जानते हुए, कृतकृत्य, ज्ञानमई सदा ही अपने परमानन्द में मगन रहते हैं।

(१५) श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्त्वार्थसार में कहते हैं :--

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम् ।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥४५-८॥

भावार्थ :-- सिद्धों को संसार के विषयों से अतीत बाधारहित अविनाशी उत्कृष्ट सहज सुख होता है, ऐसा परम ऋषियों ने कहा है ।

पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् ।
कर्मक्लेशविमोहाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ॥४६-८॥

भावार्थ :-- पुण्य कर्म के फल से इष्ट इन्द्रियों का सुख भासता है, परन्तु मोक्ष में सर्व कर्म के क्लेश मिट जाने से स्वाभाविक अनुपम उत्तम सुख है ।

(१६) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसारकलश में कहते हैं :--

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्म्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः ।
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥२-६॥

भावार्थ -- रागपना तो जड़ का धर्म है, आत्मा का धर्म चैतन्यपना है । इस तरह राग और ज्ञान गुण का भेद ज्ञान जब उदय होता है तब संत पुरुष राग से उदासीन होकर शुद्ध ज्ञानमई एक आत्मा ही अनुभव करते हुए सहज सुख का स्वाद लेते हैं ।

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥७-७॥

भावार्थ :-- जिस पद में आपत्तियाँ नहीं हैं उसी एक आत्मा के शुद्ध पद का स्वाद लेना चाहिये जिससे सहज सुख हो । इसके सामने और सब पद अयोग्य पद दिखते हैं ।

य एव मुक्त्वानयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं ।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति ॥२४-३॥

भावार्थ :-- जो कोई व्यवहारनय और निश्चयनय का पक्षपात छोड़कर अपने आत्मा के स्वरूप में नित्य मगन हो जाते हैं वे सर्व विकल्प जालों से छूटे हुए व शांत चित्त होते हुए साक्षात् सहज सुख रूपी अमृत को पीते हैं ।

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निःकर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः ॥३९-१०॥

भावार्थ :– जो कोई महात्मा पूर्व में बांधे हुए कर्मरूपी विषवृक्षों के फलों के भोगने में रंजायमान नहीं होता है, किन्तु आप में ही तृप्त रहता है, वह कर्मरहित सहज सुख की ऐसी दशा को पहुँच जाता है, जिससे इस जन्म में भी सुखी रहता है व आगामी भी सुखी रहेगा ।

अत्यन्तं भावयित्वा विरतमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च ।
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञान संचेतनायाः ॥
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां ।
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥४०-१०॥

भावार्थ :– जो कोई कर्म से व कर्म के फल से अत्यन्तपने निरन्तर विरक्तपने की भावना करके तथा अज्ञान चेतना को पूर्णपने प्रलय करके तथा आत्मीक रस से पूर्ण अपनी ज्ञान चेतना से अपने स्वभाव को पूर्ण करके उसे अपने भीतर नचाता है वह शांत रस से पूर्ण सहज सुख अमृत को सदा काल पीता है ।

(१७) श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासन में कहते है :–

तदेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति ।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरं ॥१७०॥

भावार्थ :– जो कोई अपने आत्मा को अनुभव करता हुआ परम एकाग्र भाव को प्राप्त कर लेता है वह वचन अगोचर स्वाधीन सहज आनन्द को पाता है ।

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति ।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतुस्वस्थः प्रतिक्षणं ॥२३७॥
त्रिकाल विषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं ।
जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ॥२३८॥
अनन्तज्ञानदृग्वीर्यवैतृष्ण्यमयमव्ययं ।
सुखं चानुभवत्येष तत्रातीन्द्रियमच्युतः ॥२३९॥

ननु चाक्षैस्तदर्थानामनुभोक्त: सुखं भवेत् ।
अतीन्द्रियेषु मुक्तेषु मोक्षे तत्कीदृशं सुखं ॥२४०॥
इति चेन्मन्यसे मोहात्तन्न श्रेयो मतं यतः ।
नाद्यपि वत्स त्वं वेत्सि स्वरूपं सुखदुःखयोः ॥२४१॥
आत्मायत्तं निराबाधमतींद्रियमनश्वरं ।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः ॥२४२॥
यत्तु संसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतं ।
स्वपरद्रव्यसंभूतं तृष्णासंतापकारणम् ॥२४३॥
मोहद्रोहमदक्रोधमायालोभनिबंधनं ।
दुःखकारणबंधस्य हेतुत्वाद्दुःखमेव तत् ॥२४४॥
तन्मोहस्यैव माहात्म्यं विषयेभ्योऽपि यत् सुखं ।
यत्पटोलमपि स्वादु श्लेष्मणस्तद्विजृंभितं ॥२४५॥
यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसां ।
कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनां ॥२४६॥

भावार्थ :— शुद्ध दशा में यह आत्मा न मोह करता है, न संशय करता है, न अपने जानने योग्य पदार्थ में भ्रम भाव रखता है, न राग करता है, न द्वेष करता है किन्तु प्रति समय अपने स्वरूप में लीन है। तीन काल सम्बन्धी सर्व जानने योग्य पदार्थ जैसे है उनको वैसे ही तथा अपने को भी जानते देखते हुए वह प्रभु तब वीतरागी बने रहते है। अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य व तृष्णा का अभावमयी और अविनाशी, अतीन्द्रिय तथा अव्यय सहज सुख को वे अनुभव करते रहते हैं। इन्द्रियों से पदार्थों को भोगने पर तो सुख हो सकता है परन्तु मोक्ष में इन्द्रियों के अभाव में किस तरह सुख होता होगा। यदि तू ऐसी शंका करे तो ठीक नहीं है।

हे वत्स ! तू अभी भी सुख तथा दुःख का स्वरूप नहीं पहचानता है। मोक्ष का सहज सुख स्वाधीन है, बाधा रहित है, इन्द्रियों से अतीत है, अविनाशी है, चार घाति कर्म के क्षय से उत्पन्न है। जो संसार का सुख है वह राग रूप है, क्षणिक है, अपने व पर पदार्थ के होने पर होता है तथा तृष्णा के ताप को बढ़ाने वाला है। मोह, द्वेष, मद, क्रोध, माया, लोभ का कारण है अतएव दुःख

फलदायी कर्मबन्ध का कारण है इसलिये वह दुःख रूप ही है। विषयों से सुख की कल्पना होने में मोह की महिमा है। जैसे श्लेष्मा के रोगी को कड़वे पटोल भी स्वादिष्ट भासते हैं। जो सुख चक्रवर्ती राजाओं को है व जो सुख स्वर्ग में देवों को है वह परमात्मा के सहज सुख की किंचित् भी तुलना नहीं कर सकता है।

(१८) श्री पात्रकेशरी मुनि पात्रकेशरी स्तोत्र में कहते हैं :--

परैः कृपणदेवकैः स्वयमसत्सुखैः प्राथ्यंते ।
सुखं युवतिसेवनाविपरसन्निधिप्रत्ययम् ॥
त्वया तु परमात्मना न परतो यतस्ते सुखं ।
व्यपेतपरिणामकं निरुपमं ध्रुवं स्वात्मजं ॥२८॥

भावार्थ :-- दूसरे जो यथार्थ देव नहीं हैं, जिनको सच्चा सुख प्राप्त नहीं है वे पर पदार्थ से उत्पन्न स्त्री सेवनादि के सुख की कांक्षा रखते है किन्तु आप तो परमात्मा हैं, आपको पर पदार्थ से सुख नहीं है, आपका सहज सुख न बदलने वाला स्वाधीन अविनाशी न निरुपम है।

(१९) श्री देवसेनाचार्य तत्त्वसार में कहते हैं :--

जा किंचिवि चलई मणो झाणे जोइस्स गहिय जोयस्स ।
ताव ण परमाणंदो उप्पज्जइ परमसोक्खयरो ॥६०॥

भावार्थ :-- ध्यानी योगी का मन ध्यान में जब तक चंचल है तब तक वह परम सहज सुखकारी परमानंद का लाभ नहीं कर सकता है।

(२०) श्री योगेन्द्राचार्य योगसार में कहते हैं :--

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसंजमुसंजत्तु ।
तउ लहु पावइ सिद्ध सुहु इउ जिणणाहहु वुत्तु ॥३०॥

भावार्थ :-- जो कोई व्रत व संयम सहित होकर निर्मल आत्मा को ध्याता है वह शीघ्र ही सहज सिद्ध सुख को पाता है ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।

अप्पय अप्पु मुणंतयहं किण्णेहा फलु होइ ।
केवलणाणु विपरिणवइ सासय सुक्खु लहेइ ॥६१॥

भावार्थ :– आत्मा के द्वारा अपने आत्मा का मनन करने से क्यों नहीं अपूर्व फल होता है - केवलज्ञान पैदा हो जाता है तथा अविनाशी सहज सुख को प्राप्त कर लेता है ।

सागारू वि णागारुहु वि जो अप्पाणि वसेई ।
सो पावइ लहु सिद्धसुहु जिणवरु एम भणेइ ॥६४॥

भावार्थ :– गृहस्थ हो या साधु हो, जो कोई आत्मा में रमण करेगा वह तुर्त सहज सिद्ध सुख पावेगा ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है :–

जो सम्मत्तपहाणु बुहु सो तयलोय पहाणु ।
केवलणाण वि सह लहइ सासयसुक्खणिहाणु ॥६०॥

भावार्थ :– जो ज्ञानी सम्यग्दर्शन को प्रधानता से धरता है वह तीन लोक में मुख्य है, वही अविनाशी सहज सुख के भण्डार केवलज्ञान को पा सकेगा ।

जो समसुक्खणिलीण बुहु पुण पुण अप्प मुणेइ ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाण लहेइ ॥६२॥

भावार्थ :– जो बुद्धिमान सहज सम सुख में लीन होकर बार - बार आत्मा का ध्यान करता है वह शीघ्र निर्वाण को पाता है ।

जो अप्पा सुद्ध वि मुणई असुइसरीरविभिण्णु ।
सो जाणइ सच्छइ सयलु सासयसुक्खहलीणु ॥६४॥

भावार्थ :– जो इस अशुचि शरीर से भिन्न शुद्ध आत्मा को अनुभव करता है वही सर्व शास्त्रों को जानता है तथा वही अविनाशी सहज सुख में लीन है ।

वज्जिय सयलवियप्पयहं परमसमाहि लहंति ।
जं वेदहि साणंद फुडु सो सिवसुक्ख भणंति ॥६६॥

भावार्थ :– जो सर्व संकल्प विकल्पों से रहित होकर परमसमाधि को पाते हैं वे जिस सहज सुख को पाते हैं वही मोक्ष सुख कहा गया है ।

(२१) श्री अमितिगति आचार्य तत्त्वभावना में कहते हैं :–

सर्वज्ञः सर्वदर्शी भवमरणजरातंकशोकव्यतीतो ।
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलमलः शश्वदात्मानपायः ॥

दक्षैः संकोचिताक्षैर्भवमृतिचकितैर्लोकयात्रानपेक्षैः ।
नष्टाबाधात्मलीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये चिंतनीयः ॥१२०॥

भावार्थ :– जो कोई बाधारहित, आत्मीक, स्थिर, निर्मल सहज सुख को प्राप्त करना चाहते हैं, उन चतुर पुरुषों को उचित है कि जन्म मरण से भयभीत हो, संसार के भ्रमण से उदासीन हो, इन्द्रियों को संकोच कर उस परमात्मा का चिन्तवन करें जो सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, जन्म, मरण, जरा, रोग व शोक से रहित हैं, अपने स्वभाव में लीन है, सर्व मलरहित हैं व सदा अविनाशी हैं ।

असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगैः ।
तनुधनसुतहेतोः कर्मयादृक्करोषि ॥
सकृदपि यदि तादृक् संयमार्थं विधत्से ।
सुखममलमनंतं किं तदा नाश्नुषेऽलम् ॥६६॥

भावार्थ :– हे भव्य ! जैसा तू परिश्रम शरीर रक्षा, धन प्राप्ति व पुत्र लाभ के लिए असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य इन छः प्रकार की आजीविकाओं से करता है, यदि वैसा परिश्रम एक दफे भी सयम के लिए करे तो क्यों नहीं निर्मल, अनंत, सहज सुख को भोग सकेगा ? अर्थात् अवश्य परमानंद को पावेगा ।

(२२) श्री पद्मनंदि मुनि धम्मरसायण में कहते हैं :–

अव्वाबाहमणंतं जह्मा सोक्खं करेइ जीवाणं ।
तह्मा संकरणामो होइ जिणो णत्थि संदेहो ॥१२५॥

भावार्थ :– जिस जिनेन्द्र के स्वरूप के ध्यान से जीवों को बाधा रहित व अनंत सहज सुख प्राप्त होता है उस जिनेन्द्र को इसलिये शंकर के नाम से कहते हैं ।

जइ इच्छय परमपयं अव्वाबाहं अणोवमं सोक्खं ।
तिहुवणवंदियचलणं णमह जिणंदं पयत्तेण ॥१३१॥

भावार्थ :– यदि तू बाधा रहित, अनुपम, सहज सुख से पूर्ण परमपद को चाहता है तो तीन लोक से वंदनीक हैं चरण जिनके ऐसे जिनेन्द्र का भाव सहित नमस्कार कर ।

ण वि अत्थि माणुसाणं आवसमुत्थं विय विषयातीदं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं अणोवमं जं च सिद्धाणं ।।१६०।।

भावार्थ :-- सिद्धों को जैसा आत्मा से उत्पन्न, विषयों से अतीत, अनुपम, अविनाशी सुख है वैसा सुख मनुष्यों को भी नहीं है ।

(२३) श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चय में कहते हैं :--

कामक्रोधस्तथा मोहस्त्रयोऽप्येते महाद्विषः ।
एतेम निर्जिता यावत्तावत्सौख्यं कुतो नृणाम् ।।२६।।

भावार्थ :-- जब तक मनुष्य काम, क्रोध, मोह इन तीन शत्रुओं को न जीतें तब तक सहज सुख कैसे मिल सकता है ?

धर्म एव सदा कार्यो मुक्त्वा व्यापारमन्यतः ।
यः करोति परं सौख्यं यावन्निर्वाणसंगमः ।।५८।।

भावार्थ :-- पर पदार्थ से राग हटाकर तुझे धर्म का पालन सदा करना चाहिये, जो सहज व उत्तम सुख देता ही रहता है व अन्त में निर्वाण पहुँचा देता है ।

धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम् ।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा ।।६३।।

भावार्थ :-- दुःखरूपी रोग को नाश करने वाले धर्म रूपी अमृत का पान सदा ही करना चाहिये जिसके पीने से सदा ही जीवों को सहज व उत्तम सुख होता रहता है ।

धर्म एव सदा त्राता जीवानां दुःखसंकटात् ।
तस्मात्कुरुत भो यत्नं यत्रानन्तसुखप्रदे ।।७२।।
यत्त्वया न कृतो धर्मः सदा मोक्षसुखावहः ।
प्रसन्नमनसा येन तेन दुःखी भवानिह ।।७३।।

भावार्थ :-- जीवों को धर्म ही सदा दुःख संकटों से रक्षा करने वाला है । इसलिये इस अनन्त सुख के दाता धर्म में प्रयत्न करना चाहिये । तूने प्रसन्न मन होकर अब तक मोक्ष सुख को देने वाले धर्म का साधन नहीं किया, इसी से तू दुःखी रहा है ।

इन्द्रियप्रसरं रुध्वा स्वात्मानं वशमानयेत् ।
येन निर्वाणसौख्यस्य भाजनं त्वं प्रपत्स्यसे ।।१३४।।

भावार्थ :– इन्द्रियों के फैलाव को रोककर अपने आप तू वश में कर, तब तू अवश्य निर्वाण के सहज सुख को पा सकेगा ।

रोषे रोषं परं कृत्वा माने मानं विधाय च ।
सङ्गे सङ्गं परित्यज्य स्वात्माधीनसुखं कुरु ।।१६१।।

भावार्थ :– क्रोध से भले प्रकार क्रोध करके, मान में मान को पटक कर, परिग्रह में परिग्रह को छोड़कर स्वाधीन सहज सुख का लाभ कर ।

आर्तरौद्रपरित्यागाद् धर्मशुक्लसमाश्रयात् ।
जीवः प्राप्नोति निर्वाणमनन्तसुखमच्युतं ।।२२६।।

भावार्थ :– आर्त ध्यान व रौद्र ध्यान को त्यागने से व धर्म तथा शुक्ल ध्यान को करने से यह जीव निर्वाण का अनन्त व अविनाशी सहज सुख प्राप्त करता है ।

निर्ममत्वे सदा सौख्यं संसारस्थितिच्छेदनम् ।
जायते परमोत्कृष्टमात्मनः संस्थिते सति ।।२३५।।

भावार्थ :– सर्व पर पदार्थो से ममता त्याग देने पर व आत्मा में स्थिति प्राप्त करने पर सदा ही परम उत्कृष्ट सहज सुख प्राप्त होता है जो ससार की स्थिति को छेद डालता है ।

प्रज्ञा तथा च मैत्री च समता करुणा क्षमा ।
सम्यक्त्वसहिता सेव्या सिद्धिसौख्यसुखप्रदा ।।२६७।।

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन पूर्वक भेद विज्ञान, सर्व से मैत्री भाव, समता व दया इनकी सदा सेवा करनी चाहिये । इन्हीं से निर्वाण का सहज सुख प्राप्त होगा ।

आत्माधीनं तु यत्सौख्यं तत्सौख्यं वर्णितं बुधैः ।
पराधीनं तु यत्सौख्य दुःखमेव न तत्सुखम् ।।३०१।।

भावार्थ :– जो आत्मा से उत्पन्न स्वाधीन सुख है उसी को विद्वानों ने सुख कहा है । जो पराधीन इन्द्रिय सुख है वह सुख नहीं है, वह तो दुःख ही है ।

पराधीनं सुखं कष्टं राज्ञामपि महौजसां ।
तस्मादेतत् समालोच्य आत्मायत्तं सुखं कुरु ।।३०२।।

भावार्थ :-- बड़े तेजस्वी राजाओं को भी पराधीन सुख दुःखदाई होता है, इसलिये ऐसा विचार कर आत्माधीन सहज सुख का लाभ कर ।

नो संगाज्जायते सौख्यं मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
संगाच्च जायते दुःखं संसारस्य निबन्धनम् ।।३०४।।

भावार्थ :-- मोक्ष के कारण भूत उत्तम - सहज सुख परिग्रह की ममता से नहीं पैदा होता है । परिग्रह से तो संसार का कारण दुःख ही होता है ।

(२४) श्री पद्मनन्दि मुनि सिद्धस्तुति में कहते हैं :--

यः केनाप्यतिगाढगाढमभितो दुःखप्रदैः प्रग्रहैः ।
बद्धोन्यैश्च नरो रुषा धनतरैरापादमामस्तकं ।।
एकस्मिन् शिथिलेऽपि तत्र मनुते सौख्यं स सिद्धाः पुनः ।
किं न स्युः सुखिनः सदा विरहिता बाह्यान्तरैर्बन्धनैः ।।६।।

भावार्थ :-- यदि किसी पुरुष को किसी ने बहुत दुःखदाई बन्धनों से क्रोध में आकर सिर से पग तक बांधा हो उसका यदि एक भी बन्धन शिथिल हो जावे, तो वह सुख मान लेता है ।

सिद्ध भगवान जब सर्व बाहरी भीतरी बन्धनों से सदा ही रहित हैं तब वे सहज सुख के भोक्ता क्यों न रहेंगे ? अवश्य रहेंगे ।

येषां कर्मनिदानजन्यविविधक्षुत्तृण्मुखा व्याधय--
स्तेषामन्नजलादिकौषधिगणस्तच्छान्तये युज्यते
सिद्धानान्तु न कर्म तत्कृतरुजो नातः किमन्नादिभि--
र्नित्यात्मोत्थसुखामृताम्बुधिगतास्तृप्तास्त एव ध्रुवम् ।।११।।

भावार्थ :-- जिन संसारी जीवों के कर्मों के उदय से क्षुधा, तृषा आदि अनेक रोग होते हैं, उन्हीं की शांति के लिए वे अन्न, जल, औषधि आदि का संग्रह करते है । सिद्धों के न तो कर्म हैं न कर्मकृत रोग हैं । इसलिये अन्नादिकों से कोई प्रयोजन नहीं । वे नित्य आत्माधीन सहज सुख रूपी समुद्र में मगन रहते हुए सदा ही तृप्त रहते हैं ।

(२५) श्री पद्मनन्दि मुनि धर्मोपदेशामृत में कहते हैं :--

ज्ञानज्योतिरुदेति मोहतमसो भेदः समुत्पद्यते ।
सानंदा कृतकृत्यता च सहसा स्वांते समुन्मीलति ॥
यस्यैकस्मृतिमात्रतोपि भगवानत्रैव देहांतरे ।
देवः तिष्ठति मृग्यतां स रभसादन्यत्र किं धावति ॥१४६॥

भावार्थ :-- जब मोह रूपी अन्धकार दूर हो जाता है, तब ज्ञान ज्योति का प्रकाश होता है, उसी समय अन्तरंग में सहज सुख का अनुभव होता है, तथा कृतकृत्यपना झलकता है। जिसके स्मरण मात्र से ही ऐसी ज्ञान ज्योति प्रकट होती है। उस भगवान आत्मा देव को तू शीघ्र ही इस देह के भीतर खोज। बाहर और कहां दौड़ता है ?

भिन्नोहं वपुषो बहिर्मलकृतान्नानाविकल्पौघतः ।
शब्दादेश्च चिदेकमूर्तिमरलः शांतः सदानंदभाक् ॥
इत्यास्था स्थिरचेतसो दृढतरं साम्यादनारंभिणः ।
संसाराद्भयमस्ति किं यदि तदप्यन्यत्र कः प्रत्ययः ॥१४८॥

भावार्थ :-- मैं मल से रचे हुए इस बाहरी शरीर से भिन्न हूँ, तथा मन के विकल्पों से भी भिन्न हूँ, शब्दादि से भी भिन्न हूँ, मैं एक चेतना मूर्ति हूँ, निर्मल हूँ, शांत हूँ, सदा सहज सुख का धारी हूँ। जिसके चित्त में ऐसी श्रद्धा हो व जो शांत हो, आरम्भ रहित हो उसको संसार से क्या भय ? तब और भय का कोई कारण नही।

सतताभ्यस्तभोगानामप्यसत्सुखमात्मजम् ।
अप्यपूर्वं सदित्यास्था चित्ते यस्य स तत्ववित् ॥१५०॥

भावार्थ :-- वही तत्व ज्ञानी है, जिसके चित्त में यह श्रद्धा है कि निरन्तर अभ्यास में आये हुए इन्द्रिय भोगों का सुख असत्य है, किन्तु आत्मा से उत्पन्न सहज सुख अपूर्व है।

(२६) श्री पद्मनन्दि मुनि एकत्व सप्तति में कहते हैं :--

सम्यग्दृग्बोधचारित्रं त्रितयं मुक्तिकारणम् ।
मुक्तावेव सुखं तेन तत्र यत्नो विधीयताम् ॥१३॥

भावार्थ :-- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्ष का मार्ग है। मुक्ति में ही सहज सुख अनन्त है इसलिये मुक्ति का यत्न करना चाहिये।

अजमेकं परं शान्तं सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः ॥१८॥

स एवामृतमार्गस्थ स एवामृतमश्नुते ।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः ॥१९॥

भावार्थ :-- जो कोई जन्म रहित, एक स्वरूप, उत्कृष्ट, शांत व सर्व रागादि की उपाधि रहित आत्मा को आत्मा के द्वारा जानकर आत्मा में थिर हो जाना है वही सहजानंदमई मोक्ष मार्ग में चलने वाला है, वह सहजानंदमई अमृत को पीता है, वही अर्हत है, वही जगन्नाथ है, वही प्रभू है, वही ईश्वर है।

केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः ।
तत्र ज्ञानेन किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥२०॥

भावार्थ :-- यह उत्कृष्ट आत्मारूपी तेज है, वह केवलज्ञान, केवलदर्शन, सहजानद स्वभाव का धारी है। जिसने उसको जान लिया उसने क्या नहीं जाना, जिसने उसको देख लिया उसने क्या नहीं देखा, जिसने उसको आश्रय किया उसने क्या नही आश्रय किया ?

अक्षयस्याक्षयानन्दमहाफलभरश्रियः ।
तदेवैकं परं बीजं निःश्रेयसलसत्तरोः ॥५०॥

भावार्थ :-- यह ज्ञानानंदरूप आत्मा ही अविनाशी और अनंत सहज सुख रूपी फल को देने वाले मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज है।

शुद्धं यदेव चैतन्यं तदेवाहं न संशयः ।
कल्पनयानयाप्येतद्धीनमानन्दमन्दिरम् ॥५२॥

भावार्थ :-- यह शुद्ध चैतन्य है सो ही मैं हूँ, कोई संशय की बात नहीं है। वह सर्व कल्पनामय नयों से रहित है व सहज आनन्द का मन्दिर है।

साम्यं सद्बोधनिर्माणं शश्वदानन्दमन्दिरम् ।
साम्यं शुद्धात्मनोरूपं द्वारं मोक्षैकसद्मनः ॥६७॥

भावार्थ :— समताभाव ही सम्यग्ज्ञान को रचने वाला है। समताभाव ही सहजानंद का अविनाशी मन्दिर है। समताभाव शुद्धात्मा का स्वभाव है। यह मोक्ष महल का एक द्वार है।

(२७) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं :—

अत्यक्षं विषयातीतं निरौपम्यं स्वभावजम्।
अविच्छिन्नं सुखं यत्र स मोक्षः परिपद्यते ॥४-८॥

भावार्थ : - जहां अतीन्द्रिय, इन्द्रियों के विषयों से रहित, अनुपम, स्वाभाविक, अविनाशी, सहज सुख है वही मोक्ष कहा गया है।

नित्यानन्दमयं शुद्धं चित्स्वरूपं सनातनम्।
पश्यत्यात्मनि परं ज्योतिरद्वितीयमनव्ययम् ॥३५-१८॥

भावार्थ :— मैं नित्य सहजानन्दमय हूँ, शुद्ध हूँ, चैतन्य स्वरूप हूँ, सनातन हूँ, परम ज्योति स्वरूप हूँ, अनुपम हूँ, अविनाशी हूँ, ऐसे ज्ञानी अपने भीतर अपने को देखता है।

यत्सुखं वीतरागस्य मुनेः प्रशमपूर्वकम्।
न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥३-२१॥

भावार्थ :— वीतरागी मुनि के शांतभाव पूर्वक जो सहज सुख प्राप्त होता है उसका अनंतवाँ भाग भी सुख इन्द्रों को नहीं मिलता।

स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥१८-१३॥

भावार्थ :— वीतरागी महात्मा को ऐसा कोई परमानन्द उत्पन्न होता है जिसके सामने तीन लोक का अचित्य ऐश्वर्य भी तृण के समान भासता है।

तस्यवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम्।
तस्यैव बंधविश्लेषः समत्वं यस्य योगिनः ॥१८-२४॥

भावार्थ :— जिस योगी के समभाव है उसी के ही निश्चल सहज सुख है, उसी के ही बन्ध का नाश है, उसी को ही अविनाशी पद प्राप्त होता है।

अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानन्दात्मकोऽप्यहम्।
किं न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्रुमम् ॥१३-३१॥

भावार्थ :– मैं अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख रूप ही हूँ, क्यों मैं अपने प्रतिपक्षी कर्मरूपी विष के वृक्ष को आज उखाड़ न डालूँगा ?

यदक्षविषय रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणम् ।
आनन्द निर्भरं रूपमन्तर्ज्योतिर्मयं मम ।।६४-३२।।

भावार्थ :– जो जो पदार्थ इन्द्रियों का विषय है वह मेरे आत्मा के स्वभाव से विलक्षण है । मेरा स्वभाव तो सहजानंद से पूर्ण अन्तरङ्ग में ज्ञान ज्योतिर्मय है ।

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम् ।
चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ।।६६-३२।।

भावार्थ :– हे आत्मन् ! तू आत्मा को आत्मा ही में आप ही से जान कि मैं अतीन्द्रिय हूँ, वचनों से कहने योग्य नहीं हूँ, अमूर्तिक हूँ, कल्पना रहित हूँ व चिदानंदमयी हूँ ।

निष्कलः करणातीतो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
अनन्तवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दितः ।।७३-४२।।

भावार्थ :– सिद्धात्मा शरीर रहित है, इन्द्रियों से रहित है, विकल्प रहित है, कर्ममल रहित है, अनंतवीर्यधारी है, नित्य सहजानंद में मग्न है ।

(२८) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्त्वज्ञान - तरंगिणी में कहते हैं :–

स कोपि परमानन्दश्चिद्रूपध्यानतो भवेत् ।
तदंशोपि न जायेत त्रिजगत्स्वामिनामपि ।।४-२।।

भावार्थ :– शुद्ध चैतन्य स्वरूप के ध्यान से कोई ऐसा ही सहज परमानन्द होता है उसका अंश भी इन्द्रादि को प्राप्त नहीं होता ।

ये याता यांति यास्यंति योगिनः शिवसंपदः ।
समासाध्यैव चिद्रूपं शुद्धमानन्दमन्दिरं ।।१६-२।।

भावार्थ :– जो योगी मोक्ष सम्पदा को प्राप्त हो चुके होंगे व हो रहे हैं उसमें शुद्ध चिद्रूप का ध्यान ही प्रधान कारण है, वही सहजानंद का घर है ।

चिद्रूपः केवलः शुद्ध आनन्दात्मेत्यहं स्मरे ।
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्द्धेन निरूपितः ।।२२-३।।

भावार्थ :– मैं चैतन्यरूप हूँ, असहाय हूँ, शुद्ध हूँ, सहजानंदमय हूँ, ऐसा स्मरण कर मुक्ति के लिए सर्वज्ञ का क्या उपदेश है, उसे आगे श्लोक में कहा गया।

सर्वेषामपि कार्याणां शुद्धचिद्रूपचिंतनं ।
सुखसाध्यं निजाधीनत्वादीहामुत्र सौख्यकृत् ।।१६-४।।

भावार्थ :– सर्व ही कार्यों में शुद्ध चिद्रूप का चिन्तवन सुख से साध्य है क्योंकि यह अपने ही आधीन है तथा इस चिन्तवन से इस लोक में भी सहज सुख होता है और परलोक में भी होता है।

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत् ।
निराकुलत्वतः शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखं ।।१६-४।।

भावार्थ :– विषयों के भोगने में प्राणियों को दुःख ही होता है क्योंकि वहां आकुलता है। किन्तु शुद्ध चिद्रूप के अनुभव से सुख ही होता है क्योंकि वहाँ निराकुलता है।

चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्तं पश्यामि सुखी ततः ।
भवक्षितिर्हितं मुक्तिर्निर्यासोऽयं जिनागमे ।।११-६।।

भावार्थ :– मैं शुद्ध चैतन्य रूप हूँ इसलिए मैं उसी को देखता हूँ उसी से मुझे सहज सुख प्राप्त होता है। जिनागम का भी यही निचोड़ है कि शुद्ध चिद्रूप के ध्यान से संसार का नाश व हितकारी मुक्ति प्राप्त होती है।

चिद्रूपे केवले शुद्धे नित्यानन्दमये यदा ।
स्वे तिष्ठति तदा स्वस्थं कथ्यते परमार्थतः ।।१२-६।।

भावार्थ :– केवल, शुद्ध, नित्य सहजानंदमई शुद्ध चिद्रूपस्वरूप जो अपना स्वभाव उसमें सदा ठहरता है वही निश्चय से स्वस्थ कहा जाता है।

नात्मध्यानात्परं सौख्यं नात्मध्यानात् परं तपः ।
नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ।।५-८।।

भावार्थ :– आत्म ध्यान के बिना और किसी उपाय से उत्तम सहज सुख नहीं हो सकता है। आत्म ध्यान से बढ़कर और कोई तप नहीं है। आत्म ध्यान से बढ़कर कहीं व किसी काल में कोई मोक्ष मार्ग नहीं है।

रंजने परिणामः स्याद् विभावो हि चिदात्मनि ।
निराकुले स्वभावः स्यात् तं विना नास्ति सत्सुखं ॥८-१५॥

भावार्थ :– चिदात्मा में रंजायमान होने वाले परिणाम को विभाव कहते हैं। परन्तु जो आकुलता रहित शुद्ध चिद्रूप में भाव हो तो वह स्वभाव है इसी स्वभाव में तन्मय हुए बिना सच्चा सहज सुख प्राप्त नहीं हो सकता है।

बाह्यसंगतिसंगस्य त्यागे चेन्मे परं सुखम् ।
अन्तः संगतिसंगस्य भवेत् किं न ततोऽधिकं ॥११-१६॥

भावार्थ :– बाहरी स्त्री पुत्रादि की संगति के त्यागने से ही जब सहज सुख होता है तो अंतरङ्ग में सर्व रागादि व विकल्पों के त्याग से और भी अधिक सहज सुख क्यों नहीं होगा ?

बहून् वारान् मया भुक्तं सविकल्पं सुखं ततः ।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम ॥१०-१७॥

भावार्थ :– मैंने बहुत बार विकल्पमय सांसारिक सुख को भोगा है, वह कोई अपूर्व नहीं है । इसलिये उस सुख की तृष्णा छोड़कर अब मेरी इच्छा निर्विकल्प सहज सुख पाने की है ।

ज्ञेयज्ञानं सरागेण चेतसा दुःखमंगिनः ।
निश्चयश्च विरागेण चेतसा सुखमेव तत् ॥११-१७॥

भावार्थ :– रागभाव पूर्वक चित्त से जो पदार्थों को जाना जाता है उससे प्राणियों को आकुलता रूप दुःख होता है, परन्तु वीतराग भाव से जो पदार्थों को जाना जावे तो सहज सुख ही है यह निश्चय है ।

चिंता दुःखं सुखं शांतिस्तस्या एतत्प्रतीयते ।
तच्छांतिर्जायते शुद्धचिद्रूपे लयतोऽचला ॥१३-१७॥

भावार्थ :– चिंता दुःखकारी है, शांति सुखकारी है, यह बात जिस शांति के अनुभव से मालूम होती है वह निश्चल शांति तब ही होगी जब शुद्ध चिद्रूप में लयता प्राप्त होगी ।

यो रागादिविनिर्मुक्तः पदार्थानखिलानपि ।
जानन्निराकुलत्वं यत्तात्त्विकं तस्य तत्सुखं ॥१७-१७॥

भावार्थ :– जो कोई रागद्वेषादि छोड़कर सर्व पदार्थों को जानता है उसे निराकुलता रहती है, उसी के वह सच्चा तत्त्वरूप सहज सुख होता है ।

युगपज्जायते कर्ममोचनं तात्त्विकं सुखं ।
लयाच्च शुद्धचिद्रूपे निर्विकल्पस्य योगिनः ॥५-१८॥

भावार्थ :– जो योगी संकल्प विकल्प त्यागकर शुद्ध चिद्रूप में लय होता है उसी को एक ही साथ सच्चा सहज सुख भी मिलता है व कर्म की निर्जरा भी होती है ।

(२५) श्री पं. बनारसीदासजी बनारसी विलास में कहते हैं :–

[सवैया इकतीसा]

लवरूपातीत लागी पुण्यपाप भ्रांति भागी,
सहज स्वभाव मोहसेनाबल भेद की ।
ज्ञानकी लबधि पाई आतमलबधि आई,
तेज पुंज कांति जागी उमग आनन्द की ॥
राहु के विमान बढ़ें कला प्रगटत पूर,
होत जगाजोत जैसे पूनम के चन्द की ।
बनारसीदास ऐसे आठ कर्म भ्रमभेद,
सकति संभाल देखी राजा चिदानन्द की ॥१४॥

(३०) पं. बनारसीदासजी नाटक समयसार में कहते है :–

[कवित्त]

जब चेतन संभारि निज पौरुष,
निरखे निज दृगसों निज मर्म ।
तब सुखरूप विमल अविनाशिक,
जाने जगत शिरोमणि धर्म ॥
अनुभव करै शुद्ध चेतन को,
रमे स्वभाव वमे सब कर्म ।
इहि विधि सधे मुकति को मारग,
अरु समीप आवै शिव शर्म ॥५॥

[सवैया तेईसा]

राग विरोध उदै जबलों तबलो, यह जीव मृषा मग धावे ।
ज्ञान जग्यो जब चेतन को तब, कर्म दशा पर रूप कहावे ।।
कर्म विलक्ष करे अनुभौ तहां, मोह मिथ्यात्व प्रवेश न पावे ।
मोह गये उपजे सुख केवल, सिद्ध भयो जगमांहि न आवे ।।५८।।

[छप्पय]

जीव कर्म संयोग, सहज मिथ्यात्वस्वरूप धर ।
राग द्वेष परणति प्रभाव, जाने न आप पर ।।
तम मिथ्यात्व मिटि गये, भये समकित उद्योत शशि ।
राग द्वेष कछु वस्तु नाहिं,छिन मांहि गये नशि ।।
अनुभव अभ्यास सुख राशि रमि, भयो निपुण तारण तरण ।
पूरण प्रकाश निहचल निरखि, बनारसी वंदत चरण ।।५६।।

[छप्पय]

प्रगट भेद विज्ञान, आपगुण परगुण जाने ।
पर परणति परित्याग, शुद्ध अनुभौ थिति ठाने ।।
करि अनुभौ अभ्यास सहज संवर परकासे ।
आश्रव द्वार निरोधि, कर्मघन तिमिर विनासे ।।
क्षय करि विभाव समभाव भजि, निरविकल्प निज पद गहे ।
निर्मल विशुद्ध शाश्वत सुथिर, परम अतीन्द्रिय सुख लहे ।।११।।

[सवैया तेईसा]

शुद्ध सुछन्द अभेद अबाधित, भेद विज्ञान सु तीछन आरा ।
अन्तर भेद स्वभाव विभाव, करे जड़ चेतन रूप दुफारा ।।
सो जिन्ह के उर में उपज्यो, ना रुचे तिन्ह को परसंग सहारा ।
आतम को अनुभौ करिते, हरखै परखे परमातम प्यारा ।।३।।

(३१) पं. द्यानतरायजी द्यानतविलास में कहते हैं :–

[छप्पय]

जीव चेतना सहित, आपगुन परगुन जानै ।
पुग्गल द्रव्य अचेत, आप पर कछु न पिछानै ।।
जीव अमूरतिवंत, मूरती पुग्गल कहियै ।
जीव ज्ञानमय भाव, भाव जड़ पुग्गल लहियै ।।
यह भेद ज्ञान परगट भयौ, को पर तजि अनुभौ करै ।
सो परम अतिंद्री सुख सुधा, भुंजत भौसागर तिरै ।।८३।।

यह असुद्ध मैं सुद्ध, देह परमान अखण्डित ।
असंख्यात परदेश, नित्य निरभै मैं पंडित ।।
एक अमूरति निर उपाधि, मेरो छय नाहीं ।।
गुन अनन्त ज्ञानादि, सर्व ते हैं मुझ माहीं ।।
मैं अतुल अचल चेतन विमल, सुख अनन्त मौमैं लसैं ।
जब इस प्रकार भावत निपुन, सिद्ध खेत सहजे बसें ।।८४।।

सुनहु हंस यह सीख, सीख मानौ सदगुरु की ।
गुरु की आन न लोपि, लोपि मिथ्यामति उर की ।।
उर की समता गहौ, गहौ आतम अनुभौ सुख ।
सुख सरप थिर रहै, रहै जग मैं उदास रुख ।।
रुख करौ नहीं तुम विषय पर, पर तजि परमातम मुनहु ।
मुनहु न अजीव जड़ नाहिं निज, निज आतम वर्नन सुनहु ।।८८।।

भजत देव अरहंत, हंत मिथ्यात मोहकर ।
करत सुगुरु परनाम,,नाम जिन जपत सुमन धर ।।
धरम दयाजुत लखत, लखन निज रूप अमलपद ।
परमभाव गहि रहत, रहत हुव दुष्ट अष्ट मद ।।
मदनबल घटत समता प्रगट, प्रगट अभय ममता तजत ।
तजत न सुभाव निज अपर तज, तज सुदुःख सिव सुख भजत ।।८६।।

लहत भेद विज्ञान, ज्ञानमय जीव सु जानत।
जानत पुग्गल अन्य, अन्त सौ नातौ भानत ।।
भानत मिथ्या–तिमिर, तिमिर जासम नहिं कोई।
कोई विकलप नाहिं, नाहिं दुविधा जस होई ।।
होई अनन्त सुख प्रकट जब, जब प्रानी निजपद गहत ।
गहत न ममत लखि गेय सब, सब जग तजि सिवपुर लहत ।।६०।।

[कुण्डलिया]

जो जाने सो जीव है, जो मानै सो जीव।
जो देखै सो जीव है, जीवै जीव सदीव ।।
जीवै जीव सदीव, पीव अनुभौरस प्रानी।
आनन्द कन्द सुछन्द, चन्द पूरन सुखदानी ।।
जो जो दीसै दर्व, सर्व छिन भंगुर सो सो।
सुख कहि सकै न कोई, होइ जाकौं जानै जो ।।१।।

द्यानत चक्री जुगलिये, भवनपती पाताल।
सुर्ग इन्द्र अहमिंद्र सब, अधिक अधिक सुख भाल ।।
अधिक अधिक सुख भाल, काल तिहुँ नंत गुनाकर।
एकसमै सुख सिद्ध, रिद्ध परमातम पद धर ।।
सो निहचै तू आप, पाप बिन क्यों न पिछानत।
दरस ग्यान थिर थाप, आप मैं आप सु द्यानत ।।११।।

[छप्पय]

ग्यानकूप चिद्रूप, भूप सिवरूप अनूपम।
रिद्ध सिद्ध निज वृद्ध, सहज ससमृद्ध सिद्ध सम।
अमल अचल अविकल्प, अजल्प, अनल्प सुखाकर ।।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सुगन-गन-मनि रतनाकर।
उतपात-नास-ध्रुव साध सत, सत्ता दरव सु एकही ।।
द्यानत आनन्द अनुभौ दसा, बात कहन की है नहीं ।।३।।

भोग रोग से देखि, जोग उपयोग बढायौ।
आन भाव दुःख दान, ग्यान कौ ध्यान लगायौ ।।
संकलप विकलप अलप, बहुत सब ही तजि दीनें।
आनंद कंद सुभाव, परम समतारस भीनें ।।
द्यानत अनादि भ्रम वासना, नास कुविद्या मिट गई।
अंतर बाहर निरमल फटक, फटक दसा ऐसी भई ।।१०।।

[सवैया तेईसा]

लौगनिसौं मिलनौं हमकौं दुख, साहनिसौं मिलनौ दुख भारी।
भूपतिसौं मिलनौं मरनैं सम, एक दसा मोहि लागत प्यारी ।।
चाहकी दाह जलैं जिय मूरख, बे-परवाह महा सुखकारी।
द्यानत याहीतैं ग्यानी अवंछक, कर्म की चाल सबै जिन टारी ।।२७।।

(३२) भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास में कहते हैं:—

[सवैया इकतीसा]

भौथिति निकंद होय कर्मबंध मंद होय,
प्रगटै प्रकाश निज आनन्द के कंद को।
हित को दृढ़ाव होय विनैको बढ़ाव होय,
उपजै अंकूर ज्ञान द्वितीया के चंद को ।।
सुगति निवास होय दुर्गति को नाश होय,
अपने उछाह दाह करै मोहफंद को।
सुख भरपूर होय दोष दुःख दूर होय,
यातै गुणवृंद कहैं सम्यक् सुछन्द को ।।८।।

[सवैया तेईसा]

चेतन ऐसे में चेतत क्यों नहिं, आय बनी सबही विधि नीकी।
है नरदेह यो आरज खेत, जिनंद की बानि सुबूंद अमीकी ।।
तामें जु आप गहो थिरता तुम, तौ प्रगटै महिमा सब जीकी।
जामें निवास महासुखवास सु, आय मिलै पतियां शिव तीकी ।।२३।।

[द्रुमलता छंद]

इक बात कहूं शिवनायकजी, तुम लायक ठौर, कहां अटके ।
यह कौन विचक्षन रीति गही, विनु देखहि अक्षन सों भटके ।।
अजहूं गुण मानो तो सीख कहूं, तुम खोलत क्यों न पटै घटके ।
चिनमूरति आपु विराजत है, किन सूरत देखे सुधा गटके ।।१०

[सवैया इकतीसा]

जाही दिन जाही छिन अंतर सुबुद्धि लसी,
ताही पल ताही समैं जोतिसी जगति है ।
होत हैं उद्योत तहां तिमिर विलाइ जातु,
आपापर भेद लखि ऊरधव गति है ।।
निर्मल अतीन्द्री ज्ञान देखि राय चिदानंद,
सुखको निधान याकै माया न जगति है ।
जैसो शिवखेत तैसो देह में बिराजमान,
ऐसो लखि सुमति स्वभाव में पगति है ।।३४।।

[कवित्त]

निशदिन ध्यान करो निहचै सुज्ञान करो,
कर्म को निदान करो आवै नाहिं फेरिकैं ।
मिथ्यामति नाश करो सम्यक उजास करो,
धर्म को प्रकाश करो शुद्ध दृष्टि हेरिकैं ।।
ब्रह्म को विलास करो, आतमनिवास करो,
देव सब दास करो महामोह जेरिकैं ।
अनुभौ अभ्यास करो थिरता में वास करो,
मोक्षसुख रास करो कहूं तोहि टेरिकैं ।।६४।।

तेरो ही स्वभाव चिनमूरति बिराजितु है,
तेरो ही स्वभाव सुखसागर में लहिये ।

तेरो ही स्वभाव ज्ञान दरसनहू राजतु है,
तेरो ही स्वभाव ध्रुव चारित में कहिये ।।
तेरो ही स्वभाव अविनाशी सदा दीसतु है,
तेरो ही स्वभाव परभाव में न गहिये ।
तेरो ही स्वभाव सब आन लसै ब्रह्ममाहिं,
यातें तोहि जगत को ईश सरदहिये ।।१।।

[सवैया इकतीसा]

नेकु राग द्वेष जीत भये वीतराग तुम,
तीन लोक पूज्यपद येहि त्याग पायो है ।
यह तो अनूठी बात तुम ही बताय देहु,
जानी हम अबहीं सुचित्त ललचायो है ।।
तनिकहू कष्ट नाहिं पाइये अनन्त सुख,
अपने सहजमाहिं आप ठहरायो है ।
यामें कहा लागत है, परसंग त्यागही,
जारि दीजे भ्रम शुद्ध आपही कहायो है ।।३।।

मोहके निवारें राग द्वेषहू निवार जाहिं,
राग द्वेष टारें मोह नेक हू न पाइये ।
कर्म की उपाधि के निवारवे को पेंच यहै,
जड़के उखारें वृक्ष कैसे ठहराइये ।।
डार पात फल फूल सबै कुम्हलाय जाय,
कर्मन के वृक्षन को ऐसे के नसाइये ।
तबै होय चिदानन्द प्रगट प्रकाश रूप
विलसै अनन्त सुख सिद्ध में कहाइये ।।८।।

[कवित्त]

सिद्धकी समान है विराजमान चिदानंद,
ताही को निहार निजरूप मान लीजिये ।

कर्मको कलंक अंग पँक ज्यों पखार हर्यो,
धार निजरूप परभाव त्याग दीजिये ।।
थिरता के सुखको अभ्यास कीजे रैन दिना,
अनुभोके रसको सुधार भले पीजिये ।
ज्ञानको प्रकाश भास मित्रकी समान दीसै,
चित्र ज्यों निहार चित ध्यान ऐसो कीजिए ।।३।।

[छप्पय]

अष्टकर्मतैं रहित, सहित निज ज्ञान प्राण धर ।
चिदानन्द भगवान, बसत तिहूं लोक शीसपर ।।
विलसत सुखजु अनंत, संत ताको नित ध्यावहि ।
वेदहि ताहि समान, आयु घट माहिं-लखावहि ।।
हम ध्यान करहि निर्मल निरखी, गुण अनंत प्रगटहि सरब ।
तस पद त्रिकाल वंदत भविक, शुद्ध सिद्ध आतम दरब ।।७।।
राग दोष अरु मोह, नाहिं निजमाहिं निरक्खत ।
दर्शन ज्ञान चरित्र, शुद्ध आतम रस चक्खत ।।
परद्रव्यनसों भिन्न, चिह्न चेतनपद मंडित ।
वेदत सिद्ध समान, शुद्ध निज रूप अखंडित ।।
सुख अनंत जिहि पद वसत, सो निहचै सम्यक महत ।
'भैया' सुविचक्षन भविक जन, श्रीजिनंद इहि विधि कहत ।।१४।।
जैनधर्म परसाद, जीव मिथ्यामति खंडै ।
जैनधर्म परसाद, प्रकृति उर सात विहंडै ।।
जैनधर्म परसाद, द्रव्य षटको पहिचानै ।
जैनधर्म परसाद, आप परको ध्रुव ठानै ।।
जैनधर्म परसाद लहि, निजस्वरूप अनुभव करै ।
'भैया' अनंत सुख भोगवै, जैन धर्म जो मन धरै ।।२१।।

जैनधर्म परसाद, जीव सब कर्म खपावै ।
जैनधर्म परसाद, जीव पंचमी गति पावै ।।
जैनधर्म परसाद, बहुरि बहमें नहिं ग्रावै ।
जैनधर्म परसाद, ग्राप परब्रह्म कहावै ।।
श्री जैनधर्म परसादतै, सुख ग्रनंत विलसंत ध्रुव ।
सो जैनधर्म जयवंत जग, भैया जिहँ घट प्रगट हुव ।।२२।।

[सवैया इकतीसा]

सुबुद्धि प्रकाश में सु ग्रातम विलास में सु,
थिरता ग्रभ्यास में सुज्ञानको निवास है ।
ऊरधकी रीति में जिनेशकी प्रतीतिमें सु,
कर्मनकी जीत में ग्रनेक सुख भास है ।।
चिदानंद ध्यावतही निजपद पावतही,
द्रव्यके लखावतही, देख्यो सब पास है ।
वीतराग वानी कहै सदा ब्रह्म ऐसे भास,
सुखमें सदा निवास पूरन प्रकाश है ।।२४।।

अध्याय पांचवां
जीव का एकत्व

इस संसार में जीव को अकेले ही भ्रमण करना पड़ता है। हर एक जीव अकेले ही जन्मता है, अकेले ही मरता है; अकेला ही जरा से पीड़ित होता है, अकेला ही रोगी होता है; अकेला ही शोकी होता है, अकेला ही दुःखी होता है, अकेला ही सुखी होता है; अकेला ही पाप व पुण्य कर्म बाँधता है व अकेला ही उसका दुःख व सुख भोगता है। हरएक जीव अपनी करनी का आप उत्तरदायी है। जो जीव जैसे भाव करता है वह जीव वैसे कर्म बाँधता है। दूसरा कोई किसी के पाप या पुण्य बंध नही कर सकता है, न दूसरा कोई किसी के पाप या पुण्य के बंध को हर सकता है; किसी के दुःख को कोई ले नहीं सकता है, किसी के सुख को कोई छीन नहीं सकता है। दुःख - सुख अन्तरंग भावों पर हैं, भावों का बदलना अपने ही आधीन है।

जिस कुटुम्ब में या जिस संयोग मे कोई जन्मता है उसको यह अपना साथी मान लेता है परन्तु वे इस जीव के सच्चे साथी नहीं हो सकते हैं। माता-पिता पास बैठे हैं यदि पुत्र रोगी है तो रोग का दुःख उसी को ही भोगना पड़ता है, माता - पिता बँटा नहीं सकते हैं। यदि कोई भूखा है तो उसी को भोजन करने से उसकी भूख मिटेगी। दूसरे के भोजन से किसी की भूख मिट नहीं सकती है। कुटुम्ब में प्राणियों का सम्बन्ध वृक्ष के बसेरे के समान है। जैसे सांझ के समय भिन्न - भिन्न दिशाओं से आकर पक्षी एक वृक्ष पर विश्राम करते हैं, सवेरा होने तक ठहरते हैं, फिर हरएक पक्षी अपनी इच्छानुसार अपनी भिन्न - भिन्न दिशा को चला जाता है। उसी तरह एक कुटुम्ब में कोई जीव नर्क से, कोई जीव स्वर्ग से, कोई जीव पशुगति से, कोई जीव मनुष्य गति से आकर जन्मता है। वे सब अपनी - अपनी आयु पर्यन्त रहते हैं, जिसकी आयु पूरी होती है वह सबको छोड़कर चला जाता है, कोई किसी के लिए नही मरता।

जो पाप पुण्य व जैसा आयु कर्म जो जीव बांधता है उसके अनुसार वह जीव चारों गतियों में से किसी गति में चला जाता है। चार सगे भाई हैं :- एक विशेष धर्मात्मा है वह मरकर देव हो जाता है। एक सामान्य धर्मात्मा है वह मरकर मनुष्य हो जाता है। एक कम पापी है वह मरकर पशु जन्म पाता है। एक अधिक पापी है वह मरकर नारकी पैदा हो जाता है, फिर कोई किसी को याद भी नहीं करता है। साधारण नियम यही है कि हरएक अपने - अपने सुख व दुःख में रम जाता है।

यदि कोई गृहस्थी अपने कुटुम्ब के मोहवश, स्त्री व पुत्रादि के मोहवश अन्याय व पाप करके धनादि संग्रह करता है और कुटुम्ब की उस पाप में अनुमोदना नहीं है तो उस पाप का बंध अकेले गृहस्थी को ही होगा। दूसरे यद्यपि साथ हैं, उस धन को भोगते हैं परन्तु उनका भाव पापमय न होने से वे उस पाप के फल को न पावेंगे। एक कुटुम्ब में दस जीव हैं। एक आदमी चोरी करके सौ रुपये लाता है। पांच तो उसे सराहते हैं, पांच उसकी निन्दा करते हैं तब पांच तो पाप कर्म बांधेंगे और दूसरे पांच पुण्य कर्म बाधेंगे। एक घर में दो भाई हैं :-- दोनों भोग्य पदार्थों के स्वामी है, स्त्री पुत्रादि सहित है। एक सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है, वह उनके बीच में रहता हुआ भी जल मे कमल के समान अलिप्त है, भोगों को रोग के समान जानकर वर्तमान इच्छा को रोकने में असमर्थ होकर कड़वी दवा लेने के समान भोग भोगता है। अन्तरंग में यह भावना है कि कब वह समय आवे जब यह विषयवासना मिटे और मै इन भोगों को न भोगकर केवल आत्मरस का ही पान करूं।

ऐसा ज्ञानी जीव भोगों को भोगते हुए आसक्त भाव के न होने से बहुत अल्प कर्म बन्ध करेगा। परन्तु दूसरा भाई जो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है जिसका उद्देश्य ही संसार का विषय भोग है, जो सहज सुख को पहचानता ही नहीं, इन्द्रिय सुख के सिवाय किसी सुख को जानता ही नही, वह गृहस्थ के भोगों को बहुत बड़ी आसक्ति से भोगेगा व यही चाहेगा कि ये भोग सदा बनते रहें व इससे बढ़कर भोग जीवन भर मिले व परलोक में भी मिले, वह अज्ञानी तीव्र कर्म बांधेगा। एक भाई दूसरे के पाप को बंटा नहीं सकता है। मरने के

बाद सम्यग्दृष्टि स्वर्ग में देव होगा, मिथ्यादृष्टि पशुगति में तिर्यंच होगा या नरक में नारकी होगा। कुटुम्ब में सर्व ही प्राणी अपने स्वार्थ के साथी है। अपना स्वार्थ जब तक सधता जानते हैं तब तक स्नेह करते हैं, जब स्वार्थ सधता नहीं जानते हैं तब स्नेह छोड़ बैठते हैं। यदि स्वार्थ में बाधा होती है तो वे ही जो बन्धु थे, शत्रु हो जाते हैं। पुत्र पिता की सेवा अपने शारीरिक सुख के लिए करता है। पिता पुत्र की पालना इस आशा से करता है कि मेरे वृद्ध होने पर यह मेरी रक्षा करेगा।

स्त्री पति को स्नेह अपने शरीर पालन व अपने कामतृप्ति का साधन जान के करती है। पति स्त्री के साथ स्नेह गृह कार्य, सन्तान प्राप्ति व कामतृष्णा के शमन हेतु करता है। यदि स्त्री पति को रसोई न खिलावे, घर का काम न करे, कामतृप्ति में सहाई न हो तो उसी क्षण पति का स्नेह मिट जाता है। पति यदि स्त्री को भोजन, वस्त्र, आभूषण न दे उसकी रक्षा न करे, उसकी कामतृप्ति में सहाई न हो तो स्त्री का स्नेह पति से हट जाता है। जो वृद्ध पिता घर का काम काज नही कर सकता व धन भी पास में नहीं रखता उससे कुटुम्बियों का स्नेह छूट जाता है। भीतर परिणाम यही रहते है कि यह बेकार है, इसका जीवन न रहे तब ही ठीक है।

स्वामी सेवक से स्नेह प्रयोजनवश करता है, सेवक स्वामी से स्नेह, मतलब के हेतु से करता है। सारा जगत का व्यवहार स्वार्थ व परस्पर काम के ऊपर ही निर्भर है। किसान खेती करके राजा को कर देता है तब राजा किसानों की रक्षा करता है। मुनीम सेठ का काम करता है तब सेठ मुनीम को नौकरी देता है। यदि काम न निकले तो एक दिन भी सेठ मुनीम को रखना नहीं चाहता और यदि सेठ नौकरी न दे तो मुनीम सेठ का काम छोड़ देता है। वही भाई जो एक ही माता के गर्भ से निकले हैं दूसरे भाई की सम्पत्ति हड़प जाने के लिए शत्रु बन जाता है।

सारे जगत के प्राणी इन्द्रियों के सुखों के दास हो रहे है। जिनसे इन्द्रिय सुख की सहायक सामग्री प्राप्त करने में काम निकलता है उनसे तो स्नेह हो जाता है और जिनसे विषयभोगों में अन्तराय पड़ता है उनसे द्वेष पैदा

हो जाता है । इन्द्रिय विषय के मोहवश ही जगत में मित्र व शत्रु बनते हैं । राग द्वेष का सारा प्रसार विषय चाह के आधीन है । मेरा शरीर है यह मानना भी भ्रम है, मिथ्या है क्योंकि यह शरीर एक धर्मशाला है, कहीं से आके जीव बसा है व आयुकर्म समाप्त होते ही इसे छोडना पडेगा । शरीर पुद्गलमय जड़ है, आप चेतन हैं । शरीर अपना कैसे हो सकता है ?

यह परिवार मेरा है, यह भी मिथ्या है । यह सब परिवार शरीर से सम्बन्ध रखता है । आत्मा का कोई परिवार नहीं । आत्मा का कोई माता - पिता नहीं, कोई भाई नहीं, कोई पति नहीं, कोई इसकी भार्या नही, पुत्री नही, भगिनी नही, कोई इसका पुत्र नहीं, भाई नहीं, चाचा नही, भतीजा नही सब सम्बन्ध शरीर से हैं जब शरीर ही अपना नही तव यह परिवार अपना कैसे हो सकता है ? यह धन मेरा है, यह ग्राम मेरा है, यह घर मेरा है, यह उपवन मेरा है, यह वस्त्र मेरा है, यह आभूषण मेरा है, यह वाहन मेरा है, यह सब भी मानना मिथ्या है । इन सबका सम्बन्ध शरीर के साथ है । शरीर के छूटते ही उनका सम्बन्ध छूट जाता है । एक धनी जीव मरकर एक चांडाल के यहा जन्म प्राप्त कर लेता है तथा एक चांडाल का जीव मरकर धनी के यहां पैदा हो जाता है । देव मरकर कुत्ता हो जाता है, कुत्ता मरकर देव हो जाता है । शरीर के सारे सम्बन्ध भोग विलास, कुटुम्ब परिवार, मकान, बाग, कूप तडाग सब शरीर के साथ ही रह जाता है । यह जीव अपने पाप तथा पुण्य कर्म को लिए हुए अकेला ही जाता है और कहीं जन्म धार लेता है ।

शरीर को व शरीर के सम्बन्ध में आये हुए सर्व चेतन व अचेतन पदार्थों को अपना मानना मिथ्या है, भ्रम है, अज्ञान है । इस जीव का सच पूछो तो संसार में कोई साथी नहीं है । यदि कोई परम प्यारी स्त्री भी हो तो भी अपने पति के मरने पर ऐसा नही कर सकती कि उसी के साथ ही कहीं पर जन्म लेकर फिर स्त्री हो जावे । स्त्री मरकर पुत्री हो जाती है, भगिनी हो जाती है या स्त्री अपने पापकर्म के अनुसार तिर्यंचनी हो जाती है, और पति अपने पुण्य कर्म के अनुसार राजपुत्र हो जाता है ।

कोई बड़ा भारी मित्र है तो भी मित्र के मरने पर उसके साथ न तो मर सकता है और यदि मरे भी तो एक साथ एक ही गति में जन्म पाने का कोई नियम नहीं है। एक मानव रोग से तड़फड़ा रहा है। सैंकड़ों कुटुम्बी पुत्र, मित्रादि बैठे देख रहे हैं, सहानुभूति बता रहे हैं परन्तु यह किसी में शक्ति नहीं है कि उसके रोग को आप लेलें व उसकी रोग पीड़ा को आप ओढ़ ले। उसी अकेले को रोग का कष्ट भोगना पड़ता है। जगत में यह नियम है कि यह जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही दुःख - सुख भोगता है। इसलिए इस जीव को उचित है कि स्वार्थी जगत के प्राणियों के मोह में पड़कर अपना बुरा न करे। अपने आत्महित को कुटुम्बियों के पीछे न छोड़ बैठे।

संसार असार है बता चुके, शरीर अपवित्र अथिर है समझा चुके, भोग चंचल अतृप्तिकारी व दुःखदायी है यह कथन कर चुके तथा सहज सुख ही सच्चा सुख है जो आत्मा का स्वभाव है, आत्मा ही से मिल सकता है। इन्द्रिय सुख झूँठा है, कल्पित है, विनाशक है, आत्मिक सुख स्वाधीन है, अविनाशी है, अपने ही पास है, यह सब दिखा चुके। अब उचित है कि हरएक चेतन प्राणी इस मानव जन्म को सफल करे, सच्चे सुख पाने का यत्न करे, वह सच्चा सुख भी कोई किसी को दे नहीं सकता, कोई किसी से ले नही सकता, किसी से मांगने से मिल नहीं सकता, खुशामद से प्राप्त नहीं हो सकता, धन खरचने से नहीं आ सकता है, कही रक्खा नहीं है जो उठाया जा सके। वह सुख हर एक का हर एक के पास है। हर एक आप ही अपने से ही अपने में अपने ही पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त कर सकता है। जो साधन करेगा वह पा सकेगा, जो आलसी रहेगा वह नहीं पा सकेगा।

यह शरीर मेरा नहीं है यह प्रगट ही है, परन्तु आत्मा के एकत्व को या उसके एक स्वभाव को ध्यान में लेते हुए हमें यह भी देखना होगा कि संसारी प्राणियों में क्रोध कम या अधिक है, मान कम या अधिक है, माया कम या अधिक है, लोभ कम या अधिक है, हास्यभाव कम या अधिक है, रतिभाव कम या अधिक है, अरतिभाव कम या अधिक है, शोकभाव कम या

अधिक है, भय भाव कम या अधिक है, जुगुप्सा या घृणाभाव कम या अधिक है, काम भाव कम या अधिक है, ये सब भाव क्या जीव के स्वभाव हैं या नहीं; इनका विचार भले प्रकार कर लेना उचित है । यदि पक्षपात छोड़कर विचारा जायेगा तो इन क्रोध, मान, माया, लोभादि भावो को कोई भी पसन्द नहीं करता है । सब ही इनको औपाधिक भाव, अशुद्ध भाव या दोष मानते हैं ।

एक अनपढ़ ग्रामीण से भी पूछा जावे तो वह यही कहेगा कि क्रोधी आदमी अच्छा नहीं, मानी आदमी अच्छा नहीं, मायाचारी अच्छा नही, लोभी अच्छा नहीं, शोकी आदमी अच्छा नहीं, भयभीत मानव अच्छा नही, कामी मानव अच्छा नहीं, इसके विरुद्ध जगत भर को क्षमावान, विनयवान, सरल व्यवहारी, सन्तोषी, ब्रह्मचारी, शीलवान, निर्भय, शोक रहित, प्रेमालु घृणा रहित मानव अच्छा लगता है । जैसे रुई के कपड़े सफेद होते हैं । किसी स्थान पर पचास आदमी एकत्र हैं, वे सब रुई के कपड़े पहने हैं परन्तु गर्मी की ऋतु के कारण सबके कपड़े मलीन है । तब दर्शकगण उनको देखकर यही समझते हैं कि इनके कपड़े स्वच्छ नहीं हैं, इनमें मैल चढ़ गया है और यदि कहीं किसी सभा में पचास आदमी जमा हों जो सब नये सफेद कपड़े पहनकर आये हों तो दर्शकों को वे सब बड़े सुहावने लगते हैं क्योंकि उन कपड़ों पर मैल नही है ।

इसी तरह जब क्रोध, मान, माया, लोभादि से रंगे हुए जीव होते हैं तब सबको बुरे लगते हैं और जब उनके विरुद्ध क्षमा, विनय, ऋजुता, सन्तोष आदि से सम्पन्न जीव होते हैं तब सबको अच्छे लगते है । इसका कारण यही है कि क्षमा, विनय, ऋजुता, सन्तोष आदि तो जीव के स्वभाव हैं जबकि क्रोध, मान, माया, लोभादि जीव के स्वभाव नही हैं - दोष है, मैल है ।

क्रोधी मानव स्वयं भी यदि अपने को देखे तो क्रोध के समय वह अपने आपे से बाहर हो जाता है । उसको बड़ी आकुलता पैदा हो जाती है । बड़ा दुःखित भाव हो जाता है, ज्ञान मैला हो जाता है, विवेक जाता रहता है, कुछ का कुछ सत्य असत्य विचारने लगता है, बकने लगता है, चाहे किसी को मारने पीटने लगता है । उसका स्वभाव बिगड़ जाता है । यदि क्रोधी को कुछ नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो वह उसे ग्रहण कर नही सकता । उसका परिणाम

बड़ा ही क्षोभित व मैला हो जाता है, और जब उसी का क्रोध चला जाता है, शांति आ जाती है तब वही अपने को निराकुल महसूस करता है, सुखी अनुभव करता है। उस समय विवेकी भी रहता है, मन में ठीक - ठीक विचारता है, वचन भी ठीक - ठीक बोलता है, काय से भी ठीक - ठीक क्रिया करता है, नवीन ज्ञान की शिक्षा को भी ग्रहण करता है, भली प्रकार समझता है क्योंकि यह क्रोध रूपी पिशाच के वश नही है या क्रोध रूपी मदिरा के नशे में नही है वह अपने आपे में है।

इसी तरह यदि किसी को अभिमान हो उच्च कुल का, उच्च जाति का, धनवान होने का, रूपवान होने का, बलवान होने का, अधिकारी होने का, विद्वान होने का, तपस्वी होने का, तो उसका भाव मैला रहता है। वह दूसरों को घृणा की दृष्टि से देखता है। मान के वशीभूत हो मन से ठीक विचार नही करता है, वचन भी मानयुक्त बोलता है, शरीर से भी विनययुक्त क्रिया नही होती है, मान के आवेश में उसका बर्ताव जगत को पसन्द नही आता है, वह भी आकुलित रहता है कि कही कोई अपमान न कर दे और यदि कोई अपमान कर देता है तो वह शीघ्र ही क्रोधी होकर और भी दुःखी हो जाता है। मानी को नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो उसको वह ग्रहण नहीं करता है।

यदि कोई मान रहित है, मार्दव धर्म का धारी है, कोमल चित्त है तो उसके भावों में शांति है, वह विवेक से विचार करता है, उसका मन कारण कार्य का ठीक विचार कर सकता है, उसके वचन हितमितप्रिय निकलते है, उसकी क्रिया प्रेम, दया व विवेकपूर्ण होती है, उसे नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो वह उसे बड़े आदर से ग्रहण करता है, धारण करता है। उसका मन क्षोभित न होकर सुखी रहता है। इसका कारण यही है कि मानरूपी मदिरा ने उसे बावला व अंधा नहीं किया है।

मायाचार के आवेश में यह प्राणी बड़ा ही गन्दा हो जाता है, इसके भावों में कुटिलता बस जाती है, मन में स्वार्थ साधन के हेतु पर को वचना करने वाले कुत्सित विचार होते हैं, वचन यद्यपि मीठे निकलते हैं परन्तु वह

विष से पूर्ण भोजन के समान ठगने वाले होते हैं, शरीर की चेष्टा सर्व ही धोखे में डालने वाली कुटिल होती है। उसका भाव कुटिलता से व भय से आकुलित रहता है, शांति नहीं रहती है, नवीन ज्ञान की शिक्षा भी उसके मलीन भाव में नहीं जमती है, परन्तु यदि सरलता हो, ऋजुता हो, आर्जव धर्म हो तो मन निर्मल रहता है, पर हितकारी बातों को ही विचारता है, वचनों से हितकारी बातें कहता है, काय से सरल व योग्य वंचना रहित बर्ताव करता है, परिणामों में शांति रहती है।

ऐसे को यदि नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो बड़ी भक्ति से ग्रहण करता है, जैसे सफेद कपड़े पर लाल रंग खूब चढ़ता है। वह अपने भीतर सुख शांति का अनुभव करता है, इसका कारण यही है कि उसके भीतर माया पिशाचिनी का आक्रमण नही है, वह मलीन नही है, दोषी नहीं है।

लोभ के वशीभूत होकर यह प्राणी बड़ा ही अपवित्र हो जाता है। स्वार्थी होकर लोभ के साधने वाले विचारों को मन से करता है। मन में तृष्णा के साधन के ही विचार करता हुआ दया व न्याय के विचारों को छिपा देता है। वचनों से लोभयुक्त, तृष्णायुक्त वाणी कहता है। काय से ऐसी क्रिया करता है जिससे तृष्णा का साधन हो। उसे न्याय, अन्याय, धर्म, अधर्म, कर्तव्य, अकर्तव्य का ध्यान नहीं रहता है। लोभ में अन्धा हो अबला विधवा का भी धन हर लेता है। गरीब आदमी को भी ठगते हुए उसे दया नहीं आती है। अपने परम मित्र को भी ठग लेता है। लोभ से आकुलित के परिणामों में शांति नहीं रहती है, वह सुखी नहीं होता है। अति धनिक होने पर भी दु:खी रहता है। ऐसे लोभी को कोई नवीन ज्ञान की शिक्षा नही सुहाती है। जैसे जल मिट्टी से मैला हो जाता है वैसे जीव का परिणाम लोभ से मलीन हो जाता है।

यदि किसी के भावों में लोभ न हो सन्तोष हो तो उसका मन स्वच्छ रहता है, वह उचित न्याययुक्त व्यवहार का ही विचार करता है, सन्तोष पूर्वक न्याययुक्त वचन बोलता है व न्याययुक्त ही वह काय से क्रिया करता है। उसका परिणाम आकुलित नहीं रहता है वह निर्लोभता के कारण सुख शांति

का अनुभव करता है, वह जगत को प्रिय होता है। कारण यही है कि लोभ रूपी भूत ने उसको वश नहीं किया है, वह अपने आपे में है, लोभ की मूर्छा से मूर्छित नहीं है।

काम के वशीभूत होकर प्राणी ऐसा अन्धा हो जाता है कि उसका शील स्वभाव बिगड़ जाता है, मन में बड़ा ही आकुलित होता हुआ काम भाव सम्बन्धी ही विचार करता है। काम वर्द्धनकारक, हास्ययुक्त, भंड वचन, प्रलाप व गानादि करता है। काय से न्याय अन्याय का विवेक छोड़कर चाहे जिस तरह काम चेष्टा करने लग जाता है। कामी को बड़ी अशांति रहती है, सुख शांति उससे कोसों दूर रहती है। उसे कोई ज्ञान की नवीन शिक्षा दी जावे तो वह ग्रहण नहीं कर सकता, इसके विरुद्ध जो काम के अन्धकार से बाहर हैं शीलवान हैं, शुद्ध ब्रह्मचर्य के धारी हैं, उनका मन शुद्ध होता है, वे शुद्ध विचार करते हैं, वे शील पोषक ब्रह्मचर्य प्रेरक वचन बोलते हैं व काय से ब्रह्मचर्य की रक्षा करते हुए चेष्टा करते है। उनका परिणाम सुख शांति का व साम्यभाव का अनुभव करता है। इसका कारण यही है कि काम भाव का अन्धकार उनके ज्ञान के ऊपर नहीं आया है।

इस तरह यह विदित होगा कि क्रोधादि सर्व ही विभाव दोष हैं, उपाधि हैं, अपने को भी संक्लेशकारी, हानिकारक, सुख शांतिनाशक व ज्ञान के विरोधक भासते हैं व दूसरों को भी सर्व जगत को भी ये क्रोधादि दोष व मल ही दिखते हैं। वास्तव में यही यथार्थ बात है। जैसे मलीनपना कपड़े का स्वभाव नहीं है, वैसे ही क्रोधादि मन्द हों या तीव्र हों, ये जीव के स्वभाव नहीं हैं। मोहनीय कर्म के संयोग से इसी तरह जीव में होते हैं जैसे रंग के संयोग से पानी रंगीन होता है, अग्नि के संयोग से पानी गर्म होता है, मैल के संयोग से कपड़ा मैला होता है, धुएँ के संयोग से भीत काली होती है, काले, पीले, हरे, लाल डाक के संयोग से स्फटिक मणि का पाषाण काला, पीला, हरा व लाल हो जाता है। यदि पर का संयोग न हो तो पानी निर्मल रहे, शीतल रहे, कपड़ा उजला रहे, भीत सफेद रहे, स्फटिक मणि स्वच्छ चमकदार रहे।

इसी तरह मोहनीय कर्म के अनेक भेद हैं :— तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्रमंद मंदतर, मंदतम उनके विपाक या फल के संयोग से जैसे नाना प्रकार के मोहनीय कर्म का फल होता है वैसा ही कम व अधिक मैल व उपाधि या दोष जीव में दिखता है। यदि मोहनीय कर्म का संयोग न हो तो जीव अपने वीतराग निराकुल उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य व उत्तम ब्रह्मचर्य स्वभाव में ही प्रकाशित रहे, अर्थात् परम शांत रहे। इस जीव का स्वभाव जैसा शांत है वैसी शांति न चन्दन में है, न मोती की माला में है, न अगर कपूर में है, न चन्द्रमा की चाँदनी में है, न बर्फ में है, न शीतल जल मे है, न गंगा के पानी में, न क्षीर समुद्र के जल में है, न केवड़े के वन में है, न कमल के बगीचे में है, न नन्दनवन की वाटिका में है, न किसी सूर्य आताप से अस्पर्शित पृथ्वीतल में है।

इस तरह हमें यह निश्चय करना चाहिये कि जितने ये भाव तीव्र क्रोधादि रूप व मन्द क्रोधादि रूप हैं वे कोई भी इस जीव के स्वभाव नही है, वे सब मोहनीय कर्म के संयोग से दिखने वाले मैल है, आत्मा से बिलकुल विरुद्ध हैं। इस मोहनीय कर्म के विपाक से संसारी जीवों के दो प्रकार के भाव होते हैं :— एक अशुभ भाव, दूसरे शुभ भाव, अशुभ भावों के दृष्टांत हैं :— (१) हिंसा, (२) असत्य, (३) चोरी, (४) कुशील, (५) परिग्रह की मूर्छा, (६) जुआ खेलना, (७) मांस खाना, (८) मदिरापान, (९) शिकार खेलना, (१०) वेश्या प्रसंग, (११) परस्त्री प्रसंग, (१२) तीव्र शोक, (१३) तीव्र दुःख, (१४) पर का अपकार, (१५) तीव्र क्रोध, (१६) तीव्र मान, (१७) तीव्र माया, (१८) तीव्र लोभ। जिन - जिन कार्यों के करने के लिए मर्यादा, न्याय व धर्म का उल्लंघन हो बर्ताव करना पड़े, वे सब काम अशुभ भावों के द्वारा होते हैं।

जिन कामों में मन्द कषाय करनी पड़ती है — राग तो होता है परन्तु अपने स्वार्थ का त्याग होता है, इन्द्रियो के विषयों की लम्पटता नही होती है, वे सब कार्य शुभ भावों से किये जाते है, जैसे :— (१) दया, (२) आहार,

औषधि, अभय व ज्ञानदान, (३) सत्य भाषण, (४) न्याय से वर्तन, (५) ब्रह्मचर्य पालन, (६) सन्तोष, (७) परोपकार, (८) सेवा टहल, (९) यथा योग्य विनय, (१०) हितकारी वर्तन, (११) परमात्मा की भक्ति, (१२) धर्म शास्त्र पठन, (१३) गुरु सेवा, (१४) संयम पालन इत्यादि कार्य शुभ भावों से होते हैं।

यहां राग या लोभ मन्द होता है। दोनों ही शुभ भाव या अशुभ भाव इस जीव के स्वभाव से दूर हैं। इस जीव का स्वभाव तो वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह व परम शांत उदासीन है, जहां न शुभ भाव से न अशुभ भाव से किसी व्यवहार करने का राग या द्वेष या मोह है। इसीलिए आत्मा का स्वाभाविक भाव, शुद्ध भाव या शुद्धोपयोग है। जैसे पानी के चौदह बर्तन हैं, पहले में लाल रंग सबसे अधिक मिला हो, फिर कमती कमती दस बर्तनों तक मिला हो, ११ वे से १३ वें तक में पवन के द्वारा चंचलता हो। १४ वें में चंचलता भी न हो परन्तु कुछ मिट्टी हलकी सी मिली हो। १५ वें बर्तन में ऐसा शुद्ध पानी हो, न जिसमें कोई रंग हो, न चचलता हो, न मिट्टी मिली हो तब विचारा जाय तो उन चौदह बर्तनों में भी जो पानी है, वह पन्द्रहवें बर्तन के पानी के बराबर ही है। अन्तर डालने का कारण परवस्तु का सयोग है। रंग हवा व मिट्टी का सयोग है।

उसी तरह सर्व ही जीव स्वभाव से शुद्ध वीतराग परमात्मा सिद्ध भगवान के समान हैं - सिद्ध पूर्ण शुद्ध आत्मा है। शेष संसारी आत्माये कम या अधिक कर्मरूपी रज से मिली हैं, इसीलिए नाना प्रकार रज मिश्रित जल के समान दिखती हैं, परन्तु स्वभाव सबका एक है।

अतएव यह सिद्ध हुआ कि यह जीव न क्रोधी है, न मानी है, न मायावी है, न लोभी है, न कामी है, न भयभीत है, न शोकी है, न रागी है, न द्वेपी है, न मोही है, न दयादान का कर्त्ता है, न पूजापाठ का कर्त्ता है, न स्वाध्याय का कर्त्ता है, न गुरुसेवा का कर्त्ता है। जीव तो सर्व प्रपंचजाल, सर्व प्रकार विकार व चिंता व संकल्पविकल्प से रहित पूर्ण वीतराग सिद्ध के समान है।

तथा यह जीव ज्ञानी है, ज्ञान इसका स्वभाव है, हरएक जीव में ज्ञान की पूर्ण शक्ति विद्यमान है । जैसे परमात्मा सिद्ध भगवान सर्वज्ञ हैं वैसा हरएक जीव स्वभाव से सर्वज्ञ स्वरूप है, परन्तु जो ज्ञान की कमी संसारी जीवों में देखने में आती है वह ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म के संयोग से है । जैसे सूर्य का स्वभाव पूर्ण स्वपर प्रकाशक है, यदि मेघों का अधिक आवरण आता है तो कम प्रकाश झलकता है, कम आवरण होता है तो अधिक प्रकाश प्रकट होता है, यदि और भी कम आवरण होता है तो और भी अधिक प्रकाश झलकता है । मेघों के अधिक व कम आवरण की अपेक्षा प्रकाश के अनेक भेद हो जाते हैं, यद्यपि सूर्य का प्रकाश एकरूप है ।

इसी तरह ज्ञान का प्रकाश एकरूप है । उसके ऊपर ज्ञानावरण कर्म के पटल अनेक प्रकार के होने से किसी जीव में कम, किसी में अधिक ज्ञान का प्रकाश है । अथवा जैसे शुद्ध जल में ऐसी निर्मलता होती है कि अपना मुख दिख जावे परन्तु जल में मिट्टी अधिक मिली होने से कम निर्मलता होगी, कम मिट्टी मिली होने से अधिक निर्मलता झलकेगी, इसी तरह निर्मल आत्मा में सर्व जानने योग्य विश्व के पदार्थ प्रकट होते है परन्तु जिसमें जितना कम या अधिक ज्ञान है उसमें उतना ही अधिक या कम कर्म का आवरण है ।

स्वभाव हरएक जीव का ज्ञानमयी है । ज्ञान जितना भी कहीं बढ़ता है विद्या पढ़ने से या पर के उपदेश से वह भीतर से ही अज्ञान मिटकर बढ़ता है । कही बाहर से ज्ञान दिया जाता नहीं, बाहर से जाता नही । यदि ज्ञान में लेन - देन हो तो ज्ञान दातारों का ज्ञान घटे तब ज्ञान लेने वालों का ज्ञान बढ़े जंसे धन के लेनदेन में होता है । यदि कोई किसी को अपनी एक हजार की थैली में से सौ रुपये देता है तो उसकी थैली में नौ सौ रह जायेंगे तब दूसरे को सौ रुपये मिलेगे, ऐसा ज्ञान में नहीं होता । एक विद्वान सौ छात्रों को पढ़ाता है, सर्व छात्रों का ज्ञान उनके आवरण हटने के अनुसार कम या अधिक बढ़ता है परन्तु उस विद्वान का ज्ञान कुछ भी कम नहीं होता । यदि विचारा जावे तो जितना अधिक उसको पढ़ाने का अनुभव होगा उतना ही अधिक उस विद्वान का ज्ञान बढ़ जायेगा ।

इसलिये यही बात ठीक है कि हरएक जीव में उतना ही ज्ञान है जितना सिद्ध भगवान में है। जीव का स्वभाव निर्मल जल के समान स्वच्छ है, सर्व ही जानने योग्य को झलकाना व प्रकाश करना है। यह जीव आनन्दमय है। सहज - सुख अतीन्द्रिय सुख इसका स्वभाव है। यह पहले बताया जा चुका है। मोह के मैल से यह सुख अनुभव में नहीं आता है। जितना - जितना मोह हटता है यह सुख प्रगट होता है। परमात्मा जैसे आनन्दमय है वैसा हरएक जीव आनन्दमय है। परमात्मा अमूर्तिक है। परमात्मा में कोई वर्ण नही है, गंध नहीं है, रस नहीं है, स्पर्श नहीं है वैसे हरएक आत्मा में कोई वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नहीं है।

हरएक आत्मा अपना कोई चैतन्यमयी आकार रखता है; क्योंकि जिसका कोई आकार नहीं होता है वह शून्य अभावमय पदार्थ होता है। जीव ऐसा नही है, वह तो अनेक गुणों का धारी द्रव्य है, इसलिए जीव का आकार अवश्य है। जिस शरीर में रहता है उस शरीर प्रमाण उसका आकार हो जाता है जैसे दीपक का प्रकाश कमरे में कमरे भर फैलता है, छोटे कमरे में छोटे कमरे भर, घड़े में घड़े भर, एक लोटे के भीतर लोटे भर फैलता है वैसे इस जीव का आकार हाथी में हाथी के बराबर, ऊंट में ऊंट के बराबर, घोड़े में घोड़े के बराबर, बैल में बैल के बराबर, बकरे में बकरे के बराबर, कुत्ते में कुत्ते के बराबर, चूहे में चूहे के बराबर, सर्प में सर्प के बराबर, नकुल में नकुल के बराबर, कबूतर में कबूतर के बराबर, भ्रमर में भ्रमर के बराबर, चींटी में चींटी के बराबर, लट में लट के बराबर, वृक्ष में वृक्ष के बराबर, इत्यादि जैसा शरीर होता है वैसा यह जीव संकोचकर या फैलाकर छोटे या बड़े आकार का होता है तो भी इसमें शक्ति सर्व विश्व में फैलने की है। स्वभाव की अपेक्षा लोकव्यापी है, परन्तु शरीर के सम्बन्ध में शरीर प्रमाण रहता है। नाम कर्म के कारण संकोच या विस्तार को प्राप्त होता है।

ऐसा अमूर्तिक, ज्ञानाकार, ज्ञान स्वरूप, वीतराग, आनन्दमय जीव द्रव्य अपनी - अपनी एकता को, अपनी - अपनी सत्ता को भिन्न - भिन्न ही रखता है। एक जीव का दूसरे जीव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे गेहूँ के दस करोड़ दाने एक स्थल पर रक्खे हैं, हरएक दाना गेहूँ का अलग - अलग

है । यद्यपि गेहूँ के गुणों की अपेक्षा सब गेहूँ के दाने समान हैं, परन्तु सत्ता सबकी अलग - अलग है । गेहूँ का व्यापारी दस करोड़ गेहूँ के दानों में से किसी को ५००, किसी को १०००, किसी को १००००, किसी को १००००० दाने बेच देता है ।

लेने वाले कोई थोड़ा आटा बनाते हैं, कोई ज्यादा बनाते है, आटे की रोटी, पूरी बनाते हैं, खाते है, उन खाये हुए गेहूँ का रस रुधिर, मल आदि बनता है । जबकि बहुत से गेहूँ आटे के रूप में मटके में भरे रहते हैं, कितने ही गेहूँ के रूप में ही रहते हैं । यदि दस करोड गेहूँ की एक ही सत्ता हो तो जहां एक गेहूँ जावे वहां दूसरा भी जावे, एक पीसा जावे तो दूसरा भी पीसा जावे । एक चबाया जावे तो दूसरा भी चबाया जावे सो ऐसा नहीं है ।

गेहूँ के स्वभाव की अपेक्षा दस करोड़ गेहूँ समान है तो भी हर एक दाना गेहूँ का अपनी - अपनी भिन्न - भिन्न सत्ता रखता है, इसी तरह सर्व जीव अपनी - अपनी भिन्न - भिन्न सत्ता रखते है तब ही एक ही समय मे कोई शरीर में आता है, कोई शरीर को छोड़ता है, कोई दुःखी होता है, कोई सुखी होता है, कोई क्रोधी है तो कोई शांत है, कोई विशेष ज्ञानी है, कोई कम ज्ञानी है, कोई सोता है, कोई जागता है, कोई पढ़ाता है, कोई पढ़ता है, कोई लड़ता है कोई प्यार करता है, कोई खाता है, कोई मल - मूत्र करता है, कोई रोता है, कोई हँसता है, कोई न्याय करता है, कोई दण्ड पाता है, कोई लिखता है, कोई रंगता है, कोई पीसता है, कोई हल जोतता है, कोई धोता है, कोई नहाता है, कोई कपड़े पहनता है, कोई कपड़े उतारता है, कोई ध्यान करता है, कोई गाता है, कोई बजाता है - सर्व जीव भिन्न - भिन्न हैं । तब ही सर्व की क्रियाएँ प्रगट हैं ।

एक ही जीव की सत्ता बन नहीं सकती । एक ही समय में एक चोरी करता है, एक रक्षा करता है, एक हिंसा करता है, एक बचाता है, एक शील खण्डन करता है, एक शील की रक्षा करता है, एक ठगा जाता है, एक दान करता है, एक दान पाता है । जितने प्रकार के शरीर विश्व में हो सकते हैं

उतने प्रकार के शरीर को एक जीव पुनः पुनः जन्म लेकर व मरकर धारण कर लेवे परन्तु एक जीव दूसरे जीव के साथ कभी मिलकर एक नहीं हो सकता, न एक जीव के खण्ड होकर दो जीव या अनेक जीव बन सकते है। जीव अमूर्तिक पदार्थ है। जितने अमूर्तिक पदार्थ होते हैं वे न कभी परस्पर बँधते हैं, न कभी उनके खण्ड होते हैं। मिलना - बिछुड़ना परमाणुओ में होता है जो मूर्तिक हैं। परमाणु परस्पर मिलकर स्कन्ध बन जाते हैं, स्कन्ध के खण्ड होकर परमाणु हो जाते हैं। इस तरह जीवों के मिलकर स्कन्ध नहीं होते है, न उनके खण्ड होते हैं।

हरएक जीव अकेला है, निराला है, स्वतन्त्र है, स्वाधीन है। जब जीव के परके सयोग रहित एकत्व को विचार करते है तब तो यही झलकता है कि हरएक जीव बिलकुल अकेला है, स्वभाव से एक जीव में न दूसरे जीव है, न कोई परमाणु या स्कन्ध है, न कोई कर्म है, न कोई पुण्य है, न पाप है, न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न सांसारिक सुख है, न दुःख है, न शुभ भाव है, न अशुभ भाव है, न वह एकेन्द्रिय है, न द्वेन्द्रिय है, न त्रिइन्द्रिय है, न चौन्द्रिय है, न पंचेन्द्रिय पशु है, न नारकी है, न देव है, न मानव है, न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है, न बालक है, न युवा है, न वृद्ध है, न ब्राह्मण है, न क्षत्री है, न वैश्य है, न शूद्र है, न म्लेच्छ है, न आर्य है, न लघु है, न दीर्घ है, न साधु है, न गृहस्थ है, न बंधा है, न खुला है। हरएक जीव सबसे निराला शुद्ध ज्ञाता - दृष्टा वीतराग आनन्दमयी सिद्ध परमात्मा के समान है।

सिद्ध परमात्मा अनेक हैं, वे सर्व ही अपनी - अपनी सत्ता भिन्न - भिन्न रखते हुए अपने - अपने ज्ञानानन्द का भिन्न - भिन्न अनुभव करते है। वे समान होने पर भी सत्ता से समान नहीं हैं। जीव का एकत्व उसका शुद्ध निज स्वभाव है, यह हमें निश्चय करना चाहिये। परमाणु मात्र भी कोई अन्य द्रव्य या कोई अन्य जीव या कोई अन्य औपाधिक भाव इस जीव का नहीं है। यह जीव रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व शरीरादि नौकर्म से भिन्न है। यह बिलकुल निराला स्वतन्त्र है।

अशुद्ध अवस्था में भी हरएक को अकेले ही जगत में व्यवहार करना पड़ता है, हरएक अपनी हानि व लाभ में स्वयं का उत्तरदायित्व रखता है,

हरएक अपने सुख को व दुःख को आप अकेले भोगता है, हरएक अपनी उन्नति व अवनति स्वयं करता है। 'हम न किसी के कोई न हमारा, झूँठा है जग का व्यवहार' यह लोकोक्ति बिलकुल सत्य है। यह जीव व्यवहार में भी अकेला है, अशरण है, निश्चय से भी अकेला व अशरण है। जैन शास्त्रों में आचार्यों ने जो वाक्य जीव के एकत्व के सम्बन्ध में कहे हैं उनका दिग्दर्शन नीचे प्रमाण है :—

श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं :—

एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१४॥

भावार्थ :— यह संसारी प्राणी अकेला ही कर्मो को बांधता है, अकेला ही इस अपार संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अपने कर्मों का फल भी अकेला ही भोगता है।

एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१५॥

भावार्थ :— यह प्राणी विषयों के लिए तीव्र लोभी होकर अकेला ही पाप बांधता है, वह अकेला ही नारकी व तिर्यंच होकर उस पापकर्म का फल भोगता है।

एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण।
मणुवदेवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१६॥

भावार्थ :— यह अकेला ही धर्म के निमित्त पात्रों को दान देकर पुण्य को बांधता है तथा उस पुण्य का फल अकेला ही देव तथा मनुष्य भव में भोगता है।

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ सव्वदा ॥२०॥

भावार्थ :— मैं निश्चय से एक अकेला हूँ, मेरा कोई भी अन्य नही है, मैं शुद्ध हूँ, ज्ञान - दर्शन लक्षण वाला हूँ तथा शुद्ध भाव की एकता से ही अनुभव करने योग्य हूँ, ऐसा ज्ञानी सदा चिन्तवन करता है।

मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहम्रो य सयलविज्जाम्रो ।
जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥८॥

भावार्थ :– जब प्राणी के मरण का समय आता है, तब मणि, मन्त्र, औषधि, रक्षक, घोड़े, हाथी, रथ व सर्व विद्यायें कोई भी प्राणी को मरण से बचा नहीं सकती हैं ।

जाइजरमरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा ।
तम्हा आदा सरणं बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ॥११॥

भावार्थ :– जन्म, जरा, मरण, रोग व भय से आत्मा ही अपनी रक्षा आप कर सकता है । इसलिए बन्ध, उदय, सत्वरूप कर्मों से मुक्त शुद्ध आत्मा ही अपना रक्षक है ।

अरुहा सिद्धा आइरिया उवझाया साहु पंचपरमेष्ठी ।
ते वि हु चेट्ठिदे जम्हा तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१२॥

भावार्थ :– अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पांचों परमेष्ठी आत्मा का ही अनुभव करते हैं । इसलिए मेरे को भी एक अपना आत्मा ही शरण है ।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवो चेव ।
चउरो चेठ्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणम् ॥१३॥

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र व सम्यक् तप ये चारों ही आत्मा के ध्यान से सिद्ध होते हैं इसलिये मेरे को एक अपना आत्मा ही शरण है ।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं :–

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइम्रो सयारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिव अण्णं परमाणुमित्तं वि ॥४३॥

भावार्थ :– मैं एक अकेला हूँ, निश्चय से शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमयी हूँ, सदा अरूपी हूँ । अन्य एक परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है ।

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो ।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संघवणं ॥५५॥

भावार्थ :– जीव के निश्चय से न कोई वर्ण है, न कोई गन्ध है, न कोई रस है, न कोई स्पर्श है, न कोई रूप है, न कोई संहनन (हड्डी का प्रकार) है ।

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५६॥

भावार्थ :– जीव के न तो राग है, न कोई द्वेष है, न कोई मोह है, न कर्म आने का भाव आस्रव है, न कर्म हैं न शरीरादि नौकर्म है ।

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेय फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणा वा ॥५७॥

भावार्थ : - जीव के न कोई वर्ग है (फलदान शक्ति का अंश है), न कोई वर्गणा (कर्म स्कन्ध) है, न स्पर्द्धक (वर्गणा समूह) है, न रागादि अध्यवसाय स्थान हैं, न फलदान शक्तिरूप अनुभाग स्थान है ।

जीवस्स णत्थि केई जोगट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णे वय उदयट्ठाणा णो मग्गणट्ठाणया केई ॥५८॥

भावार्थ :– जीव के न कोई योग स्थान (मन, वचन, काय के व्यापार) हैं, न बन्ध स्थान हैं, न कर्म के उदय स्थान है, न गति इन्द्रिय आदि मार्गणा के स्थान हैं ।

णो ठिदि बंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिठ्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५९॥

भावार्थ :– इस जीव के न कोई स्थितिबन्ध स्थान है, न कोई संक्लेश भाव के स्थान है, न विशुद्धि के स्थान हैं, न संयम लब्धि के स्थान है ।

णेव य जीवठ्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥६०॥

भावार्थ :– जीव के न कोई जीव समास अर्थात् जीवों के भेद है न गुणस्थान अर्थात् उन्नति की श्रेणियां है क्योंकि ऊपर लिखित ये सब पुद्गल - द्रव्य के संयोग से होने वाली अवस्थाए हैं । जीव का निज स्वभाव नही है ।

अहमिक्को खलु सुद्धो य णिम्ममो णाणदंसणसमग्गो ।
तह्मि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥७८॥

भावार्थ :– मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्व रहित हूँ, ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ, मैं अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप में स्थित होता हुआ व उसी में तन्मय होता हुआ इन सर्व ही क्रोधादि भावों का नाश करता हूँ।

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तह्मिठिदा सभावे मुणिणो पावंती णिव्वाणं ॥१५८॥

भावार्थ :– आत्मा निश्चय से परम पदार्थ है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है। उसी के स्वभाव में जो लय होते हैं वे मुनि निर्वाण पाते हैं।

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवयोगो ।
कोहे कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१७१॥

भावार्थ :– ज्ञानोपयोगी आत्मा में ज्ञानोपयोग धारी आत्मा है, क्रोधादि में कोई भी ज्ञानोपयोग नहीं है। क्रोध में क्रोध है, उपयोग में कोई क्रोध नहीं है। भावार्थ यह है कि क्रोध भिन्न है, आत्मा भिन्न है।

अठ्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगह्मिय कम्मे णोकम्मे चावि णो अत्थि ॥१७२॥

भावार्थ :– आठ प्रकार कर्म में व शरीरादि नौ कर्म में भी ज्ञानोपयोगी आत्मा नही है, न ज्ञानोपयोगी आत्मा में कर्म व नौकर्म हैं।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार में कहते हैं :–

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमत्ता णेव कत्तीणं ॥७१॥

भावार्थ :– निश्चय से मैं आत्मा अकेला हूँ, न मैं देह हूँ, न मैं वचन हूँ, न मैं मन हूँ, न मैं मन, वचन, काय का कारण हूँ, न मैं इनका कर्त्ता हूँ, न कराने वाला हूँ, न करने वालों की अनुमोदना करने वाला हूँ।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेक्को ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥१०३॥

भावार्थ :– ज्ञानी जानता है कि निश्चय से न मैं शरीरादि का हूँ न शरीरादि मेरे हैं। मैं तो एक ज्ञान स्वरूप शुद्ध हूँ, ऐसा जो ध्यान में ध्याता है वही आत्मध्यानी होता है।

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१०४॥

भावार्थ :– मैं अपने आत्मा को ऐसा मानता हूँ कि यह आत्मा पर-भावों से रहित निर्मल है, निश्चल एकरूप है, ज्ञानस्वरूप है, दर्शनमयी है, अतीन्द्रिय है, महान पदार्थ है, निश्चल है तथा परद्रव्य के आलम्बन से रहित स्वाधीन है ।

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाऽध सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥१०५॥

भावार्थ :– औदारिक आदि पांच शरीर अथवा धन धान्यादिक अथवा इष्ट अनिष्ट पंचेन्द्रियों के सुख तथा दुःख अथवा शत्रु मित्र आदि लोक कोई भी इस जीव के नहीं हैं, ये सब नाशवंत हैं, जबकि जीव ज्ञान दर्शन स्वरूप अविनाशी द्रव्य है ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड़ में कहते हैं :–

एगो मे सास्सदो अप्पो णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५६॥

भावार्थ :– मेरा आत्मा एक अकेला है, अविनाशी है, ज्ञान व दर्शन लक्षणधारी है, रागादि सर्व भाव मेरे नहीं हैं वे सब कर्म के संयोग से उत्पन्न हुए हैं ।

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइनिहणो य ।
दंसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं ॥१४८॥

भावार्थ :– यह जीव निश्चय से अपने ही शुद्ध भावों का कर्त्ता है व शुद्ध भावों का भोक्ता है, अमूर्तिक है, शरीर प्रमाण आकारधारी है, ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है ।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्षपाहुड़ में कहा है :–

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं ।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवइ सद्दव्वं ॥१८॥

भावार्थ :– यह आत्मा एक सत् द्रव्य है, दुष्ट आठ कर्मों से रहित हैं, अनुपम है, ज्ञानाकार है, अविनाशी है, व शुद्ध है, ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है ।

सिद्धो सुद्धो आवा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य ।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवलं णाणं ॥३५॥

भावार्थ :-- आत्मा ही सिद्ध है, शुद्ध है, सर्वज्ञ है, सर्वलोकदर्शी है, यही केवल ज्ञानमय है ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है ।

(६) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं :--

णिरुवक्कमस्स कम्मस्स फले, समुवट्ठिदम्मि दुक्खंमि ।
जादिजरामरणरुजा--, चिंताभयवेदणादीए ॥१७३४॥

जीवाण णत्थि कोई, ताणं सरणं च जो हविज्ज इदं ।
पायालमविगदो विय, ण मुच्चइ सकम्मउदयम्मि ॥१७३५॥

भावार्थ :-- उदय आने पर ना इलाज ऐसा कर्म का फल जब होता है तब जन्म, जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि दुःख जीवों के ऊपर यकायक आ जाते है, उस समय कोई रक्षा करने वाला नहीं होता है । जिस जीव पर इनका आक्रमण होता है, उसे अकेले ही भोगना पड़ता है । यदि जीव पाताल में भी चला जावे तो भी उदय में प्राप्त कर्म फल दिये बिना नही रहता है ।

दंसणणाणचरित्तं तवो य ताणं च होइ सरणं च ।
जीवस्स कम्मणासण, हेदुं कम्मे उदिण्णम्मि ॥१७४६॥

भावार्थ :-- जीव के कर्म की उदीरणा या तीव्र उदय होते हुए कर्म के नाश करने को सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप ही परम शरण हैं और कोई अन्य रक्षक नहीं है ।

पावं करेदि जीवो, बंधवहेदुं सरीरहेदुं च ।
णिरयादिसु तस्स फलं, एक्को सो चेव वेदेदि ॥१७४७॥

भावार्थ :-- यह जीव अपने बान्धवों के निमित्त व अपने शरीर के लिए पाप कर्म करता है बहुत आरम्भ व परिग्रह में लीन होकर ऐसा पाप बंध करता है जिसका फल नरकादि कुगति में अकेला ही इसको भोगना पड़ता है ।

रोगादिवेदणाओ, वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं ।
पेच्छंता वि समक्खं, किंचिवि ण करंति से णियया ॥१७४८॥

भावार्थ :— अपने कर्म का फल रोगादि वेदना है उसको भोगते हुये जीव का कोई दुःख दूर नहीं कर सकता है; कुटुम्ब परिवार के लोग सामने बैठे देखते रहते हैं तो भी वे कुछ नहीं कर सकते हैं तब और कौन दुःख दूर कर सकेगा ?

जीया अत्था देहा-, पिया य संगा ण कस्स इह होंति ।
परलोगं मुण्णिता, जदि वि वट्टंति ते सुट्ठु ॥१७५०॥

भावार्थ :— परलोक को जाते हुये जीव के साथ स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, देहादि परिग्रह कोई नहीं जाते हैं, यद्यपि इसने उनके साथ बहुत प्रीति करी है तो भी वे निरर्थक हैं, साथ नहीं रहते ।

होऊण अरी वि पुणो; मित्तं उवकारकारणा होइ ।
पुत्तो वि खणेण अरी, जायदि अवयारकरणेण ॥१७६१॥
तम्हा ण कोइ कस्सइ, सयणो व जणो व अत्थि संसारे ।
कज्जं पडि हुन्ति जगे, णीया व अरी व जीवाणं ॥१७६२॥

भावार्थ :— बैरी भी हो परन्तु यदि उसका उपकार करो तो मित्र हो जाता है तथा अपना पुत्र भी अपकार किये जाने पर क्षण में अपना शत्रु हो जाता है, इसलिये इस जगत में कोई किसी का मित्र व शत्रु नहीं है, स्वार्थ के वश ही जगत में मित्र व शत्रु होते हैं ।

जो जस्स वट्टदि हिदे, पुरिसो सो तस्स बंधवो होदि ।
जो जस्स कुणदि अहिदं, सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो ॥१७६३॥

भावार्थ :— जिसका जो हित करता है वह उसका बांधव हो जाता है व जो जिसका अहित करता है वह शत्रु हो जाता है ।

(७) श्री पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश में कहते हैं :—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥८॥

भावार्थ :— शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि सर्व का स्वभाव अपने से जुदा है तो भी मूढ़ पुरुष उनको अपना मान लेता है ।

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसन्ति नगे नगे ।
स्वस्वकार्यवशाद्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥९॥

भावार्थ :— पक्षिगण भिन्न - भिन्न देशों से आकर संध्या के समय वृक्ष पर बैठ जाते हैं, सबेरा होते - होते अपने - अपने कार्यवश भिन्न - भिन्न दिशाओं में उड़ जाते हैं इसी तरह कुटुम्ब के लोग हैं, किसी का किसी से सम्बन्ध नहीं है ।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

भावार्थ :— मैं एक अकेला हूँ, कोई नहीं है, मैं निश्चय से शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, योगियों के ध्यानगम्य हूँ, जितने कर्म के संयोग से होने वाले भाव हैं वे सब बिलकुल मेरे से भिन्न हैं ।

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥२९॥

भावार्थ :— मैं आत्मा हूं, मेरा मरण नहीं, मुझे मरने से क्या भय ? न मेरे में रोग हैं, मुझे रोग का क्या कष्ट ? न मैं बालक हूं, न मैं युवक हूं, न मैं वृद्ध हूं, ये सब शरीरमयी पुद्गल की अवस्थाए हैं, मैं इनसे भिन्न हूं ।

स्वस्मिन्सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः ।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैवगुरुरात्मनः ॥३४॥

भावार्थ :— आत्मा का सच्चा गुरु अपना आत्मा ही है, अपने ही में अपना भला करने की इच्छा होती है । आप ही अपने हित को जानता है व आप ही अपने को हित साधन में प्रेरणा करता है ।

(८) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक में कहते हैं :—

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्र भार्यादिकल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिमन्यते हा हतं जगत् ॥१४॥

भावार्थ :— शरीर को अपना मानने से ही पुत्र, स्त्री आदि की मान्यताएं हो जाती हैं इसलिये अज्ञानी उन्हीं स्त्री, पुत्रादि को अपना मानता हुआ नष्ट हो रहा है ।

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

भावार्थ :– जो आत्मा से भिन्न है, वह ग्रहण करने योग्य नही है, उसे यह कभी ग्रहण नहीं करता है। जो इसका स्वभाव है, जिसे यह ग्रहण किये हुये है उसे यह कभी छोड़ता नहीं है। जो सर्व को सर्वथा जानता है और स्वानुभवगम्य है वही मैं हूं।

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥

भावार्थ :– जिस स्वरूप से मैं अपने में अपने द्वारा अपने को अपने समान ही अनुभव करता हूं वही मैं हूं। न मैं पुरुष हूं, न स्त्री हूं, न नपुंसक हूं, न मैं एक हूं, न दो हूं, न मैं बहुवचन हूं।

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः ।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

भावार्थ :– जिस स्वरूप के न जानने से मैं सोया हुआ था व जिस स्वरूप के जानने से मैं जाग उठा यह मेरा स्वरूप इन्द्रिय गोचर नहीं है, कथन योग्य नहीं है। मात्र मैं अपने से ही अनुभवगोचर हूं।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः ।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२५॥

भावार्थ :– जब मैं निश्चय से अपने ज्ञान स्वरूप को अनुभव करता हूं तब मेरे रागादिभाव सब नाश हो जाते हैं इसलिये इस जगत में न कोई मेरा शत्रु है, न कोई मेरा मित्र है।

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

भावार्थ :– यह जगत् मेरे सच्चे शुद्ध स्वरूप को देखता ही नही है, इसलिये न मेरा शत्रु हो सकता है न मित्र तथा जो ज्ञानी मेरे शुद्ध स्वरूप को देखता है वह भी मेरा शत्रु या मित्र नहीं हो सकता है।

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥

भावार्थ :– जो कोई परमात्मा है वह मैं ही हूं, तथा जो मैं हूं वही परमात्मा का स्वरूप है, इसलिये मैं ही अपनी आराधना करता हूं और किसकी सेवा करूं यही सत्य बात है।

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।
अन्तः पश्यामि सानंदं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥

भावार्थ :– जो कुछ मैं इन्द्रियों से देखता हूं वह मेरा नहीं है । जब मैं इन्द्रियों को रोककर अपने भीतर देखता हूं तो वहां परमानन्दमयी उत्तम ज्ञानज्योति को पाता हूं, वही मैं हूं ।

नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव च ।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

भावार्थ :– यह आत्मा आप ही अपने को संसार में भ्रमण कराता है व आप ही अपने को निर्वाण में ले जाता है । इसलिये परमार्थ से आत्मा का गुरु आत्मा ही है और कोई गुरु या रक्षक नहीं है ।

(६) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं :–

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलम् ।
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम् ।
विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत् ।
त्यजत भजत धर्म्मं निर्म्मलं शर्म्मकामाः ॥६०॥

भावार्थ :– यह तेरा घर तुझे मरणादि आपत्तियों से बचा नहीं सकता, ये तेरे बान्धव तेरे को स्नेह पाश में बांधने वाले हैं, दीर्घ काल की परिचित स्त्री आपदाओं के घर का द्वार है; ये तेरे पुत्र हैं, वे भी तेरी आत्मा के शत्रु हैं । इन सर्व से मोह छोड़ । यदि तू सहज सुख को चाहता है तो निर्मल धर्म का सेवन कर ।

तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशाग्निसंधुक्षणैः ।
सम्बन्धेन किमङ्गशश्वदशुभैः सम्बन्धिभिर्बन्धुभिः ॥
किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा ।
देहिन् याहि सुखाय ते सममभुं मा गाः प्रमादं मुधा ॥६१॥

भावार्थ :– हे प्राणी ! तेरे पास यह जो धन है सो आशारूपी अग्नि को बढ़ाने के लिये ईंधन के समान है, तथा हे भव्य ! तेरे सम्बन्धी बन्धुओं से तुझे क्या लाभ ? जिनके निमित्त से सदा तू अशुभ में प्रवृत्ति करता है,

तथा यह देह रूपी घर, मोहरूपी सर्प का बिल है, इससे भी क्या ? तू इन सबसे स्नेह छोड़ और एक समताभाव को भज उसी से तुझे सुख होगा, प्रमाद मत कर ।

अकिञ्चनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥११०॥

भावार्थ :— मेरा कोई नहीं है, मैं अकेला हूं, ऐसी भावना कर, इसी से तू तीन लोक का स्वामी हो जायेगा । यह योगियों के जानने लायक भेद तुझे कहा गया है । इसी से परमात्मा का स्वरूप प्रगट होता है ।

ममेवमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता ।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत् का सा तपः फले ॥२४२॥

भावार्थ :— यह शरीर मेरा है और मैं इसका, यह प्रीति ईति या अकस्मात् टिड्डीदल, मृषकदल आदि के समान उपद्रव की करने वाली है । जब तक शरीर में आत्मा मोहित है तब तक तप के फल की आशा क्या ? अर्थात् तब तक तप से मोक्ष पाने की आशा करनी वृथा है ।

मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे ।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽन्योऽहमस्ति न ॥२४३॥

भावार्थ :-- भ्रम बुद्धि के होने पर तूने अपने को शरीर रूप जाना और कायादिक को अपना स्वभाव जाना । इस विपरीत ज्ञान से तू संसार रूपी समुद्र में भ्रमण करता रहा । अब तू यह जान कि मैं पर पदार्थ नही हूं, मैं मैं ही हूं, पर पर ही हैं, उनमें मैं नहीं, मैं मै नही हू, मै आत्मा हू और सब मुझसे भिन्न है ।

क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनोः ।
भेद एव यदि भेदवत्स्वङलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा ॥२५३॥

भावार्थ :— जिस देह के साथ इस जीव का दूध पानी के समान सम्बन्ध चला आ रहा है वह देह ही जब जीव से भिन्न है तब और बाहरी चेतन व अचेतन पदार्थों की क्या कथा ? वे तो अपने से भिन्न ही हैं । तैजस व कार्मण शरीर भी जीव का नहीं है ।

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वाऽनलसंगमात् ।
इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः ॥२५४॥

भावार्थ :– ज्ञानी विचारता है कि मैं इस देह के संयोग से उसी तरह दुःखी रहा जैसे अग्नि के संयोग से पानी संतापित होता है। इसीलिये कल्याण के अर्थी साधुओं ने देह का ममत्व छोड़कर शांतिलाभ की।

अजातोऽनश्वरोऽमूर्त्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः ।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः ॥२६६॥

भावार्थ :– यह आत्मा कभी पैदा हुआ नहीं इससे अजन्मा है, कभी नाश नही होगा इससे अविनाशी है, अमूर्तिक है, अपने स्वभावों का कर्ता व अपने सहज सुख का भोक्ता है, परम सुखी है, ज्ञानी है, शरीर मात्र आकार-धारी है, कर्ममलों से रहित लोकाग्र जाकर ठहरता है, निश्चल है तथा यही प्रभु है, परमात्मा है।

(१०) श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासन में कहते हैं :–

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः ।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ॥१४७॥

भावार्थ :– मैं चैतन्य हूँ, लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी हूँ, अमूर्तिक हूँ, शुद्धात्मा हूँ, सिद्ध समान हूँ व ज्ञानदर्शन लक्षणधारी हूँ।

नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः ।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योन्यस्याहमेव मे ॥१४८॥

भावार्थ :– अन्य मैं नहीं हूँ, मैं अन्य नहीं हूँ, न मैं अन्य का हूँ, न अन्य मेरा है। अन्य है सो अन्य है, मैं मैं हूँ, अन्य अन्य का है, मैं ही मेरा हूँ। भावार्थ :– आत्मा सबसे भिन्न है।

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनं ।
अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षय ॥१४९॥

भावार्थ :– शरीर जुदा है, मैं जुदा हूँ, मैं चेतन हूँ, शरीर अचेतन जड़ है। शरीर अनेक परमाणुओं से रचा गया है, मैं एक अखण्ड हूँ। शरीर नाशवन्त है, मैं अविनाशी हूँ।

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः ।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्तः ॥१५३॥

भावार्थ :– मैं सत् द्रव्य हूँ, चेतन स्वरूप हूँ, ज्ञाता दृष्टा हूँ, सदा ही उदासीन हूँ। अपने प्रति देह के आकार हूँ, तो भी आकाश के समान देह से जुदा हूँ।

(११) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहते है :–

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगंधरसवर्णैः ।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥९॥

भावार्थ :– यह आत्मा चैतन्य स्वरूप है, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित ज्ञानादि गुण व उनकी शुद्ध पर्यायों को रखने वाला है। स्वभाव से ध्रुव है, परिणमन की अपेक्षा उत्पाद व्यय स्वरूप है।

(१२) श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्वार्थसार में कहते हैं :–

कस्याऽपत्यं पिता कस्य कस्याम्बा कस्य गेहिनी ।
एक एव भवाम्भोधौ जीवो भ्रमति दुस्तरे ॥३४-६॥

भावार्थ :– किसका पुत्र, किसका पिता, किसकी माता, किसकी स्त्री? यह जीव इस दुस्तर संसार - समुद्र में अकेला ही भ्रमता रहता है।

अन्यः सचेतनो जीवो वपुरन्यदचेतनम् ।
हा तथापि न मन्यन्ते नानात्वमनयोर्जनाः ॥३५-६॥

भावार्थ :– यह जीव सचेतन है, शरीर से जुदा है, शरीर अचेतन है, जीव से जुदा है। खेद है कि तो भी मानव इन दोनों के भेद को नहीं समझते हैं।

(१३) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसारकलश में कहते हैं :–

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकं ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०-१॥

भावार्थ :– शुद्ध निश्चय से वास्तव में इस आत्मा का स्वभाव रागादि परभावों से भिन्न है - अपने ज्ञानादि गुणों से पूर्ण है, अनादि अनन्त है, इसमें संकल्पविकल्प के जाल नहीं हैं, यह सदा प्रकाशमान है।

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३-२॥

भावार्थ :– यह जीव चैतन्यशक्ति से सम्पूर्ण भरा हुआ है। इसके सिवाय जितने रागादि भाव हैं वे सब पुद्गल जड़ के रचे हुए हैं।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥५-२॥

भावार्थ :– वर्ण, गन्ध, रसादि व राग मोहादि भाव ये सब इस आत्मा से भिन्न हैं। जब निश्चय से भीतर देखा जाता है तो ये सब नहीं दिखते हैं, एक उत्कृष्ट आत्मा ही दिखता है।

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥६-२॥

भावार्थ :– यह जीव अनादि अनन्त है, स्वभाव से निश्चल है, स्वानुभव-गम्य है, प्रगट है, चैतन्यरूप है, अपने में ही पूर्ण उद्योतरूप है।

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेः तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यान्तरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२२-१०॥

भावार्थ :– शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से देखा जावे तो तत्व का यह स्वरूप है कि एक द्रव्य के भीतर दूसरा द्रव्य कदापि भी नहीं झलकता है। ज्ञान जो पदार्थों को जानता है वह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का प्रकाश है, फिर क्यों मूढ़ जन परद्रव्य के साथ रगाभाव करते हुए आकुल व्याकुल होकर अपने स्वरूप से भ्रष्ट होते है।

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत् पृथक् वस्तुता—
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥४२-१०॥

भावार्थ :– आत्मा का स्वभाव जो ज्ञान है वह अन्य द्रव्यों में नही है। आत्मारूपी द्रव्य में निश्चल ठहरा है, सर्व अन्य पदार्थों से पृथक् है। इसमें न

किसी का ग्रहण है, न किसी का त्याग है। यह शुद्ध वीतराग है, जैसा है वैसा ही स्थित है, अनादि व अनन्त है। प्रकाशमान शुद्ध ज्ञान का समूह यह आत्मा अपनी महिमा को लिये हुये नित्य उदय रहता है।

(१४) श्री देवसेनाचार्य तत्वसार में कहते हैं :-

दंसणणाणपहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो ।
सगहियदेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा ॥१७॥

भावार्थ :- जो दर्शन व ज्ञानमयी है, असंख्यातप्रदेशी है, अमूर्तिक है, अपनी देह प्रमाण आकारधारी है उसे ही आत्मा जानो।

जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेसाओ ।
जाइजरामरणं विय णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥१६॥

भावार्थ :- जिसके न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न शल्य है, न लेश्याएं हैं, न जन्म है, न जरा है, न मरण है वही जो निरंजन है सो मैं हूँ ऐसा कहा गया है।

फासरसरूवगंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो ।
सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥२१॥

भावार्थ :- जिसके स्पर्श, रस, वर्ण, गंध, शब्दादि नही हैं, जो शुद्ध चैतन्यमय पदार्थ है वही निरंजन है, ऐसा ही मैं हूँ यह कहा गया है।

मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो ।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥२६॥

भावार्थ :- जो मलरहित है, ज्ञानमयी है, परम ब्रह्म स्वरूप है व सिद्ध गति में विराजमान है, वैसा ही आत्मा इस देह में है ऐसा जानना चाहिये।

णोकम्मकम्मरहिओ केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो ।
सोहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालम्बो ॥२७॥
सिद्धोहं सुद्धोहं अणंतणाणाइगुणसमिद्धोहं ।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य ॥२८॥

भावार्थ :- यह आत्मा निश्चय से नौकर्म तथा कर्म रहित है, केवल-ज्ञानादि गुणों से पूर्ण है, शुद्ध है, सिद्ध है, अविनाशी है, एक अकेला है,

परालम्ब रहित है वैसा ही मैं हूँ - मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, अनन्त ज्ञानादि गुणों से पूर्ण हूँ, शरीर प्रमाण आकारधारी हूँ, अविनाशी हूँ, असंख्यातप्रदेशी हूँ तथा अमूर्तिक हूँ ।

(१५) श्री आचार्य योगीन्दुदेव योगसार में कहते हैं :-

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु ।
इउ जाणेविणु जोइआ अण्ण म करहु वियप्पु ।।२२।।

भावार्थ :- जो परमात्मा है वही मैं हूँ, जो मैं हूँ वही परमात्मा हूँ । अर्थात् मेरा स्वभाव परमात्मारूप है । हे योगी ! ऐसा जानकर और विकल्प न कर ।

सुद्धपएसह पूरियउ लोयायासपमाणु ।
सो अप्पा अणुदिण मुणहु पावहु लहु णिव्वाणु ।।२३।।

भावार्थ :- यह आत्मा शुद्ध प्रदेशों से पूर्ण है, लोकाकाश प्रमाण है, इसी आत्मा का रात - दिन मनन करो, शीघ्र निर्वाण का लाभ होगा ।

सुद्धु सचेयण बुद्ध जिणु केवलणाणसहाउ ।
सो अप्पा अणुदिण मुणहु जइ चाहउ सिव लाहु ।।२६।।

भावार्थ :- आत्मा शुद्ध है, चैतन्यरूप है, बुद्ध है, जिन है, केवलज्ञान स्वभाव है, उसी का रात - दिन मनन करो जो मोक्ष का लाभ लेना चाहते हो ।

अप्पा दंसणु णाण मुणी अप्पा चरणु वियाणि ।
अप्पा संजम सील तऊ अप्पा पच्चक्खाणि ।।८०।।

भावार्थ :- आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा को ही चरित्र जानो, आत्मा संयम है, शील है, आत्मा ही त्याग है ।

जो अप्पा सुद्ध वि मुणई असुइसरीरविभिण्णु ।
सो जाणइ सच्छइ सयलु सासयसुक्खहलीणु ।।६४।।

भावार्थ :- जो अपने आत्मा को इस अशुचि शरीर से भिन्न शुद्ध व अविनाशी सुख में लीन अनुभव करता है व सर्व शास्त्रों को जानता है ।

(१६) श्री अमितगति आचार्य सामायिक पाठ में कहते हैं :-

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था, भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थः सदा त्वं भव भद्रमुक्त्यै ।।२४।।

भावार्थ :- कोई भी मेरे आत्मा से बाहर के पदार्थ मेरे नहीं हैं, न मैं उनका कदापि होता हूँ, ऐसा निश्चय करके सर्व बाहरी पदार्थों से ममता त्याग कर हे भद्र ! सदा तू अपने स्वरूप में स्थिर हो जिससे कि मुक्ति का लाभ हो ।

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥२६॥

भावार्थ :- मेरा आत्मा सदा ही एक अविनाशी निर्मल ज्ञान स्वभावी है, अन्य रागादि भाव सब मेरे स्वभाव से बाहर हैं, क्षणिक हैं व अपने-अपने कर्मों के उदय से हुये हैं ।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः, कुतो हि तिष्ठंति शरीरमध्ये ॥२७॥

भावार्थ :- जिस आत्मा की एकता इस शरीर के साथ ही नहीं है तो फिर पुत्र, स्त्री, मित्र आदि के साथ कैसे होगी, जिनका सम्बन्ध शरीर से है । ऊपर का चमड़ा अलग कर देने पर रोमों के छिद्र शरीर में कैसे पाये जा सकते हैं ? रोमछिद्र चमड़े के आश्रय हैं ।

संयोगतो दुःखमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥२८॥

भावार्थ :- इस शरीर के संयोग से ही शरीरधारी, संसाररूपी वन में अनेक दुःखों को भोगता है इसलिये जो अपने आत्मा की मुक्ति चाहता है उसको उचित है कि वह मन, वचन, काय से इस शरीर का ममत्व त्याग करे ।

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं संसारकांतारनिपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२९॥

भावार्थ :- सर्व ही मन के विकल्पों को दूर करके जो संसाररूपी वन में भ्रमण कराने के कारण हैं, सबसे भिन्न अपने आत्मा को निश्चय करके तू अपने ही परमात्म स्वरूप में लय हो ।

(१७) श्री अमितगति आचार्य तत्वभावना में कहते हैं :-

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भावः परो विद्यते ।
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्मसमितिं ज्ञानेक्षणालङ्कृतिम् ॥

यस्यैषा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्त्वस्थितेः ।
बंधस्तस्य न यंत्रितं त्रिभुवनं सांसारिकैर्बन्धनैः ॥११॥

भावार्थ :– सर्व भावकर्म, द्रव्यकर्म, नौकर्म रहित व ज्ञान दर्शन गुणों से विभूषित आत्मा को छोड़कर न मैं किसी का हूँ, न कोई परभाव मेरा है। जिस तत्वज्ञानी के चित्त में ऐसी बुद्धि है उसका बंध सांसारिक बंधनों से तीन भुवन में कहीं नहीं होता है।

चित्रोपायविवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो ।
भावाः पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः ॥
तत्र स्वं निजकर्मपूर्ववशगाः केषां भवन्ति स्फुटं ।
विज्ञायेति मनीषिणा निजमतिः कार्या सदात्मस्थिता ॥१२॥

भावार्थ :– अनेक प्रकार के उपायों से बढ़ाने पर भी यह देह भी जहां इस आत्मा की नही हो सकती तो पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्र, जमाई, बन्धु आदि जो अपने-अपने पूर्व कर्म के वश आये हैं व जायेंगे, अपने कैसे हो सकते हैं ? ऐसा जानकर बुद्धिमान को अपनी बुद्धि सदा ही आत्मा के हित में करनी योग्य है।

माता मे मम गेहिनी मम गृहं मे बांधवा मेऽग्रजाः ।
तातो मे मम संपदो मम सुखं मे सज्जना मे जनाः ॥
इत्थं घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थितिः ।
शर्माधानविधानतः स्वहिततः प्राणी सनीस्त्रस्यते ॥२५॥

भावार्थ :– मेरी माता है, मेरी स्त्री है, मेरा घर है, मेरे बन्धु हैं, मेरा भाई है, मेरा पिता है, मेरी सम्पदा है, मेरा सुख है, मेरे सज्जन हैं, मेरे नौकर हैं, इस तरह घोर ममता के वश से तत्वज्ञान में ठहरने को असमर्थ होकर परम सुख देने वाले आत्महित से यह प्राणी दूर होता चला जाता है।

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा, न कांता न माता न भृत्या न भूपाः ।
यमालिंगितुं रक्षितुं संति शक्ता, विचिंत्येति कार्यं निजं कार्यमार्यैः ॥३३॥

भावार्थ :– जिस शरीर को आत्मा से जुदा होते हुये न तो वैद्य बचा सकते हैं, न पुत्र, न ब्राह्मण, न इन्द्र, न स्त्री, न माता, न नौकर, न राजागण।

ऐसा जानकर आर्य पुरुषों को आत्मा के हित को करना चाहिये, शरीर के मोह में आत्महित को न भूलना चाहिये ।

विचित्रैरुपायैः सदा पाल्यमानः, स्वकीयो न देहः समं यत्र याति ।
कथं बाह्यभूतानि वित्तानि तत्र, प्रबुद्धयेति कृत्यो न कुत्रापि मोहः ।।३४।।

भावार्थ :– नाना उपायों से सदा पालते रहते भी जहां यह अपना देह साथ नहीं जा सकता तब बाहरी पदार्थ किस तरह हमारे हो सकते हैं ? ऐसा जानकर किसी भी पर पदार्थ में मोह करना उचित नहीं है ।

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाधिकश्रीरहं ।
मान्योहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणीः ।।
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनाम् ।
शाश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैश्रेयसी श्रीर्यतः ।।६२।।

भावार्थ :– मैं शूर हूँ, बुद्धिमान हूँ, चतुर हूँ, सबसे अधिक धनवान हूँ, मैं मान्य हूँ, मैं गुणवान हूँ, मैं समर्थ हूँ, मैं सबसे बड़ा मुखिया हूँ । हे आत्मन ! तू इस पापकारी कल्पना को छोड़कर सदा ही अपने निर्मल आत्म तत्व का ध्यान कर जिससे मोक्ष - लक्ष्मी का लाभ हो ।

गौरो रूपधरो दृढः परिवृढः स्थूलः कृशः कर्कशः ।
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभूः षंढः पुमानंगना ।।
मिथ्यात्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढो विबुध्यात्मनो ।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यपायच्युतम् ।।७०।।

भावार्थ :– मैं गोरा हूँ, मैं रूपवान हूँ, दृढ़ हूँ, बलवान हूँ, मोटा हूँ, दुबला हूँ, कठोर हूँ, देव हूँ, मनुष्य हूँ, पशु हूँ, नारकी हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, नपुंसक हूँ । हे मूढ़ ! तू इस झूँठी कल्पनाओं को करके अपने आत्मा को नहीं समझता है, जो नित्य ज्ञान स्वभावधारी है, सर्व मल रहित है व सर्व आपत्तियों से बाहर है ।

सचिवमंत्रिपदातिपुरोहितास्त्रिदशखेचरदैत्यपुरंदराः ।
यमभटेन पुरस्कृतमातुरं भवभृतं प्रभवंति न रक्षितुम् ।।११२।।

भावार्थ :– जब मरण किसी संसारी आतुर प्राणी पर आता है तब मन्त्री, पैदल सिपाही, पुरोहित, देव, विद्याधर, असुर, इन्द्र आदि कोई भी रक्षा नहीं कर सकते हैं ।

विविधसंग्रहकल्मषमंगिनो विदधतेंगकुटुम्बकहेतवे ।
अनुभवंत्यसुखं पुनरेकका नरकवासमुपेत्य सुदुस्सहम् ॥११४॥

भावार्थ :– प्राणी शरीर व कुटुम्ब के लिए नाना प्रकार के पापों को बांधता है परन्तु उनका फल उस अकेले को ही नरक में जाकर असहनीय दुःख भोगना पड़ता है ।

(१८) श्रीचन्द्रजी वैराग्यमणिमाला में कहते हैं :–

एको नरके याति वराकः स्वर्गे गच्छति शुभसविवेकः ।
राजाप्येकः स्याच्च धनेशः एकः स्यादविवेको दासः ॥६॥
एको रोगी शोकी एको दुःखविहीनो दुःखी एकः ।
व्यवहारी च दरिद्री एक एकाकी भ्रमतीह वराकः ॥१०॥

भावार्थ :– यह जीव अकेला ही बिचारा नर्क में जाता है, कभी पुण्य - बांध के अकेला ही स्वर्ग में जाता है, अकेला ही कभी राजा, कभी धनिक, कभी अज्ञानी व दास हो जाता है, अकेला ही रोगी, शोकी होता है । अकेला ही सुखी व दुःखी होता है । अकेला ही व्यवहारी व दरिद्र होता है । इस तरह से बिचारा अकेला ही भ्रमण करता रहता है ।

(१६) श्री आचार्य कुलभद्र सारसमुच्चय में कहते हैं :–

ज्ञानदर्शनसम्पन्न आत्मा चैको ध्रुवो मम ।
शेषा भावाश्च मे बाह्या सर्वे संयोगलक्षणाः ॥२४६॥
संयोगेमूलजीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात्संयोगसम्बंधं त्रिविधेन परित्यजेत ॥२५०॥

भावार्थ :– मेरी आत्मा ज्ञानदर्शन स्वभाव से पूर्ण है, एक है, अविनाशी है । और सर्व रागादि भाव मेरे स्वभाव से बाहर कर्म के संयोग से हुए हैं । शरीर और कर्म के संयोग से जीव बराबर दुःख उठा रहे हैं, इसलिये इस संयोग सम्बन्ध को मन, वचन, काय से मैं त्यागता हूँ ।

(२०) श्री पद्मनंदि मुनि एकत्वसप्तति में कहते हैं :–

अजमेकं परं शान्तं सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः ॥१८॥

स एवामृतमार्गस्थ स: एवामृतमश्नुते ।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः ॥१६॥

भावार्थ :— जो कोई अपने आत्मा को अजन्मा, एक अकेला, परमपदार्थ, शांत स्वरूप, सर्व रागादि उपाधि से रहित, आत्मा ही के द्वारा जानकर आत्मा में स्थिर तिष्ठता है वही मोक्षमार्ग में चलने वाला है, वही आनन्दरूपी अमृत को भोगता है, वही पूजनीय, वही जगत का स्वामी, वही प्रभु, वही ईश्वर है ।

विकल्पोर्मिभरत्यक्तः शान्तः कैवल्यमाश्रितः ।
कर्माभावे भवेदात्मा वाताभावे समुद्रवत् ॥२६॥

भावार्थ :— यह आत्मा कर्मों के छूट जाने पर सर्व विकल्परूपी तरंगो से रहित, शांत व अपने केवलज्ञानादि स्वभाव में स्थिर ऐसा हो जाता है जैसा पवन के संचार बिना समुद्र स्थिर रहता है ।

संयोगेन यदा यातं मत्तस्तत्सकलं परम् ।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोऽहमिति मे मतिः ॥२७॥

भावार्थ :— जो जो वस्तु या अवस्था परके संयोग से आई है वह सब मुझसे भिन्न है उस सबको त्याग देने से मैं मुक्त ही हूँ, ऐसी मेरी बुद्धि है, ऐसा ज्ञानी विचारता है ।

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकारं परं महः ।
विकारकारिभिर्मेघैर्न विकारि नभोभवेत् ॥३५॥

भावार्थ :— क्रोधादि कर्मो के संयोग होने पर भी वह उत्कृष्ट आत्म-ज्योति विकारी नहीं होती है, जैसे विकार करने वाले मेघों से आकाश विकारी नहीं होता है, ऐसा निश्चय आत्मा का स्वरूप है ।

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम् ।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः ॥३६॥

भावार्थ :— शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा है, सो ही उत्कृष्ट ज्ञान है, सो ही पवित्र सम्यग्दर्शन है, सो ही एक निर्मल चारित्र है, वही एक निर्मल तप है ।

नमस्यञ्च तदेवैकं तदेवैकञ्च मंगलम् ।
उत्तमञ्च तदेवैकं तदेव शरणं सताम् ॥४०॥

भावार्थ :— वही चैतन्य स्वरूप आत्मा नमस्कार करने योग्य है, वही एक मंगल है, वही एक उत्तम पदार्थ है, सज्जनों के लिए वही एक शरण का स्थान है ।

तदेवैकं परं तत्वं तदेवैकं परं पदम् ।
भव्याराध्यं तदेवैकं तदेवैकं परं महः ॥४४॥

भावार्थ :— चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, सो ही एक उत्कृष्ट तत्व है, सो ही एक परम पद है, सो ही भव्य जीवों के द्वारा आराधने योग्य है, सो ही एक परम ज्योति है ।

संसारघोरघर्मेण सदा तप्तस्य देहिनः ।
यन्त्रधारागृहं शान्तं तदेव हिमशीतलम् ॥४७॥

भावार्थ :— संसाररूपी आताप से सदा तप्तायमान प्राणी के लिये वह चिदानंद स्वरूप आत्मा है, सो ही हिमालय के समान शीतल यंत्रधारागृह है अर्थात् फव्वारों का घर है ।

तदेव महती विद्या स्फुरन्मन्त्रस्तदेव हि ।
औषधं तदपि श्रेष्ठं जन्मव्याधिविनाशनम् ॥४६॥

भावार्थ :— चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, सो ही महान विद्या है, सो ही प्रकाशमान मन्त्र है । तथा वही संसार रूपी रोग को नाश करने वाली औषधि है ।

अहं चैतन्यमेवैकं नान्यत्किमपि जातुचित् ।
संबन्धोऽपि न केनापि दृढपक्षो ममेदृशः ॥५४॥

भावार्थ :— ज्ञानी विचारता है कि मैं एक चैतन्य स्वरूप हूँ, और कोई कदापि नहीं हूँ । मेरा किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, मेरा ऐसा दृढ़ निश्चय है ।

शरीराद्यबहिश्चिन्ताचक्रसम्पर्कवर्जितम् ।
विशुद्धात्मस्थितं चित्तं कुर्वन्नास्ते निरन्तरम् ॥५५॥

भावार्थ :— ज्ञानी शरीरादि बाहरी पदार्थों की चिन्ता के सम्बन्ध से रहित होकर शुद्धात्मा में चित्त को स्थिर करता हुआ निरंतर विराजता है ।

(२१) श्री पद्मनंदि मुनिश्री उपासक संस्कार में कहते हैं :--

स्वजनो वा परो वापि नो कश्चित्परमार्थतः ।
केवलं स्वार्जित कर्म जीवेनैकेन भुज्यते ॥४८॥

भावार्थ :-- इस जीव का साथी न तो कोई स्वजन है, न परजन है। अपने बांधे हुए कर्म के फल को यह जीव अकेला ही भोगता है।

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः ।
भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा ॥४६॥

भावार्थ :-- दूध और पानी के समान एक साथ मिले हुए शरीर और आत्मा में ही जब भेद है तब अन्य स्त्री आदि की तो बात ही क्या है, वे तो जुदे हैं ही।

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः पृथग्भूतं चिदात्मकम् ।
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम् ॥६१॥

भावार्थ :-- ज्ञानी को उचित है कि वह आत्मा के स्वरूप की ऐसी भावना करे कि वह आठ कर्मों से व आठ कर्म के कार्यो से जुदा है, चैतन्यमयी है। नित्य है व नित्य आनन्दमयी पद को देने वाला है।

(२२) मुनि श्री पद्मनंदि सद्बोधचन्द्रोदय में कहते हैं :--

कर्मबंधकलितोप्यबंधनो रागद्वेषमलिनोऽपि निर्मलः ।
देहवानपि च देहवर्जितश्चित्रमेतदखिलं चिदात्मनः ॥१३॥

भावार्थ :-- यह आत्मा कर्मबन्ध सहित होने पर भी कर्म बन्ध से रहित है, रागद्वेष से मलीन होने पर भी निर्मल है, देहवान होने पर भी देह रहित है आत्मा का सर्व महात्म्य आश्चर्यकारी है।

व्याधिनाङ्गमभिभूयते परं तद्गतोऽपि न पुनश्चिदात्मकः ।
उच्छ्रितेन गृहमेव दह्यते वह्निना गगनं तदाश्रितम् ॥२४॥

भावार्थ :-- रोगों से शरीर को पीड़ा होती है परन्तु उस शरीर में प्रविष्ट चैतन्य प्रभु को पीड़ा नहीं होती है। जैसे अग्नि की ज्वाला से घर जलता है परन्तु घर के भीतर का आकाश नहीं जलता है। आत्मा आकाश के समान निर्लेप तथा अमूर्तिक है, जल नहीं सकता है।

बोधरूपमखिलैरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः।
नान्यदल्पमपि तत्त्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः ॥२५॥

भावार्थ :– सर्व रागादि उपाधियों से रहित जो कोई एक ज्ञान स्वरूप है सो ही हमारा है, और कुछ भी परमाणु मात्र भी हमारा नहीं है। मोक्ष का कारण यही एक तत्व है, यही योगियों का निश्चय मत है।

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतं स्नानमत्र कुरुतोत्तमं बुधाः।
यन्न यात्यपरतीर्थकोटिभिः क्षालयत्यपि मलं तदन्तरम् ॥२८॥

भावार्थ :– आत्मज्ञान ही एक पवित्र अद्भुत तीर्थ है, इसी तीर्थ रूपी नदी में पंडितजन उत्तम स्नान करो। जो अंतरंग का कर्म मल करोड़ों नदियों के स्नान से नाश नहीं होता है, उसे यह तीर्थ धो देता है।

(२३) मुनि श्री पद्मनंदि निश्चयपंचाशत् में कहते हैं :–

व्याधिस्तुदति शरीरं न माममूर्तं विशुद्धबोधमयम्।
अग्निर्दहति कुटीरं न कुटीरासक्तमाकाशम् ॥२३॥

भावार्थ :– रोग शरीर को पीड़ा करता है, उससे अमूर्तिक व शुद्ध ज्ञानमयी आत्मारूप जो मै हूँ सो मुझे पीड़ा नही होती है। आग कुटी को जलाती है, परन्तु कुटी के भीतर के आकाश को नहीं जला सकती है। आत्मा आकाश के समान अमूर्तिक व निर्मल है।

नैवात्मनो विकारः क्रोधादिः किन्तु कर्मसंबन्धनात्।
स्फटिकमणेरिव रक्तत्वमाश्रितात्पुष्पतो रक्तात् ॥२५॥

भावार्थ :– निश्चय से क्रोध आदि आत्मा के स्वाभाविक विकार नहीं हैं, परन्तु कर्म के उदय से सम्बन्ध से विकार है जैसे स्फटिक मणि के नीचे लाल पुष्प है इससे वह लाल दिखती है। आत्मा तो स्फटिक मणि के समान स्वच्छ ही है।

कुर्यात् कर्म विकल्पं किं मम तेनातिशुद्धरूपस्य।
मुखसंजोगजविकृतेर्न विकारी दर्पणो भवति ॥२६॥

भावार्थ :– कर्मों के उदय से अनेक रागादि विकल्प होते हैं, परन्तु निश्चय से मै तो परम शुद्ध हूँ, मैं विकारी नहीं होता हूँ, जैसे विकारी मुख का दृश्य दर्पण में देखने पर भी दर्पण स्वयं विकारी नही होता है।

आस्तां बहिरुपधिचयस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरम् ।
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किञ्चित् ॥२७॥

भावार्थ :– कर्म के उदय से उत्पन्न बाहरी उपाधि की बात तो दूर ही रहे। शरीर, वचन और मन के विकल्पों का समूह भी मुझसे भिन्न है। क्योंकि मैं तो शुद्ध हूँ, मेरा शरीरादि कैसे हो सकता है।

कर्म परं तत्कार्यं सुखमसुखं वा तदेव परमेव ।
तस्मिन् हर्षविषादौ मोही विदधाति खलु नान्यः ॥२८॥

भावार्थ :– कर्म भिन्न हैं तथा कर्म के कार्य सुख तथा दुःख भी भिन्न हैं, इनके होने पर मोही हर्ष तथा विषाद करता है, अन्य कोई नही करता है।

नयनिक्षेपप्रमितिप्रभृतिविकल्पोज्झितं परं शान्तं ।
शुद्धानुभूतिगोचरमहमेकं धाम चिद्रूपम् ॥५४॥

भावार्थ :– मैं नय, निक्षेप इत्यादि विकल्पों से रहित परम शांत हूँ, मैं चैतन्य रूप एक तेज हूँ, सो शुद्ध अनुभूति से ही अनुभव करने योग्य हूँ।

(२४) आचार्य श्री शुभचन्द्र ज्ञानार्णव में कहते हैं :–

महाव्यसनसंकीर्णे दुःखज्वलनदीपिते ।
एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले ॥१-४॥

भावार्थ :– महा आपदाओं से भरे हुए, दुःख रूपी अग्नि से प्रज्वलित और भयानक ऐसे संसार रूपी मरुस्थल (रेती के जंगल) में यह जीव अकेला ही भ्रमण करता रहता है।

स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्तं फलं भोक्तुं शुभाशुभम् ।
शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा ॥२-४॥

भावार्थ :– इस ससार में यह आत्मा अकेला ही तो अपने कर्मों के अनुसार सुख दुःख रूप फल को भोगता है और अकेला ही सर्व गतियों में एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करता है।

संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणेऽथ वा ।
सुखदुःखविधौ वास्य न सखाऽन्योऽस्ति देहिनः ॥४-४॥

भावार्थ :– इस प्राणी के संयोग में, वियोग में, जन्म में व मरण में, सुख तथा दुःख भोगने में कोई भी मित्र साथी नहीं है, अकेले ही को भोगना पड़ता है ।

अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं लुप्तबोधादिलोचनः ।
भ्रमत्यविरतं जीव एकाकी विधिवञ्चितः ॥८—४॥

भावार्थ :– यह जीव अपने स्वरूप को न जानता हुआ व ज्ञानादि लोचन को बंद किये हुए अपने अज्ञान से कर्मों से ठगाया हुआ एकाकी दीर्घकाल से भ्रमण कर रहा है ।

एकः स्वर्गी भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोजभृङ्गः ।
एकः श्वाभ्रं पिबति कलिलं छिद्यमानः कृपाणैः ॥
एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बध्नाति विद्वान् ।
एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥११—४॥

भावार्थ :– यह जीव अकेला ही स्वर्ग में जाकर देव होता है, और स्त्री के मुख-कमल में भ्रमरवत् आसक्त हो जाता है, व अकेला ही नर्क में जाकर तलवारों से छिन्न - भिन्न किया हुआ नरक के खारे जल को पीता है, व अकेला ही क्रोधादि की अग्नि से जलता हुआ कर्मों को बांधता है, तथा अकेला ही आप विवेकी होकर जब सर्व कर्मों के आवरण को दूर कर देता है, तब मुक्त होकर ज्ञान राज्य को भोगता है ।

अचिच्चिद्रूपयोरैक्यं बन्धं प्रति न वस्तुतः ।
अनादिश्चानयोः श्लेषः स्वर्णकालिकयोरिव ॥२—५॥

भावार्थ :– चैतन्य स्वरूप आप व शरीरादि जड़ की एकता बंध की अपेक्षा से है । निश्चय से देखा जावे तो चेतन अलग है, जड़ अलग है । इन दोनों का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है, जैसे :– खान में सुवर्ण और कालिमा का एकपना है, वस्तुतः कालिमा अलग है सुवर्ण अलग है ।

ये ये सम्बन्धमायाता पदार्थाश्चेतनेतराः ।
ते ते सर्वेऽपि सर्वत्र स्वस्वरूपाद्विलक्षणाः ॥८—५॥

भावार्थ :– इस जगत में जिन चेतन व अचेतन पदार्थों का सम्बन्ध जीव के साथ हुआ है, वे सब ही सर्वत्र अपने - अपने स्वरूप से भिन्न - भिन्न हैं, आत्मा उन सबसे जुदा है ।

मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्णयपथभ्रान्तेन बाह्यानलं
भावान् स्वान् प्रतिपद्य जन्मगहने खिन्नं त्वया प्राक् चिरं ।
संप्रत्यस्तसमस्तविभ्रमभवच्चिद्रू पमेकं परम्
स्वस्थं स्वं प्रविगाह्य सिद्धिवनितावक्त्रं समालोकय ।।१२—५।।

भावार्थ :– हे आत्मन् ! तू इस संसार रूपी गहन वन में मिथ्यादर्शन के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई सर्वथा एकान्तरूप खोटी दृष्टि के मार्ग में भ्रमरूप होता हुआ बाहरी पदार्थों को अपने मान करके सदा दुःखी ही रहा है, परन्तु अब तू सर्व भ्रम को दूर कर दे और अपने ही में ठहरकर उत्कृष्ट चैतन्यरूपी तेज में प्रवेश कर और मुक्तिरूपी स्त्री के मुख को देख ।

अहं न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुषः ।
न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रमः ।।१२-३१।।

भावार्थ :– निश्चय नय से न मैं नारकी हूँ, न तिर्यंच हूँ, न मानव हूँ, व देव हूँ, किन्तु सिद्ध स्वरूप हूँ । ये सब नारकी आदि अवस्थाएँ कर्मों के उदय से होती हैं ।

साकारं निर्गताकारं निष्क्रियं परमाक्षरम् ।
निर्विकल्पं च निष्कम्पं नित्यमानन्दमन्दिरम् ।।२२-३१।।
विश्वरूपमविज्ञातस्वरूपं सर्वदोदितम् ।
कृतकृत्यं शिवं शान्तं निष्कलं करणच्युतम् ।।२३-३१।।
निःशेषभवसम्भूतक्लेशद्रु महुताशनम् ।
शुद्धमत्यन्तनिर्लेपं ज्ञानराज्यप्रतिष्ठितम् ।।२४-३१।।
विशुद्धादर्शसक्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम् ।
ज्योतिर्मयं महावीर्यं परिपूर्णं पुरातनम् ।।२५-३१।।
विशुद्धाष्टगुणोपेतं निर्द्वन्द्वं निर्गतामयम् ।
अप्रमेयं परिच्छिन्नं विश्वतत्त्वव्यवस्थितम् ।।२६-३१।।
यदग्राह्यं बहिर्भावैर्ग्राह्यं चान्तर्मुखैः क्षणात् ।
तत्स्वभावात्मकं साक्षात्स्वरूपं परमात्मनः ।।२७-३१।।

भावार्थ :– आत्मा का निश्चयनय से स्वरूप परमात्मा के समान है । यह ज्ञानाकार है तथा अमूर्तिक है, हलन-चलन क्रिया रहित है, परम अविनाशी है, निर्विकल्प है, निष्कम्प है, नित्य है, आनन्द का मन्दिर है, ज्ञानापेक्षा सर्वव्यापी है,

अज्ञानी जिसके स्वरूप को नहीं जान सकते हैं, सदा उदयरूप है, कृत-कृत्य है, कल्याणरूप है, शांत है, शरीर रहित है, इन्द्रियों से अतीत है, समस्त संसार के क्लेशरूपी वृक्षों को जलाने के लिये अग्नि के समान है, शुद्ध है, कर्मलेप से रहित है, ज्ञानरूपी राज्य में स्थित है, निर्मल दर्पण में प्राप्त प्रतिबिम्ब की तरह प्रभावान है, ज्ञानज्योतिमय है, महावीर्यवान है, पूर्ण है, पुरातन है, सम्यक्तादि आठ गुण (सम्यक्त, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व) सहित है, उपाधि रहित है, रोगादि रहित है, प्रमाण अगोचर है, ज्ञानियों के द्वारा जानने योग्य है, सर्व तत्वों का निश्चय करने वाला है, जो बाहरी इन्द्रियादि से ग्रहण करने योग्य नहीं है, अन्तरंग भावों से क्षण मात्र में ग्रहण योग्य है, ऐसा स्वभाव इस परमात्मस्वरूप आत्मा का है ।

अवाग्गोचरमव्यक्तमनन्तं शब्दवर्जितम् ।
अजं जन्मभ्रमातीतं निर्विकल्पं विचिन्तयेत् ।।३३-३१।।

भावार्थ :– आत्मा का स्वरूप वचनगोचर नहीं है, इन्द्रियों से व मन से प्रगट नहीं है, अनंत है, शब्द रहित है, जन्म रहित है, भव भ्रमण से रहित है, निर्विकल्प है ऐसा विचारे ।

यः स्वयमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतोऽपरम् ।
निर्विकल्पः स विज्ञानी स्वसंवेद्योऽस्मि केवलम् ।।२७–३२।।

भावार्थ :– ज्ञानी ऐसा ध्याता है कि जो अपने को ही ग्रहण करता है तथा जो अपने से पर है उसको नहीं ग्रहण करता है ऐसा मैं आत्मा हूँ, उसमें कोई विकल्प नही है, ज्ञानमय है तथा केवल एक अकेला है, और वह अपने से ही अनुभवगम्य है ।

यो विशुद्धः प्रसिद्धात्मा परं ज्योतिः सनातनः ।
सोऽहं तस्मात्प्रपश्यामि स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम् ।।३५-३२।।

भावार्थ :– जो विशुद्ध है, प्रसिद्ध आत्मा है, परम ज्ञानमय ज्योति स्वरूप है, सनातन है सो ही मैं हूँ, इसलिये इस अविनाशी आत्मा को मैं अपने में ही देखता हूँ ।

जीर्णे रक्ते घने ध्वस्ते नात्मा जीर्णादिकः पटे ।
एवं वपुषि जीर्णादौ नात्मा जीर्णादिकस्तथा ।।७२-३२।।

भावार्थ :– कपड़े को जीर्ण, लाल, मोटा व नष्ट होते हुए कोई अपने को जीर्ण, लाल, मोटा व नष्ट हुआ नहीं मानता है, वैसे ही शरीर को जीर्ण, लाल, मोटा व नष्ट होता हुआ जानकर आत्मा जीर्ण, लाल, मोटा तथा नष्ट नहीं होता है।

अन्तर्दृष्ट्वाऽऽत्मनस्तत्त्वं बहिर्दृष्ट्वा ततस्तनुम् ।
उभयोर्भेदनिष्णातो न स्खलत्याऽऽत्मनिश्चये ॥८३-३२॥

भावार्थ :– ज्ञानी आत्मा के तत्व को भीतर देखकर व शरीर को बाहर देखकर दोनों के भेद में चतुर होकर आत्मा के स्वरूप के निश्चय में कभी शिथिल नहीं होता है।

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम् ।
चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ॥६६-३२॥

भावार्थ :– हे आत्मन् ! तू आत्मा को आत्मा ही में आत्माही के द्वारा जान कि यह अतींद्रिय है, वचनों से कथन योग्य नहीं है, अमूर्तिक है, कल्पना से रहित है, चिदानन्दमयी है।

निखिलभुवनतत्त्वोद्भासनैकप्रदीपं
निरुपधिमधिरूढं निर्भरानन्दकाष्ठाम् ।
परममुनिमनीषोद्भेदपर्यंतभूतं
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ॥१०३-३२॥

भावार्थ :– हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा को अपने आत्मा से ही इस प्रकार शुद्ध अनुभव कर कि यह आत्मा सर्व लोक के यथार्थ स्वरूप को प्रगट करने वाला अद्वितीय प्रदीप है तथा अतिशय सहजानंद की सीमा को उपाधि-रहित प्राप्त हुआ है तथा परम मुनि की बुद्धि से प्रगट उत्कृष्टता पर्यंत जिसका स्वरूप है।

सोऽहं सकलवित्सार्वः सिद्धः साध्यो भवच्युतः ।
परमात्मा परंज्योतिर्विश्वदर्शी निरञ्जनः ॥२८-४०॥

तदासौ निश्चलोऽमूर्त्तो निष्कलङ्को जगद्गुरुः ।
चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः ॥२९-४०॥

भावार्थ :– इस प्रकार अपने को ध्यावे कि मैं ही परमात्मा हूँ, मैं ही सर्वज्ञ हूँ, मैं सर्वव्यापक हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं ही साध्य हूँ, संसार से रहित हूँ, श्रेष्ठ आत्मा हूँ, परम ज्योति स्वरूप हूँ, विश्वदर्शी हूँ, निरंजन हूँ, तब अपना स्वरूप ऐसा झलकता है यह अमूर्तिक है, निष्कलंक है, जगत में श्रेष्ठ है, चैतन्य मात्र है व अतिशय करके ध्यान ध्याता के विकल्प से रहित है।

(२५) भट्टारक श्री ज्ञानभूषण तत्वज्ञानतरंगिणी में कहते हैं :–

नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुद्धचिद्रूपकं विना।
तस्मादन्यत्र मे चिंता वृथा तत्र लयं भजे ।।१०-४।।

भावार्थ :– इस जगत में शुद्ध चैतन्यरूप के सिवाय न तो मैं कुछ हूँ, और न अन्य ही कोई पदार्थ मेरा है, इसलिये शुद्ध चैतन्यरूप को छोड़कर और कुछ चिंता करना वृथा है, इसलिये मैं उसी में लय होता हूँ।

न देहोऽहं न कर्माणि न मनुष्यो द्विजोऽद्विजः।
नैव स्थूलो कृशो नाहं किंतु चिद्रूपलक्षणः ।।५-१०।।

भावार्थ :– न मैं देह हूँ, न आठकर्म हूँ, न मनुष्य हूँ, न ब्राह्मण हूँ, न अब्राह्मण हूँ, न मोटा हूँ, न दुबला हूं, किन्तु मैं तो एक चैतन्य स्वरूप लक्षणधारी हूँ।

(२६) पं० बनारसीदासजी नाटक समयसार में कहते हैं :–

[सवैया इकतीसा]

जहां शुद्ध ज्ञान की कला उद्योग दीसे तहां,
शुद्धता प्रमाण शुद्ध चारित्र को अंश है।
ता कारण ज्ञानी सब जाने ज्ञेय वस्तु मर्म,
वैराग्य विलास धर्म वाको सरवंस है।।
राग द्वेष मोह की दशासों भिन्न रहे याते,
सर्वथा त्रिकाल कर्म जालसो विध्वंस है।
निरुपाधि आतम समाधि में बिराजे ताते,
कहिये प्रगट पूरण परम हंस है।।८१।।

ज्ञान भान भासत प्रमाण ज्ञानवंत कहे,
करुणा निधान अमलान मेरा रूप है।
कालसों अतीत कर्म चालसों अभीत जोग,
जालसों अजीत जाकी महिमा अनूप है।।
मोह को विलास यह जगत को वास मैं तो,
जगत सों शून्य पाप पुण्य अन्ध कूप है।
पाप किने किये कोन करे करि है सो कोन,
क्रिया को विचार सुपने की दोर धूप है।।९१।।
निरभय निराकुल निगम वेद निरभेद,
जाके परकाश में जगत माइयतु है।
रूप रस गंध फास पुदगल को विलास,
तासों उदवंस जाको जस गाइयतु है।।
विग्रहसों विरत परिग्रह सों न्यारो सदा,
जामें जोग निग्रह को चिन्ह पाइयतु है।
सो है ज्ञान परमाण चेतन निधान तांहि,
अविनाशी ईश मानी शीश नाइयतु है।।१०६।।
जैसे निरभेदरूप निहचै अतीत हुतो,
तैसे निरभेद अब भेद कोन कहेगो।
दीसे कर्म रहित सहित सुख समाधान,
पायो निज थान फिर बाहिर न वहेगो।।
कबहूं कदाचि अपनों स्वभाव त्यागि करि,
राग रस राचिके न पर वस्तु गहेगो।
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयो,
याही भांति आगामी अनंतकाल रहेगो।।१०७।।
जबहीते चेतन विभावसों उलटि आप,
समे पाय अपनो स्वभाव गहि लीनो है।
तबहीते जो जो लेने योग्य सो सो सब लीनो,
जो जो त्यागि योग्य सो सो सब छांड़ि दीनो है।।

लेवे को न रही ठोर त्यागवे को नांहि और,
बाकी कहां उवरभोजु कारज नवीनो है।
संग त्यागि अंग त्यागि, वचन तरंग त्यागि,
मन त्यागि बुद्धि त्यागि आपा शुद्ध कीनो है ।।१०८।।

करम के चक्र में फिरत जगवासी जीव,
ह्वै रह्यो बहिर मुख व्यापत विषमता।
अन्तर सुमती आई विमल बड़ाई पाई,
पुद्गलसों प्रीति टूटी छूटी माया ममता ।।
शुद्ध ने निवास कीनो अनुभौ अभ्यास लीनो,
भ्रमभाव छांड़ि दीनो भीनोचित्त समता।
अनादि अनंत अविकलप अचल ऐसो,
पद अवलंबि अवलोके राम रमता ।।१४।।

रूप रसवंत मूरतीक एक पुद्गल,
रूप बिन और यों अजीव द्रव्य द्विधा है।
च्यार हैं अमूरतीक, जीव भी अमूरतीक,
याही तै अमूरतीक वस्तु ध्यान मुधा है ।।
और सों न कबहूं प्रगट आपाआपही सों,
ऐसो थिर चेतन स्वभाव शुद्ध सुधा है।
चेतन को अनुभौ आराधे जग तेई जीव,
जिन्ह के अखंड रस चाखवे की क्षुधा है ।।११।।

निहचे निहारत स्वभाव जांहि आतमा को,
आतमीक धरम परम परकासना।
अतीत अनागत वरतमान काल जाको,
केवल स्वरूप गुण लोकालोक भासना ।।
सांई जीव संसार अवस्था मांहि करम को,
करतासों दीसे लिये भरम उपासना।
यहै महा मोह को पसार यहै मिथ्याचार,
यहै भौ विकार यह व्यवहार बासना ।।४।।

एह छह द्रव्य इनही को है जगतजाल,
तामें पांच जड़ एक चेतन सुजान है।
काहू की अनन्त सत्ता काहूसों न मिले कोई,
एक एक सत्ता में अनन्त गुणगान है ॥
एक एक सत्ता में अनन्त परजाय फिरे,
एक में अनेक इहि भांति परमाण है।
यहै स्यादवाद यह संतन की मरयाद,
यहै सुख पोष यह मोक्ष को निदान है ॥२२॥

[सवैया तेईसा]

चेतन मंडित अंग अखंडित, शुद्ध पवित्र पदारथ मेरो।
राग विरोध विमोह दशा, समझे भ्रम नाटक पुद्गल केरो ॥
भोग संयोग वियोग व्यथा, अवलोकि कहे यह कर्मजु घेरो।
है जिन्हको अनुभौ इह भांति, सदा तिनको परमारथ नेरो ॥१७॥
ज्यों कलधौत सुनार की संगति, भूषण नाम कहे सब कोई।
कंचनता न मिटी तिहि हेतु, वहे फिरि औटिके कचन होई ॥
त्यों यह जीव अजीव संयोग, भयो बहुरूप हुवो नहि दोई।
चेतनता न गई कबहूँ तिहि, कारण ब्रह्म कहावत सोई ॥१२॥
ज्यों नट एक धरै बहु भेष, कला प्रगटै जग कौतुक देखै।
आप लखै अपनी करतूति, वहै नट भिन्न विलोकत पेखै ॥
त्यों घट में नट चेतन राव, विभाव दशा धरि रूप विसेखै।
खोलि सुदृष्टि लखै अपनो पद, दुंद विचार दशा नहि लेखै ॥१४॥

[सवैया इकतीसा]

प्रथम सुदृष्टिसों शरीर रूप कीजे भिन्न,
तामें और सूक्ष्म शरीर भिन्न मानिये।
अष्ट कर्म भाव की उपाधि सोई कीजे भिन्न,
ताहू में सुबुद्धि को विलास भिन्न जानिये ॥

तामें प्रभु चेतन विराजत अखंड रूप,
वहे श्रुत ज्ञान के प्रमाण ठीक आनिये।
वाही को विचार करि वाही में मगन हूजे,
वाको पद साधिवेको ऐसी विधि ठानिये ॥५५॥

अलख अमूरति अरूपी अविनाशी अज,
निराधार निगम निरंजन निरंध है।
नानारूप भेष धरे भेष को न लेश धरे,
चेतन प्रदेश धरे चैतन्य का खंध है॥
मोह धरे मोहीसो बिराजे तामें तोहीसों,
न मोहीसो न तोहीसों न रागी निरबंध है।
ऐसो चिदानंद याहि घट में निकट तेरे,
ताहि तू विचार मन और सब धंध है ॥५४॥

शुद्ध नय निहचै अकेला आप चिदानन्द,
अपने ही गुण परजाय को गहत है।
पूरण विज्ञान घन सो है व्यवहार माहिं,
नव तत्वरूपी पंच द्रव्य में रहत है॥
पंच द्रव्य नव तत्व न्यारे जीव न्यारो लखै,
सम्यक दरश यह और न गहत है।
सम्यक दरश जोई आतम सरूप सोई,
मेरे घट प्रगटा बनारसी कहत है ॥७॥

(२७) पं० द्यानतरायजी द्यानतविलास में कहते हैं :--

[सवैया इकतीसा]

चेतना सरूप जीव ज्ञान दृष्टि मैं सदीव,
कुम्भ आन आन घीव त्यौं सरीर सौं जुदा।
तीनलोकमाहिं सार सास्वतो अखण्डधार,
मूरतीककौं निहार नीरकौ बुदंबुदा ॥

सुद्धरूप बुद्धरूप एकरूप आपभूप,
आतमा यही अनूप पर्मजोतिकौ उदा ।
स्वच्छ आपने प्रमानि राग दोष मोह भानि,
भव्यजीव ताहि जानि छांड़ि शोक औ मुदा ।।८१।।

चेतना सहित जीव तिहुँकाल राजत हैं,
ज्ञान दरसन भाव सदा जास लहिए ।
रूप रस गंध फास पुद्गल कौ विलास,
मूरतीक रूपो विनासीक जड़ कहिये ।
याही अनुसार परदर्व कौ ममत्त डारि,
अपनौ सुभाव धारि आपमाहिं रहिए ।
करिए यही इलाज जातें होत आपकाज,
राग दोष मोह भावकौ समाज दहिए ।।६३।।

[सिंहावलोकन]

ज्ञानी जानी ज्ञान में, न मैं वचन मन काय ।
कायम परमारथविषै, विषै-रीति बिसराय ।।
बिषै रीति विसराय, राय चेतना विचारै ।
चारै क्रोध विसार, सार समता विसतारै ।।
तारै औरनि आप, आपकी कौन कहानी ।
हानी ममता बुद्धि, बुद्धिअनुभौतै ग्यानी ।।६।।

सोहं सोहं होत नित, सांस उसासमंझार ।
ताकौ अरथ विचारियै, तीन लोक में सार ।।
तीन लोक में सार, धार सिव खेत निवासी ।
अष्ट कर्म सौं रहित, सहित गुण अष्टविलासी ।।
जैसौ तैसौ आप, थाप निहचै तजि सोहं ।
अजपा-जाप संभार, सार सुख सोहं सोहं ।।७।।

दरव करम नौकरमतैं, भाव करमतैं भिन्न ।
विकलप नहीं सुबुद्धकै, सुद्ध चेतना चिन्न ।।

सुद्ध चेतना चिन्न, भिन्न नहीं उदे भोग मैं ।
सुखदुख देह मिलाप, आप सुद्धोपयोग मैं ॥
हीरा पानी माँहि, नाँहि पानी गुण ह्वै कब ।
आग लगै घर जलै, जलै नहीं एक नभदरब ॥८॥
जो जानै सो जीव है, सो मानै सो जीव ।
जो देखै सो जीव है, जीवै जीव सदीव ॥
जीवै जीव सदीव, पीव अनुभौरस प्रानी ।
आनन्द कंद सुबन्द, चन्द पूरन सुखदानी ॥
जो जो दीसै दर्व, सर्व छिनभंगुर सो सो ।
सुख कहि सकै न कोई, होई जाकौं जानै जो ॥९॥
सब घट मैं परमात्मा, सूनी ठोर न कोई ।
बलिहारी वा घट्ट की, जा घट परगट होई ॥
जा घट परगट होई, धोई मिथ्यात महामल ।
पंच महाव्रत धार, सार तप तपै ग्यानबल ॥
केवल जोत उदोत, होत सर्बज्ञ दसा तब ।
देही देवल देव, सेव ठानैं सुर नर सब ॥१०॥
द्यानत चक्री जुगलिये, भवनपती पाताल ।
सुर्गइन्द्र अहमिंद्र सब, अधिक अधिक सुख भाल ॥
अधिक अधिक सुखभाल, काल तिहुँ नंत गुनाकर ।
एकसमै सुख सिद्ध, रिद्ध परमातम पद धर ॥
सो निहचै तू आप, पापविन क्यौं न पिछानत ।
दरस ग्यान थिर थाप आपमें आपसु द्यानत ॥११॥

(२८) भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास में कहते हैं :–

[कवित्त]

ज्ञान में है ध्यान में है वचन प्रमाण में है,
अपने सुथान में है ताहि पहचानिरे ।
उपजै न उपजत मूए न मरत जोई,
उपजन मरन व्योहार ताहि मानिरे ॥

रावसों न रंकसो है पानीसो न पंकसो है,
अति ही अटंकसो है ताहि नीके जानिरे।
अपनी प्रकाश करै अष्टकर्म नाश करै,
ऐसी जाकी रीति 'भैया' ताहि उर आनिरे ॥१३॥

[सवैया इकतीसा]

जैसो वीतराग देव कह्यो है स्वरूपसिद्ध,
तैसो ही स्वरूप मेरो यामें फेर नाहीं है।
अष्ट कर्म भाव की उपाधि मोमें कहूं नाहिं,
अष्ट गुण मेरे सो तौ सदा मोहि पांहि है॥
ज्ञायक स्वभाव मेरो तिहूं काल मेरे पास,
गुण जे अनन्त तेऊ सदा मोहिमाही हैं।
ऐसो है स्वरूप मेरो तिहुं काल सुद्ध रूप,
ज्ञान दृष्टि देखतें न दूजी परछांही हैं॥६॥

[सवैया तेईसा]

केवल रूप महा अति सुन्दर, आपु चिदानंद शुद्ध विराजै।
अन्तरदृष्टि खुलै जब ही तब, आपुही में अपनो पद छाजै॥
सेवक साहिब कोउ नहीं जग, कोहेको खेद करै किहं काजै।
अन्य सहाय न कोउ तिहारै जु, अन्त चल्यो अपनो पद साजै॥३६॥

ए मन मूढ कहा तुम भूले हो, हंस विसार लगे परछाया।
यामें स्वरूप नहीं कछु तेरो जु, व्याधिकी पोट बनाई है काया॥
सम्यक रूप सदा गुण तेरो सु, और बनी सब ही भ्रम माया।
देखत रूप अनूप विराजत, सिद्ध समान जिनन्द बताया॥४७॥

चेतन जीव निहारहु अंतर, ए सब हैं परकी जड़ काया।
इन्द्रकमान ज्यों मेघघटामहिं, शोभत है पै रहै नहिं छाया॥
रैन समै सुपनो जिमि देखतु, प्रात बहे सब झूंठ बताया।
त्यों नदि नाव संयोग मिल्यो तुम, चेतह चित्तमें चेतनराया॥४८॥

सिद्ध समान चिदानन्द जानिके, थापत है घटके उरके बीच ।
वाके गुण सब बाहि लगावत, और गुणहि सब जानत कीच ।।
ज्ञान अनंत विचारत अंतर, राखत है जियके उर सींच ।
ऐसें समकित शुद्ध करतु है, तिनतें होवत मोक्ष नगीच ।।६३।।

[सवैया इकतीसा]

जबै चिदानंद निज रूप को संभार देखे,
कौन हम कौन कर्म कहां को मिलाप है ।
रागद्वेष भ्रम ने अनादि के भ्रमाये हमें,
तातें हम भूल परे लाग्यो पुण्य पाप है ।।
रागद्वेष भ्रम ये सुभाव तो हमारे नाहिं,
हम तो अनंत ज्ञान, भानसो प्रताप है ।
जैसो शिव खेत वसे तैसो ब्रह्म यहां लसै,
तिहूं काल शुद्ध रूप 'भैया' निज आप है ।।६।।

जीव तो अकेलो है त्रिकाल तीनोंलोकमध्य,
ज्ञान पुंज प्राण जाके चेतना सुभाव है ।
असंख्यात परदेश पूरित प्रमान बन्यो,
अपने सहज माहिं आप ठहराव है ।।
रागद्वेष मोह तो सुभाव में न याके कहूं,
यह तो विभाव पर संगति मिलाव है ।
आतम सुभाव सौं विभाव सौं अतीत सदा,
चिदानंद चेतवेको ऐसे में उपाव है ।।१०।।

[छप्पय]

ऊरध मध अध लोक, तासु में एक तिहूं पन ।
किसिहि न कोउ सहाय, याहि पुनि नाहिं दुतिय जन ।।
जो पूरब कृत कर्म भाव, निज आप बंध किये ।
सो दुख सुख द्वयरूप, आय इहि थान उदय दिय ।।

तिहि मध्य न कोऊ रख सकति, यथा कर्म विलसंत तिम ।
सब जगत जीव जग में फिरत, ज्ञानवंत भाषंत इम ।।१३।।

[सवैया इकतीसा]

आतम अनोपम है दीसै राग द्वेष बिना,
देखो भव्य जीव ! तुम आप में निहारकें ।
कर्म को न अंश कोऊ भर्म को न वंश कोऊ,
जाकी सुद्धताई मैं न और आप टारकें ।।
जैसो शिव खेत बसै तेसो ब्रह्म इहां लसै,
इहां उहां फेर नाहिं देखिये विचारकें ।
जेई गुण सिद्धमांहि तेई गुण ब्रह्ममांहि,
सिद्ध ब्रह्म फेर नाहिं निश्चय निरधारकें ।।२।।

[छप्पय]

त्रिविधि कर्मतें भिन्न, भिन्न पररूप परसतें ।
विविधि जगत के चिन्ह, लखें निज ज्ञान दरसतें ।।
वसै आपथल माहिं, सिद्ध सम सिद्ध विराजहि ।
प्रगटहि परम स्वरूप, ताहि उपमा सब छाजहि ।।
इह विधि अनेक गुणब्रह्ममहिं, चेतनता निर्मल लसै ।
तस पद त्रिकाल वंदत भविक, शुद्ध स्वभावहि नित बसै ।।६।।
ज्ञान उदित गुण उदित, मुदित भई कर्म कषायें ।
प्रगटत पर्म स्वरूप, ताहि निज लेत लखायें ।।
देत परिग्रह त्याग, हेत निहचै निज मानत ।
जानत सिद्ध समान, ताहि उर अन्तर ठानत ।।
सो अविनाशी अविचल दरब, सर्व ज्ञेय ज्ञायक परम ।
निरमल विशुद्ध शाश्वत सुथिर, चिदानंद चेतन धरम ।।८।।

[सवैया इकतीसा]

वर्ण में न ज्ञान नहिं ज्ञान रस पंचन में,
फर्स में न ज्ञान नहीं ज्ञान कहूं गन्ध में ।
रूप में न ज्ञान नहीं ज्ञान कहूं ग्रन्थन में,
शब्द में न ज्ञान नहीं ज्ञान कर्म बन्ध में ।।

इनतै अतीत कोऊ आतम स्वभाव लसै,
तहां बसै ज्ञान शुद्ध चेतना के खन्ध में ।
ऐसो वीतराग देव कह्यो है प्रकाशमेव,
ज्ञानवंत पावै ताहि मूढ़ पावै ध्वंध में ।।१०।।
जहां तोहि चलबो है साथ तू तहां को ढूंढि,
इहां कहां लोगन सों रह्यो तू लुभायरे ।
संग तेरे कौन चलें देख तू विचार हिये,
पुत्र कै कलत्र धन धान्य यह कायरे ।।
जाके काज पाप कर भरत है पिंड निज,
ह्वै है को सहाय तेरे नर्क जब जायरे ।
तहां तौं अकेलो तू ही पाप पुण्य साथी दोय,
तामें भलो होय सोई कीजे हंसराय रे ।।६।।

आंख देखै रूप जहां दौड़ तू ही लागै तहां,
सुने जहां कान तहां तूही सुनै बात है ।
जीभ रस स्वाद धरै ताको तू विचार करै,
नाक सूंघै बास तहां तू ही विरमात है ।।
फर्स की जु आठ जाति तहां कहो कौन भाँति,
जहाँ तहाँ तेरो नाँव प्रगट विख्यात है ।
याही देह देवल में केवलि स्वरूप देव,
ताकी कर सेव मन कहाँ दौड़े जात है ।।१७।।

[छप्पय]

जो जानहिं सो जीव, जीव विन और न जानें ।
जो मानहिं सो जीव, जीव विम और न मानें ।।
जो देखहि सो जीव, जीव विन और न देखै ।
जो जीवहि सो जीव, जीवगुण यहै विसेखै ।।
महिमा निधान अनुभूत युत, गुण अनन्त निर्मल लसै ।
सो जीव द्रव्य पेखंत भवि, सिद्ध खेत सहजहिं बसै ।।१८।।

छठा अध्याय

सहज सुख साधन

यह बताया जा चुका है कि संसार असार दुःखमय है, शरीर अशुचि व अथिर है, इन्द्रियों के भोगों का सुख अतृप्तिकारी व तृष्णावर्द्धक है तथा सहज सुख अपने ही आत्मा का स्वभाव है। आत्मा अपनी सत्ता को भिन्न रखता है। आप अकेला ही कर्म के संयोगवश दुःख सुख उठाता हुआ भव-भव में जन्म-मरण करता हुआ भ्रमण करता है। यह अपनी करणी का आप ही उत्तरदायित्व रखता है। कोई इसके दुःख को बंटा नही सकता, हर नहीं सकता। आत्मा का स्वभाव बिलकुल शुद्ध ज्ञातादृष्टा आनन्दमयी तथा परम शांत और निर्विकार है। सिद्ध भगवान के समान ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है। अब यह बताना है कि सहज सुख जो अपने ही पास है, अपना गुण है वह अपने को कैसे मिले? सहज सुख का स्वाद आना ही हमारी विषय सुख की तृष्णा के रोग को शमन करने का एकमात्र उपाय है।

किसी वस्तु का स्वाद लेने के लिये यह आवश्यक है कि स्वाद को लेने वाला ज्ञानोपयोग उस वस्तु की ओर एकाग्र हो जावे और उस समय दूसरी चिन्ताओं से रहित हो जावे। उस वस्तु की ओर ज्ञान की थिरता ही उस वस्तु का स्वाद अनुभव कराने में कारण है। जैसे मिष्ट जल सरोवर में है ऐसा जानते हुये भी मिष्ट जल का स्वाद तब ही आवेगा जब जल को लेकर जिह्वा इन्द्रिय के द्वारा स्पर्श कराया जायेगा और मति ज्ञानोपयोग थिर होकर उधर एकाग्र होगा। यदि किसी और काम की तरफ उपयोग आकुलित होगा तो जल को पीते हुये भी जल का स्वाद नहीं भासेगा।

यदि हमारा ध्यान किसी और कार्य में है और कोई खटमल काट रहा है तो हमको वेदना नहीं होगी। जब उपयोग स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा उस काटे हुये स्थल पर जाकर रुकेगा तब ही उस वेदना का ज्ञान होगा। उदास चित्त

होने पर बढ़िया वस्त्र व रत्नमय आभूषण पहनने पर भी सुख की वेदना नहीं होती, क्योंकि उपयोग उनकी सुन्दरता की ओर उपयुक्त नहीं है। जब उपयोग उन वस्त्र व आभूषणों की तरफ राग सहित लवलीन होगा तब उनके स्पर्श का स्वाद आयेगा।

एक शोकाकुल मानव तीव्र धन की हानि से पीड़ित है, उसकी प्रियतमा स्त्री उसको प्रेमपूर्वक आलिंगन करती है तो भी उस शोकातुर का उपयोग स्त्री के स्पर्श में लवलीन न होने से उसको स्त्री के स्पर्श का स्वाद नहीं आयेगा। कचहरी जाने की शीघ्रता में बहुत ही सुन्दर व रसीली रसोई भी खाई हुई अपने स्वाद के रस का भान नहीं कराती है क्योंकि उपयोग रसोई के खाने में लवलीन नहीं है किन्तु व्यग्र है। एक बैरागी साधु के गले में बहुत ही सुगंधित पुष्पों की माला डाल दी जाती है, उस साधु का उपयोग रागसहित उस माला की सुगन्ध लेने में उपयुक्त नहीं होता है इसलिये उस साधु को उस सुगन्धी का सुख विदित नहीं होता।

एक बहुत सुन्दर स्त्री का चित्र किसी रोग की पीड़ा से पीड़ित मानव के आंखों के सामने लाया जाता है, वह पीड़ा के अनुभव में लीन है। उसके भीतर रागसहित उस चित्र के देखने का भाव नहीं होता है। अतएव उस सुन्दर चित्र को देखने का स्वाद उस व्यग्रचित्त रोगी को नही आयगा। एक पति-व्रता स्त्री पति के वियोग से चिन्तातुर बैठी है, उसके सामने नाना प्रकार के सुरीले गान किये जाते हैं परन्तु उसका ज्ञानोपयोग रागसहित उसको नहीं सुनता है, उन पर उपयोग नहीं लगता है इसलिये गान सुनने का सुख उस दु:खित अबला के अनुभव में नही आता है। इससे सिद्ध है कि इन्द्रिय सुख व दुःख का भान तब ही होता है जब ज्ञानोपयोग की स्थिरता होती है।

एक मजदूर नंगे पैर ज्येष्ठ की धूप में भार लिये कोसों चला जाता है, उसको पग के जलने का दु:ख नहीं होता क्योंकि उसका उपयोग पैसा लाभ करने में उलझा है, वह उस पग की पीड़ा सरागभाव से अनुभव नहीं करता है। उसी जेठ मास की धूप में यदि किसी धनिक को जो बिना जूता पहने व छतरी लगाए कभी नहीं चलता है, दस कदम भी नंगे पैर चलने को वाधित किया जावे तो वह उपयोग उधर को ही लगाता हुआ बहुत दु:ख अनुभव करेगा।

एक साधु आत्मध्यान में तल्लीन है, शरीर पर डाँस - मच्छर काटते हैं, साधु को किंचित् भी कष्ट नहीं होता है क्योंकि उपयोग उस तरफ नहीं आया है। ध्यान हटते ही जैसे ही उपयोग उधर आता है वह काटने की वेदना को अनुभव करता है।

इसी तरह जब सहजसुख आत्मा में है, आत्मा का स्वभाव है तब उसके लाभ का यही साधन है कि हम अपना उपयोग सर्व ओर से खीचकर एक अपने आत्मा पर ही लगावें। आत्मा के स्वभाव के ज्ञान में थिरता से जमे। जिस समय उपयोग सर्व अपने आत्मा से भिन्न द्रव्य तथा भावों से हटकर अपने आत्मा के ही शुद्ध गुणों में रमण करेगा तब ही सहजसुख का स्वाद आएगा।

इसलिये आवश्यक है कि सहजसुख जिसमें है उस आत्मा को भली प्रकार पहचाना जावे। यह विश्वास लाया जावे कि आत्मा है और उसका स्वभाव इस तरह का है और उसी विश्वासयुक्त आत्मा के ज्ञान में उपयोग को स्थिर किया जावे। इसी को रत्नत्रय मार्ग कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की एकता को रत्नत्रय मार्ग कहते हैं। यही सहजसुख का साधन है।

आत्मा का स्वभाव शुद्ध, सिद्ध समान, ज्ञानानंद वीतरागमय है। यह दृढ़ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसी दृढ़ श्रद्धा सहित आत्मा के स्वभाव का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा इसी श्रद्धा सहित ज्ञान में थिर होना सम्यक्चारित्र है। ये तीनों भी आत्मा से भिन्न नहीं हैं, आत्मा ही हैं। जैसे श्री महावीर स्वामी का श्रद्धान व महावीर स्वामी का ज्ञान व महावीर स्वामी का ध्यान महा-वीर स्वामी से भिन्न नहीं है, तीनों का लक्ष्यबिंदु एक महावीर स्वामी है। सुवर्ण का श्रद्धान, सुवर्ण का ज्ञान व सुवर्ण का ध्यान सुवर्ण से भिन्न नहीं है, सुवर्ण ही है। अतएव आत्मा ही स्वयं अपने लिये आप ही सहजसुख का साधन है। अर्थात् आत्मा आप ही अपने ध्यान से सहजसुख को पा लेता है। इसलिये आत्मा का ध्यान या आत्मा का अनुभव ही सहज सुख का साधन है।

यह ज्ञानोपयोग पांच इन्द्रियों के विषयों में या मन के विचारों में उलझा रहता है। इसी को इनसे हटाकर जब आत्मस्थ किया जाता है, तब ही आत्मा का ध्यान हो जाता है। जैसे एक मानव किसी ऐसे घर में बैठा है जिसके

छः दिशाओं में छः खिड़कियाँ हैं । वह इन खिड़कियों के द्वारा सदा ही बाहर देखा करता है । एक खिड़की को छोड़कर दूसरी में, उसको छोड़कर तीसरी में, उसको छोड़कर चौथी में. फिर किसी में, फिर किसी में, इस तरह इन खिड़कियों के द्वारा बाहर ही देखा करता है, कभी भी खिड़कियों से देखना बन्द करके अपने घर को नहीं देखता है । यदि वह खिड़कियों से देखना बन्द करदे, भीतर देखे तो उसे अपने घर का दर्शन हो जावे । पाँच इन्द्रियां और मन ये छह खिड़कियां हैं, इनसे हम बाहर देखा करते हैं । रात दिन इन ही के विषयों में उपयोग को रमाते हैं । इसीसे हमें अपने आत्मा का दर्शन नहीं होता है यदि एक क्षणभर के लिये भी इनसे उपयोग हटालें और भीतर देखें तो हमें अपने आत्मा का दर्शन हो सकता है ।

जिसका हमको ध्यान करना है वह आप ही है, कोई दूसरी वस्तु नहीं है । उपयोग जब आत्मा के सिवाय जो जो अन्य पदार्थ हैं, भाव हैं या पर्यायें हैं उनसे हटेगा तब ही आत्मा का अनुभव हो जायेगा । सच्चा ज्ञान व सच्चा वैराग्य ही आत्मध्यान का साधक है ।

सच्चा ज्ञान तो यह है कि यह आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, विभाव से अशुद्ध है । सच्चा वैराग्य यह है कि मेरे आत्मा का हितकारी आत्मा के सिवाय कोई और पदार्थ नहीं है । आत्मा ही में आत्मा की अटूट अमिट ध्रुव सम्पत्ति है । इसे किसी और वस्तु से राग करने की जरूरत नहीं है हमें अपने आत्मा का ज्ञान दो अपेक्षाओं से करना चाहिये — एक निश्चयनय, दूसरा व्यवहारनय । जिस दृष्टि से पदार्थ का मूल शुद्ध स्वभाव देखने में आता है । उस दृष्टि, अपेक्षा, नय को निश्चय नथ कहते हैं । जिस दृष्टि से पदार्थ का भेद रूप स्वरूप व अशुद्ध स्वभाव देखने में आता है उस दृष्टि, अपेक्षा, नय को व्यवहारनय कहते हैं । वस्तु को शुद्ध अशुद्ध जानने का उपाय यही है, अतः इसको निश्चय-नय तथा व्यवहारनय दोनों से जाना जावे ।

हमारे सामने एक मैला कपड़ा है । जब तक इसको निश्चयनय तथा व्यवहारनय दोनों से न जाना जायेगा तब तक इसको साफ करने का उपाय नहीं बन सकेगा । निश्चय नय से कपड़ा स्वभाव से सफेद रुई का बना हुआ है इसलिये सफेद स्वच्छ है । अर्थात् निश्चयनय से देखते हुए वही मैला कपड़ा सफेद

स्वच्छ दिखता है क्योंकि कपड़ा तो उतना ही है, मैल तो ऊपर से चढ़ा हुआ धूंआ है, या चढ़ी हुई रज है, या चढ़ा हुआ पसीना है, कपड़े का स्वभाव अलग है, मैल का स्वभाव अलग है, मैल है सो कपड़ा नहीं, कपड़ा है सो मैल नहीं, इसलिये असल में मूल स्वभाव में कपड़ा सफेद स्वच्छ है ऐसा ही कपड़े को देखना निश्चयनय का काम है। व्यवहारनय से कपड़ा मैला है क्योंकि मैल ने स्वच्छता को ढँक दिया है। कपड़ा मैला दिखता है। मैल के संयोग से मलीनता कपड़े में हो रही है। कपड़े की वर्तमान अवस्था विभावरूप है, अशुद्ध है, दोनों ही दृष्टियों से दो भिन्न बातों को देखना ठीक है, निश्चयनय से कपड़ा स्वच्छ है, यह स्वभाव की दृष्टि भी ठीक है। व्यवहारनय से कपड़ा मलीन है, यह विभाव की दृष्टि भी ठीक है यदि कोई एक ही दृष्टि को माने दूसरी दृष्टि को सर्वथा न माने तो ज्ञान उस मैले कपड़े का ठीक न होगा। और कभी भी कपड़ा साफ नहीं किया जा सकेगा।

यदि कोई निश्चयनय का पक्ष पकड़कर यह ही माने कि कपड़ा स्वच्छ ही है, उजला ही है, यह मैला है ही नहीं तो माननेवाला कभी कपड़े को साफ करने का उद्यम न करेगा। इसी तरह यदि कोई व्यवहारनय का पक्ष पकड़कर यह ही माने कि यह कपड़ा मैला ही है, मैला ही रहना इसका स्वभाव है, तो ऐसा मानने वाला भी कभी कपड़े को स्वच्छ न करेगा। दोनों में से एक दृष्टि से देखने वाला कभी भी कपड़े को साफ नहीं कर सकता। जो कोई दोनों दृष्टिगों से कपड़े को देखेगा कि यह कपड़ा स्वभाव से तो स्वच्छ है परन्तु वर्तमान में इसकी स्वच्छता को मैल ने ढँक दिया है, मैल कपड़ा नहीं, कपड़ा मैल नहीं, दोनों अलग २ स्वभाव वाले हैं तब अवश्य मैल को किसी मसाले से धोया जा सकता है, ऐसा यथार्थ ज्ञान एक बुद्धिमान को होगा और वह कपड़े को अवश्य स्वच्छ कर डालेगा। इसी तरह यह आत्मा दोनों नयों से जानने योग्य है। निश्चयनय से यह बिल्कुल निराला, अकेला, सिद्ध समान शुद्ध है, ज्ञाता है, दृष्टा है, निर्विकार है, वीतराग है, अमूर्तिक है, परमानन्दमय है, इसमें कोई मलीनता व अशुद्धता नहीं है। न इसके आठों कर्मों का बन्धन है न रागद्वेष क्रोधादि भावकर्म हैं, न शरीरादि नौकर्म है। इसके मन, वचन, काय नहीं हैं। यह एकाकी, स्वतंत्र, परम शुद्ध स्फटिकमणि के समान है। यही इस आत्म द्रव्य का निज स्वभाव है, मूल स्वभाव है, निजतत्व है।

व्यवहारनय से यह आत्मा कर्म बंध सहित है, पाप-पुण्य को रखता है, सुख दुःख को भोगता है। क्रोधादि भावो में परिणमता है, इन्द्रियों व मन से बहुत थोड़ा जानता है। यह बहुत सी बातों का अज्ञानी है। वर्तमान में पुद्गल के संयोग से जो इसकी अशुद्ध सांसारिक अवस्था हो रही है इस बात का ज्ञान व्यवहार नय या पर्याय दृष्टि द्वारा देखने से होता है। दोनों ही बातें अपनी २ अपेक्षा से सत्यार्थ हैं।

स्वभाव आत्मा का शुद्ध है, विभाव अशुद्ध है। यदि निश्चयनय का पक्ष ही ग्रहण करके सर्वथा ही आत्मा को शुद्ध मानलें तो कभी आत्मा को शुद्ध करने का यत्न नहीं हो सकेगा और जो व्यवहारनय का पक्ष ही ग्रहण करके सर्वथा ही आत्मा को अशुद्ध ही मानलें तो भी शुद्ध करने का यत्न नहीं हो सकेगा। यत्न तब ही हो सकेगा जब निश्चयनय से स्वभाव में शुद्ध होने पर भी व्यवहारनय से विभाव में हो रहा है इसलिये अशुद्ध है। यह अशुद्धता पुद्गल के संयोग से है। इसलिये इस संयोग को हटाया जा सकता है, ऐसा भाव जब होगा तब ही आत्मा के शुद्ध करने का प्रयत्न हो सकेगा। यही आत्मा का सच्चा ज्ञान है। सच्चा वैराग्य है, आत्मा का स्वभाव में रहना ही आत्मा की सुन्दरता है। यदि यह स्वभाव में हो, इसे किसी बात के जानने देखने की चिन्ता न हो, कोई क्रोध, मान, माया, लोभ का क्लेश न हो, कोई तृष्णा न हो, कोई दुःख न हो, कोई विकार न हो, कोई जन्म-मरण न हो, सदा ही अपने स्वाभाविक सहज सुख का अनुभव हो। कर्म का संयोग तथा शरीर का सम्बन्ध इसके गुणों का घातक है, इसकी सुन्दरता को बिगाड़ने वाला है, इसे आकुलित, खेदित, शोकित रखने वाला है।

अतएव मुझे किसी भी परमाणु मात्र पुद्गल से प्रयोजन नहीं है, न पुण्य से, न पाप से, न सांसारिक क्षणिक सुख से, न दुःख से, न इन्द्र अहमिंद्र पद से, न चक्रवर्ती विद्याधर, नरेन्द्र पद से। कोई भी संसार की अवस्था मेरे लिये हितकारी नहीं है। ऐसा सच्चा वैराग्य हो तो संसार मात्र विरस दीखे। सर्व ही कर्म का संयोग त्यागने योग्य दीखे, सिवाय निज स्वभाव के और सबको अकार्यकारी स्वभाव विकारक जानकर सबसे मोह रागद्वेष छोड़ देना यही सच्चा

वैराग्य है। सच्चे ज्ञान व सच्चे वैराग्य के साथ आत्म ध्यान करना ही रत्न-त्रय धर्म है या सहज सुख का साधन है।

जैसे मलीन कपड़े को स्वच्छ करने के लिये कपड़ा स्वच्छ है, मैल के संयोग से मैला है। इस सच्चे ज्ञान को तथा कपड़े के स्वभाव को ढंकने वाले मैल की कोई जरूरत नहीं है, यह कपड़े के लिए अहितकारी है, ऐसे सच्चे वैराग्य की जरूरत है, और साथ साथ इस सच्चे ज्ञान व वैराग्य को लिये हुए कपड़े पर ध्यान लगाने की जरूरत है, तब कपड़ा स्वच्छ होगा वैसे ही ज्ञान वैराग्य के साथ आत्मा के ध्यान से आत्मा शुद्ध होगा।

यदि कोई कपड़े को स्वच्छ करने की इच्छा रखता हुआ कपड़े पर मसाला रखके इधर उधर ध्यान रक्खे, कपड़े पर ध्यान न रक्खे व एक चित्त हो कपड़े पर बलपूर्वक रगड़ न लगावे तो कभी भी कपड़े का मैल न कटेगा और वह कपड़ा कभी भी स्वच्छ न होगा। इसी तरह कोई सच्चे ज्ञान वैराग्य सहित होकर व्यवहार चारित्र का मसाला लेकर यदि आत्मा को शुद्ध करना चाहे, जप तप करे, संयम पाले परन्तु उपयोग को एकग्र न करे, आत्मा में ध्यान न लगावे, आत्मानुभव न करे तो कदापि आत्मा शुद्ध न होगा।

आत्मा के शुद्ध करने का व सहज सुख के पाने का एक मात्र उपाय आत्मध्यान है। जो उपाय सहज सुख पाने का है वही उपाय आत्मा के मैल काटने का है। आत्मा के कर्म मैल का संयोग रागद्वेष मोह भावों से होता है। तब कर्म मैल का कटना - दूर होना वीतराग भावों से होता है। जब आत्म - ध्यान किया जाता है, सच्चे ज्ञान व सच्चे वैराग्य के साथ शुद्ध आत्मा के स्वभाव में एक तान (लीन) हुआ जाता है तब वीतरागता का अंश बढ़ता जाता है। यही ध्यान की अग्नि है जो कर्म - ईंधन को जलाती है।

जिस आत्मध्यान से सहज सुख का स्वाद आता है उसी आत्मध्यान से आत्मा का कर्ममैल कटता है। तथा इसी आत्मध्यान से आत्मा का बल अधिक अधिक प्रगट होता है। अन्तरायकर्म का मैल जितना जितना कटता है उतना उतना आत्मबल बढ़ता जाता है। आत्मध्यान के भीतर एक गुण और प्रगट हो जाता है, वह है धैर्य, धैर्य इतना अधिक बढ़ जाता है कि अचानक संकटों के व आपत्तियों के आने पर वह आकुलित नहीं होता है, कर्मों का उदय मानकर

संतोषी रहता है, तथा आत्मा को अविनाशी व अजर अमर मानता हुआ वह सांसारिक आपत्तियों से आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं समझता है। बड़े-बड़े उपसर्ग आने पर भी वह मेरु पर्वत के समान अचल रहता है।

जैसे मिश्री का कण एक क्षण मात्र जिह्वा पर रहे तो भी वह उतनी देर ही मिष्ट स्वाद देता है, वैसे आत्मा का ध्यान यदि बहुत ही अल्प समय तक रहे तो भी वह सहज सुख का स्वाद देता है। एक मिनट के साठ सेकण्ड होते हैं, एक सेकन्ड के भी सौ भाग करो। इस सौवें भाग भी यदि उपयोग आत्मस्थ हो जावे तो भी सहज सुख अनुभव में आयेगा। अतएव आत्मध्यान के अभ्यासी को समता भाव के साथ जितनी देर तक लगातार ध्यान लग सके, आकुलता न हो, उतनी देर ही आत्मध्यान करके सन्तोष मानना चाहिये। अधिक समय तक आत्म स्थिरता करने की चिन्ता व घबराहट नहीं लानी चाहिये। बड़े बड़े शक्तिशाली व बड़े बड़े वीर वैराग्यवान पुरुष भी आत्मा का ध्यान लगातार दो घड़ी के भीतर ही भीतर कर सकते हैं। दो घड़ी अड़तालीस (४८) मिनट की होती हैं।

एक बात और याद रखनी चाहिये कि आत्मध्यान पैदा करने की क्षमता आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना है। भावना बहुत देर तक की जा सकती है। भावना करते करते यकायक ध्यान पैदा होता है जो कम या अधिक देर तक बिलकुल एकाग्र रहता है। ध्यान के समय मन, वचन, काय, तीनों के व्यापार बन्द हो जाते हैं, चिन्तवन नही होता है। आत्मा के स्वरूप में उसी तरह रमणभाव हो जाता है जैसे किसी सुन्दर रूप के देखने में उपयोग एकाग्र हो जाता है। उस समय ध्याता को यह विचार भी नही होता है कि मैं ध्यान करता हूँ या आत्मा को ध्याता हूँ। वह दशा एक ऐसी है जिसका वर्णन नही हो सकता है। उस दशा को अद्वैत भाव कहते हैं। वहां एक आत्मा का ही स्वाद विकल्प व विचार रहित होता है। इस स्वानुभवरूप आत्मध्यान को पैदा करने वाली आत्मा की भावना है। जैसे दूध को बिलोते बिलोते मक्खन निकलता है वैसे आत्मा की भावना करते-करते आत्मध्यान या आत्मसुख हो जाता है।

सच्चे ज्ञान के लिए कहा जा चुका है कि हमें आत्मा को निश्चय नय तथा व्यवहार नय दोनों से जानना चाहिये। इन दोनों दृष्टियों में से आत्मा की भावना करने के लिए निश्चय दृष्टि को ग्रहण कर लेना चाहिये, व्यवहार दृष्टि के विषय को धारणा में रखना चाहिये, भावना के सामने न लाना चाहिये। जिस स्थान पर पहुँचना है उस स्थान पर ले जाने वाले मार्ग पर चलने से ही हम उस स्थान पर पहुँच सकते हैं। हमें शुद्धात्मा का अनुभव प्राप्त करना है अतएव शुद्धात्मा के स्वरूप की ही भावना करनी चाहिये।

निश्चय नय ही आत्मा को शुद्ध बनाती है, दिखाती है। इसलिए मैं शुद्ध हूँ, निर्विकार हूँ, ज्ञायक हूँ, परमानन्दमय हूँ, परमात्मा रूप हूँ, यही भावना बार बार करना ही आत्मानुभव को जागृत करने वाली है। जब आत्मानुभव हो जाता है तब भावना बन्द हो जाती है। तब अद्वैतभाव, निर्विकल्पभाव, स्वात्मरमणभाव, एकाग्रभाव ही रहता है। जब तक स्वात्मानुभव रहता है, तब तक न निश्चय नय का पक्ष या विचार है, न व्यवहार नय का पक्ष या विचार है। आत्मानुभव नयों से बाहर, विकल्पों से बाहर, अनिर्वचनीय अचिन्तनीय एक परमानन्दमयी अमृत का समुद्र है। इसी समुद्र में स्नान करते हुए डुबकी लगाना आत्मध्यान है।

आत्मानुभव या आत्मध्यान ही निश्चय रत्नत्रय है या निश्चय मोक्षमार्ग है। इसके बाहरी साधनों में व्यवहार रत्नत्रय या व्यवहार मोक्षमार्ग उपयोगी हे जिसका वर्णन आगे किया जायेगा। यहा पर आत्मध्यान करने के कुछ जरूरी निमित्त कारणों को बता देना उचित होगा। ध्यान करने वाले में दृढ व पक्का श्रद्धान आत्मा का निश्चय नय तथा व्यवहार नय से होना चाहिये तथा उसके मन में सच्चा ज्ञान व सच्चा वैराग्य होना चाहिये, ऐसा ध्याता आत्मरसिक होता है, आनन्दामृत पीने का प्रेमी होता है। जैसे कोई के घर में बड़ा ही मिष्ठ रस हो वह पुनः पुनः उसे पीकर स्वाद को लेकर सुख भोगता है वैसे ही आत्मरसिक बार बार जितना ही अधिक हो सके आत्मध्यान करके आत्मा के आनन्दामृत का स्वाद लेता है।

इस घोर आपत्तिमय संसार के भीतर रहता हुआ वह एक आत्मानंद का ही प्रेमी हो जाता है। अतएव जिन निमित्तों से ध्यान हो सकता है उन

निमित्तों को अवश्य मिलाता है। ध्यान करने वाले को समय, स्थान, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आसन बैठने का व आसन लगाने का योग्य उपाय करना चाहिये तथा उस विधि का सेवन करना चाहिये जिससे ध्यान हो सके।

ध्यान

काल :– ध्यान करने का समय प्रातःकाल सूर्योदय के पहले से लेकर सूर्योदय के पश्चात् तक छः घड़ी, चार घड़ी या दो घड़ी है। यह उत्तम, मध्यम, जघन्य है। अभ्यास करने वाला जितना भी समय दे सके उतना ही ठीक है। यदि दो घड़ी करना हो तो एक घड़ी सूर्योदय के पहले से लेकर एक घड़ी पीछे तक करे इसी तरह मध्यम व उत्तम में करे। दोपहर को व सांझ को भी, इसी तरह तीन काल हैं। मध्यम रात्रि को भी ध्यान इसी तरह किया जा सकता है। इसके सिवाय जिस समय मन लगे उसी समय ध्यान किया जा सकता है। सब से श्रेष्ठ समय प्रातःकाल का है। तब समय बिलकुल शांत रहता है, वातावरण शीतल व सुहावना होता है।

स्थान : – ध्यान के लिए स्थान पवित्र, शांत व क्षोभ रहित होना चाहिये, जहाँ पर स्त्रियों का व बच्चों का शब्द न आवे, पुरुषों की बातें भी न सुनाई दे। हवा अनुकूल हो, न बहुत शीत हो न बहुत उष्ण हो। जितना एकांत होगा उतना ध्यान अधिक अच्छा हो सकेगा। पर्वत का शिखर, पर्वत की गुफा, वन, उपवन, नदी व समुद्र तट, नगर बाहर उद्यान या नशियाँ, श्री जिन मन्दिर का एकांत स्थान, धर्मशाला का या उपाश्रय का एकान्त स्थान, व अपने घर का ही एकांत स्थान जहाँ निराकुलता रहे ऐसा स्थान ध्यान के लिये खोज लेना चाहिये।

मन की शुद्धि :– जितनी देर ध्यान करना हो उतनी देर और सर्व कामों से निश्चिंत हो जावे। यदि कोई काम दूसरों की देखभाल, रक्षा या प्रबन्ध का हो तो दूसरे के सुपुर्द करदे, अपने ऊपर कोई चिन्ता न रहे। निश्चित हुए बिना ध्यान में मन न लगेगा। जहां भय का कारण हो वहां न बैठे अथवा भय का कारण संभावित हो तो किसी भी अन्य मानव को अपने साथ में रक्खे जिससे वह रक्षा रखे। ध्याता के मन में आकुलता न होनी चाहिये। मन से

शोक, विषाद आदि दूर कर उतनी देर के लिये मन का ममत्व सबसे छोड़कर ध्यान करने बैठे।

वचन शुद्धि :– ध्यान में जितनी देर लगानी हो उतनी देर मौन रहे व ध्यान के सहकारी मंत्रों को पढ़े या पाठ पढ़े परन्तु और किसी से बातचीत न करे।

काय शुद्धि :– शरीर में बहुत भूख न हो, बहुत भरा न हो, दर्द न हो, मलमूत्र की बाधा न हो। शरीर भीतर से स्वस्थ हो, बाहर से भी पवित्र हो। शरीर पर जितना कम वस्त्र हो उतना ठीक है। वस्त्र रहित भी ध्यान किया जा सकता है। जिस तरह डाँस मच्छरादि की बाधा को होते हुए थिरता रहे वैसे उपाय करना चाहिये। सरदी की बाधा नही सह सके तो अधिक वस्त्र ओढ़ ले। शरीर भीतर व बाहर से निराकुल हो। शरीर के कारण से कोई बाधा मन में न आवे ऐसा शरीर को रक्खे।

आसन बैठने का :– ध्यान के लिये कोई घास का आसन या चटाई या पाटा या शिला नियत करले। यदि कुछ न मिल सके तो पवित्र भूमि पर भी ध्यान किया जा सकता है।

आसन लगाना :–ध्यान करते हुए पद्मासन, अर्द्ध पद्मासन या कायोत्सर्ग ये तीन आसन सुगम हैं तथा बड़े उपयोगी हैं। आसन लगाने से शरीर थिर रहता है। शरीर की थिरता से श्वासोच्छ्वास सम तरह से चलता है व मन निश्चल रह सकता है। दोनों पग जांघों पर रक्खे, दोनों हथेली एक को दूसरे पर रक्खे, सीधा मस्तक सीधी छाती करके इस तरह बैठे कि दृष्टि नाक पर मालूम होती हो। यह पद्मासन है। एक जांघ के नीचे एक पग ऊपर रख के पद्मासन की तरह बैठने को अर्ध पद्मासन कहते है। सीधे खडे हो दोनों पग आगे की तरफ चार अंगुल की दूरी पर रखकर दोनो हाथ लटकाकर ध्यान मय रहना कायोत्सर्ग है। जिस आसन से ध्यान जमे उसी आसन से बैठा जा सकता है। ध्यान के वीरासन, मयूरासन आदि बहुत से आसन हैं।

ध्यान की विधि :–बहुत सीधी विधि यह है कि अपने शरीर के भीतर व्याप्त आत्मा को शुद्ध जल की तरह निर्मल भरा हुआ विचार करे और मन

को उसी जल समान आत्मा में डुबाये रक्खे, जब हटे तब अर्हं, सोहं, सिद्ध, अरहंत, सिद्ध, ॐ आदि मंत्र पढने लगे फिर उसी में डुबोए । इस तरह बार २ करे । कभी कभी आत्मा का स्वभाव विचार ले कि यह आत्मा परम शुद्ध ज्ञानानन्दमयी है ।

(२) दूसरी विधि यह है कि अपने आत्मा को शरीर प्रमाण आकार-धारी स्फटिक मणि की मूर्ति समान विचार करके उसी के दर्शन में लय हो जावे । जब मन हटे तब मंत्र पढ़ता रहे, कभी - कभी आत्मा का स्वभाव विचारता रहे ।

(३) तीसरी विधि यह है कि पिंडस्थ ध्यान करे । इसकी पांच धार-णाओं का क्रमशः अभ्यास करके आत्मा के ध्यान पर पहुंच जावे । पांच धारणाओं का स्वरूप यह है :—

(क) पार्थिवी धारणा :— इस मध्य लोक को सफेद निर्मल क्षीर समुद्र-मय चिंतवन करे । उसके मध्य में ताए हुए सुवर्ण के रंग का एक हजार पत्रों का कमल एक लाख योजन का चौड़ा जम्बूद्वीप के समान विचारे, इस मध्य में कर्णिका को सुमेरु पर्वत के समान पीत वर्ण का सोचे । इस पर्वत के ऊपर सफेद रंग का ऊँचा सिंहासन विचारे । फिर ध्यान करे कि मैं इस सिंहा-सन पर पद्मासन बैठा हूं । प्रयोजन यह है कि मैं सर्व कर्म मल को जलाकर आत्मा को शुद्ध करूं । इतना चिन्तवन पार्थिवी धारणा है ।

(ख) आग्नेयी धारणा :— उसी सिंहासन पर बैठा हुआ यह सोचे कि मेरे नाभिमण्डल के भीतर एक सोलह पत्रों का निर्मल सफेद खिला हुआ कमल ऊपर की ओर मुख किये हुए है । उसके सोलह पत्रों पर सोलह अक्षर पीत रंग के लिखे विचारे ।

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः । उस कमल के नीचे कर्णिका में चमकता हुआ हैं अक्षर विचारे फिर इस नाभिकमल के ऊपर हृदय में एक अधोमुख औंधा आठ पत्रों का कमल विचारे जिसके पत्रों पर ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों को स्थापित करे । फिर यह सोचे कि नाभि कमल के मध्य में जो हैं मन्त्र है उसकी रेफ से धुआं निकला, फिर अग्नि का फुलिंगा

उठा, फिर लौ उठी और वह बढ़कर हृदय के कमल को जलाने लगी। वही अग्नि की शिखा मस्तक पर आ गई और चारों तरफ शरीर के उसकी रेखा फैलकर त्रिकोण में बन गई। तीन रेखाओं को र र अग्नि मय अक्षरों से व्याप्त देखे तथा तीनों कोनों के बाहर हर एक में एक एक साथिया अग्निमय विचारे भीतर तीनों कोनों पर ॐ रं अग्निमय विचारे तब यह ध्याता रहे कि बाहर का अग्नि मंडल धूम रहित शरीर को जला रहा है व भीतर की अग्नि शिखा आठ कर्मों को जला रही है। जलाते जलाते सर्व राख हो गई इतना ध्यान करना सो आग्नेयी धारणा है।

(ग) मारुती धारणा :– वही ध्याता वहीं बैठा हुआ सोचे कि तीव्र पवन चल रही है, जो मेघों को उड़ा रही है, समुद्र को क्षोभित कर रही है, दशों दिशाओं में फैल रही है, यही पवन मेरे आत्मा के ऊपर पड़ी हुई शरीर व कर्म के रज को उड़ा रही है। ऐसा ध्यान करना पवन धारणा है।

(घ) वारुणी धारणा :– वही ध्याता सोचे कि बड़ी काली काली मेघों की घटाएं आ गई। उनसे मोती के समान जल गिरने लगा तथा अर्धचंद्राकार जल का मंडल आकाश में बन गया, उससे अपने आत्मा पर जल पड़ता हुआ विचारे कि यह जल बची हुई रज को धो रहा है। ऐसा सोचना जल धारणा है।

(३) तत्वरूपवती धारणा :– फिर वही ध्यानी सोचे कि मेरा आत्मा सर्व कर्मों से रहित व शरीर रहित पुरुषाकार सिद्ध भगवान के समान शुद्ध है। ऐसे शुद्ध आत्मा में तन्मय हो जावे। यह तत्वरूपवती धारणा है।

(४) चौथी विधि यह है कि पदों के द्वारा पदस्थ ध्यान किया जावे। उसके अनेक उपाय हे। कुछ यहाँ दिये जाते है कि र्हं मंत्रराज को चमकता हुआ नासाग्र पर या भौहों के मध्य पर स्थापित करके चित्त को रोके। कभी मन हटे तो मंत्र कहे व अर्हंत सिद्ध का स्वरूप विचारा जावे।

(ख) ॐ प्रणव मंत्र को हृदयकमल के मध्य में चमकता हुआ विचारे। चारों तरफ १६ सोलह स्वर व कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, व य र ल व श ष स ह इन सब व्यंजनों से वेष्ठित विचारे। कर्णिका में १६ स्वर विचार

ले व आठ पत्तों पर शेष अक्षरों को बांट ले और ध्यान करे। कभी कभी ॐ का उच्चारण करे कभी पाँच परमेष्ठी के गुण विचारे।

(ग) नाभि स्थान में या हृदय स्थान में सफेद रंग का चमकता हुआ आठ पत्रों का कमल विचारे। मध्य कर्णिका में सात अक्षर का "णमो अरहंताणं" लिखा विचारे - चार दिशाओं के चार पत्रों पर क्रम से "णमोसिद्धाणं, णमोआइरियाणं, णमोउवज्झायाणं, णमोलोए सव्वसाहूणं" इन चार मंत्र पदों को लिखे, चार विदिशाओं के चार पत्रों पर "सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक् तपसे नमः" इन चार मंत्रों को स्थापित करे, फिर क्रम से एक एक पद पर मन को रोक कर कभी - कभी पद बोलकर कभी अरहंत आदि का स्वरूप विचार कर ध्यान करे।

(घ) मुख में सफेद रंग का एक कमल आठ पत्रों का सोचे। उन आठों पत्रों पर क्रम से आठ अक्षरों को स्थापित करे, "ॐ णमो अरहंताणं" एक एक अक्षर पर चित्त रोके। कभी मन्त्र पढ़े कभी स्वरूप विचारे।

(ङ) इसी कमल के बीच में कर्णिका में सोलह स्वरों को विचारे, उनके बीच में ही मन्त्र को विराजित ध्याये।

(५) **रूपस्थ ध्यान** की विधि यह है कि समवशरण में विराजित तीर्थंकर भगवान को ध्यानमय सिंहासन पर शोभित बारह सभाओं से वेष्ठित इन्द्रादिकों से पूजित ध्यावे। उनके ध्यानमय स्वरूप पर दृष्टि लगावे।

(६) छटी विधि **रूपातीत ध्यान** की है – इसमें एकदम से सिद्ध भगवान को शरीर रहित पुरुषाकार शुद्ध स्वरूप विचार करके अपने आपको उनके स्वरूप में लीन करे।

ध्यान का स्वरूप श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थ अध्याय ३७, ३८, ३९, ४० में है वहां से विशेष जानना योग्य है।

जब ध्यान करने में मन न लगे व ध्यान के समय के सिवाय भी आत्म-मनन करना हो तो नीचे लिखे काम किये जा सकते हैं। इन कामों के करने में भी मध्य मध्य में कुछ कुछ देर वृत्ति में आत्मा का विचार आता रहेगा, धर्मध्यान होता रहेगा।

(१) आध्यात्मिक वैराग्यमय ग्रन्थों को ध्यान से पढ़े तथा सुने ।

(२) आध्यात्मिक भजनों को गावे, बाजे के साथ भी गा सकता है ।

(३) जिनेन्द्र की वैराग्य स्तुति पढ़े, स्तोत्र पढ़े ।

(४) जिनेन्द्र की ध्यानमय प्रतिमा के सामने खड़ा हो ध्यान करे या उनके स्वरूप को देखता हुआ पूजा करे, भक्ति करे । जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल इन आठ प्रकार शुद्ध द्रव्यों को लेकर इनके द्वारा भक्ति करके आत्मा की भावना करे । इन आठ द्रव्यों की भावना क्रम से नीचे इस प्रकार है :–

(१) **जल** :– मैं जल चढ़ाता हूँ, मेरा जन्म, जरा, मरण, रोग नष्ट हो ।

(२) **चंदन** :– मैं चंदन चढ़ाता हूँ, मेरा भव आताप शांत हो ।

(३) **अक्षत** :– मैं अक्षत चढ़ाता हूँ, मुझे अक्षय गुणों की प्राप्ति हो ।

(४) **पुष्प** :– मैं पुष्प चढ़ाता हूँ, मेरा काम विकार शांत हो ।

(५) **नैवेद्य** :– मैं नैवेद्य (चरु) चढ़ाता हूँ, मेरा क्षुधा रोग शांत हो ।

(६) **दीपक** :– मैं दीपक चढ़ाता हूँ, मेरा मोह अन्धकार नष्ट हो ।

(७) **धूप** :– मैं धूप चढ़ाता हूँ, मेरे आठ कर्म नष्ट हों ।

(८) **फल** :– मै फल चढ़ाता हूँ, मुझे मोक्षफल प्राप्त हो ।

फिर श्री जिनेन्द्र की जयमाल स्तुति पढ़े । इस पूजा से भी आत्मध्यान जग जाता है ।

जैसे मिठाई की चर्चा करने से, मिठाई को देखने से, मिठाई के स्मरण करने से सराग भाव के कारण मिठाई के स्वाद लेने के समान स्वाद सा आ जाता है । वैसे आत्मा की चर्चा करने से, आत्म ध्यान को देखने से, आत्मा के स्मरण करने से सहज सुख का स्वाद आ जाता है । सहज सुख के अभिलाषी को वे सब प्रयत्न कर्तव्य हैं, वह सब संगति कर्तव्य है जिससे आत्मा के मनन व ध्यान में उपयोग रम सके व आत्मा के सिवाय सम्पूर्ण जगत के प्रपंचजाल से उपयोग विरक्त हो सके ।

वास्तव में अद्वैत आत्मानुभव ही मुख्यता से सहज सुख का साधन है । इस अनुभव की प्राप्ति के लिये जो जो यत्न किया जावे वह भी परम्परा से सहज सुख का साधन है । जीवन को सफल करने के लिये कंटकमय संसार के

भीतर गुलाब के फूल के समान चमकता हुआ जीवन बिताने के लिये सहज सुख का साधन अवश्य कर्तव्य है । रत्नत्रय मार्ग ही सहज सुख का साधन है । अब देखिये, जैनाचार्य इस सम्बन्ध में क्या क्या अमृतवाणी की वर्षा करते हैं ।

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं :–

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिद तं हि ससमयं जाणे ।
पुग्गल कम्मुवदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं ॥२॥

भावार्थ :– जब यह जीव अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वभाव के श्रद्धान ज्ञान व चारित्र की एकता रूप होता है अर्थात् स्वानुभवरूप होता है, तब इसको स्वसमय अर्थात् आत्मस्थ जानो और जब यह पुद्गल कर्म के उदय से होने वाली रागादि या नर नारकादि पर्यायों में लीन होता है, तब इसको पर समय या आत्मा से बाहर पर में रत जानो ।

एयत्तणिच्छय गदो समग्रो, सव्वत्थ सुन्दरोलोए ।
बंधकहा एयत्ते, तेण विसंवादिणी होदि ॥३॥

भावार्थ :– इस लोक में यह आत्मा अपने एक शुद्ध स्वभाव में तिष्ठा हुआ सर्वत्र सुन्दर भासता है क्योंकि वह अपने स्वभाव में है ऐसा सिद्ध समान शुद्ध स्वभाव होते हुए भी इसके साथ कर्म का बंध है, यह बात भी कहना आत्मा के स्वरूप की निन्दा है ।

णाणह्मि भावणा खलु, कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।
ते पुणु तिण्णिवि आदा, तम्हा कुण भावणं आदे ॥११॥

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन में, सम्यग्ज्ञान में व सम्यक्चारित्र में भावना करनी चाहिये परन्तु ये तीनों ही रत्नत्रय आत्मा का ही स्वभाव है इसलिये एक आत्मा की ही भावना करो ।

दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

भावार्थ :– साधन करने वाले को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र की सदा सेवा करनी चाहिये, परन्तु निश्चय से ये तीनों ही आत्मा ही हैं, आत्मा से भिन्न नहीं हैं । इसलिये आत्मा की ही आराधना करनी चाहिये ।

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मारज्ज ॥१५७॥

भावार्थ :— संसार में जो जीव रागी है, आसक्त है वह कर्मों को बाँधता है, परन्तु जो संसार से वैरागी है वह कर्मो से मुक्त होता है, यह जिनेन्द्र का उपदेश है। इसलिये पुण्य या पापकर्मों में रंजायमान मत हो, आसक्त मत हो।

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ॥१६०॥

भावार्थ :— व्रत व नियमों को पालते हुए तथा शील और तप को करते हुए भी यदि कोई परमार्थ जो आत्मानुभव है उससे रहित है, केवल व्यवहार चारित्र में लीन है, निश्चय चारित्र से शून्य है वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है।

अप्पाणमप्पणोरु ंभिदूण दोसु पुण्णपावजोगेसु ।
दंसणणाणम्हिठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि ॥१७७॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥१७८॥

भावार्थ :— जो कोई आत्मा अपने आत्मा को अपने आत्मा के द्वारा पुण्य तथा पाप-रूप मन वचन काय के योगों से रोककर सर्व आत्मा के सिवाय पर पदार्थों में इच्छा को दूर करता हुआ आत्मा के दर्शन और ज्ञान स्वभाव में स्थिर होता है तथा सर्व परिग्रह से मुक्त होकर सर्व ममता को छोड़कर अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा को ध्याता है, द्रव्य कर्म व शरीर को नही ध्याता है वह ज्ञानी एक शुद्ध आत्म स्वभाव का अनुभव करके उसी का आनन्द लेता है।

णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति ।
तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२२१॥

भावार्थ :— बहुत भी जीव आत्मज्ञान तथा आत्मानुभव से रहित होते हुए जिस निज स्वाभाविक पद को नहीं पा सकते हैं, तू उसी एक अपने निज स्वभाव को ग्रहण कर, यदि तू कर्मों से छूटना चाहता है।

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा ।
जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥३१८॥

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परित्ति णादव्वा ॥३१९॥

भावार्थ :– शिष्य प्रश्न करता है कि - आत्मा को कैसे ग्रहण करके अनुभव किया जावे। आचार्य कहते हैं - प्रज्ञा या भेद विज्ञान या विवेक भाव से ही आत्मा को ग्रहण करना चाहिये। जैसे प्रज्ञा के द्वारा इस आत्मा को सर्व रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नौकर्म तथा सर्व अन्य जीव व पुद्‌गलादि द्रव्यों से भिन्न जाना गया है उसी प्रज्ञा से ग्रहण करना चाहिये। जैसे जिस बुद्धि से चावल व तुष को अलग अलग जाना जाता है उसी बुद्धि से चावल को प्रयोजनभूत जान के ग्रहण किया जाता है, उसी तरह जिस विवेक से आत्मा को पर से भिन्न जाना गया उसी विवेक से उसें ग्रहण करना चाहिये तथा जिसको प्रज्ञा से ग्रहण करना है वह ज्ञाता आत्मा मैं ही तो निश्चय से हूं इससे मैं आप में स्थिर होता हूं, और अपने से भिन्न जो सर्वभाव हैं उन सब को पर है ऐसा जानता हूं व ऐसा ही जानना उचित है।

णवि एस मोक्खमग्गो पाखंडी गिहमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥४३२॥

जह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारि एहि वा गहिदे ।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंजमोक्खपहे ॥४३३॥

मुक्खपहे अप्पाणं ठवेहि वेदयहि झायहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४३४॥

भावार्थ :– निश्चय से साधु के व श्रावकों के बाहरी भेष मोक्षमार्ग नहीं हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र को जिनेन्द्रों ने मोक्षमार्ग कहा है। इसलिये गृहस्थ व साधु के ग्रहण किये हुए भेषों में ममता छोड़ करके अपने आत्मा को सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग में स्थापन कर, इसी स्वानुभव रूप मोक्षमार्ग में अपने को रख, इसी का मनन कर व इसी का ध्यान कर व इसी में रमण कर। अपने आत्मा को छोड़कर दूसरे द्रव्य के चिंतवन में मत जा।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पंचास्तिकाय में कहते हैं :–

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं ।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥१०६॥

भावार्थ :– आत्मज्ञानी भव्य जीवों के लिये रागद्वेष से रहित सम्यग्दर्शन व ज्ञान से युक्त चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है ।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ॥१४६॥

भावार्थ :– जिसके भावों में राग, द्वेष, मोह नहीं है, न मन, वचन, कायों की क्रिया है, उसी के भाव में शुभ तथा अशुभ भावों को दग्ध करने वाली स्वात्मानुभव रूपी ध्यानमयी अग्नि पैदा हो जाती है ।

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं ।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ॥१५२॥

भावार्थ :– जो साधु अपने आत्मा के स्वभाव को जानता है । उसके लिये सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान सहित आत्मरमणता रूप ध्यान जिसमें आत्मा के सिवाय अन्य द्रव्य का संयोग नहीं है, उत्पन्न होता है । इसी ध्यान से कर्मो का क्षय होता है ।

जो सव्वसंगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण ।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो ॥१५८॥

भावार्थ :– जो कोई सर्व परिग्रह त्यागकर एकाग्रमन होकर अपने आत्मा को स्वभाव के द्वारा निरंतर जानता देखता रहता है वही जीव स्वचारित्र में या आत्मानुभव में या आत्मा के ध्यान में वर्त रहा है ।

णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा ।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६१॥

भावार्थ :– निश्चयनय से यह कहा गया है कि जो आत्मा रत्नत्रय सहित होकर किसी भी अन्य द्रव्य पर लक्ष्य नही देता है और न अपने स्वभाव को त्यागता है । आप आप में मगन होता है वही मोक्षमार्ग है ।

जस्स हिदयेणुमत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो ।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरोवि ॥१६७॥

भावार्थ :– जिसके मन में परमाणु मात्र भी जरा सा भी राग पर द्रव्य में है वह सर्व आगम को जानता हुआ भी अपने आत्मा को नहीं जानता है। आत्मा तो सबसे भिन्न एक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव है, उसमें राग द्वेष के मोह का रंच मात्र भी लेश नहीं है।

तह्मा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो।
सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिव्वाणं तेण पप्पोदि ॥१६६॥

भावार्थ :– इसलिये सर्व इच्छाओं को छोड़कर किसी भी पदार्थ में कहीं भी राग मत कर, इस तरह जो भव्य जीव वीतराग होता है, वही भव-सागर से पार हो जाता है। स्वात्मरमणरूप वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार में कहते हैं :–

संपज्जदि णिव्वाणं, देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो, दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥
चारित्तं खलु धम्मो, धम्मोजो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो 'हि समो ॥७॥

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र से ही जीव को निर्वाण प्राप्त होता है और जब तक निर्वाण न हो वह इन्द्र चक्रवर्ती आदि की विभूति प्राप्त करता है। यह चारित्र ही धर्म है। धर्म एक समभाव कहा गया है। रागद्वेष-मोह से रहित जो अपने आत्मा का स्वभाव है वह ही समभाव है। यही मोक्षमार्ग है, यही स्वात्मानुभव है।

जीवो ववगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे, सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८७॥

भावार्थ :– मोह रहित जीव अपने आत्मा के स्वभाव को भली प्रकार जानकर जब रागद्वेष त्यागता है तब वह शुद्ध आत्मा को पा लेता है अर्थात् शुद्ध आत्मा में ही रमण करता है।

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्ध जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥६५॥

भावार्थ :– श्री जिनेन्द्र के उपदेश को समझकर जो रागद्वेष मोह त्याग देता है वही अतिशीघ्र सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेक्को ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥१०३-२॥

भावार्थ :— न मैं किन्हीं पर पदार्थों का हूँ न पर पदार्थ मेरे हैं। मैं एक अकेला ज्ञानमय हूँ। इस तरह जो ध्याता ध्यान में ध्याता है वही आत्मा का ध्यानी है।

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१०४-२॥

भावार्थ :— ध्याता ऐसा जानता है कि मैं इस तरह अपने आत्मा को ध्याता हूँ कि यह परभावों से रहित शुद्ध है, निश्चल एकरूप है, ज्ञानस्वरूप है, दर्शनमयी है, अपने अतीन्द्रिय स्वभाव से एक महान पदार्थ है, अपने स्वरूप में निश्चल है तथा पर के आलम्बन से रहित स्वाधीन है। यही भावना आत्मानुभव को जागृत करती है।

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता ।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि धादा ॥१०८-२॥

भावार्थ :— जो मोह के मैल को नाशकर इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर तथा मन को रोककर अपने स्वभाव में भली प्रकार स्थित हो जाता है वही आत्मध्यानी है।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरोवि ॥५९-३॥

भावार्थ :— जिसकी मूर्छा देह आदि पर पदार्थों में परमाणु मात्र भी है वह सर्व शास्त्र को जानता हुआ भी सिद्धि को नहीं पा सकता है।

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं ।
विसएसु णावसत्ता जे ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा ॥९५-३॥
सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥९६-३॥

भावार्थ :— जो जीव यथार्थ रूप से जीवादि पदार्थों को जानते हैं तथा बाहरी व भीतरी परिग्रह को छोड़कर पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होते हैं, उन्हीं को शुद्ध मोक्षमार्गी कहा गया है। जो परम वीतराग भाव

को प्राप्त हुआ मोक्ष का साधक परमयोगीश्वर है उसी के सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र की एकतारूप साक्षात् मोक्षमार्गरूप श्रमण पद कहा गया है। उसी शुद्धोपयोगी के अनंत दर्शन व अनंत ज्ञान प्रगट होता है, उसी को ही निर्वाण होता है, वही सिद्ध है, उनको बार बार नमस्कार हो।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य चारित्रपाहुड़ में कहते हैं :—

ए ए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स।
नियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ ॥१६॥

भावार्थ :— जो मोहरहित जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र-मयी गुणों को धारते हुए अपने आत्मिक शुद्ध गुणों की अराधना करता है वह शीघ्र ही कर्मों से छूट जाता है।

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥४३॥

भावार्थ :— जो आत्मज्ञानी स्वरूपाचरण चारित्र को धारता हुआ अपने आत्मा में परद्रव्य को नहीं चाहता है अर्थात् केवल आत्मरमी हो जाता है, पर द्रव्य से रागद्वेष मोह नहीं करता है सो शीघ्र ही उपमा रहित सहज सुख को पाता है ऐसा निश्चय से जानो।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड़ में कहते हैं :—

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदू धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥८५॥

भावार्थ :— जो आत्मा रागद्वेषादि सर्व दोषों को छोड़कर अपने आत्मा के स्वभाव में लवलीन होता है वही संसार-सागर से तिरने का उपाय धर्म जिनेन्द्रों ने कहा है।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड़ में कहते हैं :—

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥१२॥

भावार्थ :— जो योगी शरीर के सुख से उदासीन है, रागद्वेष के द्वन्द्व से रहित है, पर पदार्थ में जिसने ममता छोड़ दी है, जो आरम्भ रहित है और आत्मा के स्वभाव में लीन है, वही निर्वाण को पाता है।

सव्वे कसाय मुत्तं गारवमयरायदोसवा मोहम् ।
लोयववहारविरवो अप्पा झाएइ झाणत्थो ।।२७।।

भावार्थ :-- ध्याता सर्व कषायों को छोड़कर अहंकार, मद, राग-द्वेष, मोह व लौकिक व्यवहार से विरक्त होकर ध्यान में लीन होकर अपने ही आत्मा को ध्याता है ।

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ।।३१।।

भावार्थ :-- जो योगी जगत के व्यवहार में सोता है वही अपने आत्मा के कार्य में जागता है तथा जो लोक व्यवहार में जागता है वह अपने आत्मा के कार्य में सोता है ।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए ।
सो पावइ परपपयं झायन्तो अप्पयं सुद्धम् ।।४३।।

भावार्थ :-- जो संयमी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय को धारता हुआ अपनी शक्ति के अनुसार तप करता हुआ अपने आत्मा को ध्याता है वही परमपद को पाता है ।

होऊण विढचरित्तो विढसम्मत्तेण भावियमईओ ।
झायन्तो अप्पाणं परमपयंपावए जोई ।।४९।।

भावार्थ :-- जो योगी दृढ़ सम्यक्त्व की भावना करता हुआ दृढ़ चारित्र को पालता है और अपने शुद्ध आत्मा को ध्याता है वही परम पद को पाता है ।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ।।५०।।

भावार्थ :-- चारित्र आत्मा का धर्म है । धर्म है वही आत्मा का स्वभाव है, तथा वह स्वभाव रागद्वेष रहित आत्मा का ही अपना भाव है ।

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण विढचरित्ताणं ।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ।।७०।।

भावार्थ :-- जो विषयों से विरक्त चित्त है, जिनका सम्यक्त शुद्ध है और चारित्र दृढ़ है जब वे आत्मा को ध्याते हैं तो उनको निश्चय से निर्वाण का लाभ होता है ।

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो ।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ।।८३।।

भावार्थ :-- निश्चय नय का यह अभिप्राय है कि जो आत्मा, आत्मा ही में, आत्मा ही के लिये भली प्रकार लीन होता है वही स्वरूपाचरणरूपी चारित्र को पालता हुआ निर्वाण को पाता है ।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि ।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ।।१०१।।
गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिओ साहू ।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ।।१०२।।

भावार्थ :-- जो साधु वैराग्यवान है, पर द्रव्यों से पराङ्मुख है, संसार के क्षणिक सुख से विरक्त है, आत्मा के सहज शुद्ध सुख में अनुरक्त है, गुणों के समूह से विभूषित है, ग्रहण करने योग्य व त्याग करने योग्य का निश्चयज्ञान रखने वाला है, ध्यान में तथा आगम के अध्ययन में लगा रहता है वही उत्तम स्थान मोक्ष को पाता है ।

(७) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार के द्वादशानुप्रेक्षा अधिकार में कहते हैं :--

जह धादू धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो ।
तवसा तहा विसुज्झदि जीवो कम्मेहि कणयं व ।।५६।।

भावार्थ :-- जैसे सुवर्ण धातु अग्नि से धौंके जाने पर मल रहित सुवर्ण में परिणत हो जाती है वैसे ही यह जीव आत्मा में तप्त रूप तप के द्वारा कर्म मल से छूटकर शुद्ध हो जाता है ।

णाणवरमारुदजुदो सीलवरसमाधिसंजमुज्जलिदो ।
दहइ तवो भवबीयं तणकट्ठादी जहा अग्गी ।।५७।।

भावार्थ :-- जैसे अग्नि तृण व काष्ठ को जला देती है ऐसे ही आत्म ध्यान रूपी तप की अग्नि उत्तम आत्मज्ञान रूपी पवन के द्वारा बढती हुई तथा शील समाधि और संयम के द्वारा जलती हुई संसार के बीजभूत कर्मों को जला देती है ।

(८) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार के अनगार भावना अधिकार में कहते हैं :—

दंतेंदिया महरिसी रागं दोसं च ते खवेदूणं ।

झाणोवजोगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ।।११५।।

भावार्थ :— जो महामुनि इन्द्रियों को दमन करने वाले हैं वे ध्यान में उपयोग लगाते हुए राग द्वेष को क्षय करके सर्व मोह को दूर करते हुए कर्मों का क्षय करते हैं ।

अट्ठविहकम्ममूलं खविद कसाया खमादि जुत्तेहिं ।

उद्धदमूलो व दुमो ण जाइदव्वं पुणो अत्थि ।।११६।।

भावार्थ :— आठ प्रकार कर्मों के मूल कारण कषाय हैं उनको जब क्षमादि भावों से क्षय कर दिया जाता है फिर कर्म नहीं बंधते जैसे जिस वृक्ष की जड़ काट दी जाय फिर वह नहीं उग सकता है ।

जह ण चलइ गिरिराजो अवरुत्तरपुव्वदक्खिणेवाए ।

एवमचलिदो जोगी अभिक्खणं झायदे झाणं ।।११८।।

भावार्थ :— जैसे सुमेरु पर्वत पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर की पवनों से चलायमान नहीं होता है वैसे योगी निश्चल होकर निरन्तर ध्यान करता है ।

(९) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार के समयसार अधिकार में कहते है :—

धीरो वइरग्गपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु ।

ण य सिज्झदि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं ।।३।।

भावार्थ :— जो साधु धीर है, वैराग्यवान है वह थोड़ा भी शास्त्र जाने तो भी सिद्धि को प्राप्त कर लेता है परन्तु जो सर्व शास्त्रों को पढ़कर भी वैराग्यरहित है वह कभी सिद्ध न होगा ।

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू जंप ।

दुःखं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहि सुट्ठुवेरग्गं ।।४।।

भावार्थ :— ध्यानी साधु को उपदेश करते हैं कि भिक्षा से भोजन कर, एकांत वन में रह, थोड़ा जीम, बहुत बात मत कर, दुःखों को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भावना व वैराग्य का भली प्रकार चितवन कर ।

अव्ववहारी एक्को झाणे एयग्गमणो भवे णिरारंभो ।
चत्तकसायपरिग्गह पयत्तचेट्ठो असंगो य ॥५॥

भावार्थ :– ध्यानी साधु को लोक व्यवहार से दूर रहना चाहिये, एकाकी रहकर ध्यान में एकाग्र मन रखना चाहिये, आरम्भ नहीं करना चाहिये, कषाय व परिग्रह का त्यागी होना चाहिये, ध्यान में उद्योगी रहना चाहिये व असंग भाव अर्थात् ममता रहित भाव रखना चाहिये ।

णाणविण्णाणसंपण्णो झाणज्झणतवेजुदो ।
कसायगारवुम्मुक्को संसारं तरवे लहुं ॥७७॥

भावार्थ :– जो ज्ञान और भेदविज्ञान से संयुक्त है, ध्यान, स्वाध्याय व तप में लीन है, कषाय व अहंकार से रहित है सो शीघ्र संसार को तरता है ।

(१०) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार वृहत् प्रत्याख्यान अधिकार में कहते है :–

ध्यानी ध्यान के पहले ऐसी भावना भावे :–

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसा वोसरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए ॥४२॥

भावार्थ :– मैं सर्व प्राणियों पर समभाव रखता हूँ, मेरा किसी से वैर भाव नहीं है, मैं सब आशाओं को त्यागकर आत्मा की समाधि को धारण करता हूँ ।

खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूवेसु वेरं मज्झं ण केणवि ॥४३॥

भावार्थ :– मैं सर्व जीवों पर क्षमाभाव लाता हूँ । सर्व प्राणी भी मुझ पर क्षमा करो । मेरी मैत्री सर्व जीव मात्र से हो, मेरा वैरभाव किसी से न रहो ।

रायबंध पदोसं च हरिसं दीणभावयं ।
उस्सुगत्तं भयं सोगं रदिमरदिं च वोसरे ॥४४॥

भावार्थ :– मैं रागभाव को, द्वेषभाव को, ईर्ष्याभाव को, दीनभाव को, उत्सुकभाव को (राग सहित भाव से करना कुछ विचारना कुछ), भय को, शोक को, रति को व अरति को त्यागता हूँ ।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥४५॥

भावार्थ :-- मैं ममता को त्यागता हूँ, निर्ममत्व भाव से तिष्ठता हूँ, मैं मात्र एक आत्मा का ही सहारा लेता हूँ और सब आलम्बनों को त्यागता हूँ ।

जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण ।
असबल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ॥७२॥

भावार्थ :-- जो जिनवाणी में लीन रहते हैं, गुरु की आज्ञा को भाव से पालते हैं, मिथ्यात्व रहित व संक्लेश भाव रहित होते हैं वे संसार से पार होते हैं ।

(११) श्री समंतभद्र आचार्य स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं :--

सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं मनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः ।
विविध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहं ॥४७॥

भावार्थ :-- हे शीतलनाथ भगवान ! सुख की इच्छा रूपी अग्नि की दाह से मूर्छित मन को आपने आत्मज्ञान रूपी अमृत के जल से सिंचित करके बुझा डाला, जिस तरह वैद्य विष की दाह से तप्त अपने शरीर को मन्त्र के प्रभाव से विष को उतार कर शांत कर देता है ।

कषायनाम्नां द्विषतां प्रमाथिनामशेषयन्नाम भवानशेषवित् ।
विशोषणं मन्मथदुर्मदामयं समाधिभैषज्यगुणैर्व्यलीनयन् ॥६७॥

भावार्थ :-- हे अनन्तनाथ स्वामी ! आपने आत्मा का मथन करने वाले, घात करने वाले, कषाय नाम के वैरी को मूल से नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया तथा आत्मा को सुखाने वाले कामदेव के खोटे मद के रोग को आत्मा की समाधि रूपी औषधि के गुणों से दूर कर डाला । वास्तव में आत्म ध्यान ही शांति का उपाय है ।

हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतीश्चतस्रो रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्य्यः ।
बिभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ॥८४॥

भावार्थ : - हे कुन्थुनाथ भगवान ! आपने रत्नत्रय रूपी तेज से आत्मबल को प्रगट करके आत्मध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मों की कटुक प्रकृतियों को जला डाला । तब आप अरहत हो गए । आपने सम्यग्ज्ञान का प्रकाश

किया । जैसे आकाश में से मेघों के चले जाने से सूर्य का प्रकाश हो जाता है ऐसे आप ज्ञानावरणादि कर्मों के दूर होने सूर्य सम सर्वज्ञ स्वरूप में प्रकट हो गए ।

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः ।
दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर पराजितः ॥६०॥

भावार्थ :– हे अरहनाथ भगवान परमवीर ! आपने क्रोधादि कषाय रूपी योद्धाओं को रखने वाले और महा-पापी मोहरूपी शत्रु को सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप आत्मानुभव रूपी शस्त्र से जीत लिया । तात्पर्य यह है कि शुद्धात्मानुभव ही मोह को जीतने का उपाय है ।

आयत्यां च तदात्वे च दुःखयोर्निनिस्तरा ।
तृष्णा नदी त्वयोत्तीर्णा विद्यानावा विविक्तया ॥६२॥

भावार्थ :– हे अरहनाथ भगवान ! आपने इस लोक और परलोक दोनों लोक में दुःखों को देने वाली व जिसका पार होना बड़ा कठिन है ऐसी तृष्णा-रूपी नदी को वीतरागता सहित आत्मानुभव रूपी नौका में चढ़कर पार कर डाला । अर्थात् रागद्वेष रहित आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है ।

दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशांतये ॥११५॥

भावार्थ :-- हे मुनिसुव्रतनाथ ! आपने आठ कर्मरूपी मलीन कलंक को अनुपम आत्मध्यान की अग्नि को जलाकर भस्म कर डाला और आप अतीन्द्रिय सिद्ध के सहज सुख के भोक्ता हो गए । आपके प्रताप से मैं भी इसी तरह आत्म ध्यान करके अपने संसार को शान्त कर डालूं । सहज सुख का साधन एक आत्मा का ध्यान ही है ।

भगवानृषिः परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनम् ।
ज्ञानविपुलकिरणैः सकलं प्रतिबुध्य बुद्धः कमलायतेक्षणः ॥१२१॥
हरिवंशकेतुरनवद्यविनयदमतीर्थनायकः ।
शीतलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोऽजरः ॥१२२॥

भावार्थ :-- हे अरिष्ट नेमि जिन तीर्थंकर ! आपने उत्तम आत्मध्यान की अग्नि से कर्मरूपी ईंधन को दग्ध कर डाला, आप ही परम ऐश्वर्यवान् सच्चे

ऋषि हो। आपने केवलज्ञान की विशाल किरणों से सर्व विश्व को जान लिया। आप प्रफुल्लित कमल समान नेत्र के धारी हैं, हरिवंश की ध्वजा हैं, निर्दोष चारित्र व संयममयी धर्म तीर्थ के उपदेष्टा हैं, शील के समुद्र हैं, भव रहित हैं अजर व अविनाशी हैं। यहाँ भी आत्मानुभव की ही महिमा है।

स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम्।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भूतं त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम् ॥१३३॥

भावार्थ :– हे पार्श्वनाथ स्वामी! आपने आत्मध्यान रूपी खड्ग की तेज धारा से कठिनता से जीते जाने योग्य मोहरूपी शत्रु को क्षय कर डाला और अचिन्त्य अद्भुत व तीन लोक के प्राणियों से पूजने योग्य ऐसे अरहन्त पद को प्राप्त कर लिया। यहां भी आत्मानुभव की ही महिमा है।

(१२) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते है :--

दंसणणाणचरित्तं, तवं च विरियं समाधिजोगं च।
तिविहेणुवसंपज्जि य, सव्वुवरिल्लं कमं कुणइ ॥१७६७॥

भावार्थ :– जो साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक् तप, सम्यक् वीर्य व आत्म ध्यान मयी समाधि योग, इनको मन, वचन, काय तीनों योगों को थिर करके ध्याता है वही सर्वोत्कृष्ट क्रिया करता है।

जिदरागो जिददोसो, जिदिंदिओ जिदभओ जिदकसाओ।
रदिअरदिमोहमहणो, झाणोवगओ सदा होइ ॥१७६८॥

भावार्थ :-- जो साधु राग द्वेप को जीतने वाला है, इन्द्रियो को वश करने वाला है, भय रहित है, कषायों को जीतने वाला है, रति अरति व मोह का मथन करने वाला है वही सदा ध्यान में उपयुक्त हो सकता है।

जह जह णिव्वेदुवसम–, वेरग्गदयादमा पवड्ढंति।
तह तह अब्भासयरं, णिव्वाणं होइ पुरिसस्स ॥१८६२॥

भावार्थ :-- जैसे जैसे साधु में धर्मानुराग, शांति वैराग्य, दया, इन्द्रिय सयम बढ़ते जाते हैं वैसे २ निर्वाण अति निकट आता जाता है।

वयरं रदणेसु जहा, गोसीसं चंदणं व गंधेसु।
वेरुलियं व मणीणं तह झाणं होइ खवयस्स ॥१८६४॥

भावार्थ :-- जैसे रत्नों में हीरा प्रधान है, सुगंध द्रव्यों में गोसीर चन्दन प्रधान है, मणियों में वैडूर्यमणि प्रधान है तैसे साधु के सर्व व्रत व तपों में आत्मध्यान प्रधान है।

झाणं कसायवादे, गब्भघरं मारुए व गब्भहरं।
झाणं कसायउण्हे, छाही छाही व उण्हम्मि ।।१८९६।।

भावार्थ :-- जैसे प्रबल पवन की बाधा मेटने को अनेक घरों के मध्य में गर्भगृह समर्थ है वैसे कषाय रूपी प्रबल पवन की बाधा मेटने को ध्यान रूपी गर्भगृह समर्थ है। जैसे गर्मी की आताप में छाया शांतिकारी है वैसे ही कषाय की आताप को मेटने के लिये आत्म ध्यान की छाया हितकारी है।

झाणं कसायडाहे, होदि वरदहो व दाहम्मि।
झाणं कसायसीदे, अग्गी अग्गी व सीदम्मि ।।१८९७।।

भावार्थ :-- कषाय रूपी दाह के हरने को आत्मा का ध्यान उत्तम सरोवर है तथा कषाय रूपी शीत के दूर करने को आत्मा का ध्यान अग्नि के समान उपकारी है।

झाणं कसायपरच-क्कमए बलवाहणड्ढओ राया।
परचक्कभए बलवा-, हणड्ढओ होइ जह राया ।।१८९८।।

भावार्थ :-- जैसे पर चक्र के भय से बलवान वाहन पर चढ़ा हुआ राजा प्रजा की रक्षा करता है वैसे कषाय रूपी पर चक्र के भय से समताभाव रूपी वाहन पर चढ़ा आत्म ध्यान रूपी राजा रक्षा करता है।

झाणं कसायरोगे, सु होइ विज्जो तिगिंछदो कुसलो।
रोगेसु जहा विज्जो, पुरिसस्स तिगिंछओ कुसलो ।।१८९९।।

भावार्थ :-- जैसे रोग होने पर प्रवीण वैद्य रोगी पुरुष का इलाज कर के रोग को दूर करता है, वैसे कषाय रूपी रोग के दूर करने को आत्मध्यान प्रवीण वैद्य के समान है।

झाणं विसयछुहाए, य होइ अछुहाइ अण्णं वा।
झाणं विसयतिसाए, उदयं उदयं व तण्णाए ।।१९००।।

भावार्थ :-- जैसे क्षुधा की वेदना को अन्न दूर करता है, तैसे विषयों की चाह रूपी क्षुधा को आत्म ध्यान मेटता है जैसे प्यास को शीतल मिष्ट जल दूर करता है, वैसे विषयों की तृष्णा को मेटने के लिये आत्मध्यान समर्थ है।

(१३) श्री पूज्यपाद आचार्य इष्टोपदेश में कहते हैं :--

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः ।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितं ।।२२।।

भावार्थ :--आत्मज्ञानी ध्याता को उचित है कि इन्द्रियों के ग्राम को संयम में लाकर और मन को एकाग्र करके आत्मा ही के द्वारा आत्मा में स्थित अपने आत्मा को ध्यावे ।

अभिवच्छिन्नविक्षेप एकांते तत्वसंस्थितिः ।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्वं निजात्मनः ।।३६।।

भावार्थ :-- जहां मन में आकुलता न आवे ऐसे एकांत में बैठकर आत्मा के तत्व को भली प्रकार निश्चय करने वाला योगी योगबल से अपने ही आत्मा के स्वरूप के ध्यान का अभ्यास करे ।

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि ।।३७।।

भावार्थ :-- जैसे जैसे स्वात्मानुभव में उत्तम आत्मा का तत्व भली प्रकार आता जाता है वैसे वैसे सुलभ भी इन्द्रियों के विषय नही रुचते है ।

निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपमं जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ।।३९।।

भावार्थ :-- ध्यान करने वाला सर्व जगत को इन्द्रजाल के तमाशे के समान देखता है, आत्मा के अनुभव की ही कामना रखता है । यदि आत्मा-नुभव से उपयोग दूसरे विषय पर जाता है तो पश्चात्ताप करता है ।

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति ।
स्थिरीकृतात्मतत्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ।।४१।।

भावार्थ :-- जिसने आत्मध्यान में स्थिरता प्राप्त करली है व आत्मा के मनन का भली प्रकार अभ्यास कर लिया है वह इतना स्वभाव में मगन रहता है कि कुछ कहते हुए भी मानों नहीं कहता है, चलते हुए भी नही चलता है, देखते हुए भी नहीं देखता है । अर्थात् वह आत्मानंद का ही प्रेमी रहता है, और कार्य में दिल नहीं लगाता है ।

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतं ।
न चासौ खिद्यते योगीर्बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥

भावार्थ :– योगी आत्मध्यान करता हुआ ऐसा एकाग्र हो जाता है कि बाहर शरीर पर कुछ दुःख पड़े तो उनको नहीं गिनता हुआ कुछ भी खेदित नहीं होता है । तथा परमानन्द का अनुभव करता है । यही आनन्द ही वह ध्यान की अग्नि है जो निरन्तर जलती हुई बहुत कर्मों के ईंधन को जला देती है ।

(१४) श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक में कहते हैं :–

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः ।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥२७॥

भावार्थ :– बहिरात्मा बुद्धि को छोड़कर, आत्मा का निश्चय करने वाला अन्तरात्मा होकर, सर्व संकल्प से रहित परमात्मस्वरूप अपने आत्मा की भावना करनी चाहिये ।

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिनभावनया पुनः ।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥२८॥

भावार्थ :– "सोहं" इस पद के द्वारा मैं परमात्मारूप हूँ, ऐसा बार बार संस्कार होने से व उसी आत्मा में बार बार भावना करने से तथा इस भावना का बहुत दृढ़ अभ्यास होने से योगी आत्मा में तन्मयता को प्राप्त करता है ।

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥३३॥

भावार्थ :– जो कोई शरीरादि पर पदार्थों से भिन्न इस अविनाशी आत्मा का अनुभव नहीं करता है वह उत्कृष्ट तप तपते हुए भी निर्वाण को नहीं पा सकता है ।

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जनोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

भावार्थ :– जब योगी को आत्मा और देहादि पर पदार्थों के भेदविज्ञान से व आत्मा के अनुभव से आनन्द का स्वाद आता है तब कठिन घोर तप करते हुए भी कोई खेद विदित नहीं होता है ।

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः ।।३५।।

भावार्थ :– जिस योगी का मनरूपी जल रागद्वेषादि की तरंगों से चंचल नहीं है वही आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अनुभव कर सकता है, और कोई आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता है ।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ।।७८।।

भावार्थ :– जो योगी लोक व्यवहार में सोता है वही आत्मा के अनुभव में जागता है परन्तु जो इस लोक व्यवहार में जागता है वह आत्मा के मनन में सोता रहता है ।

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ।।७६।।

भावार्थ :– शरीरादि को बाहरी पदार्थ देखकर जो भीतर में अपने आत्मा को देखता है और उसके स्वरूप को भली प्रकार समझकर आत्मा के अनुभव का अभ्यास करता है वही निर्वाण को पाता है ।

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ।।६५।।

भावार्थ :– जिस पदार्थ को बुद्धि से निश्चय कर लिया जाता है उसी पदार्थ में प्राणी की श्रद्धा हो जाती है । तथा जिस किसी में श्रद्धा हो जाती है उसी में ही यह चित्त लय हो जाता है । श्रद्धा ही ध्यान का बीज है ।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ।।६७।।

भावार्थ :– यदि आत्मा अपने से भिन्न सिद्ध परमात्मा को लक्ष्य में लेकर ध्यान करे तो वह भी दृढ़ अभ्यास से आत्मानुभव प्राप्त करके परमात्मा के समान परमात्मा हो जायेगा । जैसे बत्ती अपने से भिन्न दीपक की सेवा करके स्वयं दीपक हो जाती है ।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथातरुः ।।६८ ––

भावार्थ :– अथवा यह आत्मा अपने ही आत्मा की आराधना करके भी परमात्मा हो जाता है। जैसे वृक्ष स्वयं लड़कर आप ही अग्निरूप हो जाते हैं। आत्मा का अनुभव सिद्ध भगवान के ध्यान द्वारा व अपने आत्मा के ध्यान द्वारा दोनों से प्राप्त हो सकता है।

(१५) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं :–

एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वं सहत्वात्
भ्रान्त्याऽचिन्त्याः सहायं तनुमिव सहसालोच्य किंचित्सलज्जाः।
सज्जीभूताः स्वकार्य्ये तदपगमविधिं बद्धपल्यङ्कबन्धाः
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहा गुह्यगेहे नृसिंहाः ॥२५८॥

भावार्थ :– मानवों में सिंह के समान साधु, जिनकी प्रतिज्ञा एकाकी रहने की है, जिन्होंने सर्व परिग्रह त्याग दिया है व जो परीषहों को सहने वाले हैं, जिनकी महिमा चिन्तवन में नहीं आ सकती, जो शरीर की सहायता लेते हुए लज्जा को प्राप्त हैं, जिसको अब तक भ्रांति से सहाई जाना था परन्तु जो आत्मा के स्वभाव से विपरीत है, जो अपने आत्मा के कार्य में आप उद्यमवत है जो पर्यकासन से तिष्ठे है तथा जिनके यह भावना है कि पुनः शरीर प्राप्त न हो, जिन्होंने मोह को दूर कर दिया है तथा जो पर्वत की भयानक गुफा आदि गुप्त स्थान में तिष्ठते हैं, ऐसे साधु आत्मा के स्वभाव का ध्यान करते है।

अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोट्याम्।
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या निवृत्तिमभ्यस्तु मोक्षकांक्षी ॥२३५॥

भावार्थ :– यह सर्व जगत मोक्षमार्ग की अपेक्षा भोगने योग्य नहीं है, संसार की प्रवृत्ति की अपेक्षा भोग्य है। परमार्थ की अपेक्षा इस जगत को अभोग्य और भोग्य जानकर भी संसार के त्याग का अभ्यास करो, तब इस जगत को अभोग्य ही जानो क्योंकि इस संसार के भोगों में लिप्त होने से संसार होगा व वैराग्य भाव से मोक्ष होगा।

तावद्दुःखाग्नितप्तात्माऽयःपिण्ड इव सीदसि।
निर्वासिनिर्वृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि ॥२३३॥

भावार्थ :– हे भव्य ! तू लोहे के गर्म पिण्ड की तरह संसार के दुःखों की अग्नि से संतापित होकर उसी समय तक कष्ट पा रहा है जब तक तू निर्वाण

के आनन्दरूपी समुद्र में अपने को नहीं डुबाता है। तात्पर्य यह है कि आत्म ध्यान से सर्व संताप मिट जाता है।

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥२२५॥

भावार्थ :– जो साधु यम नियम में तत्पर हैं, जिनका अंतरंग व बहिरंग शांत है, परसे ममता रहित हैं, समाधिभाव को प्राप्त हुए हैं, सब जीवों में जो दयालु हैं, शास्त्रोक्त अल्प मर्यादित आहार के जो करने वाले हैं, निन्द्रा को जिन्होंने जीता है, आत्म स्वभाव का सार जिन्होंने निश्चय कर लिया है वे ही ध्यान के बल से सर्व दुःखों के जाल को जला देते हैं।

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः
स्वहितनिहितचित्ताः शांतसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥२२६॥

भावार्थ :– जिन्होंने सर्व शास्त्रों का रहस्य जाना है, जो सर्व पापों से दूर हैं, जिन्होंने आत्मकल्याण में अपना मन लगाया है व जिन्होने सर्व इन्द्रियों के विषयों को शमन कर दिया है, जिनकी वाणी स्वपर कल्याणकारिणी है, जो सर्व संकल्प से रहित हैं, ऐसे विरक्त साधु सिद्ध सुख के पात्र क्यों न होंगे ? अर्थात् अवश्य होंगे।

हृदयसरसि यावन्निर्मलेप्यत्यगाधे
वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात्।
श्रयति गुणगुणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कम्
समदमयमशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व ॥२१३॥

भावार्थ :– हे भव्य ! जब तक तेरे निर्मल व अगाध हृदयरूपी सरोवर में कषारूपी जलचरों का समूह वसता है तब तक गुणों का समूह निःशंक होकर तेरे भीतर प्रवेश नहीं कर सकता है, इसलिये तू समताभाव, इन्द्रिय संयम व अहिंसादि महाव्रतों के द्वारा उन कषायों के जीतने का यत्न कर।

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥१७७॥

भावार्थ :– आत्मज्ञानी मुनि बार बार आत्मज्ञान की भावना करता हुआ तथा जगत के पदार्थों को जैसे हैं वैसे जानता हुआ उन सबसे रागद्वेष छोड़ के आत्मा का ध्यान करता है ।

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः ।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज् ज्ञानभावनाम् ॥१७४॥

भावार्थ :– आत्मा ज्ञानस्वभावी है । उसी ज्ञान स्वभाव की प्राप्ति ही अविनाशी मुक्ति है, इसलिये जो निर्वाण को चाहता है उसे आत्मज्ञान की भावना करनी चाहिये ।

ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संबलम्
चारित्रं शिविका निवेशनभुवः स्वर्गा गुणा रक्षकाः ।
पंथाश्च प्रगुणं शमाम्बुबहुलः छाया दया भावना
यानं तन्मुनिमापयेदभिमतं स्थान विना विप्लवैः ॥१२५॥

भावार्थ :– जिसके सम्यग्ज्ञान तो आगे आगे चलने वाला है, लज्जा साथ चलने वाली सखी है, सम्यक् चारित्र पालकी है, बीच में ठहरने के स्थान स्वर्ग हैं, आत्मीक गुण रक्षक हैं, शांतिमयी जल से पूर्ण मार्ग है, दया की जहां छाया है, आत्मभावना यही गमन है, ऐसा समाज जहां प्राप्त हो वह समाज बिना किसी उपद्रव के मुनि को अपने अभीष्ट स्थान मोक्ष ले जाता है ।

दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् ।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥१०७॥

भावार्थ :– हे साधु ! तू दया, संयम, त्याग व आत्मध्यान सहित मोक्ष मार्ग में सीधा कपट रहित प्रयत्नशील होकर गमन कर, यह मार्ग तुझे अवश्य वचन अगोचर, विकल्पों से अतीत उत्कृष्ट मोक्षपद में ले जायेगा ।

(१६) श्री देवसेनाचार्य तत्वसार में कहते हैं :–

जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्खकारणं तं च ।
तं णाऊण विसुद्धं झायह होऊण णिग्गंथो ॥६॥

भावार्थ :– जो निर्विकल्प आत्म तत्व है वही सार है, वही मोक्ष का कारण है उसी को जानकर और निर्ग्रन्थ होकर उसी निर्मल तत्व का ध्यान कर।

रायादिया विभावा बहिरंतरउहवियप्प मुत्तूणं।
एयग्गमणो झायहि णिरंजणं णिययअप्पाणं ॥१८॥

भावार्थ :– रागादि विभावों को तथा बाहरी व भीतरी सर्व मन, वचन, काय के विकल्पों को छोड़कर और एकाग्र मन होकर तू अपने निरंजन शुद्ध आत्मा का ध्यान कर।

जह कुणइ कोवि भेयं पाणियदुद्धाण तक्कजोएण।
णाणी व तहा भेयं करेइ वरझाणजोएण ॥२४॥
झाणेण कुणउ भेयं पुग्गलजीवाण तह य कम्माणं।
घेत्तव्वो णियअप्पा सिद्धसरूवो परो बंभो ॥२५॥
मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥२६॥

भावार्थ :– जैसे कोई अपनी तर्क बुद्धि से पानी और दूध के मिले होने पर भी पानी और दूध को अलग अलग जानता है वैसे ही ज्ञानी उत्तम व सूक्ष्म भेद विज्ञान के बल से आत्मा को शरीरादि से भिन्न जानता है। ध्यान के बल से जीव से पुद्गल और कर्मों का भेद करके अपने आत्मा को ग्रहण करना चाहिये जो निश्चय से सिद्ध स्वरूप परम ब्रह्म है। जैसे कर्म मल रहित, ज्ञानमयी सिद्ध भगवान सिद्ध गति में हैं वैसा ही परम ब्रह्म इस शरीर में विराजित है ऐसा अनुभव करना चाहिये।

रायद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं।
सो णियतच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ॥४०॥
सरसलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियंपि जह रयणं।
मणसलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले ॥४१॥

भावार्थ :– जिसके मनरूपी जल को रागादि विभाव चंचल नहीं करते हैं वही अपने आत्मा के तत्व का अनुभव कर सकता है उससे विपरीत हो तो कोई स्वात्मानुभव नहीं कर सकता है। जब सरोवर का पानी स्थिर होता है

तब उसके भीतर पड़ा हुआ रतन जैसे साफ साफ दिख जाता है वैसे निर्मल मनरूपी जल के स्थिर होने पर आत्मा का दर्शन हो जाता है ।

दंसणणाणचरित्तं जोई तस्सेह णिच्छयं भणियं ।
जो वेयइ अप्पाणं सचेयणं सुद्धभावट्ठं ॥४५॥

भावार्थ :– जो कोई शुद्ध भाव में स्थिर, चेतन स्वरूप अपने आत्मा का अनुभव करता है उसी योगी के निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र कहे गये हैं ।

सयलवियप्पे थक्के उप्पज्जइ कोवि सासओ भावो ।
जो अप्पाणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सो हु ॥६१॥

भावार्थ :– सर्व संकल्प विकल्पों के रुक जाने पर योगी के भीतर एक ऐसा शाश्वत शुद्ध भाव प्रगट हो जाता है जो आत्मा का स्वभाव है तथा वही मोक्ष का मार्ग है ।

(१७) श्री आचार्य योगीन्दुदेव योगसार में कहते हैं :–

जिण सुमिरहु जिण चिंतवहु जिण झायहु समणेण ।
सो झाहंतह परमपउ लब्भइ इक्कखणेण ॥१९॥

भावार्थ :– श्री जिन परमात्मा का स्मरण करो, उनका ही चिन्तवन करो, उन ही का शुद्ध मन होकर ध्यान करो, उसी के ध्यान करने से एक क्षण में परम पद जो मोक्ष है उसका लाभ होगा ।

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसंजमसंजुत्त ।
तउ लहु पावइ सिद्ध सुहु इउ जिणणाहह वुत्त ॥३०॥

भावार्थ :– जो कोई व्रत व संयम के साथ निर्मल आत्मा की भावना करता है वह शीघ्र ही सिद्ध सुख को पाता है ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है ।

जे परभाव चएवि मुणी अप्पा अप्पु मुणंति ।
केवलणाणसरूव लियइ ते संसारु मुचंति ॥६२॥

भावार्थ :– जो मुनि रागादि पर भावों को छोड़कर आत्मा के द्वारा आत्मा का अनुभव करते हैं वे केवलज्ञान स्वरूप को पाकर संसार से मुक्त हो जाते हैं ।

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणिपत्त कया वि ।
तह कम्मेण ण लिप्पियइ जइ रइ अप्पसहावि ॥६१॥

भावार्थ :-- जैसे कमलिनी का पत्ता कभी भी पानी में नहीं डूबता है वैसे जो कोई आत्मा के स्वभाव में रमण करता है वह कर्मों से नहीं बँधता है ।

(१८) श्री नागसेनाचार्य तत्वानुशासन में कहते हैं :--

निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभिर्यः समाहितो भिक्षुः ।
नोपादत्ते किंचिन्न च मुञ्चति मोक्षहेतुरसौ ॥३१॥
यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा ।
दृगवगमचरणरूपस्स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः ॥३२॥

भावार्थ :-- निश्चयनय से जो भिक्षु सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इस रत्नत्रय सहित होकर न कुछ ग्रहण करता है, न कुछ त्यागता है, आप आपमे एकाग्र हो जाता है यही मोक्षमार्ग है । जो कोई वीतरागी आत्मा आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा में देखता है, जानता है वही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप होता हुआ निश्चय मोक्षमार्ग है ऐसा जिनेन्द्र का वचन है, क्योंकि व्यवहार और निश्चय दोनों ही प्रकार का मोक्षमार्ग ध्यान में प्राप्त होता है । इसलिये बुद्धिमान लोग आलस्य को त्यागकर सदा ही आत्मध्यान का अभ्यास करो ।

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः ।
षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव　　निश्चयात् ॥७४॥

भावार्थ :-- क्योंकि ध्याता आत्मा, अपने आत्मा को अपने आत्मा में अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा के लिए अपने आत्मा में से ध्याता है । अतएव निश्चय से छह कारकमयी यह आत्मा ही ध्यान है ।

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥७५॥

भावार्थ :-- असंगपना, कषायों का निरोध, व्रत धारना तथा मन और इन्द्रियों की विजय, ये चार बातें ध्यान की उत्पत्ति में सामग्री हैं ।

संचिंतयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः ।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्थपराङ्मुखः ॥७६॥

भावार्थ :— जो साधु इन्द्रियों के पदार्थों की ओर से ध्यान हटाकर भावनाओं का चिंतवन करता हुआ नित्य स्वाध्याय में लगा रहता है वही मन को जीत लेता है ।

स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः पंचनमस्कृतेः ।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ॥८०॥

भावार्थ :— उत्तम स्वाध्याय पांच परमेष्ठी के नमस्कार मंत्र का जप है अथवा एकाग्र मन से जिनेन्द्र कथित शास्त्रों का पढ़ना है ।

स्वाध्यायात्ध्यानमध्यस्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत् ।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥८१॥

भावार्थ :— स्वाध्याय करते करते ध्यान में आना चाहिये । ध्यान में मन न लगे तब स्वाध्याय करना चाहिये । ध्यान और स्वाध्याय की प्राप्ति से ही परमात्मा का स्वभाव प्रकाशमान होता है ।

विधासुः स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थिति ।
विहायान्यदनर्थित्वात् स्वमेवावैतु पश्यतु ॥१४३॥

भावार्थ :— ध्याता आत्मा और पर का यथार्थ स्वरूप जान करके श्रद्धान में लावें फिर पर को अकार्यकारी समझकर छोड़ दें, अपने को एक ही देखें व जानें ।

यथा निर्वातदेशस्थः प्रदीपो न प्रकंपते ।
तथास्वरूपनिष्ठोऽयं योगीनैकाग्र्यमुज्झति ॥१७१॥

भावार्थ :— जैसे पवनरहित स्थान में रक्खा हुआ दीपक निश्चल रहता है तैसे अपने आत्मा के स्वरूप में लीन योगी एकाग्रता को नहीं त्यागता है ।

पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यार्जितान्मलान् ।
निरस्ताहंममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ॥१७८॥

भावार्थ :— जो अहंकार व ममकार भाव को त्यागकर एकाग्र मन से आत्मा का अनुभव करता है, आगामी कर्मों का संवर करता है और पूर्व संचित कर्म मल का क्षय करता है ।

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥१९१॥

भावार्थ :– आत्मज्ञानी जिस भाव से जिस स्वरूप का ध्यान करता है उसी भाव से उसी तरह तन्मय हो जाता है । जैसे स्फटिकमणि के साथ जिस प्रकार के रंग की उपाधि होती है उसी से वह तन्मय हो जाती है ।

(१९) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहते हैं :–

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ।।१५।।

भावार्थ :– राग द्वेष मोहरूप विपरीत अभिप्राय को दूर कर तथा भली प्रकार अपने आत्मिक तत्व का निश्चय करके जो अपने आत्मा में स्थिर होकर उससे चलायमान न होना सो ही मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है ।

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ।।२१६।।

भावार्थ :– अपने आत्मा का दृढ़ निश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्मा का ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है, अपने आत्मा में स्थिति सो चारित्र है, इनसे बंध कैसे हो सकता है ।

(२०) श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्वार्थसार में कहते है :–

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ।।८।।

भावार्थ :– जो अपने आत्मा के स्वभाव को श्रद्धान करता है, जानता है व अनुभव करता है वही दर्शन ज्ञान चारित्र रूप आत्मा ही कहा गया है ।

(२१) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसार कलश में कहते है :–

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं ।
क्वचिदपि च न विद्मोयातिनिक्षेपचक्रं ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।।९-१।।

भावार्थ :– जब सर्व तेजों को मन्द करने वाले आत्मा की ज्योति का अनुभव जागृत होता है तब नयों की या अपेक्षावादों की लक्ष्मी उदय नही होती है । प्रमाण के विकल्प भी अस्त हो जाते हैं, निक्षेपचक्र कहां गायब हो जाता

है, नहीं जाना जाता है, अधिक क्या कहें सिवाय आत्मानन्द के कुछ और दूसरा झलकता ही नहीं ।

> भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बंधं सुधी-
> र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहृत्य मोहं हठात् ।
> आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
> नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ।।१२-१।।

भावार्थ :– जब कोई भेदज्ञानी महात्मा अपने आत्मा से भूत, भावी व वर्तमान कर्मबन्ध व रागादि भावबन्ध को भिन्न करके व बलपूर्वक मोह को दूर करके भीतर देखता है तब उसको साक्षात् अपना आत्म-देव अनुभव में आ जाता है जो प्रगट है, निश्चित है, नित्य ही कर्मकलंक से शून्य है, अविनाशी है तथा जिसकी महिमा आत्मानुभव के द्वारा ही विदित होती है ।

> कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
> अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
> सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नम्
> न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ।।२०-१।।

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनों रत्नों की अपेक्षा तीन-पना होने पर भी जो आत्मज्योति अपने एक स्वभाव से निश्चल है, शुद्ध रूप प्रकाशमान है, अनन्त चैतन्य के चिन्ह को रखती है उसे हम निरन्तर अनुभव करते हैं क्योंकि शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति जो हमारा स्वभाव है वह इस स्वानुभव के बिना हो नहीं सकती है ।

> त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
> रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
> इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेकः
> किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ।।२२-१।।

भावार्थ :– हे जगत के प्राणियों ! अनादिकाल से साथ आये हुए इस मोह-शत्रु को अब तो छोड़ और आत्मा के रसिक महात्माओं को जो रसीला है, ऐसे प्रकाशित आत्मा के शुद्ध ज्ञान का स्वाद लो क्योंकि यह आत्मा कभी भी कहीं भी अनात्मा के साथ एक भाव को नहीं प्राप्त हो सकता है ।

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली स-
न्ननुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं ॥२३-१॥

भावार्थ :-- अरे भाई ! किसी तरह हो, मर करके भी आत्मिक तत्व का प्रेमी हो और दो घड़ी के लिये शरीरादि सर्व मूर्तिक पदार्थों का तू निकट-वर्ती पड़ौसी बन जाय उनको अपने से भिन्न जान और आत्मा का अनुभव कर । तो तू अपने को प्रकाशमान देखता हुआ मूर्तिक पदार्थ के साथ एकता के मोह को शीघ्र ही त्याग देगा ।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ॥२-२॥

भावार्थ :-- अरे भाई ! वृथा अन्य कोलाहल से विरक्त हो और स्वयं ही निश्चिन्त होकर छः मास तक तो एक आत्मतत्व को मनन कर तो तेरे हृदयरूपी सरोवर में पुद्गल से भिन्न तेजधारी आत्माराम की क्या प्राप्ति न होगी ? अवश्य होगी ।

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥४-६॥

भावार्थ :-- जो भेद विज्ञान की शक्ति से अपने आत्मा की महिमा में रत हो जाते हैं उनको शुद्ध आत्मतत्व का लाभ अवश्य होता है । सर्व अन्य पदार्थों से सदा दूरवर्ती रहने वाले महात्माओं को ही स्वानुभव होने पर सर्व कर्मों से मुक्ति प्राप्त होती है जिसका कभी क्षय नहीं है ।

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः ।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥६-७॥

भावार्थ :– हे अन्ध पुरुषों ! अनादि संसार से लेकर प्रत्येक शरीर में ये रागी प्राणी उन्मत होते हुए जिस पद में सो रहे हैं वह तेरा पद नहीं है, नहीं है, ऐसा भली प्रकार समझ ले इधर आ, इधर आ, तेरा पद यह है जहां चैतन्य धातुमय आत्मा द्रव्यकर्म व भावकर्म दोनों से शुद्ध अपने आत्मिक रस से पूर्ण सदा ही विराजमान रहता है ।

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ।।६–६।।

भावार्थ :– दृढ़ चित्त से चारित्र को पालने वाले मोक्षार्थी महात्माओं को इसी सिद्धान्त का सेवन करना चाहिये कि मैं सदा ही एक शुद्ध चैतन्य मात्र ज्योति हूँ और जितने नाना प्रकार के रागादि भाव झलकते हैं, उन जैसा मैं नहीं हूँ क्योंकि वे सर्व ही परद्रव्य हैं ।

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी ।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथाऽवलम्बे ।।३६–१०।।

भावार्थ :– मैं शुद्ध निश्चय नय के द्वारा तीन काल सम्बन्धी सर्व ही कर्मों को दूर करके मोह रहित होता हुआ निर्विकार चैतन्य मात्र आत्मा का ही आलम्बन लेता हूँ ।

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ।।४७–१०।।

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप एक यही मोक्ष का मार्ग है । जो कोई रात दिन उसी में ठहरता है, उसी का मनन करता है, उसी का अनुभव करता है, उसी में ही निरन्तर विहार करता है, अन्य द्रव्यों को स्पर्श भी नहीं करता है, वही नित्य उदय रूप शुद्ध आत्मा को शीघ्र ही अवश्य अवश्य प्राप्त कर लेता है ।

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धाः मूढास्त्वमूमनुपलभ्यपरिभ्रमन्ति ॥२०-११॥

भावार्थ :– जो महात्मा किसी भी तरह मोह को दूर करके इस निश्चल ज्ञान मात्र आत्मिक भाव की भूमि का आश्रय लेते हैं वे मोक्ष के साधन को पाकर सिद्ध हो जाते हैं। अज्ञानी इस आत्म भूमि को न पाकर संसार में भ्रमण करते रहते हैं।

(२२) अमितिगति आचार्य सामायिकपाठ में कहते हैं :–

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था, भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥२४॥

भावार्थ :– मेरे आत्मा से बाहर जितने पदार्थ हैं वे मेरे कोई नही हैं और न मैं कभी उनका हूँ। ऐसा निश्चय करके सर्व बाहरी पदार्थो से मोह छोड़कर हे भव्य ! तू सदा अपने ही आत्मा में लीन हो, इसी से मुक्ति का लाभ होगा।

आत्मानमात्मन्यवलोक्यमानस्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः ।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र, स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥

भावार्थ :– हे भद्र ! तू अपने आत्मा में ही आत्मा को देखता हुआ दर्शन ज्ञानमयी विशुद्ध एकाग्र चित्त हो जा, क्योंकि जो साधु निज आत्मा के शुद्ध स्वभाव में स्थित होता है वही आत्म समाधि को पाता है।

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं संसारकान्तारनिपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२६॥

भावार्थ :– संसार वन में भटकाने वाले सर्व ही रागादि विकल्प जालों को दूर करके यदि तू सर्व से भिन्न ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव करे तो तू अवश्य परमात्म तत्व में लीनता को प्राप्त कर लेगा।

(२३) श्री अमितिगति आचार्य तत्वभावना में कहते हैं :–

येषां काननमालयं शशधरो दीपस्तमश्छेदकः ।
भैक्ष्यं भोजनमुत्तमं वसुमती शय्या दिशस्त्वम्बरम् ॥

संतोषामृतपानपुष्टवपुषो निर्धूय कर्माणि ते ।
धन्या यांति निवासमस्तविपदं दीनैर्दुरापं परैः ॥२४॥

भावार्थ :– जिन महात्माओं का घर वन है, अन्धकार नाशक दीपक चन्द्रमा है, उत्तम भोजन भिक्षा है, शय्या पृथ्वी है, दश दिशाएँ वस्त्र हैं, संतोषरूपी अमृत के पान से जिनका शरीर पुष्ट है वे ही धन्य पुरुष कर्मों का क्षय करके दुःख रहित मोक्ष के स्थान को पाते हैं, जो दीनों से प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

अभ्यस्ताक्षकषायवैरिविजया विध्वस्तलोकक्रियाः ।
बाह्याभ्यंतरसंगमांशविमुक्ताः कृत्वात्मवश्यं मनः ॥
ये श्रेष्ठं भवभोगदेहविषयं वैराग्यमभ्यासते ।
ते गच्छन्ति शिवालयं विकलिला बुद्ध्वा समाधिं बुधाः ॥३६॥

भावार्थ :– जिन महात्माओं ने इन्द्रिय विषय और कषाय रूपी वैरियों के विजय का अभ्यास किया है, जो लौकिक व्यवहार से अलग हैं, जिन्होंने बाहरी भीतरी परिग्रह को त्याग दिया है वे ही ज्ञानी अपने मन को वश करके संसार शरीर भोगों से उत्तम वैराग्य को रखते हुए आत्म समाधि को प्राप्त करके शरीर रहित हो मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाधिकश्रीरहं ।
मान्योहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणीः ॥
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनाम् ।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैश्रेयसी श्रीर्यतः ॥६२॥

भावार्थ :– हे आत्मन् ! मैं शूर हूँ, मैं बुद्धिमान हूँ, मैं चतुर हूँ, मैं सबसे अधिक धनवान हूँ, मैं प्रतिष्ठित हूँ, मैं गुणवान हूँ, मैं समर्थ हूँ, मैं सब मानवों में मुख्य हूँ । इस तरह की पाप बंधकारी कल्पना को सर्वथा दूर करके तू निर्मल आत्मिक स्वभाव का ध्यान कर जिससे निर्वाण की लक्ष्मी प्राप्त हो ।

लब्ध्वा दुर्लभभेदयोः सपदि ये देहात्मनोरंतरम् ।
दग्ध्वा ध्यानहुताशनेन मुनयः शुद्धेन कर्मेंधनम् ॥
लोकालोकविलोकिलोकनयना भूत्वा त्रिलोकार्चिताः ।
पंथानं कथयंति सिद्धिवसतेस्ते संतु नः सिद्धये ॥६४॥

भावार्थ :– जो मुनि शरीर और आत्मा के भेद को जिसका पाना दुर्लभ है, पाकर के और शुद्ध ध्यानरूपी अग्नि से कर्मरूपी ईंधन को जला देते हैं वे लोकालोक को देखने वाले केवलज्ञान नेत्रधारी इस लोक परलोक से पूज्य होकर हमारी शुद्धि के लिए मोक्षनगर जाने का मार्ग बताते हैं।

(२४) श्री पद्मनंदि मुनि धर्मोपदेशामृत में कहते हैं :–

वचनविरचितैवोत्पद्यते भेदबुद्धिर्दृगवगमचरित्राण्यात्मनः स्वं स्वरूपम्।
अनुपचरितमेतच्चेतनैकस्वभावं व्रजति विषयभावं योगिनां योगदृष्टेः ॥७६॥

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र भेदरूप मोक्षमार्ग की बुद्धि वचनों से रची हुई है। वास्तव में यह रत्नत्रय आत्मा का अपना स्वभाव है। योगी ध्यान दृष्टि के द्वारा इसी चेतनामय स्वभाव का ही अनुभव करते हैं।

(२५) श्री पद्मनंदि मुनि एकत्वसप्तति में कहते हैं :–

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमितियोगः शिवाश्रयः ॥१४॥

भावार्थ :– शुद्धात्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, शुद्धात्मा में स्थिति सम्यक्चारित्र है, तीनों की एकता ही मोक्ष का मार्ग है।

एकमेव हि चैतन्यं शुद्धनिश्चयतोऽथवा।
कोऽवकाशो विकल्पानां तत्राखण्डैकवस्तुनि ॥१५॥

भावार्थ :– अथवा शुद्ध निश्चयनय से एक चैतन्य ही मोक्षमार्ग है। अखंड वस्तु आत्मा में भेदों के उठाने की जरूरत नहीं है।

साम्यमेकं परं कार्यं साम्यं तत्वं परं स्मृतम्।
साम्यं सर्वोपदेशानामुपदेशो विमुक्तये ॥६६॥

भावार्थ :– उत्तम समताभाव एक करना चाहिए, समता का तत्व उत्कृष्ट है। समताभाव ही सर्व उपदेशों में सार उपदेश मुक्ति के लिए कहा गया है।

साम्यं सद्बोधनिर्माणं शश्वदानंदमंदिरम्।
साम्यं शुद्धात्मनोरूपं द्वारं मोक्षैकसद्मनः ॥६७॥

भावार्थ :— समताभाव ही सम्यग्ज्ञान को रचने वाला है, यह अविनाशी आनन्द का मन्दिर है। समताभाव शुद्धात्मा का स्वभाव है। यही मोक्षमहल की सीढ़ी है।

साम्यं निःशेषशास्त्राणां सारमाहुर्विपश्चितः।
साम्यं कर्ममहादावदाहे दावानलायते ॥६८॥

भावार्थ :— समताभाव सर्व शास्त्रों का सार है ऐसा विद्वानों ने कहा है। समताभाव ही कर्मरूपी महावृक्ष के जलाने को दावानल के समान है। यह समताभाव आत्मध्यान से ही जागृत होता है।

हेयञ्च कर्मरागादि तत्कार्यञ्च विवेकिनः।
उपादेयं परंज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥७५॥

भावार्थ :— रागादि उपजाने वाले कर्म तथा रागादिभाव उनके कार्य ये सब ही ज्ञानी द्वारा त्यागने योग्य हैं। मात्र एक उपयोग लक्षणरूप आत्मा की परमज्योति ही ग्रहण करने योग्य है।

(२६) श्री पद्मनंदि मुनि सद्बोधचंद्रोदय में कहते हैं :—

तत्वमात्मगतमेव निश्चितं योऽन्यदेशनिहितं समीक्षते।
वस्तु मुष्टिविधृतं प्रयत्नतः कानने मृगयते स मूढधीः ॥६॥

भावार्थ :— आत्मतत्व निश्चय से आत्मा में ही है। जो कोई उस तत्व को अन्य स्थान में खोजता है वह ऐसा मूढ़ है जो अपनी मुट्ठी में धरी वस्तु को वन में ढूंढता है।

संविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारणं भवेत्।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्च विकृती तदाश्रिते ॥२०॥

भावार्थ :— शुद्ध परमात्मा की भावना शुद्ध पद का कारण है। अशुद्ध आत्मा की भावना अशुद्ध पद का कारण है। जैसे सुवर्ण से सुवर्ण के पात्र बनते हैं और लोहे से लोहे के पात्र बनते हैं।

बोधरूपमखिलैरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः।
नान्यदल्पमपि तत्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः ॥२५॥

भावार्थ :— सर्व रागादि की उपाधि से रहित जो एक ज्ञानरूप तत्व है सो ही हमारा है और जरासा भी कोई हमारा तत्व नहीं है ऐसा योगी का निश्चय मोक्ष का कारण है।

निश्चयावगमनस्थितित्रयं रत्नसंचितिरियं परात्मनि ।
योगदृष्टिविषयीभवन्नसौ निश्चयेन पुनरेक एव हि ॥३०॥

भावार्थ :– परमात्मा के स्वरूप में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् - चारित्र इन तीनों रत्नों का संचय है । इसलिए योगियों की दृष्टि का विषय एक निज आत्मा ही है ।

सत्समाधिशशलाञ्छनोदयादुल्लसत्यमलबोधवारिधिः ।
योगिनोऽणुसदृशं विभाव्यते यत्र मग्नमखिलं चराचरम् ॥३३॥

भावार्थ :– योगी के आत्मध्यान रूपी चन्द्रमा के उदय से निर्मल ज्ञान-रूपी समुद्र बढ़ जाता है । उस समुद्र में यह चर अचररूप सर्व जगत् डूब करके एक अणुमात्र दिखलाई पड़ता है । शुद्ध ज्ञान में ऐसी शक्ति है जो ऐसे अनन्त लोक हों तो भी दिख जावे ।

जल्पितेन बहुना किमाश्रयेद् बुद्धिमानमलयोगसिद्धये ।
साम्यमेव सकलैरुपाधिभिः कर्मजालजनितैर्विवर्जितम् ॥४१॥

भावार्थ :-- बहुत अधिक कहने से क्या ? ध्यान की सिद्धि के लिए बुद्धिमान को उचित है कि सर्व कर्मनत रागादि की उपाधि से रहित एक समता-भाव को अंगीकार करें ।

(२७) श्री पद्मनंदि मुनि निश्चयपंचाशत् में कहते हैं :--

सम्यक्सुखबोधदृशां त्रितयमखण्डं परात्मनोरूपम् ।
तत्तत्र तत्परो यः स एव तल्लब्धिकृतकृत्यः ॥१३॥

भावार्थ :-- सम्यक् सुख ज्ञान दर्शन ये तीनों ही अखण्ड परमात्मा का स्वभाव है । इसलिए जो कोई परमात्मा में लीन है वह सच्चे सुख व ज्ञान व दर्शन को पाकर कृतकृत्य हो जाता है ।

हिंसोज्झित एकाकी सर्वोपद्रवसहो वनस्थोऽपि ।
तरुरिव नरो न सिध्यति सम्यग्बोधादृते जातु ॥१६॥

भावार्थ :-- यदि सम्यक् आत्मज्ञान न हो तो यह मानव कदापि मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकता है । चाहे वह हिंसा से रहित एकाकी सर्व उपद्रव को सहता हुआ वन में वृक्ष के समान खड़ा रहे ।

(२८) श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चय में कहते हैं :-

संगाविरहिता धीरा रागादिमलवर्जिताः ।
शान्ता दान्तास्तपोभूषा मुक्तिकांक्षणतत्पराः ।।१९६।।
मनोवाक्काययोगेषु प्रणिधानपरायणाः ।
वृत्ताढ्या ध्यानसम्पन्नास्ते पात्रं करुणापराः ।।१९७।।

भावार्थ :- जो परिग्रह आदि से रहित हैं, धीर हैं, रागादिमल से रहित हैं, शांत हैं, इन्द्रिय विजयी हैं, तपस्वी हैं, मुक्ति प्राप्ति की भावना रखते हैं, मन, वचन, काय तीनों योगों को वश में रखने वाले हैं, चारित्रवान हैं, दयावान हैं, वे ही ध्यानी उत्तम पात्र मुनि हैं ।

आर्त्तरौद्रपरित्यागाद धर्मशुक्लसमाश्रयात् ।
जीवः प्राप्नोति निर्वाणमनन्तसुखमच्युतं ।।२२६।।

भावार्थ :- आर्त व रौद्रध्यान को त्यागकर जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान का आश्रय लेता है वही जीव अनंतसुखमयी अविनाशी निर्वाण को प्राप्त करता है ।

आत्मा वै सुमहत्तीर्थं यदासौ प्रशमे स्थितः ।
यदासौ प्रशमो नास्ति ततस्तीर्थनिरर्थकम् ।।३११।।

शीलव्रतजले स्नातुं शुद्धिरस्य शरीरिणः ।
न तु स्नातस्य तीर्थेषु सर्वेष्वपि महीतले ।।३१२।।

रागादिवर्जितं स्नानं ये कुर्वंति दयापराः ।
तेषां निर्मलता योगैर्न च स्नातस्य वारिणा ।।३१३।।
आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण चारुणा ।
येन निर्मलतां याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि ।।३१४।।

भावार्थ :- जब यह आत्मा शांतभाव में तिष्ठता है तब यही महान तीर्थ है । यदि आत्मा में शांति नहीं है तो तीर्थयात्रा निरर्थक है । शील व व्रतरूपी जल में स्नान करने से आत्मा की शुद्धि होती है किन्तु पृथ्वीभर की नदियों में स्नान करने से नहीं हो सकती है । जो कोई दयावान रागद्वेषादि भावों को छोड़कर आत्मा के वीतरागभाव में स्नान करते हैं उन्हीं को ध्यान से निर्मलता प्राप्त होती है मात्र जल के स्नान से पतिवता नहीं आती है । आत्म-

ज्ञानरूपी जल से आत्मा को नित्य स्नान कराना चाहिये, जिससे जन्म जन्म के पाप धुल जाते हैं।

(२६) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं :-

मोहवह्निमपाकर्तुं स्वीकर्तुं संयमश्रियम्।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यानं समत्वमवलम्ब्यताम् ॥१-२४॥

भावार्थ :- हे आत्मन् ! मोहरूपी अग्नि को बुझाने के लिये संमयरूपी लक्ष्मी को स्वीकार करने के लिये तथा रागरूपी वृक्षों के समूह को काटने के लिये समताभाव को धारण करो।

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
समत्वं भज सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीकुलास्पदम् ॥३-२४॥

भावार्थ :- हे आत्मन् ! तू कामभोगों से विरक्त हो, शरीर में राग को छोड़ और समभाव को भज क्योंकि केवल ज्ञानरूपी लक्ष्मी का कुल ग्रह समभाव है। समभाव से ही अरहंत पद होता है।

साम्यसूर्यांशुभिर्भिन्ने रागादितिमिरोत्करे।
प्रपश्यति यमी स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ॥५-२४॥

भावार्थ :- संयमी समताभावरूपी सूर्य की किरणों मे रागादि अन्धकार के समूह को जब नष्ट कर देता है तब वह अपने आत्मा में ही परमात्मा के स्वरूप को देख लेता है।

साम्यसीमानमालम्ब्य कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम्।
पृथक् करोति विज्ञानी संश्लिष्टे जीवकर्मणी ॥६-२४॥

भावार्थ :- भेद विज्ञानी महात्मा समताभाव की सीमा को प्राप्त करके और अपने आत्मा में आत्मा का निश्चय करके जीव और कर्मों को जो अनादि से मिले है। पृथक् कर देता है।

भावयस्व तथात्मानं समत्वेनातिनिर्भरम्।
न यथा द्वेषरागाभ्यां गृह्णात्यर्थकदम्बकम् ॥८-२४॥

भावार्थ :- हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा की समताभाव के साथ अति गाढ़ इस तरह भावना कर कि जिससे पदार्थ के समूह को रागद्वेष से देखना बन्द हो जावे।

आशाः सद्यो विपद्यन्ते यान्त्यविद्याः क्षयं क्षणात् ।
म्रियते चित्तभोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना ॥११-२४॥

भावार्थ :– जो महात्मा समभाव की भावना करता है उसकी आशाएं शीघ्र नाश हो जाती हैं, अज्ञान क्षण भर में क्षय हो जाता है, चित्त रूपी सर्प भी मर जाता है ।

साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः ।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः ॥१३-२४॥

भावार्थ :– सर्वज्ञों ने समता भाव को ही उत्तम ध्यान कहा है, उसी की प्रगटता के लिये सर्व शास्त्रों का विस्तार है, ऐसा मैं मानता हूँ ।

तनुत्रयविनिर्मुक्तं दोषत्रयविवर्जितम् ।
यदा वेत्त्यात्मनात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत् ॥१६-२४॥

भावार्थ :– जब योगी अपने आत्मा को औदारिक, तैजस, कार्माण इन तीन शरीरों से रहित व राग द्वेष, मोह इन तीन दोषों से रहित आत्मा ही के द्वारा जानता है, तब ही समभाव में स्थिति होती है ।

अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम् ।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं प्रसूयते ॥१७-२४॥

भावार्थ :– जिस समय यह आत्मा अपने को सर्व परद्रव्यों की पर्यायों से व परद्रव्यों से विलक्षण निश्चय करता है उसी समय समता भाव पैदा होता है ।

सौधोत्सङ्गे श्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुंकुमे वा
पल्यंके कण्ठकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु ।
शीर्णाङ्गे दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्य चित्तं विकल्पै-
र्नालीढं सोऽयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासं ॥२६-२४॥

भावार्थ :– जिस महात्मा का चित्त महलों को या श्मशान को देखकर, स्तुति व निन्दा किये जाने पर, कीचड़ व केशर से छिड़के जाने पर, पल्यंक शय्या व काटों पर लिटाए जाने पर, पाषाण और चन्द्रकांतमणि के निकट आने पर, चर्म व चीन के रेशमी वस्त्रों के दिये जाने पर, क्षीण शरीर व सुन्दर स्त्री

के देखने पर अपूर्व शान्तभाव के प्रताप से रागद्वेष विकल्पों को स्पर्श नहीं करता है वही चतुर मुनि समता भाव के आनन्द को अनुभव करता है ।

यस्य ध्यानं सुनिष्कम्पं समत्वं तस्य निश्चलम् ।
नानयोर्विद्ध्यधिष्ठानमन्योन्यं स्याद्विभेदतः ॥२-२५॥

भावार्थ :– जिसके ध्यान निश्चल है उसी के समभाव निश्चल है । ये दोनों परस्पर आधार हैं । ध्यान का आधार समभाव है, समभाव का आधार ध्यान है ।

साम्यमेव न सद्ध्यानात् स्थिरी भवति केवलम् ।
शुद्ध्यत्यपि च कर्मौघकलङ्की यन्त्रवाहकः ॥३-२५॥

भावार्थ :– प्रशंसनीय आत्म ध्यान से केवल समता भाव ही नहीं स्थिर होता है किन्तु यह शरीर रूपी यन्त्र का स्वामी जीव जो कर्मों के समूह से मलीन है सो शुद्ध हो जाता है ।

भवज्वलनसम्भूतमहादाहप्रशान्तये ।
शश्वद्ध्यानाम्बुधेर्धीरैरवगाहः प्रशस्यते ॥६-२५॥

भावार्थ :– संसार रूपी अग्नि से उत्पन्न हुए बड़े आताप की शांति के लिये धीर वीर पुरुषों को ध्यान रूपी समुद्र का स्नान ही श्रेष्ठ है ।

ज्ञानवैराग्यसंपन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः ।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीरः प्रशस्यते ॥३-२७॥

भावार्थ :– धर्म ध्यान का ध्याता वही होता है जो सम्यक्ज्ञान और वैराग्य से पूर्ण हो, इन्द्रिय व मन को वश में रखने वाला हो, जिसका अभिप्राय स्थिर हो, मोक्ष का इच्छुक हो, उद्यमी हो तथा शांत भाव धारी हो तथा धीर हो ।

ध्यानध्वंसनिमित्तानि तथान्यान्यपि भूतले ।
न हि स्वप्नेऽपि सेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥३४-२७॥

भावार्थ :– जो जो स्थान ध्यान में बिघ्न कारक हों उन सबको स्वप्न में भी सेवन न करे । मुनियों को एकांत ध्यान योग्य स्थान में ही करना चाहिये ।

यत्र रागादयो दोषा अजं यान्ति लाघवम् ।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यान काले विशेषतः ॥८-२८॥

भावार्थ :-- जहां बैठने से रागादि दोष शीघ्र घटते चले जावें वहाँ ही साधु को बैठना ठीक है । ध्यान के समय में इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले ।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥९-२८॥

भावार्थ :-- धीर पुरुष ध्यान की सिद्धि के लिये काठ के तखते पर, शिला पर, भूमि पर, व बालू रेत में भली प्रकार आसन लगावे ।

पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा ।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥१०-२८॥

भावार्थ :-- ध्यान के योग्य ये आसन हैं (१) पर्यकासन (पद्मासन), अर्द्धपर्यकासन (अर्द्ध पद्मासन), वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्ग ।

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्निबन्धनम् ।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ॥२०-२८॥

भावार्थ :-- ध्यान की सिद्धि के लिये स्थान और आसन का विधान है। इनमें से एक भी न हो तो मुनि का चित्त क्षोभ रहित न हो ।

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा ।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥२३-२८॥

भावार्थ :-- ध्यानी मुनि जो ध्यान के समय प्रसन्न मन होकर साक्षात् पूर्व दिशा में मुख करके अथवा उत्तर दिशा में भी मुख करके ध्यान करे तो प्रशंसनीय है ।

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः ।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥३०-२८॥

भावार्थ :-- इन्द्रियों को जीतने वाला महात्मा योगी आसन को भी वश में करे । जिसका आसन ध्यान में स्थिर होता है वह कुछ भी खेद नहीं पाता है ।

नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते ।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे
तेष्वेकस्मिन्विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ।।१३-३०।।

भावार्थ :— शुद्ध मतिधारी ग्राचार्यों ने दश स्थान ध्यान के समय चित्त को रोकने के लिये कहे हैं :— (१) नेत्रयुगल, (२) कर्णयुगल, (३) नाक का अग्र भाग, (४) ललाट, (५) मुख, (६) नाभि, (७) मस्तक, (८) हृदय, (९) तालु, (१०) दोनों भौंहों का मध्य भाग । इनमें से किसी एक स्थान में मन को विषयों से रहित करके ठहराना उचित है । उन्हीं में कहीं पर ॐ या र्ह मन्त्र को स्थापित कर ध्यान का अभ्यास किया जा सकता है ।

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम् ।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ।।३८ ३१।।

भावार्थ :— जहाँ ग्रात्मा पतमात्मा में एकतानता से लीन हो जावे वही समरसीभाव है, वही एकीकरण है, वही आत्मध्यान है ।

ज्योतिर्मयं ममात्मानं पश्यतोऽत्रैव यान्त्यमी ।
क्षयं रागादयस्तेन नाऽरिः कोऽपि प्रियो न मे ।।३२ ३२।।

भावार्थ :— ध्याता विचारे कि मैं अपने को ज्ञान ज्योतिमय देखता हूं । इसी से मेरे रागादिक क्षय हो गए हैं । इस कारण न कोई मेरा शत्रु है न कोई मेरा मित्र है ।

आत्मन्येवात्मनात्मायं स्वयमेवानुभूयते ।
अतोऽन्यत्रैव मां ज्ञातुं प्रयासः कार्यनिष्फलः ।।४१ ३२।।

भावार्थ :— यह आत्मा आत्मा में ही आत्मा के द्वारा स्वयमेव अनुभव किया जाता है इससे छोड़कर अन्य स्थान में आत्मा के जानने का जो खेद है सो निष्फल है ।

स एवाहं स एवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम् ।
वासनां दृढयन्नेव प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम् ।।४२-३२।।

भावार्थ :— वही मैं परमात्मा हूं, वही मै परमात्मा हूं, इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करता हुआ पुरुष इस वासना को दृढ़ करता हुआ आत्मा में स्थिरता को पाता है, आत्मध्यान जग उठता है ।

शरीराद्भिन्नमात्मानं शृण्वन्नपि वदन्नपि ।
तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठितः ॥८५-३२॥

भावार्थ :– शरीर से आत्मा भिन्न है ऐसा सुनता हुआ भी तथा कहता हुआ भी जब तक दोनों भेद का अभ्यास पक्का नहीं होता है तब तक देह से ममत्व नहीं छूटता है ।

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम् ।
चिदानंदमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ॥६६-३२॥

भावार्थ :– हे आत्मन् ! तू आत्मा को आत्मा ही में आप ही से ऐसा जान कि मैं अतीन्द्रिय हूँ, वचनों से कहने योग्य नहीं हूँ, अमूर्तिक हूँ, मन की कल्पना से रहित हूँ तथा चिदानन्दमयी हूँ ।

इत्यविरतं स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः ।
शिवसुखमनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥३१-३७॥

भावार्थ :– इस तरह पिंडस्थ ध्यान में जिसका निश्चल अभ्यास हो गया है वह ध्यानी मुनि ध्यान से साध्य जो मोक्ष का सुख उसको शीघ्र ही पाता है ।

वीतरागस्य विज्ञेया ध्यान सिद्धिध्रुवं मुने ।
क्लेश एव तदर्थं स्याद्रागार्त्तस्येह देहिनः ॥११४-३८॥

भावार्थ :– जो मुनि वीतराग हैं उनके ध्यान की सिद्धि अवश्य होती है परन्तु रागी के लिए ध्यान करना दुःख रूप ही है ।

अनन्यशरणं साक्षात्तत्संलीनैकमानसः ।
तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयतां गतः ॥३२-३९॥

भावार्थ :– जो सर्वज्ञ देव की शरण रखकर अन्य की शरण न रखता हुआ उसी के स्वरूप में मन को लीन कर देता है वह ध्यानी मुनि उसी में तन्मयता को पाकर उसी स्वरूप हो जाता है ।

एष देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः ।
तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥४३-३९॥

भावार्थ :– जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपने को देखता है उस समय ऐसा मानता है कि जो सर्वज्ञ देव हैं उसी स्वरूपपने को मैं प्राप्त हुआ हूँ । इस कारण वही सर्व का देखने वाला मैं हूँ । अन्य मैं नहीं हूं ऐसा मानता है ।

त्रैलोक्यानंदबीजं जननजलनिधेर्यानपात्रं पवित्रम्
लोकालोकप्रदीपं स्फुरदमलशरच्चन्द्रकोटिप्रभाढ्यम् ।
कस्यामप्यग्रकोटौ जगदखिलमतिक्रम्य लब्धप्रतिष्ठम्
देवं विश्वैकनाथं शिवमजमनघं वीतरागं भजस्व ।।४६-३६।।

भावार्थ :– हे मुने ! तू वीतरागदेव का ध्यान कर । जो देव तीन लोक को आनन्द के कारण हैं, संसार समुद्र से पार करने को जहाज हैं, पवित्र हैं, लोकालोक प्रकाशक हैं, करोड़ों चन्द्रमा के प्रभा से भी अधिक प्रभावान हैं, किसी मुख्य कोटि में सर्व जगत का उल्लंघन करके प्रतिष्ठा प्राप्त हैं, जगत के एक नाथ हैं, आनन्द स्वरूप हैं, अजन्मा व पापरहित हैं ।

इतिविगतविकल्पं क्षीणरागादिदोषं
विदितसकलवेद्यं त्यक्तविश्वप्रपञ्चम् ।
शिवमजमनवद्यं विश्वलोकैकनाथं
परमपुरुषमुच्चैर्भावशुद्ध्या भजस्व ।।३१-४०।।

भावार्थ :– हे मुनि ! इस प्रकार विकल्परहित, रागादि दोष रहित, सर्वज्ञायक ज्ञाता, सर्वप्रपंच से शून्य, आनन्दरूप, जन्ममरण रहित, कर्म रहित जगत के एक अद्वितीय स्वामी परमपुरुष परमात्मा को भाव को शुद्ध करके भजन कर ।

आत्मार्थं श्रय मुञ्च मोहगहनं मित्रं विवेकं कुरु
वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनोः ।
धर्म्मध्यानसुधासमुद्रकुहरे कृत्वावगाहं परं
पश्यानन्तसुखस्वभावकलितं मुक्तेर्मुखाम्भोरुहम् ।।२-४२।।

भावार्थ :– हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा के अर्थ का ही आश्रय कर, मोहरूपी वन को छोड़, भेद विज्ञान को मित्र बना, वैराग्य को भज, निश्चय से शरीर और आत्मा के भेद की भावना कर । इस तरह धर्म ध्यानरूपी अमृत के समुद्र के मध्य में अवगाहन करके अनन्तसुख से पूर्ण मुक्ति के मुखकमल को देख ।

(३१) भट्टारक श्री ज्ञानभूषण तत्वज्ञान तरंगिणी में कहते हैं :--

क्व यांति कार्याणि शुभाशुभानि क्व यांति संगाश्चिदचित्स्वरूपाः ।
क्व यांति रागादय एव शुद्धचिद्रूपकोऽहं स्वरणे न विद्मः ।।८-२।।

भावार्थ :– मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ ऐसा स्मरण करते ही न जाने कहां शुभ व अशुभ कार्य चले जाते हैं, न जाने कहां चेतन व अचेतन परिग्रह चले जाते हैं तथा न जाने कहां रागादि विला जाते हैं ।

मेरुः कल्पतरुः सुवर्णममृतं चिंतामणिः केवलं
साम्यं तीर्थंकरो यथा सुरगवी चक्री सुरेंद्रो महान् ।
भूभृद्भूरुहधातुपेयमणिधीवृताप्तगोमानवा—
मर्त्येष्वेव तथा च चिंतनमिह ध्यानेषु शुद्धात्मनः ।।६-२।।

भावार्थ :– जैसे पर्वतों में मेरु श्रेष्ठ है, वृक्षों में कल्पवृक्ष बड़ा है, धातुओं में सुवर्ण उत्तम है, पीने योग्य पदार्थों में अमृत सुन्दर है, रत्नों में उत्तम चिन्तामणि रत्न है, ज्ञानों में श्रेष्ठ केवलज्ञान है, चारित्रों में श्रेष्ठ समताभाव है, आत्माओं में तीर्थंकर बड़े हैं, गायों में प्रशंसनीय कामधेनु है, मानवों में महान चक्रवर्ती है तथा देवों में इन्द्र महान व उत्तम है उसी तरह सर्व ध्यान में शुद्ध चिद्रूप का ध्यान सर्वोत्तम है ।

तं चिद्रूपं निजात्मानं स्मर शुद्धं प्रतिक्षणं ।
यस्य स्मरणमात्रेण सद्यः कर्मक्षयो भवेत् ।।१३-२।।

भावार्थ :– हे आत्मन् ! तू चैतन्यस्वरूप शुद्ध अपने आत्मा का प्रतिक्षण स्मरण कर जिसके स्मरण मात्र से शीघ्र ही कर्म क्षय हो जाते हैं ।

संगं विमुच्य विजने वसंति गिरिगह्वरे ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै ज्ञानिनोऽन्यत्र निःस्पृहाः ।।५-३।।

भावार्थ :– ज्ञानी अन्य सर्व इच्छाओं को त्यागकर, परिग्रह से अलग होकर शुद्ध चैतन्यरूप के ध्यान के लिये एकान्त स्थान पर्वत की गुफाओं में वास करते हैं ।

कर्मांगाखिलसंगे निर्ममतामातरं विना ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपुत्रसूतिर्न जायते ।।११-३।।

भावार्थ :– सर्व कर्मों से, शरीर से व सर्वपरिग्रह से निर्ममतारूपी माता के बिना शुद्ध चैतन्यरूप सत्य ध्यानरूपी पुत्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुद्धचिद्रूपकंविना ।
तस्मादन्यत्र मे चिंता वृथा तत्र लयं भजे ।।१०-४।।

भावार्थ :- शुद्ध चैतन्य स्वरूप के सिवाय न तो और मैं कुछ हूं न कुछ मेरा है । इसलिये दूसरे की चिंता करना वृथा है, ऐसा जानकर मैं एक शुद्ध चिद्रूप में ही लय होता हूं ।

रागाद्या न विधातव्याः सत्यसत्यपि वस्तुनि ।

ज्ञात्वा स्वशुद्धचिद्रूपं तत्र तिष्ठ निराकुलः ।।१०-६।।

भावार्थ :- अपने शुद्ध चैतन्यमय स्वरूप को जानकर उसी में तिष्ठो और निराकुल रहो । दूसरे भले बुरे किसी पदार्थ में रागद्वेषादि भाव न करना उचित है ।

चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्तं पश्यामि सुखी ततः ।

भवक्षितिर्हितं मुक्तिर्निर्यासोऽयं जिनागमे ।।११-६।।

भावार्थ :- मैं चैतन्यरूप हूँ इसलिये मैं उसी को देखता हूँ और सुखी होता हूँ । उसी से संसार का नाश और मुक्ति का लाभ होता है, यही जैनागम का सार है ।

स्वात्मध्यानामृतं स्वच्छं विकल्पानपसार्य सत् ।

पिबति क्लेशनाशाय जलं शैवालवत्सुधीः ।।४-८।।

भावार्थ :- जिस तरह प्यास के दुख को दूर करने के लिये बुद्धिमान् सैवाल को हटाकर जल को पीता है उसी तरह ज्ञानी सर्व संकल्प विकल्पों को छोड़कर एक निर्मल आत्मध्यान रूपी अमृत का ही पान करते है ।

नात्मध्यानात्परं सौख्यं नात्मध्यानात् परं तपः ।

नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ।।५-८।।

भावार्थ :- आत्मध्यान से बढ़कर कहीं कभी सुख नहीं है, न आत्मध्यान से बढ़कर कहीं कभी कोई तप है, न आत्मध्यान से बढ़कर कहीं कभी कोई मोक्ष-मार्ग है ।

भेदज्ञानं प्रदीपोऽस्ति शुद्धचिद्रूपदर्शने ।

अनादिजमहामोहतामसच्छेदनेऽपि च ।।१७-८।।

भावार्थ :- यह भेद विज्ञान शुद्ध चिद्रूप के दर्शन के लिये तथा अनादि काल के महा मिथ्यात्वरूपी अंधकार के छेदने के लिये दीपक है ।

शुद्धचिद्रूपसत्ध्यानादन्यत्कार्यं हि मोहजं ।

तस्माद् बंधस्ततो दुःखं मोह एव ततो रिपुः ।।२१-६।।

भावार्थ :– शुद्ध चिद्रूप के ध्यान के सिवाय जितने कार्य हैं वे सब मोह से होते हैं । उस मोह से कर्म बन्ध होता है, बंध से दुःख होता है, इससे जीव का वैरी मोह ही है ।

निर्ममत्वं परं तत्त्वं ध्यानं चापि व्रतं सुखं ।
शीलं खरोधनं तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥१४-१०॥

भावार्थ :– सबसे ममता का त्याग ही परम तत्व है, ध्यान है, व्रत है व परमसुख है, शील है, व इन्द्रिय निरोध है । इसलिये निर्ममत्व भाव को सदा विचार करें ।

रत्नत्रयाद्विना चिद्रूपोपलब्धिर्न जायते ।
यथर्द्धिस्तपसः पुत्री पितुर्वृष्टिर्बलाहकात् ॥३-१२॥

भावार्थ :– जिस तरह तप के बिना शुद्धि नहीं, पिता के बिना पुत्री नही होती, मेघ बिना वृष्टि नहीं होती वैसे रत्नत्रय के बिना चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती है ।

दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपात्मप्रवर्त्तनं ।
युगपद् भण्यते रत्नत्रयं सर्वजिनेश्वरैः ॥४-१२॥

भावार्थ :– जहां सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप अपने ही आत्मा की प्रवृत्ति एक साथ होती है इसी को जिनेन्द्रों ने रत्नत्रय धर्म कहा है ।

यथा बलाहकवृष्टेर्जायंते हरितांकुराः ।
तथा मुक्तिप्रदो धर्मः शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥१०-१४॥

भावार्थ :– जैसे मेघों की वृष्टि से हरे अंकुर फूटते हैं वैसे शुद्ध चैतन्य-रूप के चिंतवन से मोक्षदायक धर्म की वृद्धि होती है ।

संगत्यागो निर्जनस्थानकं च तत्त्वज्ञानं सर्वचिंताविमुक्तिः ।
निर्बाधत्वं योगरोधो मुनीनां मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमी निरुक्ताः ॥८-१६॥

भावार्थ :– इन नीचे लिखे कारणों से मुनियों को ध्यान की सिद्धि मुक्ति के लिये होती है । ये ही मोक्ष के कारण हैं (१) परिग्रह त्यागकर असंगभाव, (२) निर्जन एकांत स्थान, (३) तत्वज्ञान, (४) सर्व चिंता से छुट्टी, (५) बाधारहितपना, (६) तथा मन, वचन, काय योगों को वश करना ।

(३२) बनारसीदासजी बनारसीविलास में कहते हैं :-

[सवैया इकतीसा]

पूरब करम दहै, सरवज्ञ पद लहै;
गहै पुण्यपंथ फिर पाप मैं न आवना ।
करुना की कला जागै कठिन कषाय भागै;
लागै दानशील तप सु फल सुहावना ।।
पावै भवसिंधु तट खोले मोक्षद्वार पट;
शर्म साध धर्म की धरा मैं करै धावना ।
एते सब काज करै अलख को अंग धरै;
चेरी चिदानन्द की अकेली एक भावना ।।८६।।

प्रशम के पोषवे को अमृत की धारासम;
ज्ञान बन सींचवे को नदी नीर भरी है ।
चंचल करण मृग बांधवे को वागुरासी;
कामदावानल ना सवेको मेघ झरी है ।।
प्रबल कषायगिरि भंजवेको बज्र गदा,
भौ समुद्र तारवेको पौढी महा तरी है ।
मोक्षपन्थ गहवेको वेशरी विलायतकी,
ऐसी शुद्ध भावना अखंड धार ढरी है ।।८७।।

[कवित्त]

आलस त्याग जाग नर चेतन, बल सँभार मत करहु विलम्ब ।
इहां न सुख लवलेश जगतमहिं, निब विरषमें लगै न अम्ब ।।
तातै तू अन्तर विपक्ष हर, कर विलक्ष निज अक्षकदम्ब ।
गह गुन ज्ञान बैठ चारितरथ, देहु मोप मग सम्मुख बंब ।।३।।

[सवैया तेईसा]

धीरज तात क्षमा जननी, परमारथ मीत महारुचि मासी ।
ज्ञान सुपुत्र सुता करुणा, मति पुत्रवधू समता अतिभासी ।।

उद्यम दास विवेक सहोदर, बुद्धि कलत्र शुभोदय दासी।
भाव कुटुम्ब सदा जिनके ढिग, यों मुनि को कहिये गृहवासी ।।७।।

(३३) पं. बनारसीदासजी नाटक समयसार में कहते हैं :—

[सवैया इकतीसा]

जैसे रवि मंडल के उदै महि मंडल में,
आतम अटल तम पटल विलातु है।
तैसो परमातम को अनुभौ रहत जोलों,
तोलों कहूँ दुविधा न कहूँ पक्षपात है ।।
नय को न लेस परमाण को न परवेस,
निक्षेप के वंस को विध्वंस होत जातु है।
जे जे वस्तु साधक है तेऊ तहां बाधक है,
बाकी राग द्वेष की दशा की कोन बातु है ।।१०।।

[कवित्त]

सतगुरु कहे भव्य जीवन सो, तोरहु मोहकी जेल।
समकित रूप गहो अपनो गुण, करहु शुद्ध अनुभव को खेल ।।
पुद्गल पिंड भाव रागादि, इनसो नहीं तिहारो मेल।
ये जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन, जैसे भिन्न तोय अरु तेल ।।१२।।

[सवैया तेईसा]

शुद्ध नयातम आतम की, अनुभूति विज्ञान विभूति है सोई।
वस्तु विचारत एक पदारथ, नाम के भेद कहावत दोई ।।
यों सरवंग सदा लखि आपुहि, आतम ध्यान करे जब कोई।
मेटि अशुद्ध विभाव दशा तब, सिद्ध स्वरूप की प्रापति होई ।।१४।।

[सवैया इकतीसा]

बनारसी कहै भैया भव्य सुनो मेरी सीख,
केहू भांति कैसे हूँ के ऐसो काज कीजिये।
एकहू मुहूरत मिथ्यात्व को विध्वंस होई,
ज्ञान को जगाय अंस हंस खोज लीजिये ।।

वाही को विचार वाको ध्यान यह कौतूहल,
यों ही भर जन्म परम रस पीजिये ।
तजिये भववास को विलास सविकार रूप,
अन्त कर मोह को अनन्त काल जीजिये ।।२४।।

भैया जगवासी तूं उदासी व्हैके जगत सों,
एक छह महीना उपदेश मेरो मानरे ।
और संकलप विकलप के विकार तजि,
बैठि के एकंत मन एक ठौर आन रे ।।
तेरो घट सरिता में तूं ही व्है कमल वाकों,
तूं ही मधुकर व्है सुवास पहिचान रे ।
प्रापति न व्है है कछू ऐसौ तूं विचारत है,
सही व्है है प्रापति सरूप योंही जान रे ।।३।।

भेदज्ञान आरासों दुफारा करे ज्ञानी जीव,
आतम करम धारा भिन्न भिन्न चरचे ।
अनुभौ अभ्यास लहे परम धरम गहे,
करम मरम को खजानो खोलि खरचे ।।
योंही मोक्ष मग धावे केवल निकट आवे,
पूरण समाधि लहे परम को परचे ।
भयो निरदोर याहि करनो न कछु और,
ऐसो विश्वनाथ ताहि बनारसि अरचे ।।२।।

जामें लोक वेद नांहि थापना उछेद नांहि,
पाप पुन्य खेद नांहि क्रिया नांहि करनी ।
जामें राग द्वेष नांहि जामें बंध मोक्ष नांहि,
जामें प्रभुदास न आकाश नांहि धरनी ।।
जामें कुल रीति नांहि, जामें हार जीत नांहि,
जामें गुरु शिष्य नांहि विषयनांहि भरनी ।
आश्रम वरण नाँहि काहुका सरण नांहि,
ऐसी शुद्ध सत्ता की समाधि भूमि बरनी ।।२४।।

[सवैया तेईसा]

जो कबहूँ यह जीव पदारथ, औसर पाय मिथ्यात्व मिटावे ।
सम्यक् धार प्रवाह वहे गुण, ज्ञान उदै सुख ऊरध धावै ।।
तो अभिअन्तर दर्वित भावित, कर्म कलेश प्रवेश न पावे ।
आतम साधि अध्यातम के पथ, पूरण ह्वै परब्रह्म कहावे ।।४।।
भेदि मिथ्यात्वसु वेदि महारस, भेद विज्ञान कला जिनि पाई ।
जो अपनी महिमा अवधारत, त्याग करे उरसों जु पराई ।।
उद्धत रीत बसे जिनके घट, होत निरन्तर ज्योति सवाई ।
ते मतिमान सुवर्ण समान, लगे तिनको न शुभाशुभ काई ।।५।।

[सवैया बत्तीसा]

जिन्हके सुदृष्टि में अनिष्ट इष्ट दोउ सम,
जिन्ह को आचार सुविचार शुभ ध्यान है ।
स्वारथ को त्यागि जे लगे हैं परमारथ को,
जिन्ह के बनिज में नफा न हान है ।।
जिन्ह के समझ में शरीर ऐसो मानियत,
धानकी सो छीलक कृपाणको सो म्यान है ।
पारखी पदारथ के साखी भ्रम भारथ के,
तेई साधु तिनही का यथारथ ज्ञान है ।।४५।।

[सवैया तेईसा]

काज बिना न करै जिय उद्यम, लाज बिना रणमांहि न जूझे ।
डील बिना न सधे परमारथ, सील विना सतसों न अरूझे ।।
नेम बिना न लहे निहचे पद, प्रेम बिना रस रीति न बूझे ।
ध्यान बिना न थमै मनकी गति, ज्ञान बिना शिवपंथ न सूझे ।।२३।।
ज्ञान उदै जिह के घट अन्तर, ज्योति जगी मति होत न मैली ।
वाहिज दृष्टि मिटी जिन्ह के हिय, आतम ध्यानकला विधि फैली ।।
जे जड़ चेतन भिन्न लखें, सुविवेक लिये परखै गुण थैली ।
ते जग में परमारथ जानि, गहे रुचि मानि अध्यातम सैली ।।२४।।

[सवैया इकतीसा]

आचारज कहे जिन वचन को विस्तार,
अगम अपार है कहेंगे हम कितनो।
बहुत बोलवेसों न मकसूद चुप्प भलो,
बोलिये सों वचन प्रयोजन है जितनो।।
नाना रूप जल्पनसों नाना विकलप उठे,
तातैं जेतो कारिज कथन भलो तितनो।
शुद्ध परमातमा को अनुभौ अभ्यास कीजे,
येही मोक्ष पंथ परमारथ है इतनो।।१२४।।

जे जीव दरवरूप तथा परयायरूप,
दोऊ नै प्रमाण वस्तु शुद्धता गहत है।
जे अशुद्ध भावनि के त्यागी भये सरवथा,
विषैसों विमुख ह्वै विरागता चहत है।।
जे जे ग्राह्य भाव त्याज्यभाव दोउ भावनिकों,
अनुभौ अभ्यास विषैं एकता करत है।
तेई ज्ञान क्रिया के आराधक सहज मोक्ष,
मारग के साधक अबाधक महत है।।३५।।

(३४) पं. द्यानतरायजी द्यानतविलास में कहते हैं :--

[सवैया तेईसा]

कर्म सुभासुभ जो उदयागत, आवत हैं जब जानत ज्ञाता।
पूरब भ्रामक भाव किये बहु, सो फल मोहि भयौ दुखदाता।।
सो जड़रूप स्वरूप नहीं मम, मैं निज सुद्ध सुभावहि राता।
नास करौ पल में सबकौं अब, जाय बसौं सिवखेत विख्याता।।६५।।

सिद्ध हुए अब होंई जु होंइगे, ते सब ही अनुभौ गुनसेती।
ता विन एक न जीव लहै सिव, घोर करौ किरिया बहु केती।।
ज्यों तुषमांहि नहीं कनलाभ, किये नित उद्यम की विधि जेती।
यौं लखि आदरिये निजभाव, विभाव विनास कला सुभ एती।।६६।।

[सवैया इकतीसा]

जगत के निवासी जगही में रति मानत हैं,
मोख के निवासी मोखही में ठहराये हैं।
जग के निवासी काल पाय मोख पावत हैं,
मोखके निवासी कभी जग में न आये हैं ॥
एतौ जगवासी दुखवासी सुखरासी नाँहि,
वे तो सुखरासी जिनवानी में बताये हैं।
तातें जगतवासतें उदास होइ चिदानंद,
रत्नत्रयपंथ चलें तेई सुखी गाये हैं ॥७३॥
याही जगमाँहि चिदानंद आप डोलत है,
भरम भाव धरै हरै आतमसकतकौं।
अष्टकर्मरूप जे जे पुद्गल के परिनाम,
तिनकौं सरूप मानि मानत सुमत कौं ॥
जाहीसमै मिथ्या मोह अन्धकार नासि गयौ,
भयौ परगास भान चेतन के ततकौ।
ताहीसमै जानौ आप आप पर पररूप,
भानि भव-भाँवरि निवास मोख गतकौ ॥७४॥
रागदोष मोहभाव जीवकौ सुभावनाहिं,
जीवकौ सुभाव शुद्ध चेतन बखानियै।
दर्व कर्मरूप ते तौ भिन्न ही विराजत हैं,
तिनकौ मिलाप कहो कैसे करि मानियै ॥
ऐसो भेद ज्ञान जाके हिरदें प्रगट भयौ,
अमल अबाधित अखण्ड परमानियै।
सोई सु विचच्छन मुकत भयौ तिहुँकाल,
जानी निज चाल पर चाल भूलि भानियै ॥७५॥

[अशोक छन्द]

रागभाव टारिके सु दोषकौं विडारिकै,
सु मोहभाव गारिकै निहारि चेतनामई।

कर्म को प्रहारिकै सु भर्मभाव डारिकै,
सुचर्म दृष्टि दारिकै विचार सुद्धता लई ।।
ज्ञानभाव धारिकै सु दृष्टि कौं पसारिकै,
लखौ सरूप तारिकै, अपार मुद्धता खई ।
मत्तभाव मारिकै सु मारभाव छारिकै,
सु मोखकौं निहारिकै विहारकौं दिदा दई ।।७९।।

सुद्ध आत्मा निहारि राग दोष मोह टारि,
क्रोध मान वंक गारि लोभ भाव भानुरे ।
पापपुण्यकौं विडारि सुद्ध भावकौं सँभारि,
भर्मभावकौं विसारि पर्मभाव आनुरे ।।
चर्मदृष्टि ताहि जारि सुद्धदृष्टिकौं पसारि,
देहनेहकौं निवारि सेतध्यान ठानुरे ।
जागि जागि सैन छार भव्य मोखकौं विहार,
एक बार के कहे हजार बार जानुरे ।।८२।।

[छप्पय]

जपत सुद्धपद एक, एक नहिं लखत जीव तन ।
तनक परिग्रह नाहिं, नाहिं जहँ राग दोष मन ।।
मन वच तन थिर भयौ, भयौ वैराग अखंड़ित ।
खंडित आस्रवद्वार, द्वारसंवर प्रभु मंडित ।।
मंडित समाधिसुख सहित जब, जब कषाय अरिगन खपत ।
खप तनममत्त निरमत्त नित, नित तिनके गुण भवि जपत ।।९१।।

[सवैया तेईसा]

जिनके घट में प्रगटचौ परमारथ, रागविरोध हिये न विथारैं ।
करकैं अनुभौ निज आतम कौ, विषया सुखसौ हित मूल निवारैं ।।
हरिकै ममता धरिकै समता, अपनौ बल फोरि जु कर्म विडारैं ।
जिनकी यह है करतूति सुजान, सुआप तिरैं पर जीवन तारैं ।।९२।।

[सवैया इकतीसा]

मिथ्याभाव मिथ्या लखौ ग्यानभाव ग्यान लखौ,
कामभोग भावनसौं काम जोरजारिकैं।
परकौ मिलाप तजौ आपनपौ आप भजौ,
पापपुन्य भेद छेद एकता विचारिकैं॥
आतम अकाज करै आतम सुकाज करे,
पावै भवपार मोक्ष एतौ भेद धारिकैं।
यातैं हूँ कहत हेर चेतन चेतौ सबेर,
मेरे मीत हो निचीत एतौ काम सारिकैं॥६४॥

[छप्पय]

मिथ्यादृष्टी जीव, आपकौं रागी मानै।
मिथ्यादृष्टी जीव, आपकौं दोषी जानै॥
मिथ्यादृष्टी जीव, आपकौं रोगी देखै।
मिथ्यादृष्टी जीव, आपकौं भोगी पेखै॥
जो मिथ्यादृष्टी जीव सो सुद्धातम नाहीं लहै।
सोई ज्ञाता जो आपकौं, जैसाका तैसा गहै॥१०६॥

[सवैया इकतीसा]

चेतन के भाव दोय ग्यान औ अग्यान जोय,
एक जिनभाव दूजों पर उतपात है।
तातैं एक भाव गहौ दूजौ भाव मूल दहौ,
जातैं सिवपद लहौ यही ठीक बात है॥
भावकौ दुखायो जीव भावहीसौं सुखी होय,
भावहीकौं फेरि फेरे मोखपुर जात है।
यह तौ नीको प्रसंग लोक कहैं सरवंग,
आगहीकौं दाधौ अंग आग ही सिरात है॥१०७॥
बार बार कहैं पुनरुक्त दोष लागत है,
जागत न जीव तूतौ सोयौ मोह झगमैं।

आतमासेती विमुख गहै राग दोषरूप,
पंचइन्द्रीविषैसुखलीन पगपगमैं ।।
पावत अनेक कष्ट होत नाहिं अष्ट नष्ट,
महापद भिष्ट भयौ भमै सिष्टमगमैं ।।
जागि जगवासी तू उदासी ह्वै के विषयसों,
लागि सुद्ध अनुभौ ज्यों आवै नाहिं जगमैं ।।११७।।

(३५) पं० भैया भगवतीदासजी ब्रह्मविलास में कहते हैं :—

[सवैया इकतीसा]

कर्म को करैया सो तौ जानै नाहिं कैसे कर्म,
भरम में अनादिही को करमैं करतु है।
कर्म को जनैया भैया सो तौ कर्म करै नाहि,
धर्ममांहि तिहूँ काल धरमें धरतु है।
दुहूँनकी जाति पांति लच्छन स्वभाव भिन्न,
कबहूँ न एकमेक होइ विचरतु है।
जा दिनातें ऐसी दृष्टि अन्तर दिखाई दई,
ता दिनातें आपु लखि आपु ही तरतु है ।।२२।।

[सवैया तेइसा]

जबतें अपनो जिउ आतु लख्यो, तबतें जु मिटी दुविधा मनकी ।
यों सीतल चित्त भयो तब ही सब, छांड दई ममता तनकी ।
चिंतामणि जब प्रगटचो घरमें, तब कौन जु चाहि करै धनकी ।
जो सिद्धमें आपुमें फेर न जानै सो, क्यौं परवाह करै जनकी ।।३५।।

केवल रूप महा अति सुन्दर, आपु चिदानन्द शुद्ध विराजै ।
अन्तरदृष्टि खुलै जब ही तब, आपुही में अपनो पद छाजै ।।
सेवक साहिब कोउ नहीं जग, काहे को खेद करै किहूँ काजै ।
अन्य सहाय न कोउ तिहारे जु, अन्त चल्यो अपनो पद साजै ।।३६।।

जबलों रागद्वेष नहिं जीतय, तबलों मुकति न पावै कोइ।
जबलों क्रोध मान मन धारत, तबलों सुगति कहांतें होइ॥
जबलों माया लोभ बसै उर, तबलों सुख सुपनै नहिं कोइ।
ए अरि जीत भयो जो निर्मल, शिवसंपति विलसतु है सोइ॥४०॥

[सबैया इकतीसा]

पंचनसों भिन्न रहै कंचन ज्यों काई तजै,
रंच न मलीन होय जाकी गति न्यारी है।
कंचन के कुल ज्यों स्वभाव कीच छुए नाहि,
वसै जलमाँहि पै न ऊर्धता विसारी है॥
अंजन के अंश जाके वंश में न कहूँ दीखै,
शुद्धता स्वभाव सिद्धरूप सुखकारी है।
ज्ञान को समूह ज्ञान ध्यान में विराजि रह्यो,
ज्ञानदृष्टि देखो 'भैया' ऐसो ब्रह्मचारी है॥५५॥

चिदानंद 'भैया' विराजत है घटमाहिं,
ताके रूप लखिवेको उपाय कछू करिये।
अष्ट कर्म जालकी प्रकृति एक चार आठ,
तामें कछू तेरी नाहिं अपनी न धरिये॥
पूरब के बंध तेरे तेई आइ उदै होंहि,
निज गुणशकतिसों निन्है त्याग तरिये।
सिद्धसम चेतन स्वभाव में विराजत है,
वाको ध्यान धरु और काहूसों न डरिये॥५६॥

एक सीख मेरी मानि आप ही तू पहिचानि,
ज्ञान दृग चर्ण आन वास बाके थरको।
अनंत बलधारी है जु हलको न भारी है,
महाब्रह्मचारी है जु साथी नाहिं जरको॥
आप महा तेजवंत गुणको न और अंत,
जाकी महिमा अनंत दूजो नाहिं वरको।
चेतना के रस भरे चेतन प्रदेश धरे,
चेतना के चिन्ह करे सिद्ध पटतरको॥५५॥

[रेखता]

अबें भरम के त्योरसों देख क्या भूलता,
देखि तु आप में जिन आपने बताया है ।
अन्तर की दृष्टि खोलि चिदानंद पाइयेगा,
बाहिर की दृष्टि सौं पौद्‌गलीक छाया है ।।
इन्द्री मन के भाव सब जुदे करि देखि तू,
आगें जिन ढूंढा तिन इसी भांति पाया है ।
वे ऐब साहिब विराजता है दिलबीच,
सच्चा जिसका दिल है तिसी के दिल आया है ।।६०।।

[सवैया इकतीसा]

देव एक देहरे में सुन्दर सुरूप बन्यो,
ज्ञानको विलास जाको सिद्ध सम देखिये ।
सिद्धकीसी रीति लिये काहूसो न प्रीत किये,
पूरब के बंध तेई आइ उदै पेखिये ।।
वर्ण गंध रस फास जामें कछु नाहि भैया,
सदा को अबन्ध याहि ऐसो करि लेखिये ।
अजरा अमर ऐसो चिदानंद जीव नाव,
अहो मन मूढ ताहि मर्ण क्यों विशेखिये ।।६१।।

निशदिन ध्यान करो निहचै सुज्ञान करो,
कर्म को निदान करो आवै नाहि फेरिकैं ।
मिथ्यामति नाश करो सम्यक उजास करो,
धर्म को प्रकाश करो शुद्ध दृष्टि हेरिकैं ।।
ब्रह्म को विलास करो, आतमनिवास करो,
देव सब दास करो महामोह जेरिकैं ।
अनुभौ अभ्यास करो थिरता में वास करो,
मोक्षसुख रास करो कहूँ तोहि टेरिकैं ।।६४।।

सातवां अध्याय

सम्यग्दर्शन और उसका महात्म्य

यह बात कही जा चुकी है कि यह संसार असार है, देह अपवित्र और क्षणिक है । इन्द्रियों के भोग अतृप्तिकारक तथा नाशवंत हैं । सहज सुख आत्मा का स्वभाव है, तथा इस सहज सुख का साधन एक आत्मध्यान है । इसको रत्नत्रय धर्म भी कहते हैं । इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता है । आत्मा के शुद्ध स्वभाव का यथार्थ श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है । इसी का विशेष वर्णन उपयोगी जानकर किया जाता है, क्योंकि आत्मज्ञान का मुख्य हेतु सम्यग्दर्शन ही है । सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान कुज्ञान है, चारित्र कुचारित्र है, सम्यग्दर्शन के बिना सर्व साधन मिथ्या है । जैसे वृक्ष मूल बिना नहीं होता, नींव बिना मकान नहीं बनता, एक के अंक विना शून्य का कोई मूल्य नहीं होता वैसे सम्यक्त के बिना किसी भी धर्म क्रिया को यथार्थ नहीं कहा जा सकता है ।

सम्यग्दर्शन वास्तव में आत्मा का एक गुण है, यह आत्मा में सदा काल ही रहता है । संसारी आत्मा के साथ कर्मों का संयोग भी प्रवाह की अपेक्षा अनादि काल से है । इन्हीं कर्मों में एक मोहनीय कर्म है । उसके दो भेद हैं :— दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय । दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं :-- मिथ्यात्व कर्म, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म और सम्यक्त मोहनीय कर्म । जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन गुण का विपरीत परिणमन हो, मिथ्यादर्शन रूप हो, जिससे आत्मा व अनात्मा का भेद विज्ञान न उत्पन्न हो सके सो मिथ्यात्व कर्म है । जिसके उदय से सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के मिले हुए मिश्रित परिणाम हों उस कर्म को सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र कर्म कहते हैं । जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन मलीन रहे, कुछ दोष या मल या अतीचार लगे उसको सम्यक्त मोहनीय कहते हैं ।

चारित्र मोहनीय कर्म में चार अनन्तानुबन्धी कषाय कर्म हैं जिनके उदय से दीर्घ काल स्थायी कठिनता से मिटने वाली कषाय होती है । जैसे पत्थर की लकीरें कठिनता से मिटती हैं । अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को जिसको अब तक सम्यक्त नहीं हुआ है, मिथ्यात्व कर्म और चार अनन्तानुबन्धी कषायों ने सम्यग्-दर्शन गुण को ढक रखा है । जब तक यह उदय से न हटें तब तक सम्यग्दर्शन गुण प्रगट नहीं हो सकता है । इन कर्मों के आक्रमण को हटाने के लिए व्यवहार सम्यग्दर्शन का सेवन जरूरी है । जैसे औषधि खाने से रोग जाता है वैसे व्यवहार सम्यग्दर्शन के सेवन से निश्चय सम्यग्दर्शन का प्रकाश होता है व मिथ्यात्व रोग जाता है ।

जैसे रोगी को इस बात के जानने की जरूरत है कि मैं मूल में कैसा हूँ, रोग किस कारण से हुआ है व रोग के दूर करने का क्या उपाय है । इसी तरह इस संसारी जीव को इस बात के जानने की जरूरत है कि वह मूल में कैसा है, क्यों यह अशुद्ध हो रहा है व इसके शुद्ध होने का क्या उपाय है । जैसे नौका में पानी आ रहा हो तब इस बात के जानने की जरूरत है कि क्यों नौका में पानी भर रहा है व किस तरह इस नौका को छिद्र रहित व पानी से रहित किया जावे, जिससे यह समुद्र को पार कर सके, इसी तरह इस ससारी जीव को इस बात के जानने का जरूरत है कि उसके पुण्य पाप कर्म का बंध कैसे होता है । नये बंध को रोकने का व पुरातनबन्ध के काटने का क्या उपाय है, जिससे यह कर्म रहित हो जावे ।

जैसे मैला कपड़ा उस समय तक शुद्ध नहीं किया जा सकता जिस समय तक यह ज्ञान न हो कि यह कपड़ा किस कारण से मैला है व इस मैल के धोने के लिए किस मसाले की जरूरत है । उसी तरह यह अशुद्ध आत्मा उस समय तक शुद्ध नहीं हो सकता जब तब इसको अशुद्ध होने के कारण का व शुद्ध होने के उपाय का ज्ञान न हो । इसी प्रयोजनभूत बात को या तत्व को समझाने के लिए जैनाचार्यों ने सात तत्व बताये है व इनके श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है । वे सात तत्व इस प्रकार हैं :—

(१) **जीव तत्व** :— चेतना लक्षण जीव है, संसारावस्था में अशुद्ध है ।

(२) **अजीव तत्व** :-- जीव को विकार का कारण पुद्गल, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये पांच चेतना रहित अजीव द्रव्य इस जगत में हैं।

(३) **आश्रव तत्व** :-- कर्मों के आने के कारण को व कर्मों के आने को आश्रव कहते हैं।

(४) **बंध तत्व** :-- कर्मों के आत्मा के साथ बंधने के कारण को व कर्मों के बंध को बंध कहते हैं।

(५) **संवर तत्व** :-- कर्मों के आने के रोकने के कारण को व कर्मों के रुक जाने को संवर कहते हैं।

(६) **निर्जरा तत्व** :-- कर्मों के झड़ने के कारण को व कर्मों के झड़ने को निर्जरा कहते हैं।

(७) **मोक्ष तत्व** :-- सर्व कर्मों से छूट जाने के कारण को व कर्मों से पृथक् हो जाने को मोक्ष कहते हैं।

यह विश्व जीव और अजीव अर्थात् छः द्रव्यों का :-- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इनका समुदाय है। पुद्गलों में सूक्ष्म जाति की पुद्गल कर्म वर्गणा हैं या कर्म स्कन्ध हैं। उन्हीं के संयोग से आत्मा अशुद्ध होता है। आश्रव व बंध तत्व अशुद्धता के कारण को बताते हैं। संवर अशुद्धता के रोकने का व निर्जरा अशुद्धता के दूर होने का उपाय बताते हैं, मोक्ष बन्ध रहित व शुद्ध अवस्था बताता है। ये सात तत्व बड़े उपयोगी हैं, इनको ठीक ठीक जाने बिना आत्मा के कर्म की बीमारी मिट नहीं सकती है। इन्हीं का सच्चा श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है, इन्ही के मनन से निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये ये निश्चय सम्यक्त के होने में बाहरी निमित्त कारण हैं। अन्तरंग निमित्त कारण अनन्तानुवन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व कर्म का उपशम होना या दबना है।

जीव और अजीव तत्व

जीव और अजीव तत्वों में गर्भित छः द्रव्य सत्रूप हैं, सदा से है व सदा से रहेंगे, इनको किसी ने न बनाया है, न इनका कभी नाश होगा। सो यह बात प्रत्यक्ष प्रगट है। हमारी इन्द्रियों के द्वारा प्रगट जानने योग्य "पुद्गल

द्रव्य" है । इसकी परीक्षा की जायगी तो सिद्ध होगा कि यह सत् है, अविनाशी है, कभी नाश नहीं हो सकता है । एक कागज को लिया जाय, यह पुद्गल स्कंध है । इसको जला दिया जाय राख हो जायगा, राख को कहीं डाल दिया जाय दूसरी राख में मिल जायगी । इस राख को कोई शून्य नहीं कर सकता है । एक सुवर्ण की अंगूठी को लिया जाय, इसको तोड़कर बाली बनाई जाय, बाली तोड़कर कंठी बनाई जाय, कंठी तोड़कर नथ बनाई जावे, नथ तोड़कर कड़ा बनाया जावे । कितनी भी दशा पलटाई जावें तो भी सुवर्ण पुद्गल का कभी नाश नहीं होगा । मिट्टी का एक घड़ा है, घड़े को तोड़ा जावे बड़े ठीकरे बन जायेंगे, ठीकरों को तोडेंगे छोटे टुकड़े हो जायेंगे । उनको पीस डालेंगे राख हो जायगी । राख को डाल देंगे राख में मिल जायगी ।

मिट्टी की कितनी भी अवस्थाएं पलटे मिट्टी पुद्गल स्कंध का नाश नहीं होगा । जगत में पुद्गलों को एकत्र कर मकान बनाते हैं । जब मकान को तोड़ते हैं तब पुद्गल ईंट, चूना, लकड़ी लोहा अलग होता है । यह देखने में आयेगा व प्रत्यक्ष अनुभव में आयेगा कि जगत में जितने भी दृश्य पदार्थ हैं वे पुद्गलों के मेल से बने हैं । जब वे बिगड़ते हैं तब पुद्गल के स्कंध बिखर जाते हैं । एक परमाणु का भी लोप नहीं हो जाता है । मकान, बर्तन, कपडा, कुर्सी, मेज, कलम, दवात, कागज, पुस्तक, चौकी, पलंग, पालकी, गाड़ी, मोटर, रेल-गाड़ी, पंखा, दरी, लालटेन, जंजीर, आभूषण आदि पुद्गल की रचना है, ये टूटते हैं तो अन्य दशा में हो जाते हैं । हमारा यह शरीर भी पुद्गल है, पुद्गल के स्कंधों के मेल से बना है । जब मृतक हो जाता है तब पुद्गल के स्कंध शिथिल पड़ जाते हैं, बिखर जाते हैं जलाए जाने पर कुछ पवन में उड़ जाते हैं । कुछ पड़े रह जाते हैं । पुद्गलों में यह देखने में आता है कि वे अवस्थाओं को पलटते हुए भी मूल में बने रहते हैं । इसीलिये "सत्का" लक्षण यह है कि जिसमें "उत्पाद व्यय ध्रौव्य" ये तीन स्वभाव एक ही समय में पाए जावें । हर एक पदार्थ की अवस्था समय २ पलटती हैं । स्थूल बुद्धि में देर से पलटी मालूम होती है ।

एक नया मकान बनाया गया है वह उसी क्षण से पुराना पड़ता जाता है । जब वर्ष दो वर्ष बीत जाते हैं तब स्थूल बुद्धि को पुराना मालूम पड़ता

है । वास्तव में उसका पलटना हर समय ही हो रहा है । एक मिठाई ताजी बनी है, एक दिन पीछे बासी खाए जाने पर स्वाद ताजी की अपेक्षा बदला हुआ मालूम होता है । यह एक दम नहीं बदला, बनने के समय से ही बदलता हुआ चला आ रहा है एक बालक जन्मते समय छोटा होता है । चार वर्ष पीछे बड़ा हो जाता है वह एक दम से बड़ा नहीं हुआ । उसकी दशा का पलटना बराबर होता रहा है । वह बालक हर समय बढ़ता चला आ रहा है पुरानी अवस्था का नाश होकर नई अवस्था के जन्म को ही पलटना या परिवर्तन कहते हैं । श्वेत कपड़े को जिस समय रंग में भिजोया उसी समय श्वेतपना पलटकर रंगीनपना हुआ है । श्वेतपने का व्यय व रंगीनपने का उत्पाद हुआ है । चने के दाने को हथेली में मसला जाता है तब चने की दशा नाश होकर चूरे की दशा बन जाती है । क्योंकि अवस्था की पलटन होते हुए भी जिसकी अवस्था पलटती है वह बना रहता है । इसीलिये उत्पाद व्यय ध्रौव्य सत् का लक्षण किया गया है ।

पर्याय पलटने की अपेक्षा उत्पाद व्ययपना व मूल द्रव्य के बने रहने की अपेक्षा ध्रुवपना सिद्ध है । इसीलिये द्रव्य को नित्य अनित्यरूप उभयरूप कहते हैं । द्रव्य स्वभाव से नित्य है, दशा पलटने की अपेक्षा अनित्य है । यदि द्रव्य में उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना न हो या नित्य अनित्यपना न हो तो कोई द्रव्य कुछ भी काम नहीं दे सकता । यदि कोई द्रव्य सर्वथा नित्य ही हो तो वह जैसा का तैसा बना रहेगा । यदि सर्वथा अनित्य हो तो क्षण भर में नाश हो जायगा । जब वह ठहरेगा ही नहीं तब उससे कुछ काम नहीं निकलेगा । यदि सुवर्ण एकसा ही बना रहे, उससे कड़े, बाली, कंठी, अंगूठी न बने तो वह व्यर्थ ही ठहरे उसे कोई भी न खरीदे । यदि सुवर्ण अनित्य हो, ठहरे ही नहीं तो भी उसे कोई नहीं खरीदे । उसमें बने रहने की तथा बदलने की शक्ति एक ही साथ है अथवा वह एक ही समय नित्य व अनित्य उभयरूप है, तब ही वह कार्यकारी हो सकता है ।

यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना सत्का लक्षण सर्वही द्रव्यों में पाया जाता है । जीवों में भी है । कोई क्रोधी हो रहा है, जब क्रोध का नाश होता तब क्षमा या शान्तभाव का जन्म होता है तथा आत्मा ध्रौव्यरूप है ही । किसी

आत्मा को गणित में जोड़ निकालने का ज्ञान नहीं था। अर्थात् जोड़ के कायदे का अज्ञान था, जब जोड़ निकालने के कायदे का ज्ञान हुआ तब अज्ञान का नाश हुआ और ज्ञान का जन्म हुआ, इस अवस्था को पलटते हुए भी आत्मा वही बना रहा। इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य आत्मा में भी सिद्ध है। एक आत्म ध्यान में मग्न है, जिस क्षण ध्यान हटा तब ध्यान की दशा का नाश हुआ और "ध्यान" रहित निर्विकल्प दशा का जन्म हुआ और जीव वही बना है। अशुद्ध जीवों में तथा पुद्गलों में अवस्थाओं का पलटना अनुभव में आता है। इससे उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण की सिद्धि होती है परन्तु शुद्ध जीवों में व धर्मास्तिकाग, अधर्मास्तिकाय, आकाश व काल में किस तरह इस लक्षण की सिद्धि की जावे। वस्तु का स्वभाव जब अशुद्ध जीव व पुद्गल में सिद्ध हो गया है तब वही स्वभाव उनमें भी जानना चाहिये। शुद्ध द्रव्यों में किसी परद्रव्य का ऐसा निमित्त नही है जो द्रव्य को मलीन कर सके। इसलिये उनमें विभाव या अशुद्ध पर्यायें नहीं होती हैं। शुद्ध सदृश पर्याएं स्वाभाविक होती हैं, जैसे-निर्मल जल में तरंगें निर्मल ही होंगी वैसे शुद्ध द्रव्यों मे पर्यायें निर्मल ही होंगी।

द्रव्यों के छः सामान्य गुण .– सर्व छहों द्रव्यों में छः गुण सामान्य है। सब में पाए जाते हैं :–

(१) **अस्तित्व गुण** :– जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी नाश न हो उसे अस्तित्वगुण कहते है। (२) **वस्तुत्व गुण** :– जिस शक्ति के निमित्त से वस्तु कुछ कार्य करे व्यर्थ न हो उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं। जैसे पुद्गल में शरीरादि बनाने की अर्थ क्रिया है। (३) **द्रव्यत्व गुण** :– जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य ध्रुव रहते हुए भी पलटता रहे। उसमें पर्यायें होती रहे, उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं, जैसे पुद्गल मिट्टी से घड़ा बनना। (४) **प्रमेयत्व गुण** :– जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी के ज्ञान का विषय हो उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं। (५) **अगुरुलघुत्व गुण** :– जिस शक्ति के निमित्त से एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप न हो, एक गुण दूसरे गुणरूप न हो व एक द्रव्य में जितने गुण हों उतने ही रहें, न कोई कम हो न कोई अधिक हो, उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते है। (६) **प्रदेशत्व गुण** :– जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कुछ न कुछ आकार अवश्य हो उसे प्रदेशत्व गुण कहते हैं। आकार बिना कोई वस्तु नही हो सकती

है । आकाश में जो वस्तु रहती है वह जितना क्षेत्र घेरती है वही उसका आकार है । छहों द्रव्यों में अपना अपना आकार है, पुद्गल मूर्तिक है, उसका आकार भी मूर्तिक है । स्पर्श, रस, गंध वर्णमय है । शेष पांच द्रव्य अमूर्तिक हैं उनका आकार भी अमूर्तिक है ।

छः द्रव्यों के विशेष गुण :— जो गुण उस एक द्रव्य हीं में पाए जावें, अन्य द्रव्य में न पाए जावें उनको विशेष गुण कहते हैं । **जीव के विशेष गुण हैं** :— ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्चारित्र आदि । **पुद्गल के विशेष गुण हैं** :— स्पर्श, रस, गंध, वर्ण । **धर्मद्रव्य का विशेष गुण** :— गमन करते हुए जीव पुद्गलों को उदासीन रूप से गमन में सहकारी होना है । **अधर्मद्रव्य का विशेष गुण** :— ठहरते हुए जीव पुद्गलों को ठहरने में उदासीनपने सहाय करना है । **आकाश द्रव्य का विशेष गुण** :— सर्व द्रव्यों को अवकाश या जगह देना है । **काल द्रव्य का विशेष गुण** :— सर्व द्रव्यों की अवस्था पलटने में सहकारी होना है ।

छः द्रव्यों के आकार :— जीव का मूल आकार लोकाकाश प्रमाण असंख्यातप्रदेशी है । आकाश एक अखंड द्रव्य अनंत है । उसके मध्य में जहां जीवादि द्रव्य पाए जाते हैं उस भाग को लोकाकाश कहते हैं । इसको यदि प्रदेशरूपी गज से मापा जावे तो यह लोक असंख्यातप्रदेशी है । इतना ही बड़ा मूल में जीव है । एक अविभागी पुद्गल परमाणु जितने आकाश को रोकता है उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं । तथापि यह जीव जिस शरीर में रहता है उतने बड़े शरीर को माप कर रहता है । नाम कर्म के उदय से इसमें संकोच विस्तार शक्ति काम करती है, जिससे शरीर प्रमाण संकुचित व विस्तृत हो जाता है । पुद्गल स्कंध अनेक आकार के गोल, चौखूंटे, तिखूंटे, बड़े छोटे बनते हैं । एक परमाणु का एक प्रदेश मात्र आकार है । धर्म व अधर्म द्रव्य दोनों लोकाकाश प्रमाण व्यापक है । आकाश का अनन्त आकार है । कालाणु असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों में एक एक अलग अलग हैं कभी मिलते नहीं हैं, इसलिये एक प्रदेश मात्र हर एक कालाणु का आकार है ।

छः द्रव्यों की संख्या :— धर्म, अधर्म, आकाश एक एक द्रव्य हैं, कालाणु असंख्यात हैं, जीव अनंत है, पुद्गल अनन्तान्त है ।

पांच अस्तिकाय :– जो द्रव्य एक से अधिक प्रदेश रखते हैं वे अस्तिकाय कहलाते हैं। कालका एक ही प्रदेश होता है। काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश अस्तिकाय हैं।

जीव द्रव्य के नौ विशेषण :– (१) जीनेवाला है, (२) उपयोगवान है, (३) अमूर्तिक है, (४) कर्ता है, (५) भोक्ता है, (६) शरीर प्रमाण आकारधारी है, (७) संसारी है, (८) सिद्ध भी हो जाता है, (९) स्वभाव से अग्नि की शिखा के समान ऊपर जानेवाला है। इनका विशेष नीचे इस प्रकार है :–

इनका कथन करते हुए निश्चयनय तथा व्यवहारनय को ध्यान में रखना चाहिये। जिस अपेक्षा से वस्तु का मूल निज स्वभाव जाना जावे वह निश्चयनय है। शुद्ध निश्चयनय शुद्ध स्वभाव को व अशुद्ध निश्चयनय अशुद्ध स्वभाव को बतानेवाला है। व्यवहारनय वह है जो परपदार्थ को किसी में आरोपण करके उसको पररूप कहे, जैसे जीव को गोरा कहना। गोरा तो शरीर है। यहां शरीर का आरोप जीव में करके संयोग को बताने वाला व्यवहारनय है। कभी व कहीं अशुद्ध निश्चयनय को भी व्यवहारनय कह देते है। शुद्ध निश्चयनय शुद्ध मूल स्वभाव को ही बताता है।

(१) जीवत्व :– निश्चयनय से जीव के अमिट प्राण, सुख, सत्ता, चैतन्य बोध हैं। अर्थात् स्वाभाविक आनन्द, सत्पना, स्वानुभूति तथा ज्ञान हैं। व्यवहारनय से जीवों के दश प्राण होते हैं जिनके द्वारा एक शरीर में प्राणी जीवित रहता है व जिनके बिगड़ने से वह शरीर को छोड़ देता है। वे प्राण हैं पांच स्पर्शनादि इन्द्रियां-मनबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

(१) एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति के चार प्राण होते हैं – स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, आयु, श्वासोच्छ्वास (२) लट आदि द्वेन्द्रियों के छः प्राण होते है रसना इन्द्रिय और वचनबल अधिक हो जाता है। (३) चींटी आदि तेंद्रियों के नाक अधिक होती है, सात प्राण होते हैं। (४) मक्खी आदि चौइन्द्रिय के आँख अधिक करके आठ प्राण होते हैं। (५) मन रहित पंचेन्द्रिय समुद्र के कोई सर्पादि के कर्ण सहित नौ प्राण होते हैं। (६) मन सहित पंचें-

द्रियों के देव नारकी, मानव, गाय, भैंसादि पशु, मछली, मयूरादि के दशों प्राण होते हैं ।

(२) उपयोगवान :- जिसके द्वारा जाना जाय उसे उपयोग कहते हैं । उसके आठ भेद हैं – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, और कुअवधिज्ञान । ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं। दर्शनोपयोग के चार भेद हैं – चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन । ये बारह उपयोग व्यवहारनय से भेदरूप कहे जाते हैं । इनका विशेष स्वरूप आगे कहेंगे । इन्हीं से संसारी जीवों की पहचान होती है । आत्मा अमूर्तिक पदार्थ है ।

शरीर में है कि नहीं इसका ज्ञान इसी बात को देखकर किया जाता है कि कोई प्राणी स्पर्श का ज्ञान रखता है या नहीं, रसको रसना से, गंध को नाक से, वर्ण को आँख से, शब्द को कर्ण से जानता है कि नहीं या मन से विचार करता है या नहीं । मृतक शरीर में इन बारह उपयोगों में से कोई भी उपयोग नहीं पाया जाता है । क्योंकि वहाँ उपयोग का धारी आत्मा नही रहा है । निश्चयनय से वास्तव में न ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं न दर्शनोपयोग के चार भेद हैं । ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग एक एक ही हैं, आत्मा के सहज स्वाभाविक गुण हैं । कर्म के संबंध से बारह भेद हो जाते हैं, इसलिये निश्चय से आत्मा के उपयोग शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन हैं ।

(३) अमूर्तिक :- जीव में निश्चयनय से असल में न कोई स्पर्श रूखा, चिकना, हलका, भारी, ठंडा, गरम, नरम, कठोर है; न कोई रस खट्टा, मीठा, चरपरा, तीखा, कसायला है; न कोई गंध सुगंध या दुर्गंध है; न कोई वर्ण सफेद, लाल, पीला, नीला, काला है । इसलिये मूर्तिक पुद्गल से भिन्न अमूर्तिक चिदाकार है । व्यवहारनय से इस जीव को मूर्तिक कहते हैं क्योंकि संसारी जीव के साथ मूर्तिक कर्म पुद्गलों का मेल दूध और जल के समान एक क्षेत्रावगाहरूप है । कोई भी प्रदेश जीव का शुद्ध नहीं है, सर्वांग पुद्गल से एकमेक है, इसलिये इसे मूर्तिक कहते हैं । जैसे दूध से मिले जल को दूध, रंग से मिले पानी को रंग कहते हैं ।

(४) **कर्त्ता** है :– यह आत्मा निश्चयनय से अपने ही ज्ञानदर्शनादि गुणों के परिणाम को ही करता है। शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध भावों का ही कर्त्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भावकर्मों का कर्त्ता कहा जाता है।

शुद्ध निश्चयनय से या स्वभाव से यह आत्मा रागादि भावों का करने वाला नहीं है। क्योंकि ये इसके स्वाभाविक भाव नहीं हैं ये औपाधिक भाव हैं, जब कर्मों का उदय होता है, मोहनीय कर्म का विपाक होता है तब क्रोध के उदय से क्रोधभाव, मान के उदय से मानभाव, माया के उदय से मायाभाव, लोभ के उदय से लोभभाव, काम या वेद के उदय से कामभाव, उसी तरह हो जाता है जिस तरह स्फटिकमणि के नीचे लाल, पीला, काला डाक लगाने से स्फटिक लाल, पीला, काला झलकता है। उस समय स्फटिक का स्वच्छ सफेद रंग ढक जाता है। आत्मा स्वभाव से इन विभावों का कर्त्ता नहीं है, ये नैमित्तिक भाव हैं – होते हैं, मिटते हैं, फिर होते हैं, क्योंकि ये संयोग से होते हैं। इसलिये इनको आत्मा के भाव अशुद्ध निश्चय से कहे जाते हैं या यह कहा जाता है कि आत्मा अशुद्ध निश्चय से इनका कर्त्ता है। इन भावों के होने से आत्मा का भाव अपवित्र, आकुलित दुःखमय हो जाता है। आत्मा का पवित्र, निराकुल, सुखमय स्वभाव विपरीत हो जाता है। इसलिये इनका होना इष्ट नहीं है। इनका न होना ही आत्मा का हित है। जैसे मिट्टी स्वयं मैली, विरस स्वभावी है इसलिये इस मिट्टी के संयोग से पानी भी मैला व विरस स्वभाव हो जाता है, वैसे मोहनीय कर्म का रस या अनुभाग मलीन, कलुषरूप, व आकुलता रूप है इसलिये उसके संयोग से आत्मा का उपयोग भी मलीन व कलुषित व आकुलित हो जाता है।

इन भावों का निमित्त पाकर कर्म वर्गणारूप सूक्ष्म पुद्गल जो लोक में सर्वत्र भरे हैं, खिचकर स्वयं आकर बंध जाते हैं। ज्ञानावरणादि रूप होकर कर्म नाम पाते हैं, जैसे गर्मी का निमित्त पाकर पानी स्वयं भापरूप बदल जाता है वैसे कर्मवर्गणा स्वयं पुण्य या पाप कर्मरूप बँध जाती है। यह बंध भी पूर्व विद्यमान कार्मण शरीर से होता है। वास्तव में आत्मा से नहीं होता है। आत्मा उस कर्म के शरीर के साथ उसी तरह रहता है जैसे आकाश में धुआं या रज फैल जाय तब आकाश के साथ मात्र संयोग होता है। या एक क्षेत्रवगाहरूप

संबंध होता है । आत्मा ने कर्म नहीं बांधे हैं, वे स्वयं बंधे हैं । आत्मा का अशुद्ध भाव केवल निमित्त है तो भी व्यवहार नय से आत्मा को पुद्गल कर्मों का कर्त्ता या बांधने वाला कहते हैं । उसी तरह जैसे कुम्हार को घड़े का बनाने वाला, सुनार को कड़े का बनाने वाला, स्त्री को रसोई बनाने वाली, लेखक को पत्र लिखने वाला, दरजी को कपड़ा सीने वाला, कारीगर को मकान बनाने वाला कहते हैं । निश्चय से घड़े को बनाने वाली मिट्टी है, कड़े को बनाने वाला सोना है, रसोई को बनाने वाली अन्न पानी आदि सामग्री है, पत्र को लिखने वाली स्याही है, कपड़े को सीने वाला तागा है – कुम्हारादि केवल निमित्त मात्र हैं ।

जो वस्तु स्वयं कार्यरूप होती है उसी को उसका कर्त्ता कहते हैं । कर्त्ता कर्म एक ही वस्तु होते हैं । दूध ही मलाई रूप परिणमा है इससे मलाई का कर्त्ता दूध है । सुवर्ण ही कड़ेरूप परिणमा है इससे कड़े का कर्त्ता सुवर्ण है । मिट्टी ही घड़ेरूप परिणमी है इससे घड़े की कर्त्ता मिट्टी है । कर्त्ता के गुण स्वभाव उससे बने हुए कार्य में पाए जाते हैं । जैसी मिट्टी वैसा घड़ा, जैसा सोना वैसा कड़ा, जैसा दूध वैसी मलाई, जैसा तागा वैसा उसका बना कपड़ा । निमित्त कर्त्ता किन्ही कार्यों के अचेतन ही होते हैं, किन्हीं कार्यों के चेतन व अचेतन दोनों होते हैं । गर्मी से पानी भाप रूप हो जाता है, भाप से मेघ बनते हैं, मेघ स्वयं पानी रूप हो जाते हैं, उन सब कार्यों में निमित्त कर्त्ता अचेतन ही है । हवा श्वास रूप हो जाती है, इसमें निमित्तकर्त्ता चेतन का योग और उपयोग है । या कर्मवर्गणा कर्मरूप हो जाती है उनमें निमित्तकर्त्ता चेतन का योग और उपयोग है । मिट्टी का घड़ा बनता है उसमें निमित्तकर्त्ता कुम्हार का योग उपयोग है तथा चाक आदि अचेतन भी है । रसोई बनती है, निमित्त कर्त्ता स्त्री के योग उपयोग हैं तथा चूल्हा, बर्तन आदि अचेतन भी हैं । जहां चेतन निमित्तकर्त्ता घट, पट, बर्तन भोजनादि बनाने में होता है वहां व्यवहारनय से उसको घट, पट, बर्तन व भोजनादि का कर्त्ता कह देते हैं ।

यदि निश्चय से विचार किया जावे तो शुद्धात्मा किसी भी कार्य का निमित्तकर्त्ता भी नहीं है । जब तक संसारी आत्मा के साथ कर्मों का संयोग है व कर्मों का उदय हो रहा है तब तक आत्मा के मन, वचन, काय योग चलते

रहते हैं व ज्ञानोपयोग अशुद्ध होता है । राग द्वेष सहित या कषाय सहित होता है । ये ही योग और उपयोग निमित्तकर्त्ता हैं । इन्हीं से कर्म बधते हैं, इन्हीं से घटादि बनते हैं । कुम्हार ने घड़ा बनाया, घट बनाने में मनका संकल्प किया, शरीर को हिलाया व राग सहित उपयोग किया । कुम्हार के योग उपयोग ही घटके निमित्तकर्त्ता हैं, आत्मा नहीं । स्त्री के मन ने रसोई बनाने का संकल्प किया, वचन से किसी को कुछ रखने उठाने को कहा, काय से रक्खा उठाया, राग सहित ज्ञान भाव किया । योग व उपयोग ही रसोई के निमित्तकर्त्ता हैं, स्त्री का शुद्ध आत्मा नहीं । योग और उपयोग आत्मा के विभाव हैं इसलिये अशुद्ध निश्चय से उनका कर्त्ता आत्मा को कहते हे ।

शुद्ध निश्चय से आत्मा मन वचन काय योग का तथा अशुद्ध उपयोग का कर्त्ता नहीं है । यद्यपि योग शक्ति – कर्म आकर्षण शक्ति आत्मा की है परन्तु वह कर्मों के उदय से ही मन वचन काय द्वारा काम करती है । कर्म का उदय न हो तो कुछ भी हलनचलन काम न हो । अशुद्ध सराग उपयोग भी कषाय के उदय से होता है, आत्मा का स्वाभाविक उपयोग नहीं । निश्चयनय से आत्मा में न योग का कार्य है न रागद्वेष रूप उपयोग का कार्य है । इसलिये शुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा केवल अपने शुद्ध भावों का ही कर्त्ता है । पर-भावों का न उपादान या मूल कर्त्ता है न निमित्तकर्त्ता है । स्वभाव के परिणमन से जो परिणाम या कर्म हो उस परिणाम या कर्म का उपादानकर्त्ता उसको कहा जाता है । ज्ञान स्वरूपी आत्मा है इसलिये शुद्ध ज्ञानोपयोग का ही वह उपादान कर्त्ता है अज्ञानी जीव भूल से आत्मा को रागादि का कर्त्ता व अच्छे बुरे कामों का कर्त्ता व घटपट आदि का कर्त्ता मानकर अहंकार करके दुःखी होता है । "मैं कर्त्ता मैं कर्त्ता" इस बुद्धि से जो अपने स्वाभाविक कर्म नहीं हैं उनको अपना ही कर्म मानकर राग द्वेष करके कष्ट पाता है ।

ज्ञानी जीव केवल शुद्धज्ञान परिणति का ही अपने को कर्त्ता मानता है । इसलिये सर्व ही पर भावों का व पर कार्यों का मैं कर्त्ता हूँ, इस अहंकार को नहीं करता है । यदि शुभ राग होता है तो उसे भी मंद कषाय का उदय जानता है । यदि अशुभ राग होता है तो उसे भी तीव्र कषाय का उदय जानता है ।

अपना स्वभाव नहीं जानता है, विभाव जानता है। विभाव को रोग विकार व उपाधि मानता है व ऐसी भावना रखता है कि ये विभाव न हो तो ठीक है। वीतराग भाव में ही परिणमन हो तो ठीक है जैसे बालक खेलने का ही प्रेमी है, उसे माता पिता व गुरु के डर से पढने का काम करना पड़ता है। वह पढ़ता है परन्तु उधर प्रेमी नहीं है, प्रेमी खेल का ही है। इसी तरह ज्ञानी जीव वीतराग आत्मिक शुद्ध भाव का प्रेमी है। पूर्वबद्ध कर्म के उदय से जो भाव होता है तदनुकूल मन, वचन, काय वर्तते हैं। इनको वह पसंद नहीं करता है। कर्म का विकार या नाटक समझता है भीतर से वैरागी है। जैसे बालक पढ़ने से वैरागी है। ज्ञानी आत्मा बिना आसक्ति के परोपकार करता हुआ अपने को कर्त्ता नहीं मानता है – मन, वचन, काय का कार्य मात्र जानता है। यदि वह गृहस्थ है, कुटुम्ब को पालता है तथापि वह पालने का अहंकार नहीं करता है। ज्ञानी सर्व विभावों को कर्म कृत जानकर उनसे अलिप्त रहता है। ज्ञानी एक अपने ही आत्मिक वीतराग भावों का ही अपने को कर्त्ता मानता है।

सम्यग्दर्शन की अपूर्व महिमा है। जो कोई ज्ञानी आत्मा को परभावों का अकर्ता समझेगा वही एक दिन साक्षात् अकर्त्ता हो जायेगा। उसके योग उपयोग की चंचलता जब मिट जायेगी तब वह सिद्ध परमात्मा हो जायेगा। इस तत्व का यह मतलब लेना योग्य नहीं है कि ज्ञानी सराग कार्यों को उत्तम प्रकार से नहीं करता है, बिगाड़ रूप से करता होगा, सो नहीं है।

ज्ञानी मन, वचन, काय से सर्व कार्य यथायोग्य ठीक ठीक करता हुआ भी "मैं कर्त्ता" इस मिथ्या अहं बुद्धि को नहीं करता है। इस सर्व लौकिक प्रपंच को कर्म का विकार जानता है, अपना स्वभाव नहीं मानता है। कदाचित् अज्ञानी की अपेक्षा ज्ञानी कुटुम्ब का पालन, जप, तप, पूजा, पाठ, विषय भोग आदि मन, वचन, काय के शुभ अशुभ कार्य उत्तम प्रकार से करता है :– प्रमाद व आलस्य से नहीं करता है, तो भी मैं कर्त्ता हूँ इस मिथ्यात्व से अलग रहता है। जैसे नाटक में पात्र नाटक खेलते हुए भी उस नाटक के खेल को खेल ही समझते हैं, उस खेल में किये हुए कार्यों को अपने मूल स्वभाव में नहीं लगाते हैं। नाटक का पात्र खेल दिखलाते वक्त ही अपने को राजा कहता है। उस समय भी वह अपनी असल प्रकृति को नहीं भूलता है व खेल के पीछे तो अपने

असल रूप ही वर्तन करता है। ब्राह्मण का पुत्र अपने को ब्राह्मण मानते हुए भी खेल में राजा का पार्ट बड़ी ही उत्तमता से दिखाता है तथापि मैं राजा हो गया ऐसा नहीं मानता है। संसार को नाटक समझकर व्यवहार करना ज्ञानी का स्वभाव है।

संसार को अपना ही कार्य समझना, व्यवहार करना अज्ञानी का स्वभाव है। इसलिए अज्ञानी संसार का कर्त्ता है, ज्ञानी संसार का कर्त्ता नहीं। अज्ञानी संसार में भ्रमेगा, ज्ञानी संसार से शीघ्र ही छूट जायेगा। वह श्रद्धा में व ज्ञान में संसार कार्य को आत्मा का कर्तव्य नहीं मानता है। कषाय के उदयवश लाचारी का कार्य जानता है।

(५) भोक्ता है :– जिस तरह निश्चयनय से यह जीव अपने स्वाभाविक भावों का कर्त्ता है उसी तरह यह अपने स्वाभाविक ज्ञानानन्द या सहज सुख का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चयनय से "मैं सुखी, मैं दुःखी" इस राग द्वेष रूप विभाव का भोक्ता है, व्यवहार नय से पुण्य पाप कर्मों के फल को भोगता है। मैं सुखी मैं दुःखी यह भाव मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। रति कषाय के उदय से सांसारिक सुख में प्रीति भाव व अरति कषाय के उदय से सांसारिक दुःख में अप्रीति भाव होता है। यह अशुद्ध भाव कर्म जनित है इसलिए स्वभाव नहीं विभाव है। आत्मा में कर्म संयोग से यह भाव होता है तब आत्मानन्द के सुखानुभव का भाव छिप जाता है इसलिए ऐसा कहा जाता है कि अशुद्ध निश्चय नय से यह सुख दुःख का भोक्ता है। भोजन, वस्त्र, गाना, बजाना, सुगंध, पलंग आदि बाहरी वस्तुओं का भोग तथा साता वेदनीय असाता वेदनीय कर्म का भोग वास्तव में पुद्गल के द्वारा पुद्गल का होता है।

जीव मात्र उनमें राग भाव करता है इससे भोक्ता कहलाता है, यहां भी मन, वचन, काय द्वारा योग तथा अशुद्ध उपयोग ही पर पदार्थ के भोग में निमित्त हैं। जैसे एक लड्डू खाया गया। लड्डू पुद्गल को मुख रूपी पुद्दल ने चबाकर खाया। जिह्वा के पुद्गलों द्वारा रस का ज्ञान हुआ। लड्डू का भोग शरीर रूपी पुद्गल ने किया। उदर में पवन द्वारा पहुँचा। जीव ने अपने अशुद्ध भाव इन्द्रिय रूपी उपयोग से जाना तथा खाने की क्रिया में योग को काम में लिया।

यदि वैराग्य से जाने तो खाने का सुख न माने। जब वह राग सहित खाता है तब सुख मान लेता है। इसलिए लड्डू का भोग इस जीव ने किया यह मात्र व्यवहार नय का वचन है। जीव ने केवल मात्र खाने के भाव किये व योगों का व्यवहार किया, योग शक्ति को प्रेरित किया। इस तरह सुन्दर वस्त्रों ने शरीर को शोभित किया, आत्मा को नहीं, तब यह जीव अपने राग भाव से मैं सुखी हुआ ऐसा मान लेता है। एक उदासमुखी पति के परदेश गमन से दुःखी स्त्री को सुन्दर वस्त्राभूषण पहनाए जावें, शरीर तो शोभित हो जायेगा परन्तु वह राग रहित है, उसका रागभाव उन वस्त्राभूषणों में नहीं है इसलिये उसे उस सुख का अनुभव नहीं होगा। इसलिये यह बात ज्ञानियों ने स्वानुभव से कही है कि संसार के पदार्थों में सुख व दुःख मोह राग द्वेष से होता है। पदार्थ तो अपने स्वभाव में होते हैं।

एक जगह पानी बरस रहा है, किसान उस वर्षा को देखकर सुखी हो रहा है। उसी समय मार्ग में बिना छतरी के चलने वाला एक सुन्दर वस्त्र पहने हुए मानव दुःखी हो रहा है। नगर में रोगों की वृद्धि पर रोगी दुःखी होते हैं, अज्ञानी लोभी वैद्य डाक्टर सुखी होते हैं। एक ही रसोई में जीमने वाले दो पुरुष है। जिसको इच्छानुकूल रसोई मिली है वह सुखी हो रहा है, जिसकी इच्छा के विरुद्ध है वह दुःखी हो रहा है। जैसे पुद्गल का कर्ता पुद्गल है वैसे पुद्गल का उपभोग कर्ता पुद्गल है। निमित्त कारण जीव के योग और उपयोग है। शरीर में सर्दी लगी, सर्दी का उपभोग पुद्गल को हुआ, पुद्गल की दशा पलटी। जीव का शरीर से ममत्व है, राग है, उसने सर्दी की वेदना का दुःख मान लिया। जब गर्म कपड़ा शरीर पर डाला गया, शरीर ने गर्म कपड़े का उपयोग किया, शरीर की दशा पलटी, रागी जीव ने सुख मान लिया। स्त्री का उपभोग पुरुष का अंग, पुरुष का उपभोग स्त्री का अंग करता है, पुद्गल ही पुद्गल की दशा को पलटता है।

राग भाव से रागी स्त्री पुरुष सुख मान लेते हैं। जितना अधिक राग उतना अधिक सुख व उतना ही अधिक दुःख होता है। एक मानव का पुत्र पर बहुत अधिक राग है, वह पुत्र को देखकर अधिक सुख मानता है। उसी पुत्र

का वियोग हो जाता है तब उतना ही अधिक दुःख मानता है । जो ज्ञानी ऐसा समझते हैं कि मैं वास्तव में शुद्ध आत्मा का द्रव्य हूँ, मेरा निज सुख मेरा स्वभाव है । मैं उसी ही सच्चे सुख को सुख समझता हूँ, उसी का भोग मुझे हितकारी है, वह संसार से वैरागी होता हुआ जितना अंश कषाय का उदय है उतना अंश बाहरी पदार्थों के संयोग वियोग में सुख दुःख मानेगा, जो अज्ञानी की अपेक्षा कोटि गुणा कम होगा । भोजन को भली प्रकार रसना इन्द्रिय से खाते हुए भी रस के स्वाद को तो जानेगा व तृप्ति भी मानेगा परन्तु रसना इन्द्रिय जनित सुख को अल्प राग के कारण अल्प ही मानेगा । इसी तरह इच्छित पदार्थ खाने में न मिलने पर अल्प राग के कारण अल्प दुःख ही मानेगा । वस्तु स्वभाव यह है कि जीव स्वभाव से सहज सुख का ही भोक्ता है ।

विभाव भावों के कारण जो कषाय के उदय से होते हैं, यह अपनी अधिक या कम कषाय के प्रमाण में अपने को सुख या दुःख का भोक्ता मान लेता है । मैं भोक्ता हूँ यह वचन शुद्ध निश्चय नय से असत्य है । कषाय के उदय से राग भाव भोक्ता है । आत्मा भोक्ता नहीं है । आत्मा राग भाव का भोक्ता अशुद्ध निश्चय से कहलाता है यह मानना सम्यग्ज्ञान है । पर वस्तु का व कर्मों का भोक्ता कहना बिलकुल व्यवहार नय से है । जैसे घट पटादि का कर्त्ता कहना व्यवहार नय से है ।

कर्मों का उदय जब आता है तब कर्म का अनुभाग या रस प्रगट होता है । यही कर्म का उपभोग है । उसी कर्म के उदय को अपना मानकर जीव अपने को सुखी दुःखी मान लेता है । साता वेदनीय का उदय होने पर साताकारी पदार्थ का सम्बन्ध होता है । रति नौ कषाय से यह रागी जीव साता का अनुभव करता है । अर्थात् राग सहित ज्ञानोपयोग सुख मान लेता है । असाता वेदनीय के उदय से असाताकारी सम्बन्ध होता है । जैसे शरीर में चोट लग जाती है उसी समय अरति कषाय के उदय सहित जीव द्वेष भाव के कारण अपने को दुःखी मान लेता है । वास्तव में कर्म पुद्गल है तब कर्म का उदय व रस या विपाक भी पुद्गल है । घातीय कर्मों का उदय जीव के गुणों के साथ विकारक होकर झलकता है, अघातीय कर्मों का रस जीव से भिन्न शरीरादि पर पदार्थों पर होता है ।

जैसे ज्ञानावरण के विपाक से ज्ञान का कम होना, दर्शनावरण के उदय से दर्शन का कम होना, मोहनीय के उदय से विपरीत श्रद्धान होना व क्रोधादि कषाय का होना, अन्तराय के उदय से आत्मबल का कम होना, आयु के उदय से शरीर का बना रहना, नाम के उदय से शरीर की रचना होना, गोत्र कर्म के उदय से ऊँची या नीची लोकमान्य व लोकनिन्द्य दशा होना। वेदनीय के उदय से साताकारी व असाताकारी पदार्थों का संयोग होना। जीव अपने स्वभाव से अपने सहज सुख का ही भोक्ता है। पर का भोक्ता अशुद्धनय या व्यवहार नय से ही कहा जाता है।

(६) शरीर प्रमाण आकारधारी है :– निश्चयनय से जीव का आकार लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है उससे कभी कम या अधिक नहीं होता है। जीव अमूर्तिक पदार्थ है इससे इसके न तो टुकड़े हो सकते हैं और न यह किन्हीं से जुड़ करके बड़ा हो सकता है। जीव में कर्म को आकर्षण करने वाली योग शक्ति है वैसे इसमें संकोच विस्ताररूप होने की शक्ति भी होती है। जैसे योग-शक्ति शरीर नामकर्म के उदय से काम करती है वैसे संकोच विस्तार शक्ति भी शरीर नामकर्म के उदय से काम करती है। जब तक नाम कर्म का उदय रहता है तब तक ही आत्मा के प्रदेश संकुचित होते हैं व फैलते है। जब नाम कर्म नाश हो जाता है तब आत्मा अन्तिम शरीर में जैसा होता है वैसा ही रह जाता है। उसका संकोच विस्तार होना बन्द हो जाता है।

एक जीव जब मरता है तब तुर्त ही दूसरे उत्पत्ति स्थान पर पहुँच जाता है, बीच में जाते हुए एक समय, दो समय या तीन समय लगते हैं तब तक पूर्व शरीर के समान आत्मा का आकार बना रहता है। जब उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है, तब वहां जैसा पुद्गल ग्रहण करता है उसके समान आकार छोटा या बड़ा हो जाता है। जैसे जैसे शरीर बढ़ता है वैसे वैसे आकार फैलता जाता है। शरीर में ही आत्मा फैला है बाहर नहीं है, इस बात का अनुभव विचारवान को हो सकता है। हमें दुःख या सुख का अनुभव शरीर भर में होता है, शरीर से बाहर नही। यदि किसी मानव के शरीर में आग लग जावे व शरीर से बाहर भी आग हो तो उस मानव को शरीर की आग की वेदना

का दुःख होगा, शरीर के बाहर की आग की वेदना न होगी। यदि आत्मा शरीर के किसी स्थान पर होता, सर्व स्थान पर व्यापक न होता तो जिस स्थान पर जीव होता वहीं पर सुखदुःख का अनुभव होता – सर्वांग नहीं होता। परन्तु होता सर्वांग है इसलिये जीव शरीर प्रमाण आकारधारी है। किसी भी इन्द्रिय द्वारा मनोज्ञ पदार्थ का राग सहित भोग किया जाता है तो सर्वांग सुख का अनुभव होता है। शरीर प्रमाण रहते हुए भी नीचे लिखे सात प्रकार के कारण हैं जिनके होने पर आत्मा फैलकर शरीर से बाहर जाता है फिर शरीर प्रमाण हो जाता है इस अवस्था को समुद्घात कहते हैं।

(१) **वेदना** :– शरीर में दुःख के निमित्त से प्रदेश कुछ बाहर निकलते हैं।

(२) **कषाय** :– क्रोधादि कषाय के निमित्त से प्रदेश बाहर निकलते हैं।

(३) **मारणांतिक** :– मरण के कुछ देर पहले किसी जीव के प्रदेश फैलकर जहां पर जन्म लेना हो वहाँ तक जाते हैं, स्पर्शकर लौट आते हैं, फिर मरण होता है।

(४) **वैक्रियिक** :– वैक्रियिक शरीरधारी अपने शरीर से दूसरा शरीर बनाते हैं, उसमें आत्मा फैलाकर उससे काम लेते हैं।

(५) **तैजस (१) शुभ तैजस** :– किसी तपस्वी मुनि को कही पर दुर्भिक्ष या रोग संचार देखकर दया आजावे तब उसके दाहिने स्कंध से तैजस शरीर के साथ आत्मा फैलकर निकलता है। इससे कष्ट दूर हो जाता है।

(२) **अशुभ तैजस** :– किसी तपस्वी को उपसर्ग पड़ने पर क्रोध आजावे तब उसके बाएं स्कंध से अशुभ तैजस शरीर के साथ आत्मा फैलता है और वह शरीर कोप के पात्र को भस्म कर देता है तथा वह तपस्वी भी भस्म होता है।

(६) **आहारक** :– किसी ऋद्धिधारी मुनि के संशय होने पर उनके मस्तक से आहारक शरीर बहुत सुन्दर पुरुषाकार निकलता है, उसी के साथ आत्मा फैलकर जहां केवली या श्रुत केवली होते हैं वहां तक जाता है, दर्शन करके लौट आता है, मुनि का संशय मिट जाता है।

(७) **केवल** :– किसी अरहंत केवली की आयु अल्प होती है और अन्य कर्मों की स्थिति अधिक होती है, तब आयु के बराबर सब कर्मों की स्थिति करने के लिये आत्मा के प्रदेश लोक व्यापी हो जाते हैं।

(८) संसारी है :– सामान्य से संसारी जीवों के दो भेद हैं – **स्थावर, त्रस।** एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति काय के धारी प्राणियों को स्थावर कहते हैं तथा द्वेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यत प्राणियों को त्रस कहते हैं। विशेष में चौदह भेद प्रसिद्ध हैं जिनको "जीव समास" कहते हैं। जीवों के समान जातीय समूह को समास कहते हैं।

चौदह जीव समास :– १ एकेन्द्रिय सूक्ष्म (ऐसे प्राणी जो लोकभर में हैं किसी को बाधक नहीं, न किसी से बाधा पाते स्वयं मरते हैं), २ एकेन्द्रिय बादर (जो बाधा पाते हैं व बाधक हैं), ३ द्वेंद्रिय, ४ तेंद्रिय, ५ चौन्द्रिय ६ पंचेन्द्रिय असैनी (बिना मनके), ७ पंचेन्द्रिय सैनी। ये सात समूह या समास पर्याप्त तथा अपर्याप्त दो प्रकार के होते हैं। इस तरह चौदह जीव समास हैं।

पर्याप्त अपर्याप्त :– जब यह जीव किसी योनि में पहुँचता है तब वहां जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है उनमें आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन बनने की शक्ति अंतर्मुहूर्त में (४८ मिनिट के भीतर भीतर) हो जाती है उसको पर्याप्त कहते हैं। जिसके शक्ति की पूर्णता होगी अवश्य परन्तु जब तक शरीर बनने की शक्ति नहीं पूर्ण हुई तब तक उसको "निर्वृत्यपर्याप्त" कहते हैं। जो छहों में से कोई पर्याप्ति पूर्ण नहीं कर सकते और एक श्वास (नाड़ी फड़कन) के अठारहवें भाग में मर जाते हैं उनको "लब्ध्यपर्याप्त" कहते हैं। छः पर्याप्तियों में से एकन्द्रियों के आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास चार होती हैं, द्वेन्द्रिय से असैनी पंचेंद्रिय तक के भाषा सहित पांच होती हैं, सैनी पंचेन्द्रिय के सब छहों होती हैं। पुद्गलों को खल (मोटा भाग) व रस रूप करने की शक्ति को आहार पर्याप्ति कहते हैं।

संसारी जीवों की ऐसी अवस्थाएँ जहां उनको ढूंढने से मिल सकें, चौदह होती हैं जिनको मार्गणा कहते हैं।

चौदह मार्गणाएँ :– गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त, सैनी, आहार। इनके विशेष भेद इस भांति हैं :–

(१) **गति चार** :– नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव।

(२) **इन्द्रिय पांच** :– स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र।

(३) **काय छः** :– पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रस काय।

(४) **योग तीन** :— मन, वचन, काय अथवा पन्द्रह योग :— सत्य मन, असत्य मन, उभय मन, अनुभय मन, सत्य वचन, असत्य वचन, उभय वचन, अनुभय वचन, औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र, कार्माण। जिस विचार या वचन को सत्य या असत्य कुछ भी न कह सकें उसको अनुभय कहते हैं। मनुष्य तिर्यंचों के स्थूल शरीर को औदारिक कहते हैं। इनके अपर्याप्त अवस्था में औदारिक मिश्र योग कहते हैं, पर्याप्त अवस्था में औदारिक योग होता है। देव व नारकियों के स्थूल शरीर को वैक्रियिक कहते हैं। इनके अपर्याप्त अवस्था में वैक्रियिक मिश्र योग होता है, पर्याप्त अवस्था में वैक्रियिक योग होता है। आहारक समुद्घात में जो आहारक शरीर बनता है उसकी अपर्याप्त अवस्था में आहारक मिश्रयोग होता है, पर्याप्त अवस्था में आहारक योग होता है। एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को प्राप्त होने तक मध्य की विग्रह गति में कार्माणयोग होता है। जिसके निमित्त से आत्मा के प्रदेश सकम्प हों और कर्मों को खींचा जा सके उसको योग कहते हैं। पन्द्रह प्रकार के ऐसे योग होते हैं। एक समय में एक योग होता है।

(५) **वेद तीन** :— स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद :— जिससे क्रम से पुरुषभोग, स्त्रीभोग व उभयभोग की इच्छा हो।

(६) **कषाय चार** :— क्रोध, मान, माया, लोभ।

(७) **ज्ञान आठ** :— मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल व कुमति, कुश्रुति, कुअवधि।

(८) **संयम सात** :— सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-सांपराय, यथाख्यात, देश संयम, असंयम। संयम का न होना असंयम है। श्रावक के व्रतों को पालना देशसंयम है। शेष पांचों संयम मुनि के होते है। समताभाव रखना सामायिक है। समता के छेद होने पर फिर समता में आना छेदोपस्थापना है। विशेष हिंसा का त्याग जिसमें हो सो परिहारविशुद्धि है। सूक्ष्म लोभ के उदय मात्र में जो हो सो सूक्ष्मसांपराय है। सर्व कषाय के उदय न होने पर जो हो सो यथाख्यातसंयम है।

(९) **दर्शन चार** :— चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल।

(१०) **लेश्या छः** :-- कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल । कषायों के उदय से और मन, वचन, काय योगों के चलन से जो भाव शुभ व अशुभ होते हैं उनको बताने वाली छः लेश्याएँ हैं पहली तीन अशुभ हैं, शेष शुभ हैं। बहुत ही खोटे भाव अशुभतम कृष्णलेश्या है, अशुभतर नील है, अशुभ कापोत है, कुछ शुभ भाव पीतलेश्या है, शुभतर पद्म है, शुभतम शुक्ल है ।

(११) **भव्य दो** :-- जिनको सम्यक्त होने की योग्यता है वे भव्य, जिनको योग्यता नहीं है वे अभव्य हैं ।

(१२) **सम्यक्त छः** :-- उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, मिथ्यात्व सासादन, मिश्र । इनका स्वरूप गुणस्थान के शीर्षक में देखें ।

(१३) **संज्ञी दो** :-- मन सहित सैनी, मनरहित असैनी ।

(१४) **आहार दो** :-- आहार अनाहार । जो स्थूल शरीर के बनने योग्य पुद्गल को ग्रहण करना वह आहार है । न ग्रहण करना अनाहार है ।

सामान्य दृष्टि से ये चौदह मार्गणाएं एक साथ हरएक प्राणी में पाई जाती है । जैसे दृष्टान्त मक्खी व मनुष्य का लेवें तो इस भांति मिलेगी ।

	मक्खी के	मानव के
१	तिर्यंच गति	मनुष्य गति
२	इन्द्रिय चार	इन्द्रिय पांच
३	त्रस काय	त्रस काय
४	वचन या काय	मन, वचन या काय
५	नपुंसक वेद	स्त्री, पुरुष या नपुंसक
६	कषाय चारों	कषाय चारों
७	कुमति, कुश्रुत	आठों ही ज्ञान हो सकते है
८	असंयम	सातों ही संयम हो सकते है
९	चक्षु व अचक्षु दर्शन	चारों ही दर्शन हो सकते है
१०	कृष्ण नील, कापोत लेश्या	छहों लेश्याएं हो सकती हैं
११	भव्य या अभव्य कोई	भव्य या अभव्य कोई
१२	मिथ्यात्व	छहों सम्यक्त हो सकते हैं
१३	असैनी	सैनी
१४	आहार व अनाहार	आहार व अनाहार

चौदह गुण स्थान :– संसार में उलझे हुए प्राणी जिस मार्ग पर चलते हुए शुद्ध हो जाते हैं उस मार्ग की चौदह सीढ़ियां हैं। इन सीढ़ियों को पार करके गह जीव सिद्ध परमात्मा हो जाता है। ये चौदह क्लास या दरजे हैं। भावों की अपेक्षा एक दूसरे से ऊंचे ऊंचे हैं। मोहनीय कर्म तथा मन, वचन, काय योगो के निमित्त से ये गुण स्थान बने हैं। आत्मा में निश्चयनय से नहीं हैं। अशुद्ध निश्चयनय से या व्यवहारनय से ये गुणस्थान आत्मा के कहे जाते हैं। मोहनीय कर्म के मूल दो भेद हैं :-- एक दर्शन मोहनीय, दूसरा चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं :– मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व इनका कथन पहले किया जा चुका है। चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद हैं :–

चार ४ अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ :-- दीर्घकाल स्थायी कठिनता से मिटने वाले, जिनके उदय से सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरण चारित्र नहीं प्रगट होता है। उनके हटने से प्रगट होता है।

चार ४ अप्रत्याख्यानावरण कषाय :– कुछ काल स्थायी क्रोधादि, जिनके उदय से एक देश श्रावक का चारित्र ग्रहण नहीं किया जाता।

चार ४ प्रत्याख्यानावरण कषाय :– जिन क्रोधादि के उदय से मुनि का संयम ग्रहण नही किया जाता।

चार ४ संज्वलन क्रोधादि तथा नो नोकषाय :-- (कुछ कषाय) हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुंवेद, नपुंसकवेद। इनके उदय से पूर्ण चारित्र यथाख्यात नहीं होता।

चौदह गुणस्थानों के नाम हैं :– (१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) मिश्र (४) अविरत सम्यक्त (५) देश विरत (६) प्रमत्त विरत (७) अप्रमत्त विरत (८) अपूर्व करण (९) अनिवृत्ति करण (१०) सूक्ष्म सांपराय (११) उपशांत मोह (१२) क्षीण मोह (१३) सयोग केवली जिन (१४) अयोग केवली जिन।

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान :-- जब तक अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्म का उदय बना रहता है, मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है। इस श्रेणी

में जीव संसार में लिप्त, इन्द्रियों के दास, बहिरात्मा आत्मा की श्रद्धा रहित, अहंकार ममकार में फंसे रहते हैं। शरीर को ही आत्मा मानते हैं। प्रायः संसारी जीव इसी श्रेणी में हैं।

इस श्रेणी से जीव तत्वज्ञान प्राप्त कर जब सम्यग्दृष्टि होता है, तब अनन्तानुबंधी चार कषाय तथा मिथ्यात्व कर्म का उपशम करके उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। यह उपशम अर्थात् उदय को दबा देना एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक के लिए नहीं होता है। उपशम सम्यक्त के होने पर मिथ्यात्व कर्म के पुद्गल तीन विभागों में हो जाते हैं :- मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त मोहनीय अंतर्मुहूर्त के होते होते कुछ काल शेष रहते हुए यदि एकदम से अनन्तानुबंधी कषाय का उदय आ जाता है और मिथ्यात्व का उदय नहीं होता है तो यह जीव उपशम सम्यक्त में प्राप्त अविरत सम्यक्त गुणस्थान से गिरकर दूसरे सासादन गुणस्थान में आ जाता है, वहां कुछ काल ठहरकर फिर मिथ्यात्व में पहले गुणस्थान में आ जाता है। यदि कदाचित् मिथ्यात्व का उदय आया तो चौथे से एकदम पहले गुणस्थान में आ जाता है। यदि सम्यग्मिथ्यात्व का उदय आ गया तो चौथे से तीसरे मिश्र गुणस्थान में आ जाता है। यदि उपशम सम्यक्ती के सम्यक्त मोहनीय का उदय आ गया तो उपशम सम्यक्त से क्षयोपशम या वेदक सम्यक्ती हो जाता है। गुणस्थान चौथा ही रहता है।

(२) **सासादन गुणस्थान** :- चौथे से गिरकर होता है, फिर मिथ्यात्व में नियम से गिर पड़ता है। यहां चारित्र की शिथिलता के भाव होते हैं।

(३) **मिश्र गुणस्थान** :- चौथे से गिरकर या पहले से भी चढ़कर होता है। यहां सम्यक्त और मिथ्यात्व के मिश्र परिणाम दूध और गुड़ के मिश्र परिणाम के समान होते हैं। सत्य असत्य श्रद्धान मिला हुआ होता है। अंतर्मुहूर्त रहता है फिर पहले में आता है या चौथे में चढ़ जाता है।

(४) **अविरत सम्यक्त** :- इस गुणस्थान में उपशम सम्यक्ती अंतर्मुहूर्त ठहरता है। क्षयोपशम सम्यक्ती अधिक भी ठहरता है। जो अनन्तानुबंधी कषाय व दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों का क्षय कर डालता है वह क्षयिक सम्यक्ती होता है। क्षायिक सम्यक्त कभी नहीं छूटता है। क्षयोपशम सम्यक्त में सम्यक्त

मोहनीय के उदय से मलीनता होती है। इस श्रेणी में यह जीव महात्मा या अंतरात्मा हो जाता है। आत्मा को आत्मा रूप जानता है, संसार को कर्म का नाटक समझता है। अतीन्द्रिय सुख का प्रेमी हो जाता है, गृहस्थी में रहता हुआ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प या विद्या कर्म से आजीविका करता है, राज्य प्रबन्ध करता है, अन्यायी शत्रु को दमनार्थ युद्ध भी करता है। यह व्रतों को नियम से नहीं पालता है इसलिए इसको अविरत कहते हैं। तथापि इसके चार लक्षण होते हैं :– (१) प्रशम - शांत भाव (२) संवेग धर्मानुराग - संसार से वैराग, (३) अनुकम्पा - दया, (४) आस्तिक्य - आत्मा व परलोक में विश्वास। इस श्रेणी वाले के छहों लेश्याएं हो सकती है। सर्व ही सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य, देव, नारकी इस गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं। यही दर्जा मोक्षमार्ग का प्रवेशद्वार है। यह प्रवेशिका की कक्षा है। इस गुणस्थान का काल क्षायिक व क्षयोपशम की अपेक्षा बहुत है।

(५) देश विरत :– जब सम्यक्ती जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं होता है और प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम या मन्द उदय होता है तो श्रावक के व्रतों को पालता है। एक देश हिंसा असत्य, चोरी, कुशील व परिग्रह से विरक्त रहता है। पांच अणुव्रत, तथा सात शीलों को पालता हुआ साधुपद ही की भावना भाता है। इस चारित्र का वर्णन आगे करेंगे। इस गुणस्थान में रहता हुआ श्रावक गृही कार्य को करता है व धीरे धीरे चारित्र की उन्नति करता हुआ साधुपद में पहुंचता है। इसका काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त व अधिक से अधिक जीवन पर्यंत है। इस श्रेणी को पंचेन्द्रि सैनी पशु तथा मनुष्य धार सकते हैं। छठे से लेकर सब गुणस्थान मनुष्य ही के होते हैं।

(६) प्रमत्त विरत :– जब प्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम हो जाता है तब अहिंसादि पांच महाव्रतों को पालता हुआ महाव्रती महात्मा हो जाता है। यह हिंसादि का पूर्ण त्याग है इससे महाव्रती है तथापि इस गुणस्थान में आहार, विहार, उपदेशादि होता है। इससे पूर्ण आत्मस्थ नहीं है अतएव कुछ प्रमाद है इसी से इसको प्रमत्त विरत कहते हैं, इसका काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है।

(७) **अप्रमत्त विरत** :— जब महाव्रती ध्यानस्थ हो जाता है, प्रमाद बिलकुल नहीं होता है तब इस श्रेणी में होता है । इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है । महाव्रती पुनः पुनः इन छठे सातवें गुणस्थानों में आता जाता रहता है ।

आठवें गुणस्थान से दो श्रेणियां हैं :— **एक उपशम श्रेणी, दूसरी क्षपक श्रेणी** । जहां कषायों को उपशम किया जावे, क्षय न किया जावे वह उपशम श्रेणी है । जहां कषायों का क्षय किया जावे वह क्षपक श्रेणी है । उपशम श्रेणी में आठवां, नौमा, दशमा व ग्यारवां गुणस्थान तक होता है, फिर नियम से धीरे धीरे गिरकर सातवें में आ जाता है । क्षपक श्रेणी के भी चार गुणस्थान हैं :— आठवां, नौमा, दशमा व बारहवां । क्षपकवाला ११वें को स्पर्श नहीं करता है, बारहवें से तेरहवें में जाता है ।

(८) **अपूर्व करण** :— यहां ध्यानी महाव्रती महात्मा के अपूर्व उत्तम भाव होते हैं, शुक्ल ध्यान होता है, अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल नहीं है ।

(९) **अनिवृत्तिकरण** :— यहां ध्यानी महात्मा के बहुत निर्मल भाव होते हैं, शुक्ल ध्यान होता है । ध्यान के प्रताप से सिवाय सूक्ष्म लोभ के सर्व कषायों को उपशम या क्षय कर डालता है, काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है ।

(१०) **सूक्ष्म सांपराय** :— यहां ध्यानी महात्मा के एक सूक्ष्म लोभ का ही उदय रहता है, उसका समय भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है ।

(११) **उपशांत मोह** :— जब मोह कर्म बिलकुल दब जाता है तब यह कक्षा अंतर्मुहूर्त के लिए होती है । यथाख्यात चारित्र व आदर्श वीतरागता प्रगट हो जाती है ।

(१२) **क्षीणमोह** :— मोह का बिलकुल क्षय क्षपक श्रेणीद्वारा चढ़ते हुए दसवें गुणस्थान में हो जाता है तब सीधे यहां आकर अंतर्मूहूर्त ध्यान में ठहरता है । शुक्ल ध्यान के बल से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अंतरायकर्मों का नाश कर देता है और तब केवलज्ञान का प्रकाश होते ही अरहंत परमात्मा कहलाता है । गुणस्थान तेरहवां हो जाता है ।

(१३) **सयोगकेवली जिन** :— अरहंत परमात्मा चार घातीयकर्मों के क्षय होने पर अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्त-

भोग, अनन्तउपभोग, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र इन नौ केवललब्धियों से विभूषित हो जन्मपर्यन्त इस पद में रहते हुए, धर्मोपदेश देते हुए विहार करते हैं, इन्द्रादि भक्तजन बहुत ही भक्ति करते हैं।

(१४) **अयोगकेवली जिन :–** अरहंत की आयु में जब इतनी देर ही रह जाती है जितनी देर अ, इ, उ, ऋ, लृ ये पांच लघु अक्षर उच्चारण किये जाँय तब यह गुणस्थान होता है। आयु के अंत में शेष अघातीय कर्म आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय का भी नाश हो जाता है और यह आत्मा सर्व कर्मरहित होकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। जैसे भुना चना फिर नहीं उगता वैसे ही सिद्ध फिर संसारी नहीं होते हैं। चौदह जीव समास, चौदह मार्गणा, चौदह गुणस्थान, ये सब व्यवहार या अशुद्धनय से संसारी जीवों में होते हैं। जीव-समास एक काल में एक जीव के एक ही होगा, विग्रहगति का समय अपर्याप्त में गर्भित है। मार्गणाएं चौदह ही एक साथ होती है जैसा दिखाया जा चुका है। गुणस्थान एक जीव के एक समय में एक ही होगा।

(८) **सिद्ध :–** सर्व कर्म रहित सिद्ध परमात्मा ज्ञानानन्द में मगन रहते हुए आठ कर्मों के नाश से आठ गुण सहित शोभायमान रहते हैं। वे आठ गुण हैं ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व। अर्थात् सिद्धों में अतीन्द्रियपना है, इन्द्रियों से ग्रहण योग्य नहीं हैं। जहां एक सिद्ध विराजित हैं वहां अन्य अनेक सिद्ध अवगाह पा सकते हैं, उनमें कोई नीच ऊँचपना नहीं है, उनको कोई बाधा नहीं दे सकता है। वे लोक के अग्रभाग में लोक शिखर पर सिद्धक्षेत्र में तिष्ठते हैं।

(६) **ऊर्द्ध गमन स्वभाव :–** सर्व कर्मों से रहित होने पर सिद्ध का आत्मा स्वभाव से ऊपर जाता है। जहां तक धर्मद्रव्य है वहाँ तक जाकर अन्त में ठहर जाता है। अन्य संसारी कर्मबद्ध आत्माएं एक शरीर को छोड़कर जब दूसरे शरीर में जाते हैं तब चार विदिशाओं को छोड़कर पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर, नीचे इन छः दिशाओं द्वारा सीधा मोड़ा लेकर जाते हैं, कोनों में टेढ़ा नहीं जाते हैं।

जीवों की सत्ता सबकी भिन्न भिन्न रहती है। कोई की सत्ता किसी से मिल नहीं सकती है। जीव की अवस्था के तीन नाम प्रसिद्ध हैं – **बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा**। पहले तीन गुणस्थान वाले जीव बहिरात्मा हैं। अविरत सम्यक्त चौथे से लेकर क्षीणमोह बारहवें गुणस्थान तक जीव अन्तरात्मा कहलाता है। तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान वाले सकल या सशरीर परमात्मा कहलाते हैं। सिद्ध शरीर या कल रहित निकल परमात्मा कहलाते है। तत्वज्ञानी को उचित है कि बहिरात्मापना छोड़कर अन्तरात्मा हो जावे और परमात्मा पद प्राप्ति का साधन करे। यही एक मानव का उच्च ध्येय होना चाहिये। यह जीव अपने ही पुरुषार्थ से मुक्त होता है। किसी की प्रार्थना करने से मुक्ति का लाभ नहीं होता है।

अजीव में :– पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल गर्भित हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्णमय पुद्गल के दो भेद होते हैं – परमाणु और स्कंध। अविभागी पुद्गल के खंड को परमाणु कहते हैं। दो व अनेक परमाणुओं के मिलने पर जो वर्गणा बनती हें उनको स्कंध कहते हें। स्कंधों के बहुत से भेद हें। उनके छः मूल भेद जानने योग्य हैं।

छः स्कंध भेद :– स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूल सूक्ष्म, सूक्ष्म स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्म सूक्ष्म। जो स्कंध कठोर हों, खंड होने पर बिना दूसरी वस्तु के संयोग के न मिल सकें उनको स्थूल स्थूल कहते हैं जैसे लकड़ी, कागज, वस्त्र आदि। जो स्कंध बहने वाले हों, अलग किये जाने पर फिर स्वयं मिल जावें जैसे पानी, शरबत, दूध आदि उनको स्थूल कहते हैं। जो स्कंध देखने में स्थूल दिखें परन्तु हाथों से ग्रहण न हो सकें उनको स्थूल सूक्ष्म कहते हैं। जैसे धूप, प्रकाश, छाया। जो स्कंध देखने में स्थूल न आवें परन्तु अन्य चार इन्द्रियों से ग्रहण हो उनको सूक्ष्म स्थूल कहते हैं, जैसे हवा, शब्द, गंध रस। जो स्कंध बहुत से परमाणुओं के स्कंध हों परन्तु किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण में न आवे उन्हें सूक्ष्मस्कंध कहते हैं जैसे भाषावर्गणा, तैजसवर्गणा, मनोवर्गणा, कार्माणवर्गणा आदि। जो स्कंध सर्व से सूक्ष्म हों जैसे दो परमाणु का स्कंध उसे सूक्ष्म सूक्ष्म कहते हें।

जीव और पुद्गल का संयोग ही संसारी आत्मा की अवस्थाएं हें। सर्व पुद्गल का ही पसारा है। यदि पुद्गल को निकाल डाले तो हर एक जीव शुद्ध

दिखेगा इसी से शुद्ध निश्चयनय से सर्व जीव शुद्ध हैं। संसार में जीव और पुद्गल अपनी शक्ति से चार काम करते हैं -- चलना, ठहरना, अवकाश पाना और बदलना। हर एक कार्य उपादान और निमित्त दो कारणों से होता है। जैसे सोने की अंगूठी का उपादान कारण सुवर्ण है परन्तु निमित्त कारण सुनार व उसके यंत्रादि हैं। इसी तरह इन चार कामों के उपादान कारण जीव पुद्गल हैं। तब निमित्त कारण अन्य चार द्रव्य हैं। गमन में सहकारी धर्म है, स्थिति में सहकारी अधर्म है, अवकाश में सहकारी आकाश है, बदलने में सहकारी काल द्रव्य है। समय, आवली, पल आदि निश्चय काल की पर्याय है, इसी को व्यवहार काल कहते हैं। जब एक पुद्गल का परमाणु एक कालाणु पर से उल्लंघन कर निकटवर्ती कालाणु पर जाता है तब समय पर्याय पैदा होती है। इन्हीं समयों से आवली, घड़ी आदि काल बनता है। यद्यपि ये छहों द्रव्य एक स्थान पर रहते हैं और एक दूसरे को सहायता देते हैं तथापि मूल स्वभाव में भिन्न भिन्न बने रहते हैं, कभी मिलते नहीं हैं। न कभी छः के सात होते हैं न पाँच होते हैं।

आश्रव और बंध तत्व

कार्माण शरीर के साथ जीव का प्रवाह की अपेक्षा अनादि तथा कर्म पुद्गल के मिलने व छूटने की अपेक्षा सादि सम्बन्ध है। कार्माण शरीर में जो कर्म बँधते हैं उनको बताने वाले आश्रव और बंध तत्व हैं। कर्म वर्गणाओं का बंध के सन्मुख होने को आश्रव और बँध जाने को बंध कहते हैं। ये दोनों काम साथ साथ होते हैं। जिन कारणों से आश्रव होता है उन्हीं कारणों से बंध होता है। जैसे नाव में छिद्र से पानी आकर ठहर जाता है वैसे मन, वचन, काय की प्रवृत्ति द्वारा कर्म आते हैं और बंधते हैं। साधारण रूप से योग और कषाय ही आश्रव व बंध के कारण हैं। मन, वचन, काय के हलन चलन से आत्मा के प्रदेश सकम्प होते हैं उसी समय आत्मा की योग शक्ति चारों तरफ से कर्म वर्गणाओं को खींच लेती है। योग तीव्र होता है तो अधिक कर्म वर्गणाएं आती हैं, योग मंद होता है तो कम आती हैं। योग के साथ कषाय का उदय होता है इसलिये कभी आठ कर्मों के योग्य कभी सात कर्मों के योग्य वर्गणाएं

खिचती हैं। यदि कषाय का बिलकुल रंग न मिला हो तो केवल साता वेदनीय कर्म के योग्य वर्गणाएं खिचकर आती हैं।

बंध के चार भेद हैं :— प्रकृति बंध, प्रदेश बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध। योगों से ही प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं। कषायों से स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं। किस २ प्रकृति योग्य कर्म बंधते हैं व कितने बंधते हैं यही प्रकृति और प्रदेश बंध का अभिप्राय है। जैसे योगों से आते हैं वैसे ही योगों से ये दोनों बातें हो जाती हैं, जैसे ज्ञानावरण के अमुक संख्या के कर्म बंधे, दर्शनावरण के अमुक संख्या के कर्म बंधे। क्रोधादि कषायों की तीव्रता होती है तो आयु कर्म के सिवाय सातों ही कर्मों की स्थिति अधिक पड़ती है। कितने काल तक कर्म ठहरेंगे उस मर्यादा को स्थित बंध कहते हैं। यदि कषाय मन्द होती है तो सात कर्मों की स्थिति कम पड़ती है। कषाय अधिक होने पर नर्क आयु की स्थिति अधिक व अन्य तीन आयु कर्म की स्थिति कम पड़ती है। कषाय मंद होने पर नर्क आयु की स्थिति कम व अन्य तीन आयु की स्थिति अधिक पड़ती है। कर्मो का फल तीव्र या मंद पड़ना इसको अनुभाग बंध कहते हैं। जब कषाय अधिक होती है तब पाप कर्मों में अनुभाग अधिक व पुण्य कर्मो में अनुभाग कम पड़ता है। जब कषाय मंद होता है तब पुण्य कर्मों में अनुभाग अधिक व पाप कर्मों में अनुभाग कम पड़ता है।

पुण्य पाप कर्म :— आठ कर्मों में से साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम व उच्च गोत्र पुण्य कर्म है। जबकि असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र; तथा ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्म पाप कर्म हैं। योग और कषाय सामान्य से आश्रव व बंध के कारण हैं।

आश्रव और बन्ध के विशेष कारण :— पाँच हैं — मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

(१) **मिथ्यात्व पांच प्रकार** :— सच्चा श्रद्धान न होकर जीवादि तत्वों का मिथ्या श्रद्धान होना मिथ्यात्व है। यह पांच प्रकार का है :—

(१) **एकांत** :— आत्मा व पुद्गलादिक द्रव्यों में अनेक स्वभाव हैं उनमें से एक ही स्वभाव है ऐसा हठ पकड़ना सो एकांत मिथ्यात्व है। जैसे — द्रव्य

मूल स्वभाव की अपेक्षा नित्य है। पर्याय पलटने की अपेक्षा अनित्य है। नित्य अनित्य रूप वस्तु है ऐसा न मानकर यह हठ करना कि वस्तु नित्य ही है या अनित्य ही है सो एकांत मिथ्यात्व है। यह संसारी आत्मा निश्चय नय की अपेक्षा शुद्ध है, व्यवहार नय की अपेक्षा अशुद्ध है ऐसा न मानकर इसे सर्वथा अशुद्ध ही मानना या इसे सर्वथा शुद्ध ही मानना एकांत मिथ्यात्व है।

विनय :– धर्म के तत्वों की परीक्षा न करके कुतत्व व सुतत्व को एक समान मानकर आदर करना विनय मिथ्यात्व है। जैसे पूजने योग्य वीतराग सर्वज्ञ देव हैं। अल्पज्ञ रागी देव पूजने योग्य नहीं है तो भी सरल भाव से विवेक के बिना दोनों की भक्ति करना विनय मिथ्यात्व है। जैसे कोई सुवर्ण और पीतल को समान मान के आदर करे तो वह अज्ञानी ही माना जायगा। उसको सुवर्ण के स्थान में पीतल लेकर धोखा उठाना पड़ेगा। सच्ची सम्यक्त भाव रूप आत्मप्रतीति उसको नहीं हो सकेगी।

अज्ञान :– तत्वो के जानने की चेष्टा न करके देखादेखी किसी भी तत्व को मान लेना अज्ञान मिथ्यात्व है। जैसे – जल स्नान से धर्म होता है, ऐसा मानकर जल स्नान भक्ति से करना अज्ञान मिथ्यात्व है।

संशय :– सुतत्व और कुतत्व की तरफ निर्णय न करके संशय में रहना कौन ठीक है कौन ठीक नही है ऐसा एक तरफ निश्चय न करना सशय मिथ्यात्व है। किसी ने कहा राग द्वेष जीव के हैं, किसी ने कहा पुद्गल के है। सशय रखना कि दोनों में कौन ठीक है सो संशय मिथ्यात्व है।

विपरीत :– जिसमें धर्म नहीं हो सकता है उसको धर्म मान लेना विपरीत मिथ्यात्व है। जैसे -- पशुबलि करने को धर्म मान लेना।

(२) अविरति भाव :– इसके बारह भेद भी हैं और पांच भेद भी हैं। पांच इन्द्रिय और मन को वश में न रखकर उनका दास होना तथा पृथ्वी आदि छः काय के प्राणियों की रक्षा के भाव न करना इस तरह बारह प्रकार अविरत भाव हैं। अथवा हिसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह मूर्छा ये पांच पाप अविरति भाव है।

(३) प्रमाद :– आत्मानुभव में धर्मध्यान में आलस्य करने को प्रमाद कहते हैं। इसके अस्सी (८०) भेद हैं :–

चार विकथा × चार कषाय × पांच इन्द्रिय × १ स्नेह × १ निद्रा = ८०

चार विकथा :— स्त्री, भोजन, देश, राजा । राग बढ़ाने वाली स्त्रियों के रूप, सौन्दर्य, हावभाव, विभ्रम, संयोग, वियोग की चर्चा करना स्त्री विकथा है । राग बढ़ाने वाली, भोजनों के सरस नीरस खाने पीने व चबाने आदि की चर्चा करना भोजन विकथा है । देश में लूटपाट, मारपीट, जुआ, चोरी, व्यभिचार व नगरादि की सुन्दरता सम्बन्धी राग द्वेष बढ़ाने वाली कथा करना, देश विकथा है । राजाओं के रूप की रानियों की विभूति की, सेना की, नौकर चाकर आदि की राग बढ़ाने वाली कथा करना राजा विकथा है ।

हरएक प्रमाद भाव में एक विकथा, एक कषाय, एक इन्द्रिय, एक स्नेह व एक निद्रा के उदय का सम्बन्ध होता है । इसलिए प्रमाद के ८० भेद हो जाते हैं । जैसे — **पुष्प सूँघने की इच्छा होना** एक प्रमाद भाव है । इसमें भोजन कथा (इन्द्रिय भोग सम्बन्धी कथा भोजनकथा में गर्भित है), लोभ कषाय, घ्राणइन्द्रिय, स्नेह, व निद्रा ये पांच भाव संयुक्त हैं । किसी ने किसी सुन्दर वस्तु को देखने में अंतराय किया उस पर क्रोध करके कष्ट देने की इच्छा हुई । इस प्रमाद भाव में भोजनकथा, क्रोधकषाय, चक्षुइन्द्रिय, स्नेह और निद्रा गर्भित हैं ।

(४) **कषाय** :— के २५ भेद हैं जो पहले गिना चुके हैं ।

(५) **योग** :— के तीन या १५ भेद हैं जो पहले गिना चुके हैं ।

चौदह गुणस्थानों की अपेक्षा आश्रव बंध के कारण :— मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय, योग पांचों ही कारण हैं जिनसे कर्म का बंध होता है । **सासादन गुणस्थान में :—** मिथ्यात्व नही है शेष सर्व कारण हैं । **मिश्र गुणस्थान में** :— अनन्तानुबंधी चार कषाय भी नहीं हैं, मिश्रभाव सहित अविरत, प्रमाद कषाय व योग हैं । **अविरत सम्यक्त गुणस्थान में :—** न मिथ्यात्व है, न मिश्रभाव है, न अनन्तानुबन्धी कषाय हैं । शेष अविरत प्रमाद, कषाय व योग हैं ।

देश विरत गुणस्थान में :— एक देशव्रत होने से अविरत भाव कुछ घटा तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय भी छूट गया । शेष अविरत प्रमाद, कषाय व योग बंध के कारण हैं ।

छठे प्रमत्त गुणस्थान में :– महाव्रती होने से अविरत भाव बिलकुल छूट गया तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय भी नहीं रहा। यहाँ शेष प्रमाद, कषाय व योग हैं।

अप्रमत्त गुणस्थान में :– प्रमाद भाव नहीं रहा, केवल कषाय व योग हैं **अपूर्वकरण** में भी कषाय व योग हैं परन्तु अतिमन्द हैं।

अनिवृत्तिकरण नौमे गुणस्थान में :– हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा नौ कषाय नहीं हैं। संज्वलन चार कषाय व तीन वेद अति मन्द हैं। **सूक्ष्मसांपराय में** केवल सूक्ष्म लोभ कषाय और योग हैं। **उपशांतमोह, क्षीण-मोह तथा संयोग केवली जिन** इन तीन गुणस्थानों में केवल योग है। चौदहवें में योग भी नहीं रहता है। इस तरह बंध का कारण भाव घटता जाता है।

कर्मों का फल कैसा होता है :– कर्म का जब बंध हो चुकता है। तब कुछ समय उनके पकने में लगता है, उस समय को **आबाधाकाल** कहते हैं। यदि एक कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति पड़े तो एक सौ वर्ष पकने में लगता है इसी हिसाब से कम स्थिति में कम समय लगता है। किन्हीं कर्मों के आबाधा एक पलक मात्र समय ही होती है, बंधने के एक आवली के पीछे उदय आने लगते हैं। पकने का समय पूर्ण होने पर जिस कर्म की जितनी स्थिति है उस स्थिति के जितने समय है उतने समयों में उस किसी कर्म के स्कंध बँट जाते हैं। बँट-वारे में पहले पहले समयों में अधिक कर्म व आगे आगे कम २ कर्म आते हैं। अन्तिम समय में सबसे कम आते हैं। इस बंटवारे के अनुसार जिस समय जितने कर्म आते हैं उतने कर्म अवश्य झड़ जाते हैं, गिर जाते हैं। यदि बाहरी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुकूल होता है तो फल प्रगट करके झड़ते हैं, नहीं तो बिना फल दिये झड़ जाते हैं। जैसे किसी ने क्रोध कषाय रूपी कर्म ४८ मिनिट की स्थिति का बांधा और एक मिनिट पकने में लगा और ४७०० कर्म हैं। तो वे कर्म ४७ मिनिट में बँट जाते हैं। जैसे ५००, ४००, ३००, २००, १०० इत्यादि रूप से तो ये क्रोध कषाय के स्कंध इसी हिसाब से झड़ जायेंगे। पहले मिनट में ५०० फिर ४०० इत्यादि। यदि उतनी देर कोई सामायिक एकान्त में बैठ-कर कर रहा है तो निमित्त न होने से क्रोध के फल को बिना प्रगट किये हुए ये कर्म गिर जायेंगे। यदि किन्हीं क्रोध कर्मों का बल तीव्र होगा तो कुछ द्वेष

भाव किसी पर आ जायेगा । यदि मंद होगा तो कुछ भी भावों में विकार न होगा ।

बँधे हुए कर्मों में परिवर्तन :– एक दफे कर्म का बंध हो जाने पर भी उनमें तीन अवस्थाएं पीछे से हो सकती हैं – **संक्रमण** :– पाप कर्म को पुण्य में व पुण्य को पाप में बदलना । **उत्कर्षण** :– कर्मों की स्थिति व अनुभाग को बढ़ा देना । **अपकर्षण** :– कर्मों की स्थिति व अनुभाग को घटा देना । यदि कोई पाप कर्म कर चुका है और वह उसका प्रतिक्रमण (पश्चात्ताप) बड़े ही शुद्ध भाव से करता है तो पाप कर्म पुण्य में बदल सकता है या पाप कर्म की स्थिति व अनुभाग घट सकता है । यदि किसी ने पुण्य कर्म बांधा है पीछे वह पश्चात्ताप करता है कि मैंने इतनी देर शुभ काम में लगा दी इससे मेरा व्यापार निकल गया तो इन भावों से बँधा हुआ पुण्य कर्म पापकर्म हो सकता है या पुण्य कर्म का अनुभाग घट सकता है व स्थिति बढ़ सकती है । जैसे औषधि के खाने से भोजन के विकार मिट जाते, कम हो जाते व बल बढ़ जाता इसी तरह परिणामों के द्वारा पिछले पाप व पुण्य कर्म में परिवर्तन हो जाता है । इसलिये बुद्धिमान पुरुष को सदा ही अच्छे निमित्तों में, सत्संगति में, किसी सच्चे गुरु की शरण में रहकर अपने भावों को उच्च बनाने के लिये ध्यान व स्वाध्याय में लीन रहना चाहिये । कुसंगति से व कुमार्ग से बचना चाहिये ।

भविष्य की आयु कर्म का बंध कैसे होता है :– हम मानवों के लिये यह नियम है कि जितनी भोगने वाली आयु की स्थिति होगी उसके दो तिहाई बीत जाने पर पहली दफे अन्तर्मुहूर्त के लिये आयु बंध का समय होता है । फिर दो तिहाई बीतने पर दूसरी दफे, फिर दो तिहाई बीतने पर तसरी दफे, इस तरह दो तिहाई समय के पीछे आठ दफे ऐसा अवसर आता है । यदि इन में भी नहीं बंधे तो मरने के पहले तो आयु बंधती ही है । मध्यम लेश्या के परिणामों से आयु बँधती है । ऐसे परिणाम उस आयुबंध के काल में नही हुए तो आयु नहीं बँधती है । एक दफे बँध जाने पर दूसरी दफे फिर बंध काल आने पर पहली बंधी आयु की स्थिति कम व अधिक हो सकती है । जैसे किसी मानव की ८१ वर्ष की आयु है तो नीचे प्रमाण ८ दफे आयुबंध काल आयेगा :–

(१)	५४ वर्ष बीतने पर	२७ वर्ष रहने पर
(२)	७२ ,, ,,	६ ,, ,,
(३)	७८ ,, ,,	३ ,, ,,
(४)	८० ,, ,,	१ ,, ,,
(५)	८० ,,	८ मास बीतने पर ४ मास शेष रहने पर
(६)	८० ,,	१० मास २० दिन बीतने पर ४० दिन शेष रहने पर
(७)	८० ,,	११ मास १६ दिन १६ घंटे बीतने पर १३ दिन ८ घंटे रहने पर
(८)	८० ,,	११ मास २५ दिन १४ घन्टे बीतने पर ४ दिन १० घन्टे ४० मिनट रहने पर

संवर और निर्जरा तत्त्व

आत्मा के अशुद्ध होने के कारण आश्रव और बन्ध हैं, यह कहा जा चुका है। यद्यपि कर्म अपनी स्थिति के भीतर फल देकर व बिना फल दिये झड़ते हैं तथापि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव कभी भी रागद्वेष मोह से खाली नहीं होता है, इससे हर समय कर्मों का बन्ध करता ही रहता है। अज्ञानी के कर्म की निर्जरा हाथी के स्नान के समान है। जैसे हाथी एक दफे तो सूंड से अपने ऊपर पानी डालता है फिर रज डाल लेता है वैसे अज्ञानी के एक तरफ तो कर्म झड़ते हैं, दूसरी तरफ कर्म बँधते हैं। अज्ञानी के जो सुख या दुःख होता है या शरीर, स्त्री, पुत्र, पुत्री, धन, परिवार, परिग्रह का सम्बन्ध होता है उसमें वह आसक्त रहता है, सुख में बहुत रागी दुःख में बहुत द्वेषी हो जाता है। इस कारण उसके नवीन कर्मों का बन्ध तीव्र हो जाता है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव संसार शरीर व भोगों से वैरागी होता है। वह पुण्य के उदय में व पाप के उदय में सम भाव रखता है, आसक्त नहीं होता है इससे उसके कर्म झड़ते बहुत है। तथा सुख में अल्प राग व दुःख में अल्प द्वेष होने के कारण नवीन कर्मों का बन्ध थोड़ा होता है। चौदह गुणस्थानों में चढ़ते हुए जितना जितना बन्ध का कारण हटता है उतना उतना जो बन्ध पहले होता था उसका संवर हो

जाता है तथा ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जितना जितना आत्म मनन व आत्मानुभव का अभ्यास करता है उसके रत्नत्रयमय भाव के प्रताप से प्रचुर कर्मों की निर्जरा होती है । कर्मों की स्थिति घटती जाती है । पापकर्म का अनुभाग घटता जाता है, पाप कर्म बहुत शीघ्र झड़ जाते हैं । पुण्य कर्म में अनुभाग बढ़ जाता है वे भी फल देकर या फल दिये बिना झड़ जाते हैं ।

जिन भावों से कर्म बन्धते हैं उनके विरोधी भावों से कर्म रुकते हैं । आश्रव का विरोधी ही संवर है । मिथ्यात्व के द्वारा आते हुए कर्मों को रोकने के लिये सम्यग्दर्शन का लाभ करना चाहिये । अविरति के द्वारा आने वाले कर्मों को रोकने के लिये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पांच व्रतों का अभ्यास करना चाहिये । प्रमाद के रोकने के लिये चार विकथा को त्यागकर उपयोगी धार्मिक व परोपकारमय कार्यों में दत्तचित्त रहना चाहिये । कषायों को हटाने के लिये आत्मानुभव व शास्त्र पठन व मनन, तत्त्वविचार व क्षमाभाव, मार्दवभाव, आर्जवभाव, सन्तोषभाव का अभ्यास करना चाहिये । योगों को जीतने के लिये मन, वचन, काय को थिर करके आत्मध्यान का अभ्यास करना चाहिये, संवर तत्त्व का सामान्य कथन इस प्रकार है – विशेष विचार यह है कि जो अपना सच्चा हित करना चाहता है उसको अपने परिणामो की परीक्षा सदा करना चाहिये । तीन प्रकार के भाव जीवों के होते हैं – अशुभोपयोग, शुभोपयोग, शुद्धोपयोग । अशुभोपयोग से पापकर्मों का, शुभोपयोग से पुण्यकर्मो का बन्ध होता है । परन्तु शुद्धोपयोग से कर्मों का क्षय होता है । इसलिये विवेकी को उचित है कि अशुभोपयोग से बचकर शुभोपयोग में चलने का अभ्यास करे । फिर शुभोपयोग को भी हटाकर शुद्धोपयोग को लाने का प्रयत्न करे । ज्ञानी को भी सदा जागृत और पुरुषार्थी रहना चाहिये । जैसे साहूकार अपने घर में चोरों का प्रवेश नहीं चाहता है, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करता है उसी तरह ज्ञानी को अपने आत्मा की रक्षा बंधकारक भावों से करते रहना चाहिये व जिन जिन अशुभभावों की टेव पड़ गई हो उनको नियम या प्रतिज्ञा के द्वारा दूर करना चाहिये ।

जुआं खेलने की, तास खेलने की, चौपड़ खेलने की, शतरंज खेलने की, भांग पीने की, तम्बाकू पीने की, अफीम खाने की, वेश्यानाच देखने की, कम

तौलने नापने की, चोरी के माल खरीदने की, अधिक बोझा लादने की, मिथ्या गवाही देने की, मिथ्या कागज लिखने की, खरी में खोटी मिलाकर खरी कह कर बेचने की, दिन में सोने की, अनछना पानी पीने की, रात्रि भोजन करने की, वृथा बकवाद करन की, गाली सहित बोलने की, असत्य भाषण की, पर को ठगने की आदि जो जो भूल से भरे हुए अशुभ भाव अपने में होते हों उनको त्याग करता चला जावे तब उनके त्याग करने से जो पाप का बंध होता सो रुक जाता है। प्रतिज्ञा व नियम करना अशुभ भावों से बचने का बड़ा भारी उपाय है। ज्ञानी भेद विज्ञान से आत्मा को सर्व रागादि परभावों से भिन्न अनुभव करता है। मैं सिद्धसम शुद्ध हूँ उसका यह अनुभव परम उपकारी होता है। इस शुद्ध भावों की तरफ झुके हुए भावों के प्रताप से उसके नवीन कर्मों का संवर व पुरातन कर्मों की निर्जरा होती है।

सिद्धान्त में संवर के साधन व्रत, समिति, गुप्ति, दस धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह जय, चारित्र तथा तप को बताया गया है और निर्जरा का कारण तप को कहा गया है। इन सबका कुछ वर्णन आगे किया जायेगा। तात्पर्य यह है कि जितना जितना शुद्ध आत्मिक भाव का मनन या अनुभव बढ़ता जायेगा उतना उतना नवीन कर्मों का संवर व पुरातन कर्म का क्षय होता जायेगा।

मोक्ष तत्व

सातवां तत्त्व मोक्ष है, जब ध्यान के बल से आत्मा सर्व कर्मों से छूट जाता है तब वह अकेला एक आत्म द्रव्य अपनी सत्ता में रह जाता है इसे ही मोक्ष तत्त्व कहते हैं। मोक्ष प्राप्त आत्मा सिद्धात्मा है वे परम कृतकृत्य परमात्मा रूप से अपने ज्ञानानंद का भोग करते रहते हैं।

व्यवहार नय से जीवादि सात तत्त्व का स्वरूप संक्षेप से कहा गया है जिससे सहज सुख के साधक को इनका ज्ञान हो। रोग का निदान व उपाय विदित हो। निश्चय नय से इन सात तत्त्वों में केवल दो ही पदार्थ हैं :— जीव और अजीव। उनमें से अजीव त्यागने योग्य है। जीव पदार्थ में अपना एक शुद्ध जीव ही ग्रहण करने योग्य है ऐसा जानना व श्रद्धान करना निश्चय नय से

सम्यक्त है । जीव और कर्म का संयोग ही संसार है । जीव और कर्म के संयोग से ही आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष पांच तत्त्व बने हैं जैसे शक्कर और मावा के सम्बन्ध से पांच प्रकार की मिठाई बनाई जावे तब व्यवहार में उस मिठाई को पेड़ा, बरफी, गुलाबजामुन आदि अनेक नाम दिये जाते हैं परन्तु निश्चय से उनमें दो ही पदार्थ हैं :— शक्कर और मावा । इसी तरह आश्रवादि पांच तत्त्वों में जीव और कर्म दो हैं, उनमें से जीव को भिन्न अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है ।

सात तत्त्वों का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है । इसी तरह सच्चे देव, सच्चे शास्त्र व सच्चे गुरु का श्रद्धान भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है । देव, शास्त्र, गुरु की सहायता से ही पदार्थों का ज्ञान होता है व व्यवहार सम्यक्त का सेवन होता है । संसारी जीवों में जो दोष पाये जाते हैं वे जिनमें न हों वे ही सच्चे देव हैं । अज्ञान व कषाय ये दोष हैं, जिनमें ये न हों अर्थात् जो सर्वज्ञ और वीतराग हो वही सच्चा देव है । यह लक्षण अरहंत और सिद्ध परमात्मा में मिलता है । पहले कहा जा चुका है कि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती को अरहंत कहते हैं और सर्व कर्मरहित आत्मा को सिद्ध कहते हैं । ये ही आदर्श हैं जिनके समान हमको होना है । अतएव इन्हीं को पूजनीय देव मानना चाहिये । अरहंत द्वारा प्रगट धर्मोपदेश जो जैन आचार्यों के द्वारा ग्रन्थों में है वह सच्चा शास्त्र है, क्योंकि उनका कथन अज्ञान और कषायों को मेटने का उपदेश देता है । उन शास्त्रों में एकसा कथन है, पूर्वापर विरोध कथन नहीं है । उन शास्त्रों के अनुसार चलकर जो महाव्रती अज्ञान और कषायों को मेटने का साधन करते हैं वे ही सच्चे गुरु हैं । इस तरह देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा करके व्यवहार सम्यक्ती होना योग्य है ।

व्यवहार सम्यक्त के सेवन से निश्चय सम्यक्त प्राप्त होगा । इसलिये उचित है कि चार काम नित्य प्रति किये जावें (१) देव भक्ति, (२) गुरुसेवा, (३) स्वाध्याय, (४) सामायिक । ये ही चार औषधियां हैं जिनके सेवन करने से अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्म का बल घटेगा । इसलिए श्री जिनेन्द्रदेव अरहंत सिद्ध की स्तुति नित्य करनी चाहिये । भावों के जोड़ने के लिये

अरहंतों की ध्यानमय मूर्ति भी सहायक है। इसलिये मूर्ति के द्वारा ध्यान के भाव का दर्शन करते हुए गुणानुवाद करने से बुद्धि पर शुद्ध भाव रूपी आदर्श की छाप पड़ती है। संसार अवस्था त्यागने योग्य व मोक्षावस्था ग्रहण योग्य भासती जाती है। इसलिए मूर्ति के संयोग से या मूर्ति के संयोग बिना जैसा संभव हो अरहंत सिद्ध की भक्ति आवश्यक है।

गुरु सेवा भी बहुत जरूरी है। गुरु महाराज की शरण में बैठने से, उनकी शांत मुद्रा देखने से, उनसे धर्मोपदेश लेनें से बुद्धि पर भारी असर पड़ता है। गुरु वास्तव में अज्ञान के रोग को मेटने के लिए ज्ञानरूपी अंजन की सलाई चला देते हैं जिससे अंतरङ्ग ज्ञान की आँख खुल जाती है। जैसे पुस्तकों के होने पर भी स्कूल और कालेजों में मास्टर और प्रोफेसरों की जरूरत पड़ती है, उनके बिना पुस्तकों का मर्म समझ में नहीं आता, इसी तरह शास्त्रों के रहते हुए भी गुरु की आवश्यकता है। गुरु, तत्त्व का स्वरूप ऐसा समझाते हैं जो शीघ्र समझ में आ जाता है। इसलिए गुरु महाराज की संगति करके ज्ञान का लाभ करना चाहिये। उनकी सेवा वैय्यावृत्य करके जन्म को सफल मानना चाहिये। सच्चे गुरु तारणतरण होते हैं। आप भवसागर से तरते हैं और शिष्यों को भी पार लगाते हैं। यदि गुरु साक्षात् न मिले तो नित्य प्रति उनके गुणों का स्मरण करके उनकी भक्ति करनी चाहिये।

तीसरा नित्य काम यह है कि शास्त्रों को पढ़ना चाहिए। जिनवाणी पढ़ने से ज्ञान की वृद्धि होती है, परिणाम शांत होते हैं। बुद्धि पर तत्त्वज्ञान का असर पड़ता है जिससे बड़ा भारी लाभ होता है। शास्त्रों की चर्चा व मनन से कर्म का भार हल्का हो जाता है। जिन शास्त्रों से तत्वों का बोध हो, जिनसे अध्यात्मज्ञान विशेष प्रकट हो, उन शास्त्रों का विशेष अभ्यास करना चाहिये।

चौथा काम यह है कि प्रातःकाल और संध्याकाल या मध्यान्हकाल तीन दफे, दो दफे या एक दफे एकांत में बैठकर सामायिक करनी चाहिये। जितनी देर सामायिक करे सर्व से राग द्वेष छोड़कर निश्चयनय से आत्मा को सिद्धसम शुद्ध विचारना चाहिये, ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्रस्वाध्याय व सामायिक इन चार कामों को नित्य श्रद्धान भाव सहित करते रहने से व इन्द्रियों पर स्वामित्व रखते हुए, नीतिपूर्वक आचार करते हुए, संसार शरीर भोगों से वैराग्य भाव रखते हुए यकायक ऐसा समय आ जाता है कि सामायिक के समय परिणाम उतने निर्मल व आत्मप्रेमी हो जाते हैं कि अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व का उपशम होकर उपशम सम्यक्त का लाभ हो जाता है। अभ्यास करने वाले को णमोकार मन्त्र पर ध्यान रखना चाहिये।

णमो अरहंताणं :— सात अक्षर
णमो सिद्धाणं :— पांच अक्षर
णमो आइरियाणं :— सात अक्षर
णमो उवज्झायाणं :— सात अक्षर
णमो लोए सव्वसाहूणं :— नव अक्षर

} पैंतीस अक्षर

अर्थ :— इस लोक में सर्व अरहंतों को नमस्कार हो, इस लोक में सर्व सिद्धों को नमस्कार हो, इस लोक में सर्व आचार्यों को नमस्कार हो, इस लोक में सर्व उपाध्यायों को नमस्कार हो, इस लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो, महाव्रती साधुओं में जो संघ के गुरु होते हैं उनको आचार्य कहते हैं। जो साधु शास्त्रों का पठन पाठन मुख्यता से कराते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं। शेष साधु संज्ञा में हैं।

१०८ दफे पैंतीस अक्षरों का णमोकार मन्त्र जपे या नीचे लिखे मन्त्र जपे।

"अर्हंत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः" :— सोलह अक्षरी।
अरहन्त सिद्ध :-- छः अक्षरी।
असिआउसा :— पांच अक्षरी।
अरहंत :-- चार अक्षरी।
सिद्ध, ओं ह्रीं, सोहं :-- दो अक्षरी।
ॐ :— एक अक्षरी।

जिस समय सम्यग्दर्शन का प्रकाश होता है मानो सूर्य की किरण का प्रकाश होता है। सर्व अज्ञान व मिथ्यात्व का अन्धेरा व अन्याय चारित्र का

अभिप्राय भाग जाता है। सम्यग्दर्शन के होते ही रत्नत्रय प्रगट होते हैं। ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है व स्वरूपाचरण चारित्र अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम से प्रगट हो जाता है। सम्यक्त के प्रगट होते समय स्वानुभव दशा होती है, उसी समय अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ होता है। उस सहज सुख का बोध होते ही – भले प्रकार अनुभव होते ही इन्द्रिय सुख तुच्छ है यह प्रतीति दृढ़ होती है। सम्यक्त होते ही वह संसार की तरफ पीठ दे लेता है और मोक्ष की तरफ मुख कर लेता है।

अब से सम्यक्ति की सर्व क्रियाएं ऐसी होती हैं जो आत्मोन्नति में बाधक न हों, वह अपने आत्मा को पूर्ण ब्रह्म, परमात्मा रूप वीतरागी ज्ञाता दृष्टा अनुभव करता है। सर्व मन, वचन, काय की क्रिया को कर्म पुद्गल जनित जानता है। यद्यपि वह व्यवहार में यथा योग्य अपनी पदवी के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष पुरुषार्थों की सिद्धि करता है तथापि वह यह जानता है कि यह सब व्यवहार आत्मा का स्वभाव नहीं कर्म का नाटक है। मन, वचन, काय की गुप्ति न होने से स्वानुभाव में सदा रमण न होने से करना पड़ता है। वह सम्यक्ति व्यवहार चारित्र को भी त्यागने योग्य मानता है। यद्यपि उसे मन को रोकने के लिये व्यवहार चारित्र की शरण लेनी पड़ती है तो भी वह उसे त्यागने योग्य ही समझता है। जैसे ऊपर जाने के लिए सीढ़ी की जरूरत पड़ती है परन्तु चढ़ने वाला सीढ़ी से काम लेते हुए भी सीढ़ी को त्यागने योग्य ही समझता है। जब पहुँच जाता है सीढ़ी को त्याग देता है।

सम्यक्ति अपने आत्मा को न बंध में देखता है न उसे मोक्ष होना है ऐसा जानता है। वह आत्मा को आत्म द्रव्य रूप शुद्ध सिद्धसम ही जानता है बंध व मोक्ष की सर्व कल्पना मात्र व्यवहार है, कर्म की अपेक्षा से है। आत्मा का स्वभाव बंध व मोक्ष के विकल्प से रहित है। निश्चय नय से आत्मा आत्मा-रूप ही है। आत्मा ही सम्यग्दर्शन रूप है। जब निश्चय नय से मनन होने में प्रमाद आता है तब साधक व्यवहार नय से सात तत्त्वों का मनन करता है या देव पूजा, गुरु भक्ति, स्वाध्याय तथा सामायिक का आरम्भ करता है। इन व्यवहार साधनों को करते हुए भी सम्यक्ति की दृष्टि निश्चय पर रहती है।

जब निश्चय नय का आलम्बन लेता है, शुद्ध आत्मा का ही मनन करता है। जब मनन करते २ स्वानुभव में पहुँच जाता है तब निश्चय तथा व्यवहार दोनों का पक्ष छूट जाता है।

सम्यक्ती सदा सुखी रहता है। उसको सहज सुख स्वाधीनता से जब चाहे तब मिल जाता है। सांसारिक सुख व दुःख उसके मन को सम्यक्त से नहीं गिराते हैं। वह इनको धूप व छाया के समान क्षणभंगुर जानकर इनमें ममत्व नहीं करता है। जीव मात्र के साथ मैत्री भाव रखता हुआ यह सम्यक्ती अपने कुटुम्ब की आत्माओं को भी आत्मा रूप जानकर उनका हित विचारता है। उनके साथ अंधमोह नहीं रखता है, उनको आत्मोन्नति के मार्ग में लगाता है, उनके शरीर की भली प्रकार रक्षा करता है। दुःखी के दुःख को शक्ति को न छिपाकर दूर करता है, वह करुणा भावना भाता रहता है। दूसरे प्राणियों के दुःखों को देखकर मानों मेरे ही ऊपर ये दुःख हैं ऐसा जानकर सकम्प हो जाता है और यथाशक्ति दुःखों के दूर करने का प्रयत्न करता है। गुणवानों को देखकर प्रसन्न होता है, उनकी उन्नति चाहता है व आगे उनके समान उन्नति करने की उत्कंठा करता है। जिनके साथ अपनी सम्मति किसी तरह नही मिलती है उनके ऊपर द्वेष भाव नहीं रखता है, किन्तु माध्यस्थ भाव या उपेक्षा-भाव रखता है। जगत मात्र के प्राणियों का हितैषी सम्यक्ती होता है। लाभ में हर्ष हानि में शोक नहीं करता है।

गुणस्थान के अनुसार कषाय के उदय से कुछ हो जावे तो भी वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा बहुत ही अल्प होता है। सम्यक्ती सदा निराकुल रहना चाहता है। वह ऐसा कर्जा नहीं लेता है जिसे वह सुगमता से चुका न सके। पुत्रादि के विवाह में वह आमदनी को देखकर खर्च करता है। अनावश्यक खर्च को रोकता है। बहुधा सम्यक्ती जीव आमदनी के चार भाग करता है। एक भाग नित्य खर्च में, एक भाग विशेष खर्च के लिए, एक भाग एकत्र रखने के लिए, एक भाग दान के लिए अलग करता है। यदि दान में चौथाई अलग न कर सके तो मध्यम श्रेणी में छठा या आठवां भाग तथा जघन्य श्रेणी में दशवाँ भाग तो निकालता ही है और उसे आहार, औषधि, अभय तथा शास्त्रदान में खर्च करता है।

सम्यक्ती विवेकी, विचारवान होता है, किसी पर अन्याय या जुल्म नहीं करता है। दूसरा कोई अन्याय करे तो उसको समझाता है, यदि वह नहीं मानता है तो उसको शिक्षा देकर ठीक करता है। विरोधी को युद्ध करके भी सीधे मार्ग पर लाता है। अविरत सम्यक्ती आरम्भी हिंसा का त्यागी नहीं होता है। यद्यपि सम्यक्ती संकल्पी हिंसा का भी नियम से त्यागी नहीं होता है तो भी वह दयावान होता हुआ वृथा एक तृण मात्र को भी कष्ट नहीं देता है।

सम्यक्ती के आठ अंग :– जैसे शरीर के आठ अंग होते हैं -- मस्तक, पेट, पीठ, दो भुजा, दो टांगें, एक कमर। यदि इनको अलग अलग कर दिया जावे तो शरीर नहीं रहता है। इसी तरह सम्यक्ती के आठ अंग होते हैं। यदि ये न हों तो वह सम्यक्ती नहीं हो सकता है।

(१) **निःशंकित अंग :--** जिन तत्वों की श्रद्धा करके सम्यक्ती हुआ है उन पर कभी शंका नहीं लाता है। जो जानने योग्य बातें समझ में नहीं आई हैं और जिनागम से जानी जाती हैं उन पर अश्रद्धान नही करता है तथापि वह ज्ञानी से समझने का उद्यम करता है तथा वह नीचे प्रकार कहे गये सात प्रकार के भयों को ऐसा नहीं करता है जिससे श्रद्धान विचलित हो जावे। चारित्र मोह के उदय से यदि कभी कोई भय होता है तो उसे वस्तु स्वरूप विचारकर आत्मबल को स्फूर्ति से दूर करता है।

(१) **इस लोक का भय :–** मैं यह धर्म कार्य करूंगा तो लोग निंदा करेंगे, इसलिये नहीं करना ऐसा भय सम्यक्ती नहीं करेगा। वह शास्त्र को कानून मानकर जिससे लाभ हो उस काम को लोगों के भय के कारण छोड़ नहीं देगा।

(२) **परलोक का भय :--** यद्यपि सम्यक्ती दुर्गति जाने योग्य काम नही करता है तथापि वह अपने आत्मा के भीतर ऐसी दृढ़ श्रद्धा रखता है कि उसे यह भय नहीं होता है कि यदि नर्कादि में गया तो बड़ा दुःख उठाऊंगा। वह शारीरिक कष्ट मे घबड़ाता नहीं व वैषयिक सुख का लोलुपी नहीं होता – अपने कर्मोदय पर सन्तोष रखता हुआ परलोक की चिन्ता से भयभीत नहीं होता है।

(३) **वेदना भय :--** वह रोगों के न होने का यत्न रखता है । मात्रा-पूर्वक खानपान, नियमित आहार, विहार, निद्रा के साधन करता है तथापि भयातुर नहीं होता है कि रोग आ जायेगा तो मैं क्या करूंगा । वह समझता है कि यदि असातावेदनीय के तीव्र उदय से रोग आ जायेगा तो कर्म की निर्जरा ही है ऐसा समझकर भय रहित रहता है, रोग होने पर यथार्थ इलाज करता है ।

(४) **अनरक्षा भय :--** यदि सम्यक्ती अकेला हो व कहीं परदेश में अकेला जावे तो वह यह भय नहीं करता है कि मेरी रक्षा यहां कैसे होगी, मैं कैसे अपने प्राणों को सम्हाल सकूंगा । वह अपने आत्मा के अमरत्व पर व उसके चिरसुरक्षित गुणरूपी सम्पत्ति पर ही अपना दृढ़ विश्वास रखता है । अतएव मेरा रक्षक नहीं है ऐसा भय न करके अरहंतादि पांच परमेष्ठियों की शरण को ही बड़ी रक्षा समझता है ।

(५) **अगुप्त भय** :-- सम्यक्ती यह भय नहीं करता है कि यदि मेरा माल व असबाव चोरी चला जायेगा तो क्या होगा ? वह अपने माल की रक्षा का पूर्ण यत्न करके निश्चिन्त हो जाता है और अपने कर्म पर आगे का भाव छोड़ देता है । वह जानता है कि यदि तीव्र असातावेदनीय का उदय आ जावेगा तो लक्ष्मी को जाने में देर न लगेगी, पुण्योदय से बनी रहेगी ।

(६) **मरण भय** :-- सम्यक्ती को मरने का भय नहीं होता है । वह मरण को कपड़े बदलने के समान जानता है । आत्मा का कभी मरण नहीं होता है, मैं अजर अमर हूँ ऐसा दृढ़ विश्वास उसे मरण भय से दूर रखता है, वह जगत में वीर योद्धा के समान वर्तन करता है ।

(७) **अकस्मात् भय :--** वह अपनी शक्ति के अनुसार रहने व बैठने व आने जाने के साधनों को सम्हाल कर काम में लेता है । यह भय नही रखता है कि अकस्मात् छत गिर जायेगी तो क्या होगा ? भूकम्प आ जायेगा तो क्या होगा ? इन भयों को नही करता है । प्रयत्न करते हुए भावी को कर्मोदय पर छोड़ देता है, अकस्मात् का विचार करके भयभीत नहीं होता है ।

(२) **निःकांक्षित अंग :--** सम्यक्ती संसार के इन्द्रियजनित सुखों में सुख-पने की श्रद्धा नही रखता है । वह ऐसे सुख को पराधीन, दुःख का मूल, आकुलतामय, तृष्णावर्द्धक व पापकर्मबन्धक जानता है ।

(३) **निर्विचिकित्सित अंग** :— सम्यक्ती हरएक पदार्थ के स्वरूप को विचार किसी से ग्लानिभाव नहीं रखता है । दुःखी, दरिद्री, रोगी प्राणियों पर दयाभाव रखकर उनसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करके उनका क्लेश मेटता है । मलीन को देखकर व मल को देखकर ग्लानिभाव नहीं करता है । मलीन को स्वच्छ रहने का यथाशक्ति साधन कर देता है । मलीन पुद्गलों से स्वास्थ्यलाभ की अपेक्षा बचते हुए भी किसी रोगी के मलमूत्र कफ उठाने में ग्लानि नहीं मानता है ।

(४) **अमूढ़दृष्टि अंग** :— हरएक धर्म की क्रिया को विचार पूर्वक करता है । जो रत्नत्रय के साधक धर्म के कार्य हैं उन्हीं को करता है । देखा-देखी मिथ्यात्ववर्द्धक व निरर्थक क्रियाओं को धर्म मानके नहीं पालता है । दूसरों की देखादेखी किसी भी अधर्मक्रिया को धर्म नहीं मानता है, मूढ़ बुद्धि को बिलकुल छोड़ देता है ।

(५) **उपगूहन अंग** :— सम्यक्ती दूसरे के गुणों को देखकर अपने गुणों को बढ़ाता है । परके औगुणों को ग्रहणकर निन्दा नहीं करता है । धर्मात्माओं से कोई दोष हो जावे तो उसको जिस तरह बने उससे दूर कराता है । परन्तु धर्मात्माओं की निन्दा नहीं करता है ।

(६) **स्थितिकरण अंग** :— अपने आत्मा को सदा धर्म में स्थिर करता रहता है तथा दूसरो को भी धर्म मार्ग में सदा प्रेरणा करता रहता है ।

(७) **वात्सल्यांग** :— धर्म और धर्मात्माओं से गौवत्स के समान प्रेम भाव रखता हुआ सम्यक्ती उनके दुःखों को मेटने का यथाशक्ति उद्यम करता है ।

(८) **प्रभाव ंग** :— धर्म की उन्नति करने का सदा ही प्रयत्न करना एक सम्यक्ती का मुख्य कर्तव्य होता है । जिस तरह हो अन्य प्राणी सत्य धर्म से प्रभावित होकर सत्य को धारण करें ऐसा उद्यम करता व कराता रहता है ।

सम्यक्ती में इन आठ अंगों का पालन सहज ही होता है । उसका स्वभाव ही ऐसा हो जाता है ।

निश्चय नय से सम्यक्ती के आठ अंग इस प्रकार हैं कि वह निज आत्मा में निःशंक व निर्भय होकर ठहरता है, निःशंकित अंग है । अतीन्द्रिय आनन्द में मग्न रहता है यही निःकांक्षित अंग है । आत्म स्वरूप की मगनता में साम्यभाव

का अवलंबन करता है यही निर्विचिकित्सित अंग है । आत्मा के स्वरूप में मूढ़ता रहित है, यथार्थ आत्मबोध सहित है यही अमूढ़दृष्टि अंग है । आत्मिक स्वभाव की स्थिरता में लीन है, परभाव को ग्रहण नहीं करता है यही उपगूहन अंग है । आत्मा में आत्मा के द्वारा स्थिर है यही स्थितिकरण अंग है । आत्मानंद में भ्रमरवत् आसक्त है यही वात्सल्य अंग है । आत्मिक प्रभाव के विकास में दत्तचित्त है यही प्रभावना अंग है ।

सम्यक्ती के भीतर से आठ लक्षण और भी प्रगट होते हैं । इन आठ चिन्हों से भी सम्यक्ती जाना जाता है :–

(१) संवेग :– संसार, शरीर भोगो से वैराग्य सहित आत्मिक धर्म व उसके साधनों से सम्यक्ती को बहुत प्रेम होता है वह धर्म के प्रेम में रंगा होता है ।

(२) निर्वेद :– संसार असार है, शरीर अपवित्र है, भोग अतृप्तिकारी व विनाशीक हैं ऐसी भावना सम्यक्ती में जागृत रहती है ।

(३) निन्दा :– (४) गर्हा :– सम्यक्ती अपने मुख से अपनी प्रशंसा नहीं करता है, वह जानता है कि यद्यपि मेरा आत्मा सिद्धसम शुद्ध है तथापि अभी कर्म मल से अशुद्ध हो रहा है । जब तक पूर्ण शुद्ध न हो तब तक मैं निन्दा के योग्य हूँ, ऐसा जानकर अपने मनमें भी अपनी निन्दा करता रहता है तथा दूसरों के सामने भी अपनी निन्दा करता रहता है । यदि कोई उसके धर्माचरण की प्रशंसा करे तो वह अपनी कमी को सामने रख देता है । जो कुछ व्यवहार धर्म साधन करता है उसमें अहंकार नहीं करता है ।

(५) उपशम :– सम्यक्ती की आत्मा में परम शांत भाव रहता है, वह भीतर से शीतल रहता है, किसी पर द्वेष नहीं रखता है । यदि कारणवश कभी क्रोध आता भी है तो भी उसका हेतु अच्छा है और क्रोध को भी शीघ्र दूर कर शांत हो जाता है ।

(६) भक्ति :– सम्यक्ती देव, शास्त्र, गुरु का परम भक्त होता है, बड़ी भक्ति से पूजन पाठ करता है, शास्त्र पढ़ता है, गुरु भक्ति करता है, धर्मात्माओं की यथायोग्य विनय करता है ।

(७) **वात्सल्य** :— धर्म और धर्मात्माओं में गौवत्स समान प्रेम रखता है। धर्म के ऊपर व धर्मात्मा के ऊपर कोई आपत्ति आवे तो उसे दूर करने का मन, वचन, काय से व धन से व अधिकार बल से जिस तरह हो प्रयत्न करता है।

(८) **अनुकम्पा** :— सम्यक्ती बड़ा ही दयालु होता है। दूसरे प्राणियों पर जो दुःख पड़ता है उसे अपना ही दुःख समझता है उसको दूर करना कराना अपना धर्म समझता है।

ऐसा सम्यक्ती जीव अपने वर्ताव से जगत भर का प्यारा हो जाता है व संतोषी रहता है। अन्याय से धन कमाना पाप समझता है न्याय पूर्वक जो प्राप्त करता है उसी में अपना व अपने सम्बन्धियों का निर्वाह करता है, वह कर्ज लेने से बचता है। कर्जदार ऐसा आकुलित रहता है कि वह धर्म कर्म में वर्तन नहीं कर सकता है। आमदनी के भीतर २ खर्च करने वाला सदा सुखी रहता है। अविरत सम्यक्तो भी चौथे गुणस्थान में ऐसे कर्मो का बंध नहीं करता है, जिससे नर्क जा सके व एकेन्द्रियादि तिर्यच हो सके। देव हो तो उत्तम मनुष्य होने का व मनुष्य हो तो स्वर्गवासी उत्तम देव होने का ही कर्म बांधता है।

आठ कर्म की १४८ प्रकृतियां :— आठ कर्मो के १४८ भेद निम्न प्रकार हैं :—

ज्ञानावरण के पांच भेद :— मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण ये पांचों ज्ञानों को क्रम से ढकती हैं।

दर्शनावरण के नौ भेद :— चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रा निद्रा, प्रचला (ऊंघना), प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, (नींद में वीर्य प्रगट होकर स्वप्न में काम कर लेना)।

वेदनीय के दो भेद :— साता वेदनीय, असाता वेदनीय।

मोहनीय के २८ भेद :— दर्शन मोहनीय के तीन भेद व चारित्र मोहनीय के २५ भेद पहले कह चुके हैं।

आयु के ४ भेद :-- नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव ।

नाम के ६३ भेद :-- गति ४, एकेन्द्रिय आदि ५ जाति, औदारिक वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण शरीर ५, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, अंगोपांग ३, औदारिकादि बंधन ५, औदादिकादि संघात ५, निर्माण (कहां पर व कैसे अंगोपांग रचे जावें), संस्थान ६ (समचतुरस्र, सुडौल शरीर, न्यग्रोध परिमंडल -- ऊपर बड़ा, नीचे छोटा, स्वाति -- ऊपर छोटा, नीचे बड़ा, वामन बौना, कुब्ज -- कुबड़ा, हुंडक -- बेडोल), संहनन ६ (वज्रऋषभ नाराच -- वज्र के समान दृढ़ हड्डी, नसें व कीले हों, वज्र नाराच सं. -- वज्र के समान हड्डी व कीले हों, नाराच हड्डी के दोनों ओर कीले हों, अर्द्धनाराच एक तरफ कीले हों, कीलित -- हड्डी से हड्डी कीलित हो, असंप्राप्तासृपाटिका -- मेरु से हड्डी मिली हो । स्पर्श ८, रस ५, गंध २, वर्ण ५, आनुपूर्वी ४ (चार गति अपेक्षा -- आगे की गति में जाते हुए पूर्व शरीर के प्रमाण आत्मा का आकार रहे) अगुरु लघु (न शरीर बहुत भारी, न बहुत हल्का), उपघात -- अपने अंग से अपना घात), परघात -- अपने से पर का घात), आताप -- (पर को आतापकारी शरीर), उद्योत -- (पर को प्रकाशकारी), उच्छ्वास, विहायोगति २ (आकाश में गमन शुभ व अशुभ), प्रत्येक -- (एक शरीर का एक स्वामी), साधारण -- (एक शरीर के अनेक स्वामी), त्रस --(द्वेन्द्रियादि) स्थावर, सुभग-- (पर को सुहावना शरीर), दुर्भग -- (असुहावना), सुस्वर, दुस्वर, शुभ (सुन्दर), अशुभ, सूक्ष्म (पर से बाधा न पावे), बादर, पर्याप्ति (पर्याप्ति पूर्ण करे), अपर्याप्ति, स्थिर, अस्थिर, आदेय (प्रभाववान), अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, तीर्थंकर ।

गोत्रकर्म २ भेद :-- उच्च गोत्र (लोकपूजित), नीच गोत्र ।

अन्तराय ५ भेद :-- दानांतराय, लाभांतराय, भोगा०, उपभोगा०, वीर्यांतराय ।

इनमें से बंध में १२० गिनी गई हैं । ५ बंधन, ५ संघात शरीर पांच में गर्भित हैं । स्पर्शादि २० की ४ गिनी गई हैं तथा सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त प्रकृति का बंध नहीं होता है इस तरह २८ घट गई ।

१ मिथ्यात्व गुणस्थान में :– १२० में से ११७ का बंध होगा, तीर्थंकर व आहारक व आहारक अंगोपांग का बंध नहीं होता।

२ सासादन में :– १०१ का बंध होता है, १६ का नहीं होता। मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, हुडंक संस्थान, असं. संहनन, एकेन्द्रियादि चार जाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण।

३ मिश्र में :– १०१ में २७ कम ७४ का ही बंध होता है।

निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनंतानुबंधी कषाय चार, स्त्रीवेद, तिर्यंचायु, तिर्यंचगति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी, नीच गोत्र, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, न्यग्रोध से वामन चार संस्थान, वज्रनाराच से कीलक संहनन चार, मनुष्यायु, देवायु।

४ अविरत सम्यक्त में :– ७४ में मनुष्यायु, देवायु, तीर्थंकर मिलाकर ७७ का बंध होता है। ४३ प्रकृति का बंध नहीं होता है।

इससे सिद्ध है कि सम्यक्त होने पर सिवाय देव व उत्तम मनुष्य के और नहीं होता है। यदि पहले नर्क, तिर्यंच व मानव आयु बांध ली हो तो उस सम्यक्ती तिर्यंच या मानव को इन तीन गतियों में जाना पड़ता है।

चौथे से आगे के सब गुणस्थानों में सम्यक्त रहता है।

५ देशविरत में :– ७७ में १० कम ६७ का बंध होता है।

अप्रत्याख्यान कषाय चार, मनुष्यायु, मनुष्यगति, मनुष्यगत्या०, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभनाराच सं०।

६ प्रमत्तविरत में :– ६७ में ४ कम ६३ का बंध होता है, चार प्रत्याख्यानावरण कषाय घट जाते हैं।

७ अप्रमत्तविरत में :– ६३ में ६ घटकर व दो मिलाकर ५९ का बन्ध होता है, अरति, शोक, असातावेदनीय, अस्थिर, अशुभ, अयश घटती है व आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग मिल जाती है।

८ अपूर्वकरण में :– ५९ में देवायु घटाकर ५८ का बंध होता है।

९ अनिवृत्तिकरण में :– ५८ में से ३६ घटाकर २२ का बंध होता है। निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति,

पंचेन्द्रियजाति, तैजस, कार्माण शरीर २, आहारक २, वैक्रियिक २, समचतुरस्रसंस्थान, देवगति, देवगत्या०, स्पर्शादि ४, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय=३६ ।

१० सूक्ष्मसांपराय में :– २२ में से ५ निकालकर १७ का बंध होता है । संज्वलन क्रोधादि चार व पुरुषवेद नहीं बँधते हैं ।

११ उपशांत मोह में :– १७ में से १६ कम करके १ सातावेदनीय का बंध होता है । ज्ञानावरण ५,+दर्शनावरण ४,+अंतराय ५,+उच्च गोत्र,+यश =१६ ।

आगे दो गुणस्थानों में भी सातावेदनीय का बंध होता है ।

इस ऊपर के कथन से सिद्ध है कि सम्यक्ती जैसे जैसे गुणस्थानों में बढ़ता जाता है वैसे वैसे कम कर्मों का बन्ध करता है । मंद कषाय में बन्ध योग्य कर्मों में स्थिति थोड़ी पड़ती है व पुण्य का अधिक बंध होकर उनमें अनुभाग अधिक पड़ता है ।

सम्यग्दर्शन की अपूर्व महिमा है । सम्यक्ती सदा संतोषी रहता है । एक चांडाल भी सम्यक्त के प्रभाव से मरकर स्वर्ग में उत्तम देव होता है । नारकी भी सम्यक्त के प्रभाव से उत्तम मानव होता है । सम्यक्ती यहां भी सुखी रहता है व आगामी भी सुखी रहता है । वह तो मोक्ष के परमोत्तम महल का अनुयायी हो गया है । मार्ग में यदि विश्राम करेगा तो उत्तम देव या उत्तम मनुष्य ही होगा । उभय लोक में सुखदाई इस सम्यक्त का लाभ करना जरूरी है । जो पुरुषार्थ करंगे वे कभी न कभी प्राप्त करेंगे । सम्यक्त का पुरुषार्थ सदा ही कल्याणकारी है ।

सम्यग्दर्शन और उसके महात्म्य के सम्बन्ध में जैनाचार्य क्या क्या मनोहर वाक्य कहते हैं उनका कथन नीचे प्रकार है -- पाठकगण आनन्द लेकर तृप्ति प्राप्त करें ।

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पंचास्तिकाय में कहते हैं :--

जीवोत्ति हवदि चेदा उपओगविसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ।।२७।।

भावार्थ :-- यह जीव जीने वाला है, चेतनेवाला या अनुभव करनेवाला है, ज्ञान दर्शन उपयोगधारी है, स्वयं समर्थ है, कर्त्ता है, भोक्ता है, शरीर मात्र आकारधारी है, अमूर्तिक है, संसार अवस्था में कर्म सहित है ।

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता ।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ।।२८।।

भावार्थ :-- जब यह जीव कर्ममल से छूट जाता है तब लोक के अन्त में जाकर विराजमान हो जाता है । सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होते हुए वे सिद्ध भगवान अनंत अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करते हैं ।

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ।।१५।।

भावार्थ :-- सत् पदार्थ का कभी नाश नहीं होता है तथा असत् पदार्थ का कभी जन्म नहीं होता है । हरएक पदार्थ अपने गुणों की अवस्थाओं में उत्पाद तथा व्यय करते रहते हैं अर्थात् हरएक द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है ।

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविहेहिं ।।६४।।

भावार्थ :-- यह लोक सर्व तरफ नाना प्रकार अनंतानंत सूक्ष्मता बादर पुद्गल कार्यो से खूब गाढ रूप से भरा है । इसमें सर्व जगह सूक्ष्म तथा बादर स्कंध पाए जाते हैं ।

अत्ताकुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं ।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ।।६५।।

भावार्थ :-- आत्मा के अपने ही रागादि परिणाम होते हैं उनका निमित्त पाकर कर्म पुद्गल अपने स्वभाव से ही आकर कर्मरूप होकर आत्मा के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप होकर ठहर जाते हैं । जीव उनको बांधता नहीं है, जीव के रागादि भाव भी पूर्वबद्ध कर्म के उदय से ही होते हैं ।

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए ।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ।।८५।।

भावार्थ :-- जैसे इस लोक में पानी मछलियों के गमनागमन में उपकारी है वैसे जीव पुद्गलों के गमनागमन में धर्मद्रव्य सहकारी है ।

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं ।

ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥८६॥

भावार्थ :-- धर्म द्रव्य के समान अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलों के ठहरने में सहकारी है जैसे पृथ्वी प्राणियों के ठहरने में सहकारी है ।

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च ।

जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ॥६०॥

भावार्थ :-- जो सर्व जीवों को, पुद्गलों को व शेष धर्म व अधर्म व काल को स्थान देता है वह आकाश है । जहां आकाश खाली है वह अलोकाकाश है, शेष लोकाकाश है ।

कालो त्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो ।

उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ॥१०१॥

भावार्थ :-- सत्तारूप निश्चय काल द्रव्य नित्य है जो सर्व द्रव्यों के परिवर्तन में सहकारी है । दूसरा व्यवहार काल समरूप है जो उत्पन्न व नाश होता है । बहुत समयों की अपेक्षा व्यवहार काल दीर्घ स्थायी होता है ।

एदे कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा ।

लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं ॥१०२॥

भावार्थ :-- काल, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव ये छः द्रव्य है । उनमें से काल द्रव्य को छोड़कर पांच को अस्तिकाय कहते है ।

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं ।

जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा बिंति अज्जीवं ॥१२५॥

भावार्थ :-- जिसमें सदा ही सुख व दुःख का ज्ञान, हित में प्रवृत्ति व अहित से भय नहीं पाया जाता है उसी को मुनियों ने अजीव कहा है ।

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।

चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥१३५॥

भावार्थ :-- जिसके शुभ राग है, दया सहित परिणाम है, चित्त में मलीनता नही है, प्रसन्नता है उसके पुण्य कर्म का आश्रव होता है ।

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा ।

अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥१३६॥

भावार्थ :– प्रशस्त या शुभराग उसको कहते हैं जहां अरहंत, सिद्ध व साधु की भक्ति हो, धर्म साधन का उद्यम हो व गुरुओं की आज्ञानुसार वर्तन हो।

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकम्पा ॥१३७॥

भावार्थ :– जो प्यासे को, भूखे को, दुःखी को देखकर स्वयं दुःखी मन होकर दयाभाव से उसकी सेवा करता है उसी के अनुकम्पा कही गई है।

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा बेंति ॥१३८॥

भावार्थ :– जब क्रोध या मान या लोभ चित्त में आकर जीव के भीतर क्षोभ या मलीनता पैदा कर देते हैं उस भाव को ज्ञानियों ने कलुषभाव कहा है।

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥१३९॥

भावार्थ :– प्रमाद पूर्ण वर्तन, कलुषता, पांच इन्द्रियों के विषयों में लोलुपता, दूसरों को दुःखी करना व दूसरों की निन्दा करनी ये सब पाप के आश्रव के कारण हैं।

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥१४०॥

भावार्थ :– आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञायें कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्या के भाव, इन्द्रियों के वश में रहना, आर्त तथा रौद्र ध्यान, कुमार्ग में लगाया हुआ ज्ञान, संसार से मोह ये सब भाव पाप को बांधने वाले हैं।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥१४२॥

भावार्थ :– जो साधु दुःख व सुख पड़ने पर समभाव के धारी हैं व सर्व जग के पदार्थों में जो राग द्वेष, मोह नही करते हैं उस साधु के शुभ व अशुभ कर्म नहीं आते हैं।

जो संवरेण जुत्तो अप्पटठ्पसाधगो हि अप्पाणं।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं ॥१४५॥

भावार्थ :– जो मन, वचन, काय को रोक करके आत्मा के प्रयोजन रूप सिद्धिभाव को साधने वाला आत्मा को जानकर नित्य आत्मज्ञान को ध्याता है वही कर्मरज को दूर करता है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमग्रो जायए अगणी ।।१४६।।

भावार्थ :– जिसके भावों में राग, द्वेष, मोह नहीं है न मन, वचन, काय की क्रियाएं हैं उसी के शुभ व अशुभ कर्मों को जलाने वाली ध्यानमयी अग्नि पैदा होती है ।

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो ।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ।।१४८।।

भावार्थ :– योग के निमित्त से कर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है, वह योग मन वचन काय के द्वारा होता है । अशुद्ध भाव के निमित्त से कर्म का बंध होता है । वह भाव रति, राग, द्वेष, मोह सहित होता है ।

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि ।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ।।१५३।।

भावार्थ :– जो कर्मों के आने को रोककर संवर सहित होकर सर्व कर्मों का क्षय कर देता है वह वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र से रहित होकर संसार को त्याग देता है । यही मोक्ष का स्वरूप है । मोक्ष प्राप्त आत्मा के कोई शरीर नहीं रहता है ।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं :–

भूवत्थेणाभिगदा जीवा जीवा व पुण्णपावं च ।
आसव संवर णिज्जर बंध मोक्खो य सम्मत्तं ।।१५।।

भावार्थ :– जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष इन नौ पदार्थों को जब निश्चय नय से जान लेता है तब सम्यक्त होता है अर्थात् निश्चय नय से जीव और अजीव इन दो तत्त्वों से ये नौ पदार्थ बने हैं । उनमें अजीव से ममत्व त्याग कर एक अपने शुद्ध जीव को ग्रहण करने योग्य मानना ही निश्चय सम्यग्दर्शन है ।

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हुंवति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ॥७३॥

भावार्थ :– मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान मोहनीय कर्म के उदय की अपेक्षा से कहे गये हैं। मोहनीय कर्म जड़ अचेतन है तब ये गुणस्थान जीव के स्वभाव कैसे हो सकते हैं? निश्चय से ये जीव से भिन्न सदा ही अचेतन जड़ कहे गये हैं, इनमें कर्मों का ही विकार है। ये जीव के स्वभाव नहीं है। यदि स्वभाव होते तो सिद्धों में भी पाये जाते।

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्सय तहेव परिणामं।
ण करेदि एदमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८०॥

भावार्थ :– निश्चय से यह आत्मा आठ कर्मों की अवस्था का तथा शरीरादि का अवस्था का कर्त्ता नहीं है। आत्मा तो ज्ञानी है। वह तो मात्र जानता ही है। पर का कर्त्तापना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥८६॥

भावार्थ :– जीवों के रागादि भावों का निमित्त पाकर कर्मवर्गणा रूप पुद्‌गल स्वयं ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन कर जाते हैं। इसी तरह पूर्वबद्ध पुद्‌गल कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव भी रागादि भावों में परिणमन करता है। गह निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अशुद्ध निश्चयनय से है।

णवि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥८७॥

भावार्थ :– न तो जीव पुद्‌गल कर्म के गुणों को करता है, न पुद्‌गल कर्म जीव के गुणों को करता है, परस्पर एक दूसरे के निमित्त से ही दोनों में परिणमन होता है।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८८॥

भावार्थ :– इस कारण से ही यह आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है; पुद्‌गलकर्म कृत सर्व भावों का कभी भी कर्ता नहीं है।

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८९॥

भावार्थ :– निश्चयनय से आत्मा अपने ही परिणामों का कर्ता है और अपने ही आत्मस्वरूप को भोगता है ।

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं ।
तं चेव य वेवयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ।।८०।।

भावार्थ :– व्यवहारनय का यह अभिप्राय है कि यह आत्मा अनेक प्रकार पुद्गलकर्मों का कर्ता है वैसे ही अनेक प्रकार पुद्गल कर्मों को भोगता है ।

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य सो तेसिं हवदि कत्ता ।।१०७।।

भावार्थ :– न तो जीव घट को बनाता है न पट को बनाता है न और द्रव्यों को बनाता है । जीव के योग और (अशुद्ध) उपयोग ही घटादि के उत्पन्न करने में निमित्त हैं । अशुद्ध निश्चयनम से उन योग व उपयोग का जीव कर्ता कहलाता है ।

उवभोजंभिदियेहिय दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ।।२०२।।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि आत्मा जो पांचों इन्द्रियों के द्वारा अचेतन और चेतन द्रव्यों का उपभोग करता है सो सर्व कर्मो की निर्जरा के निमित्त होता है । सम्यग्दृष्टि अंतरंग में किसी पदार्थ से आसक्त नहीं है, इसलिये उसके कर्म फल देकर झड़ जाते हैं । वह संसार कारणीभूत कर्मबंध नहीं करता है । राग-भाव के अनुसार कुछ कर्म बँधता है सो भी छूटने वाला है ।

पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झभावो जाणगभावो दु अहमिक्को ।।२०७।।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि समझता है कि मोहनीय नाम का पुद्गलकर्म क्रोध है, उसी का विपाक या रस मेरे भावों के साथ झलकने वाला यह क्रोध है सो यह मेरा स्वभाव नहीं है । यह तो पुद्गल का ही स्वभाव है, मैं तो इस मात्र इसका ज्ञाता एक आत्मा द्रव्य क्रोध से निराला हूं ।

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ।।२१०।।

भावार्थ :— सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि नाना प्रकार कर्मों का विपाक या फल जिसे जिनेन्द्रों ने बताया है मेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है। मैं तो एक अकेला मात्र ज्ञाता हूँ, जानने वाला ही हूँ।

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ ॥२१८॥

भावार्थ :— ज्ञानी के यह भेद भावना होती है कि यह शरीर छिदजावे, भिदजावे, अथवा कोई कहीं ले जावे अथवा चाहे जहां चला जावे तथापि यह शरीर व तत्सम्बन्धी परिग्रह मेरा नहीं है। मैं तो अकेला ज्ञाता दृष्टा पदार्थ हूं।

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा कणय ॥२२९॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२३०॥

भावार्थ :— सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आत्मा कर्मों के मध्य पड़ा हुआ भी सर्व परद्रव्यों से रागभाव को त्याग करता हुआ इसी तरह कर्मरूपी रज से लिप्त नहीं होता है, जिस तरह कीचड़ में पड़ा हुआ सोना नही बिगड़ता है। परन्तु अज्ञानी जीव कर्मों के मध्य पड़ा हुआ सर्व परद्रव्यों में रागभाव करता हुआ कर्मरूपी रज से लिप्त हो जाता है। जैसे लोहा कीचड़ में पड़ा हुआ बिगड़ जाता है। सम्यग्दृष्टि ऐसा भीतर से वैरागी होता है कि कर्म का फल भोगते हुए भी कर्म की निर्जरा कर देता है तथा बंध या तो होता नही यदि कषाय के अनुसार कुछ होता भी है तो वह बिगाड़ करने वाला संसार मे भ्रमण कराने वाला नहीं होता है। सम्यक्त की अपूर्व महिमा है।

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥२४३॥

सम्यग्दृष्टि जीव शंका रहित होते हैं। वे निर्भय होते हैं। वे सात प्रकार के भय से रहित होते हैं। उनको आत्मा में दृढ़ विश्वास होता है। उनके मरण का व रोगादि का भय नहीं होता है।

एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे रागादि णेव बज्झदि रयेण ॥२६१॥

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि कार्यवश से नानाप्रकार मन वचन काय के योगों द्वारा वर्तता है तो भी उपयोग में रागादि भावों को नहीं करता हुआ कर्मरूपी रज से नहीं बँधता है । जैसे मिथ्यादृष्टि बँधता है । वीतरागी सम्यक्ती अबन्ध रहता है अथवा सराग सम्यक्ती के जितना राग होता है उतना अल्पबंध होता है जो बाधक नहीं है ।

णवि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसाय भावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं ।।३०२।।

भावार्थ :– सम्यक्ती ज्ञानी जो स्वयं ही अपने में विशेष कर्मों के उदय से रागद्वेष, मोह व कषाय भाव नहीं पैदा करता है इसलिए आत्मा इन रागादि भावों का निश्चय से कर्त्ता नहीं है ।

बंधाणं च सहावं वियाणिवुं अप्पणो सहावं च ।
बंधे सु जो ण रज्जदि सो कम्म विमुक्खणं कुणदि ।।३१५।।

भावार्थ :– कर्मबन्धों का स्वभाव तथा आत्मा का शुद्ध स्वभाव जानकर के जो कर्मबंधों में रंजायमान नहीं होता है, कर्मो से विरक्त हो जाता है वही ज्ञानी कर्मो से अवश्य मुक्ति पा लेता है ।

णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहु पयाराइ ।
जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ।।३४०।।

भावार्थ :– ज्ञानी न तो नाना प्रकार कर्मो का कर्त्ता है, न भोक्ता है, वह कर्म के करने व भोगने से उदासीन रहता हुआ कर्मों के फल पुण्य व पाप को व उनके बंध को मात्र जानता है । कर्मोदय से जो कुछ होता है उसका ज्ञाता दृष्टा रहना ज्ञानी का कर्त्तव्य है, वह कर्म के नाटक में लीन नही होता है ।

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं जो कुणदि कम्मफलं ।
सो तं पुणोवि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।४०६।।

भावार्थ :– कर्मों के फल को भोगते हुए जो उस कर्म फल को अपना कर लेता है । अर्थात् उनमें तन्मय होकर फंस जाता है । वह फिर आठ प्रकार के कर्मों को बांधता है, जो दुःखों का बीज है ।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार में कहते हैं :–

मोहेण य रागेण य दोसेण य परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ।।६११।।

भावार्थ :-- जो जीव मोह से, राग से या द्वेष से परिणमन करता है उसको नाना प्रकार कर्म का बंध होता है । इसलिए इन रागादि का क्षय करना योग्य है ।

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्ध जोएहमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।।६५१।।

भावार्थ :-- जो जिनेन्द्र के उपदेश को पाकर राग द्वेष, मोह को नाश कर देता है वह शीघ्र ही सर्व संसार के दुःखों से हटकर मुक्त हो जाता है ।

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादो ।
सिद्धं तध आगमदो, णेच्छदि जो सो हि परसमओ ।।७-२।।

भावार्थ :-- द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है । सत्‌रूप है ऐसा जिनेन्द्र ने तत्त्व-रूप से कहा है, आगम से भी यही सिद्ध है ऐसा जो नहीं मानता है वह नियम से मिथ्यादृष्टि है ।

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।
एकम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ।।११-२।।

:भावार्थ :-- हरएक द्रव्य एक ही समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्य भावों से एकमेक है । इसलिये द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप तीन प्रकार है ।

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो ।
दव्वस्स तंपि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ।।१२-२।।

भावार्थ :-- किसी भी द्रव्य की जब कोई पर्याय या अवस्था पैदा होती है तव ही दूसरी पूर्व की अवस्था नाश हो जाती है तो भी मूल द्रव्य न नष्ट होना है न उत्पन्न होता है । पर्याय को अपेक्षा द्रव्य उत्पाद व्ययरूप है द्रव्य की अपेक्षा ध्रुव है ।

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं ।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ।।३०-२।।

भावार्थ :-- यह आत्मा अनादिकाल से कर्मों से मलीन चला आया है इसलिये राग द्वेष मोहरूप संयोग मय भाव को धारण करता है तब इन रागादि

भावों के निमित्त से पुद्गल कर्म स्वयं बँध जाता है । इसलिए रागादि भाव ही भाव कर्म है या कर्मबंधकारक भाव है ।

आदा कम्ममलिमसो धारदि पाणो पुणो पुणो अण्णो ।
ण जहदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसएसु ।।६१-२।।

भावार्थ :– यह कर्मों से मलीन आत्मा जब तक शरीरादि इन्द्रियों के विषयों में ममत्व भाव को नहीं छोड़ता है, तब तक बार बार अन्य अन्य प्राणों को धारता रहता है । अर्थात् एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यंत प्राणी होता रहता है ।

जो इन्दियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि ।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ।।६२-२।।

भावार्थ :– परन्तु जो कोई इन्द्रिय विषय व कषायों का विजयी होकर अपने शुद्ध चैतन्यमय शुद्धोपयोग का ध्यान करता है और सर्व ही शुभ व अशुभ कर्मों में राग नहीं करता है उसको ये इन्द्रियादि दश प्राण किस तरह सम्बन्ध कर सकते हैं ? अर्थात् वह जन्ममरण से छूट ही जायेगा ।

रत्तो बन्धदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ।।९०-२।।

भावार्थ :– रागी जीव कर्मों को बांधता है, वीतरागी कर्मों से छूट जाता है, ऐसा बंध तत्त्व का संक्षेप जीवों के लिए निश्चय से जानना चाहिये ।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ।।५३-३।।

भावार्थ :– जो साधु आगम ज्ञान से रहित है, न अपने आत्मा को सर्व कर्मों से रहित शुद्ध जानता है और न पर पदार्थों को ही जानता है वह पदार्थों के भेद ज्ञान को न पाता हुआ किस तरह कर्मों का क्षय कर सकता है ? शास्त्र ज्ञान के द्वारा स्व पर पदार्थ का बोध होता है । इसलिए मुमुक्षु को शास्त्र का मनन सदा कर्त्तव्य है ।

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ।।५७-३।।

भावार्थ :– जिसकी श्रद्धा जीवाजीवादि पदार्थों में नहीं है, वह मात्र शास्त्रों के ज्ञान से सिद्धि नहीं पा सकता । तथा जो पदार्थों की श्रद्धा रखता है,

परन्तु संयम को धारण नहीं करता है वह भी निर्वाण को नहीं पा सकता, शास्त्र ज्ञान यदि सम्यग्दर्शन सहित हो और तब सम्यक् चारित्र को पाले वही मुक्त होता है ।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिणलहदि सव्वागमधरोवि ।।५९-३।।

भावार्थ :-- जिसकी शरीरादि पर द्रव्यों में परमाणु मात्र भी जरा सी भी मूर्छा विद्यमान है वह सर्व आगम का ज्ञाता है तो भी मोक्ष नहीं पा सकता है ।

ण हवदि समणोत्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तोवि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ।।८५-३।।

भावार्थ :-- जो कोई साधु संयमी हो, तपस्वी हो तथा सूत्रों का ज्ञाता हो परन्तु आत्मा पदार्थों में जिसकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है वह वास्तव में साधु नहीं है ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं :--

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।
पणपणचउतियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ।।४७।।

भावार्थ :-- मिथ्यात्व भाव एकांत आदि पांच प्रकार, अविरत भाव हिंसादि पांच प्रकार, कषाय भाव क्रोधादि, चार प्रकार, योग मन, वचन, काय तीन प्रकार ये सब कर्मो के आश्रव के द्वार हैं, ऐसा आगम में भली प्रकार कहा गया है ।

किण्हादितिण्णि लेस्साकरणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो ।
ईसाविसादभावो असुहमणंत्ति य जिणा बेंति ।।५१।।

भावार्थ :-- कर्मों के अनेक कारण अशुभ व शुभ मन, वचन, काय हैं सो यहां कहते हैं । कृष्ण, नील, कपोत तीन लेश्या के परिणाम, इन्द्रियों के सुख में लम्पटता, ईर्ष्या भाव, अशुभ मन के भाव हैं ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है ।

रागो दोसो मोहो हास्सादी - णोकसायपरिणामो ।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणोत्ति य जिणा बेंति ।।५२।।

भावार्थ :— राग द्वेष, मोह, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुंवेद, नपुंसक वेद सम्बन्धी परिणाम चाहे तीव्र हो या मन्द हो अशुभ मन के भाव हैं ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं ।

भत्तिच्छिरायचोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि ।
बंधणछेदणमारणकिरिया सा असुहकायेत्ति ।।५३।।

भावार्थ :— भोजन, स्त्री, राजा व चोर इन विकथाओं को कहना अशुभ वचन जानो, बांधना, छेदना, मारना आदि कष्टप्रद काम करना अशुभ काय की क्रियाएं हैं ।

मोत्तूण असुहभावं पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं ।
वदसमिदिसीलसंजमपरिणामं सुहमणं जाणे ।।५४।।

भावार्थ :— पहले कहे हुए सर्व अशुभ भावों को व द्रव्यों को छोड़कर जो परिणाम अहिंसादि व्रत, ईर्या आदि समिति, शील, संयम में अनुरक्त हैं उनको शुभ मन जानो ।

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं ।
जिणदेवादिसु पूजा सुहकायंत्ति य हवे चेट्ठा ।।५५।।

भावार्थ :— जिन वचनों से संसार के छेद का साधन बताया जावे वे शुभ वचन हैं ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है । श्री जिनेन्द्र देव की पूजा, गुरु भक्ति, स्वाध्याय, सामायिक, संयम तथा दान आदि में चेष्टा व उद्यम सो शुभ कार्य है ।

सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स ।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्ध वजोगेण संभवदि ।।६३।।

भावार्थ :— शुभ मन, वचन, काय के योगों में प्रवृत्ति करने से अशुभ योगों के द्वारा आस्रव रुक जाता है तथा जब शुद्धोपयोग में वर्ता जाता है तब शुभ योगों का भी निरोध हो जाता है — पूर्ण संवर होता है ।

सुद्ध वजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स ।
तम्हा संवरहेदू झाणोत्ति विचिंतये णिच्चं ।।६४।।

भावार्थ :— शुद्धोपयोग से ही इस जीव के धर्मध्यान व शुक्लध्यान होता है । इसलिये कर्मों के रोकने का कारण ध्यान है ऐसा नित्य विचारना चाहिये ।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य दर्शन पाहुड़ में कहते हैं :—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्य णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥३॥

भावार्थ :— जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे ही भ्रष्ट हैं । क्योंकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव को कभी निर्वाण का लाभ नहीं हो सकता है । जो चारित्र से भ्रष्ट है परन्तु सम्यक्त से भ्रष्ट नहीं हैं वे फिर ठीक चारित्र पालकर सिद्ध हो सकेंगे परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे कभी भी सिद्धि न प्राप्त करेंगे ।

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥१९॥

भावार्थ :— जो जीवादि छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, जीव तत्त्व आदि सात तत्त्व व पुण्य पाप सहित नव पदार्थ इन सब का यथार्थ स्वरूप श्रद्धान में लाता है उसे ही सम्यग्दृष्टि जानना योग्य है ।

जीवादी सद्दहणं सम्मत्त जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

भावार्थ :— व्यवहारनय से जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है परन्तु निश्चयनय से अपना आत्मा ही सम्यग्दर्शनरूप है या शुद्धात्मा ही मैं हूँ ऐसा श्रद्धान सम्यक्त है । यह बात जिनेन्द्रों ने कही है ।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड़ में कहते हैं :—

परदव्वादो दुग्गइ सद्दव्वादो हु सग्गई होई ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरय इयरम्मि ॥१६॥

भावार्थ :— पर द्रव्य में रति करने से दुर्गति होती है । किन्तु स्वद्रव्य में रति करने से सुगति होती है ऐसा जानकर पर द्रव्य से विरक्त होकर स्व-द्रव्य में प्रेम करो ।

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥२८॥

भावार्थ :— मिथ्यात्व, अज्ञान व पुण्य पाप को मन, वचन, काय द्वारा त्याग करके मौन व्रत के साथ योगी ध्यान में तिष्ठकर अपने शुद्ध आत्मा को ध्यावे ।

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण ।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं ॥४१॥

भावार्थ :– जो योगी जीव और अजीव पदार्थ के भेद को जिनेन्द्र के मत के अनुसार यथार्थ जानता है वही सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान है । वह निर्विकल्प आत्मानुभव है ऐसा सर्वदर्शी जिनेन्द्रों ने कहा है ।

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण ।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥४८॥

भावार्थ :– परमात्मा को ध्याता हुआ योगी पाप बंध कारक लोभ से छूट जाता है । उसके नये कर्म का आश्रव नहीं होता है । ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है ।

देव गुरुम्मिय भत्तो साहम्मिय संजदेसु अणुरत्तो ।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होई जोई सो ॥५२॥

भावार्थ :– जो योगी सम्यग्दर्शन को धारता हुआ, देव तथा गुरु की भक्ति करता है साधर्मी संयमी साधुओं में प्रीतिमान है, वही ध्यान में रुचि करने वाला होता है ।

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंप ।
तं जाणे झाइज्जइ सावय ! दुक्खक्खयट्ठाए ॥८६॥

भावार्थ :– हे श्रावक ! परम शुद्ध सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर मेरु पर्वतवत् उसे निष्कम्प रखकर संसार के दुःखों के क्षय के लिये उसी को ध्यान में ध्याया कर ।

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥८७॥

भावार्थ :– जो जीव निश्चय सम्यक्त आत्मा की दृढ़ श्रद्धा को ध्याता है वही सम्यग्दृष्टि है । जो कोई आत्मानुभव रूप सम्यक्त में रमण करता है सो दुष्ट आठ कर्मों को क्षय कर देता है ।

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणइ सम्मसाहप्पं ॥८८॥

भावार्थ :– बहुत क्या कहें, जो महात्मा भूतकाल में सिद्ध हुए हैं व आगामी काल में सिद्ध होंगे सो सब सम्यग्दर्शन का महात्म्य है ऐसा जानो ।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥८६॥

भावार्थ :-- वे ही धन्य हैं, वे ही कृतार्थ हैं, वे ही वीर हैं, वे ही पंडित मानव हैं जिन्होंने स्वप्न में भी सिद्धि को देने वाले सम्यग्दर्शन को मलीन नहीं किया । निरतिचार सम्यग्दर्शन को पाकर आत्मानन्द का विलास किया शुद्ध सम्यक्त्व आत्मानुभूति ही है ।

हिंसारहिए धम्मे अठ्ठारहदोसवज्जिए देवे ।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥९०॥

भावार्थ :-- हिंसा रहित धर्म में, अठारह दोष रहित देव में व निग्रंथ-मोक्ष मार्ग या साधु मार्ग में जो श्रद्धान है सो सम्यग्दर्शन है ।

(७) श्री वट्टकेर आचार्य मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं :--

रागो दोसो मोहो इन्दियसण्णा य गारवकसाया ।
मणवयणकायसहिदा दु आसवा होंति कम्मस्स ॥३८॥

भावार्थ :-- राग, द्वेष, मोह, पांच इन्द्रियों के विषय आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, सज्ञा, ऋद्धि गारव, रस गारव, सात गारव व ऐसे तीन अभिमान व क्रोधादि कषाय तथा मन, वचन, काय कर्मों के आने के द्वार है ।

हिंसादिएहिं पंचहिं आसवदारेहिं आसवदि पावं ।
तेहिंतो धुव विणासो सासवणावा जह समुद्दे ॥४६॥

भावार्थ :-- हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पांच आश्रव के द्वार हैं । उनसे ऐसा पाप का आश्रव होता है, जिनसे सदा हा आत्मा का संसार समुद्र में नाश होना है । जैसे छेद सहित नौका समुद्र में डगमगा कर डूबती है ।

इंदियकसायदोसा णिग्घिप्पंति तवणाणविणएहिं ।
रज्जूहि णिघप्पंति हु उप्पहगामी जहा तुरया ॥५०॥

भावार्थ :-- जैसे कुमार्ग में जाने वाले घोड़े लगामों से रोक लिये जाते हैं वैसे ही तप, ज्ञान व विनय के द्वारा इन्द्रिय व कषाय के दोष दूर हो जाते हैं ।

संसारे संसरंतस्स खओवसमगदस्स कम्मस्स ।
सव्वस्स वि होदि जगे तवसा पुण णिज्जरा विउला ॥५५॥

भावार्थ :– संसार में भ्रमण करते हुए जब कर्मों का क्षयोपशम होता है तब इस लोक में सर्व जीवों के एक देश निर्जरा होती है परन्तु तप करने से बहुत अधिक कर्मों की निर्जरा होती है ।

चिरकालमज्जियं पि य विहुणवि तवसा रयत्ति णाऊण ।
दुविहे तवम्मि णिच्चं भावेदव्वो हवदि अप्पा ।।५८।।

भावार्थ :– चिरकाल के बांधे हुए कर्म रज तप के द्वारा धुल जाते हैं ऐसा जानकर दो प्रकार बाहरी भीतरी तप के द्वारा नित्य ही आत्मा की भावना करनी योग्य है ।

(८) श्री वट्टकेर स्वामी मूलाचार समयसार अधिकार में कहते हैं :–

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभाव उवलद्धी ।
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि ।।१२।।
सेयासेयविदण्हू उद्धदुस्सील सीलवं होदि ।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहदि णिव्वाणं ।।१३।।

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान होता है । सम्यग्ज्ञान से सर्व पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है । जिसको पदार्थों का भेद विज्ञान है व हितकर व अहितकर भावों को ठीक २ जानता है । जो श्रेय व कुश्रेय को पहिचानता है, वह कुआचार को छोड़ देता है, शीलवान हो जाता है, शील के फल से सम्पूर्ण चारित्र को पाता है । पूर्ण चारित्र को पाकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।

णाणविण्णाणसंपण्णो झाणज्झणतवेजुदो ।
कसायगारवुम्मुक्को संसारं तरदे लहुं ।।७७।।

भावार्थ :– जो ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न होकर ध्यान, स्वाध्याय व तप में लीन है तथा कषाय व अभिमान से मुक्त है, वह शीघ्र संसार से तर जाता है ।

(९) श्री वट्टकेरि स्वामी मूलाचार पंचाचार में कहते हैं :–

णेहोउप्पिदगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जधा अंगे ।
तह रागदोससिणेहोल्लिदस्स कम्मं मुणेयव्वं ।।३९।।

भावार्थ :— जैसे तेल से चिकने शरीर पर रज लग जाती है, वैसे राग द्वेष रूपी तेल से लिप्त है उसके कर्म का बंध हो जाता है।

जं खलु जिणोवदिट्ठं तत्थित्ति भावदो गहणं।
सम्मद्दंसणभावो तव्विवरीदं च मिच्छत्तम् ॥६८॥

भावार्थ :— जैसे पदार्थ का स्वरूप जिनेन्द्र ने कहा है वे ही पदार्थ हैं ऐसा भावपूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, इससे विपरीत मिथ्यादर्शन है।

जे अत्थपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे।
ते तह रोचेदि णरो दंसणविणयो हवदि एसो ॥१६६॥

भावार्थ :— जो जीवादि पदार्थ जिनेन्द्रों ने श्रुतज्ञान में उपदेश किये हैं उनकी तरफ जो मानव रुचि करता है उसी के ही सम्यग्दर्शन की विनय होती है।

(१०) श्री वट्टकेरि स्वामी मूलाचार षडावश्यक में कहते है :—

जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति।
हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेणु वुच्चंति ॥६४॥

भावार्थ :— जिसने क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों को जीत लिया है वे जिन हैं। जिन्होंने ससार रूपी शत्रु को नाश कर दिया है वे ही अरहंत हैं ऐसे कहे जाते हैं।

अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं ॥
अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति ॥६५॥

भावार्थ :— जो वंदना व नमस्कार के योग्य हैं व जो पूजा सत्कार के योग्य हैं तथा जो सिद्ध होने योग्य हैं उकनो अरहंत ऐसा कहते हैं।

सव्वं केवलकप्पं लोगं जाणंति तह य पस्संति।
केवलणाणचरित्ता तह्मा ते केवली होंति ॥६७॥

भावार्थ :— क्योंकि श्री अरहंत भगवान केवलज्ञान के विषय रूप सर्व लोक अलोक को देखते जानते हैं व केवलज्ञान में ही आचरण कर रहे हैं इसलिये वे केवली होते हैं।

मिच्छत्तवेदणीयं णाणावरणं चरित्तमोहं च।
तिविहा तमाहु मुक्का तह्मा ते उत्तमा होंति ॥६८॥

भावार्थ :– क्योंकि अरहंत भगवान ने मिथ्यात्वमय श्रद्धान को, ज्ञानावरण को, चारित्र मोह को इन तीनों को त्याग कर दिया है, इसलिये वे उत्तम हैं।

भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति ।।७२।।

भावार्थ :– श्री जिनेन्द्रों की भक्ति से पूर्व संचित कर्म क्षय हो जाते हैं। आचार्य की भक्ति से व उनकी कृपा से विद्याएं व मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं।

जे दव्वपज्जया खलु उवविट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे।
ते तह सद्दहदि णरो दंसणविणओत्ति णादव्वो ।।८८।।

भावार्थ :– जो द्रव्यों की पर्यायें जिनेन्द्र ने श्रुतज्ञान में उपदेश की हैं उनको जो श्रद्धान करता है, वह दर्शन विनय है ऐसा जानना योग्य है।

(११) श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्ड में कहते हैं :–

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।।४।।

भावार्थ :– सत्यार्थ देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वह निःशंकितादि आठ अंग सहित हो, लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता, गुरु मूढ़ता रहित हो तथा जाति, कुल, धन, बल, रूप, विद्या अधिकार तप इन आठ मदों से रहित हो।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ।।२८।।

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन सहित एक चांडाल को भी गणधर देवों ने माननीय देव तुल्य कहा है। जैसे भस्म में छिपी हुई अग्नि की चिनगारी हो। आत्मा उसका पवित्र हो गया है, किन्तु शरीररूपी भस्म में छिपा है।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ।३३।।

भावार्थ :– जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है, वह मोक्ष मार्ग पर स्थिर है, जबकि मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्गी नही है। इसलिये सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मिथ्या-दृष्टि मुनि से श्रेष्ठ है।

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥३४॥

भावार्थ :– तीन लोक व तीन काल में सम्यग्दर्शन के समान प्राणियों को कोई कल्याणकारी नहीं है। इसी तरह मिथ्यादर्शन के समान कोई अहित-कारी नहीं है।

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिका ॥३५॥

भावार्थ :– शुद्ध सम्यग्दृष्टि व्रत रहित होने पर भी नारकी पशु, नपुंसक स्त्री, नीचकुली, विकलांगी, अल्प आयु धारी तथा दरिद्री नहीं पैदा होते हैं।

(१२) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं :–

अरहंतसिद्धचेइय, सुदे य धम्मे य साधुवग्गे य।
आयरियेसूवज्झा, एसु पवयणे दंसणे चावि ॥४६॥
भत्ती पूया वण्णज–, णणं च णासणमवण्णवादस्स।
आसादणपरिहारो, दंसणविणओ समासेण ॥४७॥

भावार्थ :– श्री अरहंत भगवान, सिद्ध परमेष्ठी, उनकी मूर्ति, द्वादशांग श्रुत, धर्म, साधु समूह, आचार्य, उपाध्याय, प्रवचन और सम्यग्दर्शन इन दस स्थानों में भक्ति करना, पूजा करना, गुणों का वर्णन करना, कोई निन्दा करे तो उसको निवारण करना, अविनय को मेटना यह सब संक्षेप में सम्यग्दर्शन का विनय है।

णगरस्स जह दुवारं, मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलम्।
तह जाण सुसम्मत्तं, णाणचरणवीरियतवाणम् ॥७४०॥

भावार्थ :– जैसे नगर की शोभा द्वार से है, मुख की शोभा चक्षु से है, वृक्ष की स्थिरता मूल से है, इसी तरह ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य की शोभा सम्यग्दर्शन से है।

सम्मत्तस्य य लम्भो तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लम्भो।
सम्मद्दंसण लम्भो, वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥७४६॥
लद्धूण य तेलोक्कं, परिवडदि परिमिदेण कालेण।
लद्धूण य सम्मत्तं, अक्खयसोक्खं लहदि मोक्खं ॥७४७॥

भावार्थ :– एक तरफ सम्यग्दर्शन का लाभ होता है तो दूसरी तरफ तीन लोक का राज्य मिलता है तो भी तीन लोक के लाभ से सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है। तीन लोक का राज्य पाकर के भी नियत काल पीछे वहां से पतन होगा और जो सम्यग्दर्शन का लाभ हो जायेगा तो अविनाशी मोक्ष के सुख को पायेगा।

विधिणा कवस्स सस्स–, स्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं।
तह अरहादियभत्ती, णाणचरणदंसणतवाणं ॥७५५॥

भावार्थ :– विधि सहित बोए हुए अन्न का उत्पाद जैसे वर्षा से होता है वैसे ही अरहंत आदि की भक्ति से ज्ञान चारित्र सम्यक्त व तप की उत्पत्ति होती है।

जो अभिलासो विसए–, सु तेण णय पावए सुहं पुरिसो।
पावदि य कम्मबंधं, पुरिसो विसयाभिलासेण ॥१८२७॥

भावार्थ :– जो पुरुष पांच इन्द्रियों के विषयों में अभिलाषा करता है वह आत्मसुख को नहीं पा सकता है। विषयों की अभिलाषा से यह पुरुष कर्म का बंध करता है।

कोहि डहिज्ज जह चं–, दणं णरो दारुगं च बहुमोल्लं।
णासेइ मणुस्सभवं, पुरिसो तह विसयलोभेण ॥१८२८॥

भावार्थ :– जैसे कोई मानव बहु मूल्य चन्दन के वृक्ष को लकड़ी या ईधन के लिए जला डाले तैसे ही अज्ञानी पुरुष इन्द्रिय विषयों के लोभ से इस मनुष्य भव को नाश कर देता है।

छंडिय रयणाणि जहा, रयणद्दीवा हरिज्ज कट्ठाणि।
माणुसभवे वि छंडिय, धम्मं भोगेऽभिलसदि तहा ॥१८२९॥

भावार्थ :– जैसे कोई पुरुष रत्नद्वीप में रत्नों को छोड़कर काष्ठ को ग्रहण करे वैसे ही इस मनुष्य भव में अज्ञानी धर्म को छोड़कर भोगों की अभिलाषा करता है।

गंतूण णंदणवणं अमियं छडिय विसं जहा पियइ।
माणुसभवे वि छंडिय, धम्मं भोगेऽभिलसदि तहा ॥१८३०॥

भावार्थ :– जैसे कोई पुरुष नंदन वन में जाकर अमृत को छोड़ विष पीवे वैसे ही अज्ञानी इस मनुष्य भव में धर्म को छोड़कर भोगों की अभिलाषा करता है ।

गुत्तिपरिखाहिं गुत्तं, संजमणयरं ण कम्मरिउसेणा ।
बंधेइ सत्तुसेणा, पुरं व परिखादिहिं सुगुत्तं ।।१८३८।।

भावार्थ :– जैसे खाई कोट से रक्षित नगर को शत्रु की सेना भंग नहीं कर सकती है वैसे तीन गुप्ति रूपी खाई कोट से रक्षित संयम नगर को कर्म रूपी वैरी की सेना भंग नहीं कर सकती है ।

अमुयंतो सम्मत्तं, परीसहचमुक्करे उवीरंता ।
णेण सदी मोत्तव्वा, एत्थ हु आराघणा भणिया ।।१८४२।।

भावार्थ :– परीषहों की सेना समूह आने पर भी ज्ञानी को सम्यग्दर्शन को न छोड़ते हुए भेद विज्ञान की स्मृति को नहीं छोड़ना चाहिये ।

डहिऊण जहा अग्गी, विद्धंसदि सुबहुगं पि तणरासीं ।
विद्धंसेवि तवग्गी, तह कम्मतणं सुबहुगं पि ।।१८४६।।

भावार्थ :– जैसे अग्नि आप ही जलकर बहुत तृण के ढेर को जला देती है वैसे ही तप रूपी अग्नि बहुत काल से संचित कर्मों को जला देती है ।

धादुगदं जह कणयं, सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महवा ।
सुज्झइ तवग्गिधम्मो, तह जीवो कम्मधादुगदो ।।१८५१।।

भावार्थ :– जैसे पाषाण में मिला हुआ सोना महान अग्नि से धमा हुआ शुद्ध हो जाता है वैसे कर्म धातु से मिला हुआ जीव महान् तपरूपी अग्नि से धमा हुआ शुद्ध हो जाता है ।

एवं पिणद्धसंवर-, वम्मो सम्मत्तवाहणारूढो ।
सुदणाणमहाधणुगो, झाणादितवोमयसरेहिं ।।१८५३।।
संजमरणभूमीए, कम्मारिचमू पराजिणिय सव्वं ।
पावदि संजयजोहो, अणोवमं मोक्खरज्जसिरिं ।।१८५४।।

भावार्थ :– इस तरह जो कोई संयमी योद्धा संवर रूपी बख्तर पहनकर, सम्यग्दर्शन रूप वाहन पर चढ़ा हुआ श्रुतज्ञान रूपी महा धनुष द्वारा ध्यानमयी तप के बाणों को संजम रूपी रणभूमि में कर्मरूप वैरी पर चलाकर सर्व कर्म की सेना को जीत लेता है वही अनुपम मोक्ष की राज्यलक्ष्मी को पाता है ।

(१३) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं :—

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्।
सद्वृत्तात्स च तच्च बोधनियतं सोप्यागमात् स श्रुतेः॥
सा चाप्तात्स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेप्यत-
स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियै॥९॥

भावार्थ :— सर्व जीव सच्चे सुख को शीघ्र चाहते हैं। सो सुख सर्व कर्मों के क्षय से होगा। कर्मों का क्षय सम्यक्चारित्र से होगा। चारित्र सम्यग्ज्ञान पर निर्भर है। सो ज्ञान आगम से होता है। आगम श्री जिनवाणी के उपदेश के आधार पर है। यह उपदेश अरहंत आप्त से मिलता है। आप्त वही यथार्थ है जो रागादि दोषों से रहित हो। इसलिए सत्पुरुष भली प्रकार विचार करके सुख रूपी लक्ष्मी के लिए सच्चे देव की शरण ग्रहण करो।

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसाः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम्॥१५॥

भावार्थ :— शांत भाव, ज्ञान, चारित्र, तप इन सबका मूल्य सम्यक्त के बिना कंकड़ पत्थर के समान है। परन्तु यदि इनके साथ सम्यग्दर्शन हो तो इनका मूल्य महामणि के समान अपार है।

अस्त्यात्माऽस्तमितादिबन्धनगतस्तद्बन्धनान्यास्रवै-
स्ते क्रोधाविकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात्।
मिथ्यात्वोपचितात् स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित्-
सम्यक्त्वव्रतदक्षताऽकलुषताऽयोगैः क्रमान्मुच्यते॥२४१॥

भावार्थ :— आत्मा है सो अनादि काल से बंधा है। कर्मों का बंध आश्रवों से होता है, आश्रव क्रोधादि से होता है, क्रोधादि प्रमाद से होते हैं, प्रमाद हिंसा आदि पांच अव्रतों से होता है, ये अव्रत मिथ्यादर्शन से पुष्ट होते हैं इस ही मिथ्यादर्शन से यह आत्मा मलीन है, काल आदि की लब्धि पाकर जो सम्यग्दर्शन, चारित्र, विवेक, कषाय रहितपना पावे तो यह अनुक्रम से मुक्त हो जावे।

(१४) श्री देवसेनाचार्य तत्त्वसार में कहते हैं :—

मणवयणकायरोहे रुज्झइ कम्माण आसवो णूणं ।
चिरबद्धं गलइ सइं फलरहियं जाइ जोईणं ॥३२॥

भावार्थ :— मन, वचन, काय को रोक लेने पर नियम से कर्मों का आश्रव रुक जाता है तथा चिरकाल के बंधे हुए कर्म फल रहित होकर योगी की आत्मा से स्वयं निकल जाते हैं ।

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो ।
उग्गतवंपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ॥३३॥

भावार्थ :— घोर तप करते हुए भी जब तक पर द्रव्यों में मन लवलीन है तब तक भव्य जीव मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता है किन्तु शुद्ध भाव में लीन होने से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ।

परदव्वं देहाई कुणइ ममत्तिं च जाम तस्सुवरि ।
परसमयरदो तावं बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥३४॥

भावार्थ :— शरीर आदि पर द्रव्य हैं । जब तक यह जीव उनके ऊपर ममता करता है तब तक वह पर पदार्थ में रत बहिरात्मा है और तब तक नाना प्रकार कर्मों से बंधता है ।

रूसइ तूसइ णिच्चं इन्दियविसयेहिं संगओ मूढो ।
सकसाओ अण्णाणी णाणी एदो दु विवरीदो ॥३५॥

भावार्थ :— कषायवान अज्ञानी मूढ नित्य ही इन्द्रियों के विषयों को मनोज्ञ पाकर संतुष्ट होता है, अमनोज्ञ पाकर क्रोधित होता है परन्तु ज्ञानी इससे विपरीत रहता है ।

ण मुणइ सगं भावं ण परंपरिणमइ मुणइ अप्पाणं ।
जो जीवो संवरणं णिज्जरणं सो फुडं भणिओ ॥५५॥

भावार्थ :— जो जीव अपने शुद्ध आत्मिक भाव को छोड़ता नहीं है तथा पर रागादि भावों में परिणमता नहीं है और अपने आत्मा का अनुभव करता है वही प्रगट रूप से संवर रूप और निर्जरा रूप कहा गया है ।

ण मरइ तावेत्थ मणो जाम ण मोहो खयंगओ सव्वो ।
खीयंति खीणमोहे सेसाणि य घाइकम्माणि ॥६४॥

भावार्थ :-- जब तक सर्व मोह का क्षय नहीं होता है तब तक मन का मरण नहीं होता है । मोह के क्षय होने पर शेष तीन घातीय कर्म भी क्षय हो जाते हैं ।

णिहए राए सेण्णं णासइ सयमेव गलियमाहप्पं ।
तह णिहयमोहराए गलंति णिस्सेसघाईणि ॥६५॥

भावार्थ :-- जैसे राजा के मरने पर राजा की सेना प्रभा रहित होकर स्वयं भाग जाती है वैसे ही मोह राजा के नाश होने पर सर्व घातीय कर्म जल जाते हैं ।

धम्माभावे परदो गमणं णत्थिति तस्स सिद्धस्स ।
अत्थइ अणंतकालं लोयग्गणिवासिउं होउं ॥७०॥

भावार्थ :-- अलोकाकाश में धर्म द्रव्य नहीं है इससे श्री सिद्ध भगवान का गमन लोक के बाहर नहीं होता है वे लोक के अग्र भाग में अनन्त काल तक निवास करते रहते हैं ।

संते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छइ तह य तिरियं वा ।
उड्ढं गमणसहाओ मुक्को जीवो हवे जम्हा ॥७१॥

भावार्थ :-- लोक में सर्वत्र धर्म द्रव्य होते हुए भी मुक्त जीव न नीचे जाता है न आठ दिशाओं में जाता है किन्तु ऊपर को ही जाता है क्योंकि जीव का ऊर्ध्व गमन स्वभाव है ।

(१५) श्री योगेन्द्रदेव योगसार में कहते हैं :--

मग्गणगुणठाणइ कहिया ववहारेण वि दिट्ठि ।
णिच्छइणइ अप्पा मुणहु जिम पावहु परमेट्ठि ॥१७॥

भावार्थ :-- चौदह मार्गणा व चौदह गुणस्थान व्यवहार नय से जीव के कहे गए हैं । निश्चय नय से आत्मा को इनसे रहित ध्याओ जिससे परमेष्ठी पद की प्राप्ति हो सके ।

णिच्छइ लोयपमाण मुणि ववहारइ सुसरीरु ।
एहउ अप्पसहाउ मुणि लहु पावहु भवतीरु ॥२४॥

भावार्थ :-- निश्चय नय से यह आत्मा लोक प्रमाण आकारधारी है परन्तु व्यवहार नय से अपने शरीर के प्रमाण है, ऐसे आत्मा के स्वभाव का मनन करो जिससे शीघ्र ही संसार सागर के तट पर पहुँच जाओ ।

चउरासीलक्खह फिरिउ कालु अणाइ अणंतु ।
पर सम्मत्त ण लद्धु जिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥२५॥

भावार्थ – यह जीव अनादिकाल से अनन्त काल हो गया चौरासी लाख योनियो मे फिरता चला आ रहा है क्योंकि इसको सम्यग्दर्शन का लाभ नही मिला यही बात बिना भ्रांति के जानो। सम्यक्त रत्न हाथ लग जाता तो भव मे न भ्रमता ।

पुण्णि पावइ सग्ग जिय पावइ णरयणिवासु ।
वे छंडिवि अप्पा मुणइ तउ लब्भइ सिववासु ॥३२॥

भावार्थ :– पुण्य से जीव स्वर्ग मे जाता है, पाप से नरक मे वास पाता है। जो कोई पुण्य पाप दोनो से ममता छोडकर अपने आत्मा को ध्याता है वही मोक्ष मे वास पाता है ।

छहदव्वह जे जिणकहिआ णव पयत्थ जे तत्त ।
ववहारें जिणउत्तिया ते जाणियहि पयत्त ॥३५॥

भावार्थ :– श्री जिनेन्द्र ने जो छः द्रव्य तथा नो पदार्थ कहे है उनका श्रद्धान व्यवहार नय से सम्यक्त भगवान ने कहा है उनका प्रयत्न पूर्वक जानना योग्य है ।

तित्थहु देउलि देउ जिणु सव्व वि कोई भणेइ ।
देहादेउलि जो मुणइ सो बुहु को वि हवेइ ॥४४॥

भावार्थ – तीर्थ स्थान मे व देवालय मे श्री जिनेन्द्र देव है ऐसा सब कोई कहते हे। परन्तु जो अपने शरीर रूपी मदिर मे आत्मा देव को पहचानता है वह कोई एक पडित है ।

आउ गलइ ण वि मणु गलइ ण वि आसाहु गलेइ ।
मोह फुरइ ण वि अप्पहिउ इम ससार भमेइ ॥४८॥

भावार्थ – आयु तो गलती जाती है। परन्तु न तो मन गलता है न आशा तृष्णा गलती है। मोह की गहलता झलक रही है। इससे यह प्राणी आत्म हित नहीं करता हुआ इस ससार मे भ्रमण किया करता है ।

जेहउ मणु विसयह रमइ तिम जे अप्प मुणेइ ।
जोइउ भणइ रे जोइहु लहु णिव्वाण लहेइ ॥४९॥

भावार्थ — जैसा यह मन इन्द्रियों के विषयों में रमता है वैसा यदि अपने आत्मा के अनुकूल में रम जावे तो योगीन्द्रदेव कहते हैं कि हे योगी ! यह जीव शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेवे ।

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सब्बु वि को वि मुणेइ ।
जो पुण्ण वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ ॥७०॥

भावार्थ — जो पाप है सो पाप है ऐसा तो सब कोई मानते है । परन्तु जो कोई पुण्य को भी पाप कहता है ऐसा बुद्धिमान कोई ही होता है ।

हउं बद्धउ मुक्कउ मुणहि तो बंधियहि णिभंतु ।
सहजसरूवि जइ रमइ तो पावइ सिव संतु ॥८६॥

भावार्थ — जो कोई ऐसा विकल्प करता है कि मैं बंधा हूं मुझे मुक्त होना है वह अवश्य बंध को प्राप्त होता है । जो कोई सहज आत्म स्वरूप मे रमण करता है वही परम शांत मोक्ष को पाता है ।

सम्माइट्ठीजीवडह दुग्गइगमणु ण होइ ।
जइ जाइ वि तो दोस ण वि पुव्वकिकउ खवणेइ ॥८७॥

भावार्थ — सम्यग्दृष्टि जीव का दुर्गति मे गमन नही होता है । यदि पूर्वबद्ध आयु कर्म के योग से दुर्गति जाता भी तो दोष नही है, वह पूर्वकृत कर्मो का नाश ही करता है ।

अप्पसरूवह जो रमइ छंडवि सहुववहारु ।
सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारु ॥८८॥

भावार्थ — जो सब व्यवहार को छोड़कर एक आत्मा के स्वरूप मे रमण करता है वही सम्यग्दृष्टि है, वह शीघ्र भव सागर से पार हो जाता है ।

जो सम्मत्तपहाणु बुहु सो तइलोय पहाणु ।
केवलणाण वि लहु लहई सासयसुक्खणिहाणु ॥६०॥

भावार्थ — जो पंडित सम्यग्दर्शन मे प्रधान है वह तीन लोक मे प्रधान है । वह शीघ्र ही अविनाशी सुख के निधान केवल ज्ञान को झलका लेता है ।

जे सिद्धा जे सिज्झसिहि जे सिज्झहि जिण उत्तु ।
अप्पादसण ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु ॥१०६॥

भावार्थ :— जो सिद्ध हुए हैं व जो सिद्ध होंगे व जो सिद्ध हो रहे हैं, वे सब आत्मा के दर्शन से ही होते हैं ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। इसी बात को बिना किसी भ्रांति के जान।

(१६) श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासन में कहते हैं :—

तापत्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिव शर्मणे।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाभ्यधादसौ ॥३॥

भावार्थ :— जन्म जरा मरण के ताप से दुःखी भव्य जीवों को मोक्ष का सुख प्राप्त हो जावे इसलिये सर्वज्ञ ने हेय और उपादेय ऐसे दो तत्त्व बताए हैं।

बन्धो निबन्धनं चास्य हेयमित्युपदर्शितं।
हेयं स्याद्दुःखसुखयोर्यस्माद्बीजमिदं द्वयं ॥४॥

भावार्थ :— कर्म बंध और उसका कारण हेय तत्त्व या त्यागने योग्य तत्त्व कहा गया है क्योंकि ये ही दोनों त्यागने योग्य सांसारिक दुःख तथा सुख के बीज हैं।

मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतं।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥५॥

भावार्थ :— मोक्ष और उसका साधन उपादेय तत्त्व या ग्रहण करने योग्य तत्त्व कहा गया है क्योंकि इसी ही से उपादेय मोक्ष सुख का प्रकाश होगा।

तत्र बंधः सहेतुभ्यो यः संश्लेषः परस्परं।
जीवकर्मप्रदेशानां स प्रसिद्धश्चतुर्विधः ॥६॥

भावार्थ :— राग द्वेषादि कारणों से जीवका और कर्म वर्गणाओं का परस्पर सम्बन्ध होना सो बन्ध प्रकृति प्रदेश, स्थिति अनुभाग से चार प्रकार का प्रसिद्ध है।

स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासतः।
बंधस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥८॥

भावार्थ :— बंध के हेतु संक्षेप से मिथ्यादर्शन; मिथ्याज्ञान व मिथ्या-चारित्र है। इससे अधिक जो कुछ कहना है सो इन्हीं का विस्तार है।

स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः ।
मुक्तिहेतुर्जिनोपज्ञं निर्जरासंवरक्रियाः ॥२४॥

भावार्थ :-- मोक्ष का साधन जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, व सम्यक्चारित्र की एकता को कहा है । इसी से नवीन कर्मों का संवर होता है व पुरातन कर्मों की निर्जरा होती है ।

जीवादयो नवाप्यर्था ते यथा जिनभाषिताः ।
ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनं स्मृतं ॥२५॥

भावार्थ :-- जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन नव पदार्थो का जैसा स्वरूप श्री जिनेन्द्र ने कहा है वे उसी ही तरह हैं । ऐसी श्रद्धा उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

पुरुषः पुद्गलः कालो धर्माधर्मौ तथांबरं ।
षड्विधं द्रव्यमाम्नातं तत्र ध्येयतमः पुमान् ॥११७॥

भावार्थ :-- जीव, पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म तथा आकाश छः प्रकार द्रव्य कहा गया है । उनमें ध्यान करने योग्य एक शुद्ध आत्मा ही है ।

कर्म बंधनविध्वंसादूर्ध्वं व्रज्यास्वभावतः ।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति ॥२३१॥

भावार्थ :-- कर्मों के बन्ध क्षय हो जाने पर मुक्त आत्मा एक समय में ही स्वभाव से ऊपर को जाता है और लोक शिखर पर विराजमान हो जाता है ।

पुंसः संहारविस्तारौ संसारे कर्मनिर्मितौ ।
मुक्तौ तु तस्य तौ नस्तः क्षयात्तद्धेतुकर्मणां ॥२३२॥

भावार्थ :-- संसार अवस्था में कर्मों के उदय के निमित्त से जीव के आकार में संकोच या विस्तार होता था, मुक्त होने पर संकोच विस्तार के कारण कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा के प्रदेशों का संकोच विस्तार नहीं होता है जैसा अंतिम शरीर से आत्मा होता है वैसा आकार सिद्ध भगवान का स्थिर रहता है ।

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पौरुषः ।
यथा मणिस्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके मले ॥२३६॥

भावार्थ — जब सर्व कर्मों का क्षय हो जाता है तब आत्मा अपने स्वरूप मे ही ठहरता है जैसे रत्न के भीतर से समस्त प्राप्त मल कारण हेतुओ से निकल जाने पर रत्न अपने स्वभाव मे चमकता है।

(११) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्धय् पाय मे कहते है :—

परिणममणो नित्य ज्ञानविवर्तैरनादिसंतत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च ॥१०॥

भावार्थ — यह जीव अनादिकाल से ज्ञानावरणादि कर्मा से मलीन है उन कर्मों के द्वारा जिन विभावो मे यह परिणमन करता है उनका यह जीव अपने को कर्ता तथा भोक्ता मान लेता।

जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन ॥१२॥

भावार्थ — जीव के राग आदि विभावो के निमित्त होते हुए अन्य कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल स्वय ही ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन कर जाते है।

परिणममाणस्य चितश्चिदात्मकै स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्र पौद्गलिक कर्म तस्यापि ॥१३॥

भावार्थ — यह जीव आप ही अपने चैतन्यमयी रागादि भावो से जब परिणमन करता है तब वह पुद्गल कर्म का उदय निमित्त मात्र होता है। रागादि नैमित्तिक भाव है जीव के स्वभाव नही है।

एवमय कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशाना प्रतिभास स खलु भवबीजम ॥१४॥

भावार्थ इस तरह जो कर्मो के निमित्त से रागादि भाव होते है उन का आत्मा के साथ तादात्म्य सबध नही है। निश्चय से आत्मा उनमे भिन्न है तो भी अज्ञानी जीवो को यही प्रतीति मे आता है कि ये रागादि भाव जीव के ही है यही प्रतिभास अज्ञान है और ससार भ्रमण कारण है।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धान विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूप तत् ॥२२॥

भावार्थ — जीव और अजीव आदि तत्त्वों का श्रद्धान विपरीत अभिप्राय रहित यथार्थ रूप से रखना चाहिये यही व्यवहार सम्यक्त्व है निश्चय से यह सम्यक्त आत्मा का स्वभाव है ।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

भावार्थ जब साधक के रत्नत्रय की भावना पूर्ण नही होती है तब जो कर्मों का बन्ध होता है उसमें रत्नत्रय का दोष नहीं है । रत्नत्रय तो मोक्ष का ही साधक है वह बध कारक नही है । उस समय जो रत्नत्रय भाव का विरोधी रागांश होता है वही बन्ध का कारण है ।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥

भावार्थ — जितने अश सम्यग्दर्शन होता है उतने अश से बन्ध नही होता है । उसी के साथ जितना अश राग का होता है उसी राग के अश से बध होता है ।

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति यः कषायात्तु ।

दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥२१५॥

भावार्थ योगो मे प्रदेश बंध और प्रकृति बंध होता है कषायो से स्थिति बध व अनुभाग बध होता है । सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र न योगरूप है न कषाय रूप है । इससे रत्नत्रय बंध के कारण नही है ।

(१८) श्री अमतचन्द्राचार्य नाटक समयसार कलश मे कहते है —

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः ।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम् ।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥६॥

भावार्थ शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से अपने इस आत्मा को जो अपने एक द्रव्य स्वभाव में निश्चल है अपने स्वरूप म व्याप्त है व पूर्ण ज्ञान समूह है सर्व अन्य द्रव्यों से भिन्न देखना या अनुभव करना सम्यग्दर्शन है । नियम से यही निश्चय सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है आत्मा म व्यापक है आत्मा

जितना है उतना ही उसका गुण सम्यग्दर्शन है । इसलिये नव पदार्थों की परिपाटी के विचार को छोड़कर हमें एक अपना आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है ।

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि ।
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ॥
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिन्दं तमो ।
ज्ञानभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४-३॥

भावार्थ :– व्याप्य व्यापकपना तत् स्वरूप में ही होता है अतत् स्वरूप में नहीं होता है । अर्थात् गुण गुणी में ही होता है, एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ व्यापकपना नहीं होता है । इसलिये जीव का पुद्गल के साथ व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नहीं है । ऐसे दृढ़ भेद विज्ञान रूपी महान तेज के भार से जब अंतरंग का अज्ञान मिट जाता है अर्थात् अज्ञान से जो आत्मा को पुद्गल का व रागादि का कर्त्ता मानता था वह अज्ञान चला जाता है तब यह सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी होता हुआ परभाव के कर्त्तापने से रहित ही शोभता है । ज्ञानी को तब दृढ़ निश्चय हो जाता है कि आत्मा मूल स्वभाव से पुद्गल का व रागादि का कर्त्ता नहीं है । रागादि भाव नैमित्तिक भाव हैं – आत्मा स्वभाव से कर्त्ता नहीं है ।

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥११-३॥

भावार्थ :– आत्मा अपने भावों को करता है, पर पदार्थ पर भावो का कर्त्ता है, सदा का यह नियम है । इसलिये आत्मा के जितने भाव हैं वह आत्मा रूप ही हैं । पर के जितने भाव हैं वे पर रूप ही हैं ।

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किं ।
परभावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥१७-३॥

भावार्थ :– आत्मा ज्ञानमय है, स्वयं ज्ञान ही है तब वह ज्ञान के सिवाय और क्या करेगा । यह आत्मा पर भावों का कर्त्ता है, यह व्यवहारी जीवों का कहना मात्र है । व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ने अशुभ भाव किये व शुभ भाव किये । निश्चय से ये सब भाव मोह कर्म के निमित्त से हुए हैं । आत्मा तो मात्र अपने शुद्ध भाव का ही कर्त्ता है ।

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ।।२२-३।।

भावार्थ :-- ज्ञानी के सब ही भाव ज्ञान द्वारा किये हुए ज्ञानमयी ही होते हैं । अज्ञानी के सर्व ही भाव अज्ञान द्वारा किये हुए अज्ञान रूप ही होते हैं । सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के विषयभोग सम्बन्धी भाव भी ज्ञान की भूमिका में ही है जब कि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के व्रत व तप के भाव भी अज्ञान की भूमिका में अज्ञानमयी है ।

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ।।४-४।।

भावार्थ :-- सर्वज्ञों ने कहा है कि सर्व ही शुभ व अशुभ क्रिया कांड सामान्य से बध का ही कारण है इसलिये सर्व ही त्यागने योग्य है । एक शुद्ध ही वीतराग आत्मज्ञान ही मोक्ष का कारण कहा गया है ।

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्माणि किल ।
प्रवृत्ते नैः कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं ।
स्वयं विन्दन्त्येते परममृतं तत्र निरता ।।५-४।।

भावार्थ :-- मोक्षमार्ग में शुभ कर्म व अशुभ कर्म दोनों का निषेध होने पर भी मुनि इन कर्मो से रहित अवस्था में प्रवृत्ति करते हुए अशरण नहीं होते हैं । आत्मज्ञान का ज्ञान में वर्तना यही उनके लिये शरण है । वे मुनि आत्मानुभव में लीन रहते हुए परम आनन्दामृत का स्वाद निरन्तर लेते है -- निष्कर्म आत्मध्यान ही मोक्ष मार्ग है ।

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ।।७-४।।

भावार्थ :-- आत्मज्ञान के स्वभाव से वर्तना सदा ही ज्ञान में परिणमन करता है क्योंकि वहां एक आत्म द्रव्य का ही स्वभाव है इसलिये यही मोक्ष का साधन है । जब आत्मा आत्मा में ही वर्तता है -- आत्मस्थ हो जाता है तब ही मोक्ष का मार्ग प्रकट होता है ।

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ।।८-४।।

भावार्थ :— जब यह जीव पुण्य व पाप कर्म में वर्तता है तब वहां आत्म ज्ञान में वर्तन नहीं है । पर द्रव्य के स्वभाव में रमण करने के कारण कर्म में वर्तना मोक्ष मार्ग नहीं है ।

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ।।५-६।।

भावार्थ :— शुद्धात्मा का अनुभव होने से साक्षात् कर्मों का आना रुक जाता है, संवर हो जाता है जब यह शुद्धात्मानुभव भेदविज्ञान से होता है इसलिये भेद विज्ञान की भावना उत्तम प्रकार से करनी चाहिये । आत्मा को सर्व रागादि से व कर्मादि से भिन्न मनन करना चाहिये ।

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान वैराग्यशक्तिः ।
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।।
यस्माज् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च ।
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ।।४-७।।

भावार्थ :— सम्यग्दृष्टि के भीतर नियम से आत्मज्ञान की तथा वैराग्य की शक्ति पैदा हो जाती है वह अपने स्वरूप की प्राप्ति व पर स्वरूप से मुक्ति के लिये अपने वस्तु स्वभाव की अनुभूति का प्रेमी हो जाता है क्योंकि उसने आत्मा को व अनात्मा को तत्वदृष्टि से अलग २ जान लिये हैं । इसलिये वह सर्व ही राग के कारणों से विरक्त रहता हुआ अपने आत्मा के स्वभाव में विश्राम करता है ।

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं ।
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं ।
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न न हि ।।२२-७।।

भावार्थ :— सम्यग्दृष्टि जीव बड़े साहसी होते हैं । ऐसा वज्रपात पड़े कि जिसके होते हुए भयभीत हो तीन लोक के प्राणी मार्ग से भाग जावें तो भी वे सम्यक्ती महात्मा स्वभाव से निर्भय रहते हुए सर्व शंकाओं को छोड़कर-

तथा अपने आपको अविनाशी ज्ञान शरीरी जानते हुए आत्मिक अनुभव से व आत्मज्ञान से कभी पतित नहीं होते हैं ।

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलस्यात्मनो ।
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ।।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो ।
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ।।२७-७।।

भावार्थ :— प्राणों के वियोग को मरण कहते हैं । निश्चय से इस आत्मा का प्राण ज्ञान है । वह स्वयं ही नित्य है । उसका कभी नाश होता ही नहीं तब उस ज्ञान प्राण का मरण कभी नहीं हो सकता । इसलिये ज्ञानी को मरण का भय नहीं होता है । वह निःशंक रहता हुआ सदा ही स्वयं अपने सहज ज्ञान का स्वाद लेता है ।

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य ।
कुर्यात्पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।।६-८।।

भावार्थ :-- सर्व को नियम से सदा ही अपने ही पाप पुण्य कर्मों के उदय से दुःख तथा सुख होता है । दूसरे ने दूसरे को मार डाला, जिलाया, या दुःखी तथा सुखी किया ऐसा मानना अज्ञान है । जब तक अपने आयु कर्म का छेद नहीं होता, मरण नहीं हो सकता । अपने ही साता असाता के उदय से सुख दुःख होता है ।

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एव नास्तीह येषां यतयस्त एव ।।१०-८।।

भावार्थ :— यह आत्मा अन्य सर्व जगत के पदार्थों से भिन्न है तो भी जिस अज्ञान के प्रभाव से यह अपने को जगत के पदार्थों के साथ अपनापना मानता है उस अज्ञान का मूल कारण मोह का उदय है । जिन महात्माओं के भीतर यह पर को अपना मानने का खोटा अभिप्राय नहीं होता है वे ही सच्चे यति हैं ।

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्माऽऽत्मनो याति यथार्ककान्तः ।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत ।।१३-८।।

भावार्थ :– यह आत्मा अपने से कभी रागादिभावों में परिणमन नहीं कर सकता । जैसे स्फटिक मणि अपने से ही लाल, पीली, काली नहीं होती । जैसे स्फटिक को लाल, पीली, काली कांतिवाली दीखने में लाल, पीले काले डांक की संगति का दोष है वैसे आत्मा में राग द्वेषादि विभावों में परिणमने में मोहनीय कर्म के उदय का दोष है । अकेले आत्मा में कभी रागादि नहीं होते हैं ।

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः,
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ।।८-६।।

भावार्थ :– जो परभाव या पर पदार्थ को अपनाता है वह अपराधी आत्मभावना से पतित होता हुआ अनन्त कर्म वर्गणाओ से बँधता है । परन्तु जो अपराधी नहीं है, स्वात्मा में ही आत्मापने का अनुभव करता है, वह कभी भी बंध को नही प्राप्त होता है । अपराधी सदा अपने को अशुद्ध ही भजता है जब कि निरपराधी भली प्रकार अपने शुद्ध स्परूप की आराधना करता हुआ अबन्ध रहता है ।

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा –
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ।।६-१०।।

भावार्थ :-- सम्यग्दृष्टि ज्ञानी न तो रागादि कर्मो को करता है न उन को भोक्ता है – वह मात्र उनके स्वभाव को जानता ही है । वह कर्ता व भोक्ता अपने स्वभाव रूप शुद्ध भावों का ही है, परभाव तो कर्मजन्य हैं, उनका कर्ता भोक्ता नही होता है । कर्ता भोक्तापना न करता हुआ व मात्र जानता हुआ ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभाव में निश्चल रहता हुआ अपने को पर से मुक्त रूप ही अनुभव करता है ।

विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानं ॥३७-१०॥

भावार्थ :-- कर्म रूपी विष वृक्षों के फल मेरे भोगे बिना ही गल जाओ। मैं तो अपने ही निश्चल एक चैतन्यभाव को ही भोगता हूँ। ज्ञानी ऐसा मनन करता है।

व्यवहार विमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतीह तुषं न तंदुलम् ॥४९-१०॥

भावार्थ :-- जो व्यवहार क्रिया कांड में ही मूढ़ता से मग्न हैं वे मानव परमार्थ स्वरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं कर सकते। जिनको चांवलों की भूसी में ही चांवलों का ज्ञान है वे तुषों को ही पावेंगे। उनके हाथ में कभी चांवल नहीं आ सकते हैं। व्यवहार धर्म केवल बाहरी सहकारी है। आत्मानुभव ही परमार्थ धर्म है। जो परमार्थ धर्म का अनुभव करते हैं वे ही शुद्धात्मा को पाते हैं।

(१९) श्री अमितगति आचार्य तत्वभावना में कहते हैं :--

जीवाजीवपदार्थतत्वविदुषो बंधास्रवौ रुंधतः ।
शश्वत्संवरनिर्जरे विदधतो मुक्तिप्रियं कांक्षतः ॥
देहादेः परमात्मतत्त्वममलं मे पश्यतस्तत्त्वतो ।
धर्मध्यानसमाधि शुद्धमनसः कालः प्रयातु प्रभो ॥४॥

भावार्थ :-- सम्यक्ती ऐसी भावना भाता है कि हे प्रभो ! मैं जीव और अजीव पदार्थों के स्वरूप को ठीक ठीक जानता रहूँ, बंध और आस्रवों को रोकता रहूं, निरन्तर संवर और निर्जरा को करता रहूँ, मुक्ति रूपी लक्ष्मी की आकांक्षा रखता रहूं, तथा शरीरादि से निश्चय से मेरा परमात्मा स्वरूप शुद्ध तथा भिन्न है ऐसा अनुभव करता रहूँ। इस तरह शुद्ध मन से धर्मध्यान और समाधिभाव में मेरे जीवन का काल व्यतीत होवे।

नरकगतिमशुद्धैः सुन्दरैः स्वर्गवासं ।
शिवपदमनवद्यं याति शुद्धैरकर्मा ॥
स्फुटमिह परिणामैश्चेतनः पोष्यमाणे-
रिति शिवपदकामैस्ते विधेया विशुद्धाः ॥७८॥

भावार्थ :— अशुभ भावों से नरकगति होती है, शुभ भावों से स्वर्गवास होता है, कर्म रहित यह जीव शुद्ध भावों से प्रशंसनीय शिव पद को प्राप्त करता है यह बात प्रगट है, तब जो मोक्ष पद की कांक्षा करते हैं उनको चैतन्य को पोषने वाले परिणामों के द्वारा शुद्ध भावों को ही रखना योग्य है । शुभ व अशुभ भावों से विरक्त होना उचित है ।

यो बाह्यार्थं तपसि यतते बाह्यमापद्यतेऽसौ ।
यस्त्वात्मार्थं लघु स लभते पूतमात्मानमेव ।।
न प्राप्यंते क्वचन कलमाः कोद्रवं रोप्यमाणे—
विज्ञायेत्थं कुशलमतयः कुर्वते स्वार्थमेव ।।८४।।

भावार्थ :— जो कोई बाहरी इन्द्रिय भोगों के लिये तप करता है वह बाहरी ही पदार्थों को पाता है । जो कोई आत्मा के विकास के लिये तप करता है वह शीघ्र ही पवित्र आत्मा को ही पाता है कोदवों के बोने से कदापि चांवल नहीं प्राप्त हो सकते, ऐसा जान कर प्रवीण बुद्धि वालो को आत्मा के हित में ही उद्यम करना योग्य है ।

भवति भविनः सौख्यं दुखं पुराकृतकर्मणः ।
स्फुरति हृदये रागो द्वेषः कदाचन मे कथम् ।।
मनसि समतां विज्ञायेत्थं तयोर्विदधाति यः ।
क्षपयति सुधीः पूर्वं पापं चिनोति न नूतनम् ।।१०२।।

भावार्थ :— ससारी प्राणियों को पूर्व बांधे कर्मो के उदय के अनुकूल सुख तथा दुःख होता है । मेरे मन में उनमें राग व द्वेष कदापि भी नहीं प्रगट होता है । इस तरह जो कोई जानकर उन सुख व दुःख के होने पर समभाव को रखता है वह बुद्धिमान पूर्व संचित कर्मों का क्षय करता है और नवीन कर्मो को एकत्र नहीं करता है ।

चित्रोपद्रवसंकुलामुरुमलां निःस्वस्थतां संसृतिं ।
मुक्तिं नित्यनिरंतरोरुतसुखामापत्तिभिर्वर्जिताम् ।।
प्राणी कोपि कषायमोहितमतिर्नो तस्वतो बुध्यते ।
मुक्त्वा मुक्तिमनुत्तमामपरथा किं संसृतौ रज्यते ।।८१।।

भावार्थ :— यह संसार नाना प्रकार के उपद्रवों से भरा है, अत्यन्त मलीन है । आकुलताओं का घर है, इसमें स्वस्थपना नहीं है तथा मुक्ति नित्य निरन्तर

श्रेष्ठ आत्मिक सुख से पूर्ण है और सब आपत्तियों से रहित है। इस बात को कोई कषाय से मोहित बुद्धिवाला ही प्राणी यथार्थ न समझे तो न समझे अन्यथा जो कोई बुद्धिमान है वह अनुपम श्रेष्ठ मुक्ति को छोड़कर इस असार संसार में किस तरह राग करेगा ?

(२०) श्री पद्मनंदि मुनि एकत्वसप्तति में कहते हैं :-

संयोगेन यदा यातं मत्तस्तत्सकलं परम् ।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोऽमिति मे मतिः ॥

भावार्थ :- सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है कि जिन जिन का संयोग मेरे साथ चला आया है वे सब भावकर्म, द्रव्यकर्म, नौकर्म मुझसे भिन्न हैं। उनका मोह छोड़ देने से मैं मुक्तरूप ही हूं ऐसी मेरी बुद्धि है।

किं मे करिष्यतः क्रूरौ शुभाशुभनिशाचरौ ।
रागद्वेषपरित्यागमोहमंत्रेण कीलितौ ॥२८॥

भावार्थ :- सम्यग्दृष्टि विचारता है कि मैंने रागद्वेष के त्यागरूप साम्य भाव महामंत्र से शुभ व अशुभ कर्म रूपी दुष्ट राक्षसों को कील दिया है तब वे मेरा क्या विगाड़ कर सकते हैं। जब मैंने समताभाव धारण किया है तब पुण्य, पापकर्म, उदय में आकर अपना फल भी दें तो भी मैं उनसे आकुलित नहीं हो सकता हूं।

(२१) श्री पद्मनंदि मुनि देशव्रतोद्योतन अधिकार में कहते हैं :-

एकोप्यत्र करोति यः स्थितिमतिं प्रीतः शुचौ दर्शने ।
स श्लाघ्यः खलु दुःखितोप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणिभृत ॥
अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैरत्यन्तदूरीकृत—
स्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैर्मिथ्यापथ प्रस्थितैः ॥२॥

भावार्थ :- इस जगत में वह प्राणी जो निर्मल सम्यग्दर्शन में अपनी निश्चल बुद्धि रखता है कदाचित् पूर्व पापकर्मों के उदय से दुःखित भी हो और अकेला भी हो तो भी प्रशंसा के योग्य है। इसके विरुद्ध मिथ्यादर्शन में रहने वाले अनेक उन प्राणियों की कोई प्रशंसा नहीं है, जो धन सम्पदा से सुखी हैं परन्तु अत्यन्त आनन्द देने वाले सम्यग्दर्शनमयी आत्मिक मोक्ष मार्ग से दूर रहने वाले हैं।

बीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः।
प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधैः ॥
संसारे बहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृतः ।
क्व प्राणी लभते महत्यपि गते काले हि तां तामिह ॥३॥

भावार्थ :-- मोक्षरूपी वृक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है । संसार रूपी वृक्ष का बीज मिथ्यादर्शन है ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है । जब ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जावे तो मोक्ष के इच्छुक पंडितों को योग्य है कि वे उस सम्यग्दर्शन की रक्षा का यत्न करते रहें । पाप कर्मों से घिरा हुआ यह प्राणी चौरासी लाख योनि सहित इस संसार में भ्रमता रहता है तब कही दीर्घकाल जाने पर बड़े भाग्य से किसी प्राणी को कभी इस सम्यग्दर्शन का लाभ होता है ।

(२२) श्री पद्मनंदि मुनि निश्चयपञ्चाशत् में कहते है :--

आस्तां बहिरुपधिचयस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरम् ।
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किञ्चित् ॥२७॥

भावार्थ :-- सम्यग्दृष्टि विचारता है कि कर्मों के द्वारा प्राप्त बाहरी परिग्रह आदि उपाधि का समूह तो दूर ही रहो -- शरीर, वचन और विकल्पों का समूह मन भी मुझसे भिन्न है क्योंकि निश्चय से मैं परम शुद्ध हूँ । तब ये सब मेरे कैसे हो सकते है ?

कर्म परं तत्कार्यं सुखमसुखं वा तदेव परमेव ।
तस्मिन् हर्षविषादौ मोही विदधाति खलु नान्यः ॥२८॥

भावार्थ :-- सम्यग्दृष्टि विचारता है कि आठ कर्म मुझ से भिन्न है तब उनके उदय से जो सुख दुःख कार्य होता है वह भी मुझ से भिन्न है । मोही मिथ्यात्वी प्राणी ही सुख में हर्ष व दुःख में शोक करता है, सम्यग्दृष्टि ऐसा कभी नहीं करता है ।

कर्म न यथा स्वरूपं न तथा तत्कार्यकल्पनाजालम् ।
तत्रात्ममतिविहीनो मुमुक्षुरात्मा सुखी भवति ॥२९॥

भावार्थ :-- आठ कर्म जैसे अपना स्वरूप नहीं है वैसे उन कर्मों का कार्य सुख दुःखादि कल्पना जाल भी मेरा स्वरूप नहीं है । जो इनमें आत्मबुद्धि नहीं रखता है वही मुमुक्षु आत्मा सुखी है ।

(२३) श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चय में कहते है :–

कषायातपतप्तानां विषयामयमोहिनाम् ।
संयोगयोगखिन्नानां सम्यक्त्वं परमं हितम् ॥३८॥

भावार्थ – जो प्राणी कषाय के आताप से तप्त है, इन्द्रियो के विषयो के रोग से पीडित है, इष्ट वियोग अनिष्ट सयोग से दु खी है, उन सबके लिए सम्यग्दर्शन परम हितकारी औषधि है ।

वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन समायुतः ।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ॥३९॥

भावार्थ – सम्यग्दर्शन सहित नरक में रहना भी अच्छा है किन्तु सम्यग्दर्शन रहित स्वर्ग मे रहना भी सुखदाई नही है । क्योंकि जहा आत्मज्ञान है वही सच्चा सुख है ।

सम्यक्त्वं परमं रत्नं शंकादिमलवर्जितम् ।
संसारदुःखदारिद्र्यं नाशयेत्सुविनिश्चितम् ॥४०॥

भावार्थ – शका, काक्षा आदि दोषो से रहित सम्यग्दर्शन ही परम रत्न है । जिसके पास यह रत्न होता है उसका ससार दु खरूपी दारिद्र निश्चय से नष्ट हो जाता है ।

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः ।
मिथ्यादृश्योऽस्य जीवस्य ससारे भ्रमणं सदा ॥४१॥

भावार्थ – सम्यग्दर्शन सहित जीव को अवश्य निर्वाण का लाभ होगा । मिथ्यादृष्टि जीव सदा ही ससार मे भ्रमण करता रहेगा ।

पंडितोऽसौ विनीतोऽसौ धर्मज्ञः प्रियदर्शनः ।
यः सदाचारसम्पन्नः सम्यक्त्वदृढमानसः ॥४२॥

भावार्थ – जिसका भाव सम्यग्दर्शन मे दृढ है और जो सदाचारी है वही पडित है, वही विनयवान है, वही धर्मज्ञाता है, वही ऐसा मानव है जिसका दर्शन दूसरो को प्रिय है ।

सम्यक्त्वादिस्यसंपन्न कर्मध्वान्तं विनश्यति ।
आसन्नभव्यसत्वानां काललब्ध्यादिसन्निधौ ॥४३॥

भावार्थ :-- सम्यग्दर्शन रूपी सूर्य के प्रकाश से कर्मों का अन्धकार भाग जाता है । यह सम्यग्दर्शन निकट भव्यों को काललब्धि आदि की निकटता पर होता है ।

सम्यक्त्वभावशुद्धेन विषयासङ्गवर्जितः ।
कषायविरतेनैव भवदुःखं विहन्यते ।।५०।।

भावार्थ :-- जिसके भावों में सम्यग्दर्शन से शुद्धता है, व जो विषयों के संग से रहित है व कषायों का विजयी है वही ससार के दुःखों को नाश कर डालता है ।

प्रज्ञा तथा च मैत्री च समता करुणा क्षमा ।
सम्यक्त्वसहिता सेव्या सिद्धिसौख्यसुखप्रदा ।।२६७।।

भावार्थ :-- आत्मा व अनात्मा का विवेक सो ही प्रज्ञा है, प्राणी मात्र का हित सो ही मैत्री है, सर्व पर समान भाव समता है, दुःखियों पर दयाभाव करुणा है । यदि सम्यग्दर्शन सहित इनका सेवन किया जावे तो मोक्ष सुख का लाभ होता है ।

(२४) श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते है :--

कषायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पञ्चविषयाः ।
प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च ।।
दुरन्ते दुर्ध्याने विरतिविरहश्चेति नियतम् ।
स्रवन्त्येते पुंसां दुरितपटलं जन्मभयदम् ।।६-७।।

भावार्थ :-- प्रथम तो मिथ्यात्व रूप परिणाम, दूसरे अविरति रूप परिणाम, तीसरे काय के सहकारी पांचों इन्द्रियों के विषय, चौथे स्त्री कथा आदि प्रमादभाव, पांचवें क्रोधादि कषाय, छठे आर्तरौद्र दो अशुभ ध्यान, सातवें मन, वचन, काय की अशुभ क्रिया ये सब परिणाम प्राणियों को संसार में भयकारी पापकर्म के आश्रव के कारण हैं ।

द्वारपालीव यस्योच्चैर्विचारचतुरा मतिः ।
हृदि स्फुरति तस्याघसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ।।१०-८।।

भावार्थ :-- जिस पुरुष के हृदय में द्वारपाली के समान विवेक बुद्धि प्रगट है उसके पाप की उत्पत्ति स्वप्न में भी नही होगी । विवेक से वह हितकारी प्रवृत्ति ही करता है ।

विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः ।
यदाधत्ते तदैव स्यान्मुनेः परमसंवरः ।।११-८।।

भावार्थ :– जिस समय मुनि सर्व कल्पनाओं के समूह को छोड़कर अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप में मन को निश्चल करते हैं, उसी समय मुनि महाराज को परम संवर की प्राप्ति होती है, कर्म का आना रुकता है ।

सकलसमिति मूलः संयमोद्दामकाण्डः ।
प्रशमविपुलशाखो धर्म पुष्पावकीर्णः ।।
अविकलफलबन्धैर्बन्धुरो भावनाभि-
र्जयति जितविपक्षः संवरोद्दामवृक्षः ।।१२-८।।

भावार्थ :– ईर्या समिति आदि पांच समितियां जिस वृक्ष की जड़ हैं, सामायिक आदि संयम जिसका स्कंध है, शांत भाव रूपी जिसकी बड़ी बड़ी शाखाएँ हैं, उत्तम क्षमादि दश धर्म जिसके खिले हुए पुष्प है, ऐसा पूर्ण फल उत्पन्न करने वाली बारह भावनाओं से सुन्दर यह संवर रूपी महावृक्ष जगत में जयवंत हो जिसने अपने विपक्षी आश्रव को जीत लिया है ।

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवम् ।
सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्धयत्यङ्गी सुवर्णवत् ।।८-६।।

भावार्थ :– यद्यपि कर्म जीव के साथ अनादिकाल से लगे हुए हैं तो भी ध्यान की अग्नि के स्पर्श से शीघ्र उसी तरह जल जाते हैं जैसे सुवर्ण का मैल भस्म हो जाता है और यह आत्मा सुवर्ण के समान शुद्ध हो जाती है ।

तपस्तावद्वाह्यं चरति सुकृती पुण्यचरित-
स्ततश्चात्माधीनं नियतविषयं ध्यानपरमम् ।
क्षपत्यन्तर्लीनं चिरतरचितं कर्मपटलम्
ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयम् ।।६-६।।

भावार्थ :– पवित्र आचारधारी पुण्यात्मा पुरुष प्रथम अनशनादि बाहरी तपों का अभ्यास करता है फिर अन्तरंग छः तपों का अभ्यास करता है फिर निश्चल होकर आत्म ध्यान रूपी उत्कृष्ट तप को पालता है । इस ध्यान से चिरकाल के संचित कर्मों को नाश कर डालता है और परमानन्द से पूर्ण ज्ञान समुद्र में मग्न हो जाता है अर्थात् केवली अरहंत परमात्मा हो जाता है ।

सद्दर्शनमहारत्नं - विश्वलोकैकभूषणम् ।
मुक्तिपर्यंतकल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितम ॥५३ ६॥

भावार्थ :-- यह सम्यग्दर्शन महारत्न है, सर्व लोक मे अत्यन्त शोभायमान है । यही मोक्ष पर्यन्त सुख देने को समर्थ कहा गया है ।

चरणज्ञानयोर्बीजं यमप्रशमजीवितम् ।
तपःश्रुताद्यधिष्ठानं सद्‌भिः सद्दर्शनं मतम् ॥५४-६॥

भावार्थ -- यह सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्र का बीज है, यम और शात भाव का जीवन है, तप और स्वाध्याय का आधार है, ऐसा आचार्यो ने कहा है ।

अप्येकं दर्शन श्लाघ्यं चरणज्ञानविच्युतम् ।
न पुनः संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषदूषिते ॥५५-६॥

भावार्थ -- विशेष ज्ञान व चारित्र के न होने पर भी एक अकेला सम्यग्दर्शन ही हो तो भी प्रशसनीय है परन्तु मिथ्यादर्शन रूपी विष से दूषित ज्ञान और चारित्र प्रशसनीय नही है ।

अत्यल्पमपि सूत्रज्ञैर्दृष्टिपूर्वं यमादिकम् ।
प्रणीतं भवसम्भूतक्लेशप्राग्भारभेषजम् ॥५६-६॥

भावार्थ :-- आचार्यो ने कहा है कि यदि सम्यग्दर्शन के साथ मे थोडा भी यम, नियम, तपादि हो तो भी वह ससार के दु खो के भार को हलका करने की औषधि है ।

मन्ये मुक्त स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनं ।
यतस्तदेव मुक्त्यङ्गमग्रिमं परिकीर्तितम ॥५७-६॥

भावार्थ -- आचार्य कहते है कि जिसको निर्मल सम्यग्दर्शन मिल गया है वह वडा पुण्यात्मा है, वह मानो मुक्तरूप ही है क्योकि यही मोक्ष का प्रधान कारण कहा गया है ।

प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरणज्ञानविश्रुता ।
अपि जीवा जगत्यस्मिन्न पुनर्दर्शनं विना ॥५८-६॥

भावार्थ :-- इस जगत में जो ज्ञान और चारित्र के पालने मे प्रसिद्ध महात्मा है वे भी सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष को नही पा सकते है ।

अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं
जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम् ।
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं
पिबत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ॥५६-६॥

भावार्थ :-- आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवों ! तुम सम्यग्दर्शन रूपी अमृत को पीओ, यह अनुपम अतीन्द्रिय सहज सुख का भंडार है, सर्व कल्याण का बीज है, संसार समुद्र से पार करने को जहाज है, भव्य जीव ही इसको पा सकते हैं । यह पाप रूपी वृक्ष के काटने को कुठार है, पवित्र तीर्थों में यही प्रधान है तथा मिथ्यात्व का शत्रु है ।

ध्यानशुद्धिं मनःशुद्धिः करोत्येव न केवलम् ।
विच्छिनत्त्यपि निःशङ्कं कर्मजालानि देहिनाम् ॥१५-२२॥

भावार्थ :-- मन की शुद्धता केवल ध्यान की शुद्धि ही नहीं करती है किन्तु निश्चय से संसारी प्राणियों के कर्म के जालों को काट देती है ।

यथा यथा मनःशुद्धिर्मुनेः साक्षात्प्रजायते ।
तथा तथा विवेकश्रीर्हृदि धत्ते स्थिरं पदम् ॥१८-२२॥

भावार्थ :-- मुनि के मन की शुद्धता जैसे जैसे साक्षात् हो जाती है वैसे वैसे भेदज्ञान रूपी लक्ष्मी हृदय में स्थिरता से विराजती जाती है ।

शमश्रुतयमोपेता जिताक्षाः शंसितव्रताः ।
विदन्त्यनिर्जितस्वान्ताः स्वस्वरूपं न योगिनः ॥३२-२२॥

भावार्थ :-- जो योगी शांतभाव, शास्त्र ज्ञान तथा यम नियम को पालते हैं वे जितेन्द्रिय हैं तथा प्रशंसनीय व्रतों के धारी हैं वे भी यदि मन को नहीं जीतें तो आत्म स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकते ।

विलीनविषयं शान्तं निःसङ्गं त्यक्तविक्रियम् ।
स्वस्थं कृत्वा मनः प्राप्तं मुनिभिः पदमव्ययम् ॥३३-२२॥

भावार्थ :-- जिन मुनियों का चित्त इन्द्रियों के विषयों से छूट गया है व जिनका मन शांत है, परिग्रह की मूर्छा से रहित है, निर्विकार है तथा आत्मा में स्थित है, उन्हीं मुनियों ने अविनाशी पद को प्राप्त किया है ।

मोहपङ्के परिक्षीणे प्रशान्ते रागविभ्रमे ।
पश्यन्ति यमिनः स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ॥११-२३॥

भावार्थ :– मोहरूपी कीचड़ के चले जाने पर तथा रागादिक भावों के शांत होने पर मुनिगण अपने आत्मा में ही परमात्मा के स्वरूप को अवलोकन करते हैं ।

महाप्रशमसंग्रामे शिवश्रीसंगमोत्सुकैः ।
योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः ॥१२-२३॥

भावार्थ :– मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति की भावना करने वाले योगियों ने महा शांतिमय युद्ध के भीतर अज्ञान रूपी योद्धा को गिरा दिया । बिना राग के जीते मोक्ष का लाभ कठिन है ।

नित्यानंदमयीं साध्वीं शाश्वतीं चात्मसंभवाम् ।
वृणोति वीतसंरंभो वीतरागः शिवश्रियम् ॥२४-२३॥

भावार्थ :– रागादि के विकल्पों से रहित वीतरागी साधु ही नित्य आनन्दमयी, सुन्दर, अविनाशी, अपने आत्मा से ही प्राप्त मोक्षरूपी लक्ष्मी को वरता है ।

स पश्यति मुनिः साक्षाद्विश्वमध्यक्षमञ्जसा ।
यः स्फोटयति मोहाख्यं पटलं ज्ञानचक्षुषा ॥३३-२३॥

भावार्थ :– जो कोई मुनि मोह के परदे को दूर कर देता है वही ज्ञान रूपी नेत्र से सर्व जगत को प्रत्यक्ष एक साथ देख लेता है ।

यस्मिन्सत्येव संसारी यद्वियोगे शिवीभवेत् ।
जीवः स एव पापात्मा मोहमल्लो निवार्यताम् ॥३५-२३॥

भावार्थ :– हे आत्मन् ! जिस पापी मोह मल्ल के जीते रहते हुए यह जीव संसारी होता हुआ भ्रमता है व जिसके नाश हो जाने पर यह मोक्ष का स्वामी हो जाता है उस मोह मल्ल को दूर कर ।

मोहपङ्के परिक्षीणे शीर्णे रागादिबन्धने ।
नृणां हृदि पदं धत्ते साम्यश्रीर्विश्ववन्दिता ॥१०-२४॥

भावार्थ :– जब मोह की कीच सूख जाती है व राग द्वेषादि के बन्धन कट जाते हैं तब ही मानवों के हृदय में जगत से वंदनीय समता रूपी लक्ष्मी अपना पग रखती है ।

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम् ।
अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः ।।२०-२४।।

भावार्थ :– जो मुनि अपने आत्मा के ध्यान में लवलीन हैं उनके साम्य-भाव के प्रभाव से उनके पास वैर करने वाले क्रूर जीव भी शांत हो जाते हैं ।

सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं ।
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम् ।।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति ।
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ।।२६-२४।।

भावार्थ :– जिस योगी का मोह क्षय हो गया है व जो क्रोधादि कलुष-भावों को शांत कर चुके हैं व जो समताभाव में आरूढ़ हैं उस योगी के निकट हिरणी तो सिंह के बच्चे को पुत्र की बुद्धि से प्यार करती है गऊ बाघ के बच्चे को खिलाती है, बिल्ली हंस के बच्चे को प्रेम से स्पर्श करती है तथा मोरनी सर्प के बच्चे को प्यार करती है । इसी तरह अन्य प्राणी भी जिनका जन्म से वैर होता है वे मद रहित हो वैर छोड़ देते हैं ।

अनादिविभ्रमोद्भूतं रागादितिमिरं घनम् ।
स्फुटयत्याशु जीवस्य ध्यानार्कः प्रविजृम्भितः ।।५-२५।।

भावार्थ :– अनादि काल के मिथ्या भ्रम से उत्पन्न हुआ रागादि अंधकार बहुत घन है । जब जीव के भीतर ध्यानरूपी सूर्य प्रगट होता है तब वह अंधकार शीघ्र ही विलय हो जाता है ।

(२५) श्री ज्ञानभूषण तत्वज्ञानतरंगिणी में कहते हैं :–

स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं भेदज्ञानं विना कदा ।
तपः श्रुतवतां मध्ये न प्राप्तं केनचिद् क्वचित् ।।११-८।।

भावार्थ :– यह अपना शुद्ध चैतन्य स्वभाव भेदज्ञान के बिना कभी भी कहीं भी किसी भी तपस्वी व शास्त्रज्ञ ने नहीं पाया है । भेदज्ञान से स्वात्मलाभ होता है ।

क्षयं नयति भेदज्ञश्चिद्रूपप्रतिघातकं ।
क्षणेन कर्मणां राशिं तृणानां पावको यथा ।।१२-८।।

भावार्थ :– जिस तरह अग्नि तृणों की राशि को क्षणमात्र में जला देती है उसी तरह भेदज्ञानी महात्मा चैतन्य स्वरूप की घातक कर्मों की राशि को क्षणमात्र में भस्म कर देता है।

संवरो निर्जरा साक्षात् जायते स्वात्मबोधनात् ।
तद्भेदज्ञानतस्तस्मात्तच्च भाव्यं मुमुक्षुणा ॥१४-८॥

भावार्थ :– संवर तथा निर्जरा साक्षात् अपने आत्मा के ज्ञान से होती है। वह आत्मज्ञान भेदज्ञान से होता है। इसलिए मोक्ष के इच्छुक को उचित है कि वह भेदज्ञान की भावना करता रहे।

ममेति चिंतनाद् बंधो मोचनं न ममेत्यतः ।
बंधनं द्व्यक्षराभ्यां च मोचनं त्रिभिरक्षरैः ॥१३-१०॥

भावार्थ :– पर पदार्थ मेरा है ऐसी भावना से कर्मबन्ध होता है, तथा पर पदार्थ मेरा नही है इस भावना से मुक्ति होती है। मम इन दो अक्षरो से बंध है, नमम इन तीन अक्षरो से मुक्ति है।

नास्रवो निर्ममत्वेन न बंधोऽशुभकर्मणां ।
नासंयमो भवेत्तस्मान्निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥१८ १०॥

भावार्थ .– पर पदार्थ मेरा नही है इस भावना से न अशुभ कर्मा का आश्रव होता है न उनका बध होता है न कोई असयम भाव ही हाता है इसलिये निर्ममत्व की सदा भावना करनी योग्य है।

श्रद्धानं दर्शनं सप्ततत्त्वानां व्यवहारतः ।
अष्टांगं त्रिविधं प्रोक्तं तदौपशमिकादित. ॥६-१२॥

भावार्थ :– जीवादि सात तत्त्वो का श्रद्धान करना व्यवहार नय मे सम्यग्दर्शन है। वह नि.शकिनादि आठ गुण सहित होना चाहिये। उसके औपशमिक, क्षयोपशमिक क्षायिक ये तीन भेद है।

स्वकीये शुद्धचिद्रूपे रुचिर्या निश्चयेन तत् ।
सद्दर्शनं मतं तज्ज्ञैः कर्मेंधनहुताशनं ॥८-१२॥

भावार्थ :– अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में जो रुचि, उसे निश्चय सम्यग्दर्शन, तत्वज्ञानियो ने कहा है। यह सम्यग्दर्शन कर्मो के ईंधन को जलाने के लिये अग्नि के समान है।

संक्लेशो कर्मणां बंधोऽशुभानां दुःखदायिनां ।
विशुद्धी मोचनं तेषां बंधोः वा शुभकर्मणां ॥१४ १३॥

भावार्थ :-- दुखित क्लेशित परिणामो से दुखदायक पाप कर्मो का बध होता है, विशुद्ध परिणामो से उन पाप कर्मों की निर्जरा होती है अथवा शुभ कर्मो का बन्ध होता है ।

यावद्बाह्यांतरान् संगान् न मुंचंति मुनीश्वराः ।
तावदायाति नो तेषां चित्स्वरूपे विशुद्धता ॥२१-१३॥

भावार्थ – जब तक मुनिगण बाहरी व भीतरी परिग्रहो को नही त्यागते है तब तक उनकी चैतन्य स्वरूप मे निर्मलता नही हो सकती है ।

कारणं कर्मबंधस्य परद्रव्यस्य चिंतनं ।
स्वद्रव्यस्य विशुद्धस्य तन्मोक्षस्यैव केवलं ॥१६-१५॥

भावार्थ :-- पर द्रव्य की चिता कर्म बन्ध करने वाली है जबकि शुद्ध आत्म द्रव्य की चिन्ता मात्र कर्मों से मुक्ति देने वाली है ।

(२६) प बनारसीदासजी नाटक समयसार मे कहते है –

[सवैया तेईसा]

भेद विज्ञान जग्यो जिन्हके घट, सीतल चित्त भयो जिम चन्दन ।
केलि करे शिवमारग मे, जगमाहि जिनेश्वर क लघु नन्दन ॥
सत्य स्वरूप सदा जिन्ह के, प्रगटयो अवदात मिथ्यात निकन्दन ।
शात दशा तिनकी पहिचानि, करे कर जोरि बनारसि बदन ॥६॥

[सवैया इकतीसा]

स्वारथ के साचे परमारथ के साचे चित्त,
साचे साचे बैन कहे साचे जैनमती है ।
काहू के विरुद्धी नाहि परजाय बुद्धि नाँहि,
आतमगवेशी न गृहस्थ है न यती है ॥
रिद्धिसिद्धि वृद्धी दीसै घट मे प्रगट सदा,
अन्तर की लछिसौ अजाची लक्षपति है ।
दास भगवत के उदास रहै जगत सौ,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती है ॥७॥

जाकै घट प्रगट विवेक गणधर कोसो,
हिरदे हरख महा मोह को हरतु है।
सांचा सुख मानें निज महिमा अडोल जानें,
आपुही में अपनो स्वभाव ले धरतु है ।।

जैसे जल कर्दम कतकफल भिन्न करे,
तैसे जीव अजीव विलच्छन करतु है।
आतम सकति साधे ग्यान को उदो आराधे,
सोई समकिती भवसागर तरतु है ।।८।।

शुद्ध नय निहचै अकेला आप चिदानन्द,
अपने ही गुण परजाय को गहत है।
पूरण विज्ञान घन सो है व्यवहार मांहि,
नव तत्वरूपी पंच द्रव्य में रहत है ।।

पंच द्रव्य नव तत्व न्यारे जोव न्यारो लखे,
सम्यक दरस यह और न गहत है।
सम्यक दरस जोई आतम सरूप सोई,
मेरे घट प्रगटा बनारसी कहत है ।।९।।

[कवित्त]

सतगुरु कहे भव्य जीवन सो, तोरहु तुरत मोह की जेल।
समकित रूप गहो अपनो गुण, करहु शुद्ध अनुभव को खेल ।।
पुद्गलपिंड भाव रागादिक, इनसो नहीं तिहारो मेल।
ये जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन, जैसे भिन्न तोय अरु तेल ।।१२।।

[सवैया इकतीसा]

धर्म में न संशै शुभ कर्म फलकी न इच्छा,
अशुभ को देखि न गिलानि आने चित्त में।
सांचि दृष्टि राखे काहू प्राणी को न दोष भाखे,
चंचलता भानि थिति ठाणे बोध चित्त में ।।

प्यार निज रूपसों उच्छाह की तरंग उठे,
एह आठों अंग जब जागे समकित में ।
ताहि समकित को धरे सो समकितवंत,
वेहि मोक्ष पावे वो न आवे फिर इत में ।।५६।।

जबलग जीव शुद्ध वस्तु को विचारे ध्यावे,
तबलग भोग सों उदासी सरवंग है ।
भोग में मगन तब ज्ञान की जगन नांहि,
भोग अभिलाष की दशा मिथ्यात अंग है ।।
ताते विषै भोग में मगन सो मिथ्याती जीव,
भोग सों उदासि सो समकित अभंग है ।
ऐसे जानि भोग सों उदासी व्है सुगति साधे,
यह मन चंग तो कठोठी मांहि गंग है ।।१२।।

जिन्हके सुमति जागी भोगसों भये विरागी,
परसंग त्यागि जे पुरुष त्रिभुवन में ।
रागादिक भावनिसों जिन्ह की रहनि न्यारी,
कबहूं मगन व्है न रहे धाम धन में ।।
जो सदैव आपकों विचारे सरवांग शुद्ध,
जिन्ह के विकलता न व्यापे कछु मन में ।
तेई मोक्ष मारग के साधक कहावे जीव,
भावे रहो मंदिर में भावे रहो बन में ।।१६।।

[सवैया तेईसा]

जो कबहूं यह जीव पदारथ, औसर पाय मिथ्यात मिटावे ।
सम्यक् धार प्रवाह व्हे गुण, ज्ञान उदै मुख ऊरध धावे ।।
तो अभिअंतर दर्वित भावित, कर्म कलेश प्रवेश न पावे ।
आतम साधि अध्यातम के पथ, पूरण व्है परब्रह्म कहावे ।।४।।
भेदि मिथ्यात्वसु वेदि महारस, भेदि विज्ञानकला जिनि पाई ।
जो अपनी महिमा अवधारत, त्याग करे उरसों जु पराई ।।

उद्धत रीत बसे जिनके घट, होत निरन्तर ज्योति सवाई ।
ते मतिमान सुवर्ण समान, लगे तिनको न शुभाशुभ काई ।।

[सवैया इकतीसा]

जाके परकाश मे न दीसे राग द्वेष मोह,
आश्रव मिटत नहि बध को तरस है ।
तिहु काल जामे प्रतिबिम्बित अनन्त रूप,
आपहु अनन्त सत्ताऽनन्तते सरस है ।
भावश्रुत ज्ञान परिणाम जो विचारि वस्तु,
अनुभौ करै न जहा वाणी को परस है ।
अतुल अखण्ड अविचल अविनाशी धाम,
चिदानन्द नाम ऐसो सम्यक् दरस है ।।१५।।

जैसे फिटकरी लोद हरडे की पुट बिना,
श्वेत वस्त्र डारिये मजीठ रग नीर मे ।
भीग्या रहे चिरकाल सर्वथा न होइ लाल,
भेदे नहि अन्तर सुपेदी रहे चीर मे ।।
तैसे समकितवत राग द्वेष मोह बिन,
रहे निशि वासर परिग्रह की भीर म ।
पूरब करम हरे नूतन न बध करे,
जाचे न जगत सुख राचे न शरीर म ।।३३।।

जैसे काहू देश को वसैया बलवत नर,
जगल मे जाइ मधु छत्तो को गहत है ।
वाको लपटाय चहु ओर मधु मच्छिका पै,
कबल की ओट म अडकित रहत है ।।
तैसे समकिती शिव सत्ता को स्वरूप साधे,
उदैक उपाधी को समाधिसी कहत है ।
पहिरे सहज को सनाह मन म उच्छाह,
ठाने सुख राह उदवेग न लहत है ।।३४।।

[सवैया इकतीसा]

केई मिथ्यादृष्टि जीव धरे जिन मुद्रा भेष,
क्रिया मे मगन रहे कहे हम यती है।
अतुल अखण्ड मल रहित सदा उद्योत,
ऐसे ज्ञान भाव सो विमुख मूढ मती है॥
आगम सभाले दोष टाले व्यवहार भाले,
पाले व्रत यद्यपि तथापि अविरती है।
आपको कहावे मोक्ष मारग के अधिकारी,
मोक्ष से सदैव रुष्ट दुष्ट दुरगति है॥११८॥

[सवैया इकतीसा]

चाकसो फिरत जाको ससार निकट आयो,
पायो जिन्हे सम्यक् मिथ्यात्व नाश करिके।
निरद्वद मनसा सुभूमि साधि लीनी जिन्हे,
कीनी मोक्ष कारण अवस्था ध्यान धरिके॥
सो ही शुद्ध अनुभौ अभ्यासी भयो,
गयो ताको करम भरम रोग गरिके।
मिथ्यामति अपनो स्वरूप न पिछाने ताते,
डोले जग जाल मे अनत काल भरिके॥३४॥

जाके घट अ तर मिथ्यात अन्धकार गयो,
भयो परकाश शुद्ध समकित भानुको।
जाकी मोह निद्रा घटि ममता पलक फटि,
जान्यो निज मरम अवाची भगवान को॥

जाको ज्ञान तेज बग्यो उद्दिम उदार जग्यो,
लग्यो सुख पोष समरस सुधा पान को।
ताही सुविचक्षण को ससार निकट आयो,
पायो तिन मारग सुगम निरवाण को॥३६॥

जाके हिरदे में स्यादवाद साधना करत,
शुद्ध आतम को अनुभौ प्रगट भयो है ।
जाके संकल्प विकलप के विकार मिटि,
सदाकाल एक भाव रस परिणयो है ।।
जाते बन्ध विधि परिहार मोक्ष अंगीकार,
ऐसो सुविचार पक्ष सोउ छांडि दियो है ।
जाकी ज्ञान महिमा उद्योत दिन दिन प्रति,
सोही भवसागर उलंघि पार गयो है ।।४०।।

(२७) पं. द्यानतरायजी द्यानतविलास में कहते हैं :-

[छप्पय]

नमौं देव अरहंत, अष्टदश दोष रहित है ।
बंदौं गुरु निरग्रन्थ, ग्रन्थ ते नाहिं गहत हैं ।।
बंदौं करुनाधर्म, पापगिरि दलन वज्र वर ।
बंदौं श्रीजिनवचन, स्यादवादांक सुधाकर ।।
सरधान द्रव्य छह तत्वकौ, यह सम्यक विवहार मत ।
निहचैं विसुद्ध आतम दरब, देव धरम गुरु ग्रन्थ नुत ।।६२।।

[सवैया इकतीसा]

जीव जैसा भाव करै तैसा कर्मबन्ध परै,
तीव्र मध्य मंद भेद लीने विस्तारसों ।
बंधे जैसा उदय आवै तैसा भाव उपजावै,
तैसो फिर बन्धे किम छूटत संसारसों ।।
भाव सारू बंध होय बंध सारू उदय जोय,
उदय भाव भवभंगी साधी बढ़वारसों ।
तीव्र मंद उदै तीव्र भाव मूढ धारत हैं,
तीव्र मंद उदै मंद भाव हो विचारसों ।।३६।।

[कवित्त]

जीवादिक भावन की सरधा, सो सम्यक निज रूप निहार ।
जा विन मिथ्या ज्ञान होत है, जा विन चारित मिथ्या धार ।।

दुरनय को परवेश जहां नहिं, संशय विभ्रम मोह निवार ।
स्वपर स्वरूप यथारथ जानै, सम्यग्ज्ञान अनेक प्रकार ।।४६।।

[सवैया इकतीसा]

इष्ट अनिष्ट पदारथ जे जगतमांहि;
तिन्हें देख राग दोष मोह नाहीं कीजिये ।
विषयसेती उचटाइ त्याग दीजिये कषाय,
चाह दाह धोय एक दशामांहि भीजिये ।।
तत्वज्ञान को संभार समता सरूप धार,
जीत के परीसह आनंद सुधा पीजिये ।
मन को सुवास आनि नानाविध ध्यान ठानि,
आपनी सुवास आप आपमाहिं भीजिये ।।५१।।

जीव और पुद्गल धरम अधरम व्योम,
काल एई छहों द्रव्य जगत के निवासी हैं ।
एक एक दरब में अनंत अनंत गुण,
अनंत अनंत परजाय के विकासी हैं ।।
अनंत अनंत शक्ति अजर अमर सबै,
सदा असहाय निज सत्ता के विलासी हैं ।
सर्व सर्व गेयरूप परभाव हेयरूप,
शुद्धभाव उपादेय यातें अविनासी हैं ।।१००।।

ग्रन्थन के पढ़ें कहा पर्वत के चढ़ें कहा,
कोटि लच्छि बढ़ें कहा कहा रंकपन में ।
संजम आचरें कहा मौनव्रत धरें कहा,
तपस्या के करें कहा कहा फिरें बन में ।।
छंद करें नये कहा जोगासन भये कहा,
दानहू के दये कहा बैठें साधुजन में ।
जौलों ममता न छूटै मिथ्याडोरी हू न टूटै,
ब्रह्मज्ञान बिना लीन लोभ की लगन में ।।५५।।

[सवैया तेईसा]

मौन रहै बनवास गहै, वर काम दहैं जु सहै दुख भारी ।
पाप हरै सुभ रीति करै जिनवैन धरै हिरदे सुखकारी ।।
देह तपै बहु जाप जपै, न वि आप जपै ममता विसतारी ।
ते मुनि मूढ करैं जगरूढ, लहै निजगेह न चेतनधारी ।।५६।।

(२८) भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास मे कहते हैं :–

[सवैया इकतीसा]

भौथिति निकद होय कर्मबध मद होय,
प्रगटै प्रकाश निज आनद के कद को ।
हितको दृढाव होय विनैको बढाव होय,
उपजै अकूर ज्ञान द्वितीया के चद को ।।
सुगति निवास होय दुर्गति को नाश होय,
अपने उछाह दाह करै मोहफद को ।
सुख भरपूर होय दोष दुख दूर होय,
यातै गुणवृन्द कहै सम्यक सुछन्द को ।।८।।

[सवैया तेईसा]

जीव अकर्ता कह्यो परको, परको करता पर ही परवान्यो ।
ज्ञान निधान सदा यह चेतन, ज्ञान करै न करै कछु आन्यो ।।
ज्यो जग दूध दही घृत तक्रकी, शक्ति धरै तिहुँ काल बखान्यो ।
कोऊ प्रवीन लखै दृगसेति सु, भिन्न रहै वपुसा लपटान्यो ।।२३।।

[सवैया इकतीसा]

केवल प्रकाश होय अधकार नाश होय,
ज्ञान को विलास होय और लो निवाहवी ।
सिद्ध मे सुवास होय, लोकालोक भास होय,
आपु रिद्ध पास होय और की न चाहवी ।।
इन्द्र आय दास होय अरिन को त्रास होय,
दर्व को उजास हाय इष्टनिधि गाहिवी ।
सन्व सुखराश होय सत्य को निवास होय,
सम्यक भयेतै होय ऐसी सत्य साहिवी ।।९१।।

[सवैया तेईसा]

जाके घट समकित उपजत है, सो तौ करत हंसकी रीत ।
क्षीर गहत छाडत जलको सग, वाके कुल की यहै प्रतीत ।।
कोटि उपाय करो कोउ भेद सो, क्षीर गहै जल नेकु न पीत ।
तैसे सम्यकवत गहै गुरण, घट घट मध्य एक नयनीत ।।६२।।
सिद्धसमान चिदानद जानिके, थापत है घटके उर बीच ।
वाके गुरण सब बाहि लगावत, और गुरणहि सब जानत कीच ।।
ज्ञान अनत विचारत अतर, राखत है जियके उर सीच ।
ऐसे समकित शुद्ध करत है, तिनतै होवत मोक्ष नगीच ।।६३।।
नर सम्यकवत करै अनुभव, नित आतमसो हित जोडन को ।
परमारथ साधि यहै चित्तवै, विषया सुखसो मन मोडन को ।।
घट मे समता प्रगटी तिहतै, न डरै लखि कर्म झकोरन को ।
निज शुद्ध सरूपहि ध्यावत है, तब ध्यावत हे शिव तोरन को ।।६।।

[कवित्त[

मिथ्या भाव जौलो तौलो भ्रमसो न नातो टूटै,
मिथ्या भाव जौलो तौलो कर्म सो न छूटिये ।
मिथ्या भाव जौलो तौलो सम्यक न ज्ञान होय,
मिथ्याभाव जौलो तोलो अरि नाहि कूटिये ।।
मिथ्या भाव जोलो तौलो मोक्षको अभाव रहै,
मिथ्याभाव जौलो तौलो परसग जूटिये ।
मिथ्यात्व को विनाश होत प्रगटै प्रकाश जोत,
सूधौ मोक्ष पथ सूधै नेकु न अहूटिये ।।१२।।

[सवैया इकतीसा]

बापुरे विचारे मिथ्यादृष्टि जीव कहा जानै,
कौन जीव कौन कर्म कैसे के मिलाप है ।
सदा काल कर्मनसो एकमेक होय रहे,
भिन्नता न भासी कौन कर्म कौन आप है ।।

यह तो सर्वज्ञ देव देख्यो भिन्न भिन्न, रूप,
चिदानद ज्ञानमयी कर्म जड व्याप है।
तिह भाति मोह हीन जाने सरधानवान,
जैसे सर्वज्ञ देखो तैसो ही प्रताप है ।।१०।।

[छप्पय]

जैनधर्म को मर्म, दृष्टि समकिततें सूझै।
जैनधर्म को मर्म, मूढ कैसे कर बूझै ।।
जैनधर्म को मर्म, जीव शिवगामी पावै।
जैनधर्म को मर्म, नाथ त्रिभुवन को गावै।
यह जैनधर्म जग मे प्रगट, दया दुहू जग पेखिये।
'भैया' सुविचक्षन भविक जन, जैनधर्म निज लेखिये ।।३।।

[सवैया तेईसा]

जो जिनदेव की सेव करै जग, ता जिव देव सो आप निहारै।
जो शिवलोक बसै परमातम, तासम आतम शुद्व विचारै ।।
आप मे आप लखै अपनो पद, पाप रु पुण्य दुहू निरवारै।
सो जिनदेव को सेवक है जिय, जो इहि भाँति क्रिया करनारै ।।१२।।

[छप्पय]

राग दोष अरु मोह, नाहि निजमाहि निरक्खत।
दर्शन ज्ञान चरित्र, शुद्ध आतम रस चक्खत ।।
परद्रव्यनसो भिन्न, चिन्ह चेतनपद मडित।
वेदत सिद्ध समान, शुद्ध निज रूप अखडित ।।
सुख अनन्त जिहि पद वसत, सो निह्चै सम्यक महत।
'भैया' सुविचक्षन भविक जन, श्री जिनन्द इहि विधि कहत ।।१४।।

आठवां अध्याय

सम्यग्ज्ञान और उसका महात्म्य

यह बताया जा चुका है कि यह संसार असार है, शारीरिक तथा मानसिक दुःखों का सागर है, शरीर अशुचि, क्षणभंगुर है, इन्द्रिय भोग अतृप्ति कारी, तृष्णावर्द्धक व नाशवत है। सहज सुख आत्मा का स्वभाव है सुख का साधन स्वात्मानुभव है या आत्मध्यान है। यह आत्मध्यान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता रूप है निश्चय से ये तीनों ही एक आत्मरूप ही है। व्यवहार से ये भिन्न भिन्न कहलाते हैं व निश्चय के साधन रूप से व्यवहार का बहुत विस्तार है। इन तीनों में से सम्यग्दर्शन के व्यवहार व निश्चय का कुछ स्वरूप आत्मानन्द के पिपासुओं के लिये किया जा चुका है। अब सम्यग्ज्ञान का निश्चय व्यवहार कथन इस अध्याय में किया जाता है।

जैसे सम्यग्दर्शन गुण आत्मा का स्वभाव है वैसे ज्ञान गुण भी आत्मा का स्वभाव है। सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। निश्चय से ज्ञान स्वयं सम्यक् है; यथार्थ है, क्योंकि ज्ञान एक ऐसा विशेष गुण है जो पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन पाच द्रव्यों में नही पाया जाता है। इसीलिये वे जड़ है किन्तु आत्मा में पाया जाता है। वे सब अन्धकार रूप हैं। ज्ञान ही एक प्रकाशरूप है। ज्ञान का स्वभाव सूर्य के प्रकाश के तुल्य है। जैसे सूर्य एक ही क्षण में जगत के पदार्थो को प्रकाश करता है वैसे ज्ञान भी सर्व ही जानने योग्य को एक काल में प्रकाश करता है।

"सर्व ज्ञेय जानाति तत् ज्ञानं" जो सर्व ज्ञेयों को जाने वह ज्ञान है। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, ज्ञायक स्वभाव है, सिद्ध शुद्ध आत्मा के सदृश ही हर एक आत्मा का स्वभाव है। प्रदेशों की भिन्नता की अपेक्षा हर एक आत्मा की सत्ता भिन्न २ है परन्तु गुण व स्वभावो की अपेक्षा में परस्पर कोई अन्तर नही है। सर्व ही सिद्ध तथा ससारी जीव समान है, परमात्मा या

सिद्धात्मा को सर्वज्ञ व सर्वदर्शी या अनन्तज्ञान व अनंत दर्शन से युक्त इसीलिये कहते हैं कि उनके ज्ञान गुण पर कोई आवरण या परदा या मैल नहीं है – वह शुद्ध है – ज्ञान दीपक के प्रकाश की तरह स्वपर प्रकाशक होता है । ज्ञान अपने द्रव्य गुणी आत्मा को भी दिखाता है व अन्य सर्व पदार्थों को भी दिखाता है ।

क्रम रहित सर्व को जान लेना यह ज्ञानगुण का स्वभाव है । इसीलिये इस ज्ञान को अनुपम, अद्भुत व महान कहते हैं । जिनको ज्ञानावरण कर्म के उदय से अर्थात् क्षयोपशम से कुछ ज्ञान की शक्ति प्रगट है कुछ अप्रगट है उनको जानने का प्रयास करना होता है तब वह ज्ञान क्रम से पदार्थो को जानता है । तथापि जान लेने के पीछे धारणा में अनेक पदार्थों का ज्ञान एक साथ अल्प-ज्ञानी के भी पाया जाता है ! जब वह अल्पज्ञानी उसका व्यवहार मन, वचन, काय से करता है तब वह क्रम से होता है परन्तु भंडार में सचय तो एक साथ अनेक पदार्थों का ज्ञान रहता है । जैसे एक पचास वर्ष का विद्वान है, जो संस्कृत और अंग्रेजी में एम. ए. है, बहुतसा पूर्वीय व पाश्चात्य साहित्य को पढ़ चुका है, वह एक साथ संस्कृत अंग्रेजी के ज्ञान को व वैद्यक को, व्यापार को, मकान बनाने की कला को, व्याख्यान की कला को, लिखने की कला को, तास, चौपड़, सतरंज खेलने की कला को, अपने संबंधियों के नामठामादि इतिहास को, नाना देशों के भूगोल को देखे हुए समझे हुए अनेक पदार्थो के स्वरूप को, गान विद्या को, बाजा बजाने को, तैरने को, व्यायाम को, खड्ग चलाने को, पूजा पाठ को, आत्मध्यान की कला को, जीवन की अनुभूत घटनाओं को इत्यादि बहुत से विषयों को एक साथ ज्ञान में भंडार के समान रख रहा है ।

यदि कोई महात्मा निमित्त ज्ञानी है, ज्योतिषी है या अवधिज्ञानी है तो वह भविष्य की बहुत सी बातों को भी अपनी व पराई जानकर ज्ञान के भडार में रख लेता है । योगाभ्यास के बल से जितना जितना ज्ञान का विकास होता जाता है उतना उतना ज्ञान में त्रिकाल गोचर ज्ञान का भंडार अधिक अधिक सचय होता है । सचित ज्ञान अक्रम ही विराजमान रहता है । एक मति व श्रुतज्ञानी कई भाषाएं जानता है । संस्कृत पुस्तक पढने का काम पड़ता है तब संस्कृत पढ़ने लगता है, गुजराती पढ़ने का काम पड़ता है, तब गुजराती पढ़ने

लगता है, मराठी पढ़ने का काम पड़ता है तब मराठी पढ़ने लगता है, इंग्लिश पढ़ने काम पड़ता है तब इंग्लिश पढ़ता है। एक व्याख्याता किसी विषय पर भाषण करता है, उसने अनेक पुस्तकों को पढ़कर एक विषय पर जो ज्ञान संचय किया है वह सब उसके ज्ञान में मौजूद है एक साथ विद्यमान है, उसी में से धीरे २ वह वक्ता बहुतसा ज्ञान अपने १।। व २ घंटे के वक्तव्य से प्रकाशित कर देता है।

ज्ञान का प्रकाश मन द्वारा सोचने में, वचन द्वारा कहने में, काय द्वारा संकेत करने में अवश्य क्रम से होगा, परन्तु आत्मा के भंडार में ज्ञान का संचय एक साथ बहुतसा सा रहता है यह बात हर एक प्रवीण पुरुष समझ सकता है।

यह बात भी ठीक है कि अपने अपने अपने ज्ञान की प्रगटता के अनुसार तीन काल का ज्ञान भी किसी मर्यादा तक अल्प ज्ञानियों के पाया जाता है। एक स्त्री रसोई बनाने का प्रबन्ध कर रही है, वह जानती है कि मैं क्या कर रही हूं, क्या २ सामान एकत्र कर रही हूँ यह वर्तमान का ज्ञान है। क्या २ सामान एकत्र कर चुकी हूं व यह सामान कैसे व कब आया था व घर में कहां रक्खा था, जहां से लाकर अब रसोई में रक्खा है। ऐसा भूतकाल का ज्ञान भी है। तथा रसोई में अमुक २ वस्तु बनानी है, इतनी तैयार करनी है, इतने मानवों को जिमाना है, अमुक २ जीमेंगे, रसोई के पीछे मुझे कपड़े सीना है, अनाज फटकना है, पुस्तक पढ़ना है, अमुक के घर सम्वन्धी होने के कारण एक रोगी की कुशल पूछने जाना है, अमुक से ये बातें करनी हैं ऐसा बहुत सा भविष्य का ज्ञान भी है। तीन काल एक साथ ज्ञान हुए बिना सुनार गहना नहीं घड़ सकता, थवई या इन्जीनियर मकान नहीं बना सकता, अध्यापक पढ़ा नहीं सकता, एक यात्री किसी स्थान पर पहुंच नहीं सकता। पर्वत की चोटी पर पहुँचकर एक मन्दिर के दर्शन करने है, मैं अमुक स्थान से चलकर यहां आया हूं, पर्वत का मार्ग दो घंटे में अमुक २ मार्ग से तय करूंगा, यह सब ज्ञान एक साथ होता है। इस ज्ञान को लिए हुए ही वह पर्वत के शिखर पर पहुँच जाता है।

अल्पज्ञानी को अपने ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार थोड़ा त्रिकालज्ञान होता है तब सर्वज्ञ को व अनंतज्ञानी को सर्व आवरण से रहित

निर्मल प्रकाशमान ज्ञानज्योति को त्रिकालगोचर सर्व विश्व के अनंत द्रव्यों का व उनके गुणों का व उनकी पर्यायों का ज्ञान हो जावे तो इसमें कोई आश्चर्य की व संशय की बात नहीं है। शुद्ध ज्ञान भी यदि कुछ न जाने तो वह ज्ञान शुद्ध ही क्या हुआ, वह तो अवश्य कुछ या उतने अंश अशुद्ध हुआ जितने अंश वह नहीं जानता है। शुद्ध ज्ञान दोपहर के सूर्य के समान विश्व व्यापी ज्ञेय को एक साथ जानता है, एक साथ प्रकाश किये हुए है। उसको कुछ जानना शेष नहीं रहा।

सर्वज्ञत्व की शक्ति आत्मज्ञानी में भी है। जितना जितना अज्ञान का परदा हटता जाता है उतना उतना ज्ञान का विकास या ज्ञान का प्रकाश होता जाता है उतना उतना ज्ञान उन्नति रूप था वर्द्धमान होता जाता है। एक बालक जन्मते समय बहुत अल्प जानता है, वही जितना जितना अनुभव पाता है व जितना जितना विद्या पढ़ता है उतना उतना अधिक ज्ञानी होता जाता है। उसमें ज्ञान की वृद्धि कहीं बाहर से ज्ञान का सचय करके इस तरह नही हुई है जैसे द्रव्य को दूसरों से संचय करके बढ़ाया जाता है व फैले हुए पानी को एक सरोवर में एकत्र किया जाता है। ज्ञान एक ऐसा अद्भुत गुण है जो कोई किसी को दे नहीं सकता कोई किसी से ले नही सकता। यद्यपि लोक व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि इस आचार्य ने अपने शिष्य को बहुत ज्ञान दिया, शिष्य ने आचार्य से बहुत ज्ञान पाया परन्तु यह वचन केवल व्यवहार मात्र है, वास्तव में असत्य है। यदि आचार्य ज्ञान देते तो उनका ज्ञान घटता तब शिष्य का ज्ञान बढ़ता सो ऐसा नही हुआ है।

आचार्य ने जब से शिष्य को पढ़ाना शुरू किया और दस वर्ष तक पढ़ाया, तब तक जो कुछ पढ़ाया, समझाया, बताया वह सब ज्ञान आचार्य में बराबर स्थित रहा। इतना ही नहीं, समझाते समझाते बताते बताते आचार्य का ज्ञान भी बढ़ता चला गया और पढ़ने वाले शिष्य का ज्ञान भी बढ़ता गया। जहां देन-लेन के शब्दों का व्यवहार है वहां देन-लेन कुछ नही हुआ तथापि दाता व प्राप्तकर्ता में ज्ञान बढ़ गया ऐसा क्यों हुआ ? क्यों नहीं एक तरफ ज्ञान घटा और तब दूसरी तरफ बढ़ा।

इसका सीधासादा उत्तर यही है कि ज्ञान का सदा विकास या प्रकाश होता है। गुरु के समझाने से व पुस्तकों के पढ़ने से जितना जितना अज्ञान का परदा हटता है, जितना जितना ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है उतना उतना ज्ञान अधिक अधिक चमकता जाता है। यह भी जगत में कहने का व्यवहार है कि इसने अपने ज्ञान में बहुत उन्नति की, बहुत निर्मलता की, बहुत विकास किया। उन्नति या विकास शब्द वहीं प्रयोग में आते हैं जहां शक्ति तो हो पर व्यक्ति न हो; व्यक्त होने ही को प्रकाश या विकास कहते हैं। सूर्य का प्रकाश हुआ या विकास हुआ अर्थात् सूर्य में प्रकाशक शक्ति है ही उसके ऊपर से अन्धकार हटा, मेघों का परदा हटा। रत्न पाषाण में रत्न बनने की व चमकने की शक्ति तो थी ही, उसके मल को हटाने से वह रत्नरूप से चमक उठा। तेजाब में डालने से यह सुवर्ण का आभूषण चमक उठा। अर्थात् सुवर्ण के आभूषणों में चमकने की शक्ति तो थी ही उस पर मैल छा गया था। तेजाब से जितना मैल कटता गया, सुवर्ण की चमक झलकती गई।

हर एक के ज्ञान में अनन्त पदार्थों के ज्ञान की अमर्यादित शक्ति है यह कभी सीमित नहीं की जा सकती है कि इससे आगे ज्ञान प्रकाश न करेगा। आज के विश्व में पदार्थ विद्या ने कैसा अपूर्व विकास किया है जिससे हजारों मील शब्द पहुंच जाता है। अमेरिका में बैठे हुए भारत में गाया हुआ गाना सुना जा सकता है। हवाई विमानों से लाखों मन बोझा आकाश में जा सकता है। बिना तार के संबंध से क्षण मात्र में हजारों मील शब्द पहुंच जाते हैं। पदार्थों के भीतर अद्भुत ज्ञान है, यह ज्ञान पदार्थ वेत्ताओं को कैसा होता है? इसका पता लगाया जायेगा तो विदित होगा कि पदार्थ के खोजी एकान्त में बैठकर अपने भीतर खोजते हैं? खोजते खोजते कोई बात सूझ जाती है उसी का प्रयोग करते हैं। उसको ठीक पाते हैं तब और सोचते हैं और नई २ बातें सूझ जाती हैं। बस प्रयोग से उन बातों को जमाकर नई खोज प्रगट करदी जाती है। जितना २ मैले बर्तन को मांजा जायेगा वह उतना २ चमकता जायेगा। इसी तरह जितना २ इस अपने शुद्ध ज्ञान को मांजा जायेगा, इसमें खोज की जायेगी उतना २ ज्ञान का विकास होता जायेगा। प्रत्येक प्राणी की आत्मा में यदि अमर्यादित ज्ञान न हो तो ज्ञान का विकास संभव ही न हो।

ज्ञान का काम मात्र जानना है, मात्र प्रकाश करना है । जैसा द्रव्य गुण पर्याय है वैसा ही जानना है, न कम जानना है न अधिक जानना है न विपरीत जानना है । शुद्ध ज्ञान छहों द्रव्यों के भिन्न २ स्वभावों को जानता है, मूल स्वभावों को जानता है तथा वे द्रव्य परस्पर एक दूसरे को किस तरह सहायक होते हैं यह भी जानता है ।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल क्रिया रहित स्थिर हैं, स्वयं विभावरूप या उपाधिरूप नहीं परिणमते हैं – केवल द्रव्यों के हलन चलन, थिर होने, अवकाश पाने व परिवर्तन में उदासीन रूप में सहाय करते है । कर्मों से संसारी जीव अनादिकाल से सम्बन्धित है – कर्म पुद्गल हैं – जीव और पुद्गल में पर के निमित्त से, विभावरूप होने की शक्ति है । इससे जीवों में कर्मों के उदय से विभाव भाव, रागादि भाव, अज्ञान भाव, असंयत भाव होते हैं, उन भावों के निमित्त से कर्म पुद्गल आकर जीव के कार्मण शरीर के साथ बँध जाते हैं । उनका बन्ध किस तरह होता है, वे क्या २ व किस २ तरह अपना असर दिखलाते हैं व कैसे दूर होते है । जीव और कर्म की परस्पर निमित्त नैमित्तिक क्रिया से क्या २ होता है इस सर्व व्यवस्था को भी शुद्ध ज्ञान जानता है ।

अभिप्राय यह है कि छः द्रव्यों को उनके सामान्य व विशेष गुणों को, उनकी स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायों को – जगत की सर्व व्यवस्था को शुद्ध ज्ञान ठीक ठीक जानता है । जैसा सूर्य का प्रकाश घटपट, नगर, द्वार, गली, महल, वृक्ष, पर्वत, कंकड़, पत्थर, तांबा, लोहा, पीतल, नदी, सरोवर, झील, खाई आदि सब पदार्थों को उनके आकार को जैसा है वैसा दिखलाता है वैसे शुद्ध ज्ञान सूर्य प्रकाश के समान सर्व पदार्थों का सब कुछ स्वरूप जैसा का तैसा जानता है और जैसे सूर्य सर्व को प्रकाश करता हुआ भी किसी पर रागद्वेष नही करता है । कोई सूर्य को अर्घ चढ़ावे तो उस पर प्रसन्न नही होता है, कोई सूर्य की निन्दा करे तो उस पर अप्रसन्न या क्रोधित नहीं होता है – पूर्ण समदर्शी है । अपने ताप व प्रकाश से सर्व पदार्थों को गुणकारी हो जाता है – वह कुछ बिचार नहीं करता है कि मैं किसी को लाभ पहुंचाऊं व हानि पहुँचाऊं । वह तो पूर्ण वीतरागता से प्रकाश करता है । भले ही कोई लाभ मानलो व हानि मानलो । उसी तरह शुद्ध ज्ञान सर्व द्रव्य, गुण, पर्यायों का यथार्थ जानते ;

हुए भी न किसी से राग करता है न द्वेष करता है न प्रशंसा किये जाने पर उन्मत्त होता है न निंदा किये जाने पर रुष्ट होता है । पूर्ण समदर्शी, वीतरागी, निराकुल रहता है । जैसे सर्वज्ञ वीतरागपना सिद्ध परमात्मा का स्वभाव है वैसे ही सर्वज्ञ वीतरागपना हर एक आत्मा का स्वभाव है ।

आत्मा के स्वभाव में मोह का किंचित् भी मल नहीं है इसलिये आत्मा का ज्ञान जानता हुआ भी न क्रोध करता है, न मान करता है, न माया करता है, न लोभ करता है, न हास्यभाव करता है, न रति करता है, न अरति करता है, न शोक करता है, न भय करता है, न जुगुप्सा या घृणा करता है, न कोई काम का विकार करता है । वह मोह मदिरा के संयोग बिना किंचित् भी मोहित नहीं होता, दोषित नहीं होता । आत्मा का स्वभाव सर्वज्ञ वीतरागता है, यही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है । विभावपना, अल्पज्ञानपना ज्ञानावरण कर्म के उदय से है । राग-द्वेष, मोह, मोहनीय कर्म के उदय से हैं । जितनी कुछ अन्तरंग अवस्थाएं आत्मा की वैभाविक होती हैं वे सब चार घातीय कर्मों के उदय से हैं जितनी कुछ बाहरी सामग्री का संयोग आत्मा से होता है, वह चार अघातीय कर्मों के उदय से है, यह सब जानना ही सम्यग्ज्ञान है । सिद्ध परमात्मा अरहंत केवली परमात्मा के ज्ञान में और सम्यग्दृष्टि अविरति या विरति के ज्ञान में पदार्थों के स्वरूप के जानने की अपेक्षा कोई अंतर नहीं है । जैसा केवली जानते हैं, वैसा स्याद्वादी श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टि भी जानता है । अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा वस्तु का क्या स्वरूप है, स्वभाव या विभाव पर्याय की अपेक्षा वस्तु का क्या स्वरूप है, यह सब ज्ञान जैसा केवली भगवान को होता है वैसा सम्यग्दृष्टि को होता है । मात्र अन्तर यह है कि केवली भगवान शुद्ध स्वाभाविक केवलज्ञान से प्रत्यक्ष जानते हैं यह श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष परोक्ष जानता है । केवलज्ञानी अधिक पर्यायों को जानते हैं । श्रुतज्ञानी कम पर्यायों को जानता है परन्तु जितना कुछ श्रुतज्ञानी जानता है वह केवलज्ञानी के सदृश ही, अनुकूल ही जानता है प्रतिकूल नहीं जानता है और जैसे केवलज्ञानी सर्व कुछ जानते हुए भी पूर्ण वीतराग हैं वैसे ही सम्यग्दृष्टि का ज्ञान भी वीतराग भाव से जानता है, वह भी राग द्वेष बिना किये हुए अपनी व दूसरों की कर्मजनित अवस्था को वस्तु स्वरूप से जानता है इसलिये सम्यग्दृष्टि को भी ज्ञाता कहते हैं उदासीन कहते हैं ।

केवल अंतर यह है कि सम्यग्दृष्टि दो प्रकार के होते हैं – एक वीतराग दूसरे सराग। ध्यानस्थ आत्मलान सम्यग्दृष्टि को वीतराग कहते हैं, वह सम्पूर्ण मन, वचन, काय की क्रियाओं से विरक्त रहता हुआ उसी तरह आत्मा के आनंद का स्वाद ले रहा है जैसे सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा लेते हैं। सराग सम्यक्ती मन, वचन, काय की क्रियाओ को रागपूर्वक करता है। तथापि वह इन सर्व क्रियाओं का कर्त्ता अपने को नहीं मानता है। आत्मा ज्ञातादृष्टा है, यही बुद्धि रखता है कषाय के उदय से उसे व्यवहार कार्यों को अपनी अपनी पदवी के अनुकूल करना पड़ता है। उनको वह अपना कर्त्तव्य नहीं जानता है, कर्मोदय जनित रोग जानता है। उस सराग सम्यक्ती का ज्ञान व श्रद्धान तो वीतराग सम्यग्दृष्टि के समान है, केवल चारित्र मोह के उदय का अपराध है, उसको वह सम्यग्दृष्टि कर्म का उदय जानता है उसे पर ही अनुभव करता है। सर्व मन, वचन, काय की क्रियाओं को भी पर जानता है। इसलिये वह भी पूर्ण उदासीन है।

भावना यह है कि कब यह सरागता मिटे और मैं वीतराग हो जाऊं। तत्वज्ञानी सम्यक्ती का यह ज्ञान कि मैं निश्चय से परमात्मावत् शुद्ध निर्विकार ज्ञाता दृष्टा हूं, आत्मज्ञान कहलाता है। यही आत्मज्ञान परम सुख साधन है। इस आत्मज्ञान को ही निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते है। इसी को जिनवाणी का सार **भाव श्रुतज्ञान** कहते हैं। इसी आत्मज्ञान में उपयोग की थिरता को स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं स्वानुभव कहते हैं या आत्मध्यान कहते है। भावश्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव दोज का चंद्रमा है, वही अभ्यास के बल से बढ़ते बढ़ते पूर्णमासी का चन्द्रमारूप केवलज्ञान हो जाता है। जिस रत्नत्रय से सहजसुख की सिद्धि होती है, उसमें आत्मज्ञान ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये द्रव्यश्रुत द्वारा छः द्रव्य, पचास्तिकाय, सात तत्त्व, नौपदार्थो का ज्ञान आवश्यक है जिसके ज्ञान के लिये परमागम का अभ्यास करना बहुत आवश्यक है। इस शास्त्राभ्यास को व्यवहारसम्यग्ज्ञान कहते हैं।

व्यवहार सम्यग्ज्ञान :– जिनवाणी में बहुत से शास्त्रों का संग्रह है उन को चार अनुयोगों में विभाजित किया गया है, जिनको चार वेद भी कहा जा सकता है।

प्रथमानुयोग :– प्रथम अवस्था के कम ज्ञानी शिष्यों को तत्त्वज्ञान की रुचि कराने में जो समर्थ हो उसको प्रथमानुयोग कहते हैं। इनमें उन महान पुरुषों के व महान स्त्रियों के जीवन चरित्र हैं जिन्होंने धर्म धार के आत्मा की उन्नति की है। इसमें उन चरित्रों का भी कथन है जिन्होंने पाप बांधकर दुःख उठाया है व जिन्होंने पुण्य बांधकर सुख साताकारी साधन प्राप्त किया है। इस तरह के वर्णन को पढ़ने से यह असर बुद्धि पर पड़ता है कि हमको भी धर्म का साधन करके अपना हित करना योग्य है।

दूसरा अनुयोग **करणानुयोग** है – इसमें चार गति का स्वरूप और लोक का स्वरूप बताया है तथा जीवों की अवस्था के भेद गुणस्थान व मार्गणा स्थानों का कथन है तथा कर्मों के बन्ध, उदय, सत्ता आदि का निरूपण है। वह सब हिसाब बताया है जिससे आत्मा की अवस्थाएँ कर्म के संयोग से भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं। इस ज्ञान की अध्यात्मज्ञान के लिये बहुत आवश्यकता है। जो गुणस्थानों को समझेगा वही ठीक २ जानेगा कि सम्यग्दृष्टि किस अपेक्षा बंधक है तथा किस अपेक्षा अबंधक है। तथा कर्म बंध कौन से गुणस्थान तक होता है तथा कर्मों की अवस्था कैसे बदली जा सकती है। यह आत्मज्ञान का बड़ा ही सहकारी है। कर्म पुद्गल की संगति से जीव के सर्व व्यवहार नृत्य का दिग्दर्शन इस अनुयोग से होता है।

तीसरा अनुयोग **चरणानुयोग** है – मन वचन काय को थिर करने के लिये स्वरूपाचरणमयी निश्चय चारित्र में उपयुक्त होने के लिये जिस २ व्यवहार चारित्र की आवश्यकता है वह सब इस अनुयोग में बताया है। साधु का क्या चारित्र है व गृहस्थ श्रावक का क्या चारित्र है, वह सब विस्तार पूर्वक इस तरह बताया गया है कि हर एक स्थिति का मानव अपनी योग्यतानुसार उसका आचरण कर सके तथा सहज सुख का साधन करता हुआ राज कर्त्तव्य, देश रक्षा कर्म, वाणिज्य कर्म, कृषि कर्म, शिल्प कर्म आदि गृहस्थ योग्य आवश्यक कर्म भी कर सके, देश परदेश में भ्रमण कर सके। लौकिक उन्नति सर्व तरह से न्याय पूर्वक करते हुए सहजसुख का साधन किया जा सके। जैसे २ वैराग्य बढ़े वैसे २ चारित्र को अधिक २ पाला जा सके व अधिक २ आत्मध्यान किया जा सके।

चौथा अनुयोग द्रव्यानुयोग है – इसमें छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ का व्यवहार नय से पर्यायरूप तथा निश्चय नय से द्रव्यरूप कथन है। इसी में शुद्धात्मानुभव रीतियाँ बताई हैं, जीवन मुक्त रहने का साधन बताया है, अतीन्द्रिय सहजसुख की प्राप्ति का साक्षात् उपाय बताया है। इन चार अनुयोगों के शास्त्रों को नित्य प्रति यथासम्भव अभ्यास करना व्यवहार सम्यग्ज्ञान का सेवन है।

जैसे सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं वैसे इस सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग हैं। यदि आठ अंगों के साथ शास्त्राभ्यास को किया जायेगा तो ही ज्ञान की वृद्धि होगी, अज्ञान का नाश होगा। भावों की शुद्धि होगी, कषायों की मंदता होगी, संसार से राग घटेगा, वैराग्य बढ़ेगा, सम्यक्त की निर्मलता होगी, चित्तनिरोध की कला मालूम होगी। आठ अंगों को ध्यान में रखते हुए शास्त्रों का अभ्यासी मन, वचन, काय को लीन कर लेता है – पढ़ते २ आत्मानन्द की छटा छा जाती है।

सम्यग्ज्ञान के आठ अंग – (१) शुद्धि ग्रन्थ :-- शास्त्र के वाक्यों को शुद्ध पढ़ना। जब तक शुद्ध ग्रन्थ नहीं पढ़ेंगे तब तक उसका अर्थ नही भासेगा।

(२) **अर्थ शुद्धि :–** शास्त्र का अर्थ ठीक २ समझना। जिन आचार्यो ने ग्रन्थ की रचना की है उन्होंने अपना ज्ञान पदों की स्थापना में रख दिया है तब उन्हीं स्थापनारूप पदों के द्वारा वही ज्ञान ग्रहण कर लेना जरूरी है जो ज्ञान ग्रन्थकर्त्ताओं के द्वारा उनमें भरा गया था या स्थापित किया गया था। जैसे दिशावर से आया हुआ पत्र जब ऐसा पढ़कर समझा जाता है कि जो मतलब भेजने वाले ने लिखा था वही जान लिया गया तब ही पत्र पढ़ने का लाभ होता है इसलिए ग्रन्थ के यथार्थ भाव को समझना अर्थ शुद्धि है।

(३) **उभय शुद्धि :**-- ग्रन्थ को शुद्ध पढ़ना और शुद्ध अर्थ समझना, दोनों का ध्यान एक साथ रखना उभय शुद्धि है।

(४)**काल शुद्धि :–** शास्त्रों को ऐसे समय पर पढ़ना जब परिणामों में निराकुलता हो। संध्या का समय आत्मध्यान तथा सामायिक करने का होता है। ऐसे समय पर भी शास्त्र पढ़ने में उपयोग न लगेगा जब कोई घोर आपत्ति

का समय हो, तूफान हो, भूचाल हो रहा हो, घोर-कलह या युद्ध हो रहा हो, किसी महापुरुष के मरण का शोक मनाया जा रहा हो, ऐसे आपत्तियों के समय पर शांति से ध्यान करना योग्य है ।

(५) विनय :— बड़े आदर से शास्त्र को पढ़ना चाहिये, बड़ी भक्ति भावों में रखनी चाहिये कि मैं शास्त्रों को इसीलिए पढ़ता हूँ कि मुझे आत्म-ज्ञान का लाभ हो, मेरे जीवन का समय सफल हो । अन्तरंग प्रेम पूर्ण भक्ति को विनय कहते हैं ।

(६) उपधान :— धारणा करते हुए ग्रन्थ को पढ़ना चाहिये । जो कुछ पढ़ा जावे वह भीतर जमता जावे जिससे वह पीछे स्मरण में आ सके । यदि पढ़ते चले गये और ध्यान में न लिया तो अज्ञान का नाश नहीं होगा । इसलिए एकाग्र चित्त होकर ध्यान के साथ पढ़ना, धारणा में रखते जाना उपधान है । यह बहुत जरूरी अंग है, ज्ञान का प्रबल साधन है ।

(७) बहुमान :— शास्त्र को बहुत मान प्रतिष्ठा से विराजमान करके पढ़ना चाहिये । उच्च चौकी पर रखकर आसन से बैठकर पढ़ना उचित है तथा शास्त्र को अच्छे गत्ते वेष्टन से विभूषित करके जहां दीमक न लगे, शास्त्र सुरक्षित रहें इस तरह विराजमान करना चाहिये ।

(८) अनिह्नव :— शास्त्रज्ञान अपने को हो उसको छिपाना नहीं चाहिये, कोई समझना चाहे तो उसको समझाना चाहिये । तथा जिस गुरु से समझा हो उसका नाम न छिपाना चाहिये । इस तरह जो आठ अंगों को पालता हुआ शास्त्रों का मनन करेगा वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान का सेवन करता हुआ आत्म-ज्ञान रूपी निश्चय सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर सकेगा ।

ज्ञान के आठ भेद :— यद्यपि ज्ञान एक ही है, वह आत्मा का स्वभाव है, उसमें कुछ भेद नहीं है जैसे सूर्य के प्रकाश में कोई भेद नहीं है तथापि सूर्य के ऊपर घने मेघ आ जावें तो प्रकाश कम झलकता है मेघ उससे कम हो तो और अधिक प्रकाश प्रगट होता, और अधिक कम मेघ हो तो और अधिक प्रकाश झलकता । और भी अधिक कम मेघ हों तो और भी अधिक प्रकाश प्रगट होता । बिलकुल मेघ न हों तो पूर्ण प्रकाश प्रगट होता है । इस तरह मेघों के कम व

अधिक आवरण के कारण सूर्य प्रकाश के पांच भेद हो सकते हैं तथा और भी सूक्ष्म विचार करोगे तो सूर्य के प्रकाश के अनेक भेद हो सकते हैं उसी तरह ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम या क्षय के अनुसार ज्ञान के मुख्य पांच भेद हो गये हैं :– **मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान** तथा **केवलज्ञान**। मति, श्रुत, अवधि तीन ज्ञान जब मिथ्यादृष्टि के होते हैं :– **कुमति, कुश्रुत, कुअवधि** कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि के मति, श्रुत, अवधि कहलाते हैं। इस तरह तीन कुज्ञान को लेकर ज्ञान के आठ भेद हो जाते हैं।

मतिज्ञान :– पांच इन्द्रिय तथा मन के द्वारा सीधा किसी पदार्थ का जानना मतिज्ञान है। जैसे स्पर्श इन्द्रिय से स्पर्श करके किसी पदार्थ को ठण्डा, गरम, रूखा, चिकना, नरम, कठोर, हलका, भारी जानना। रसना इन्द्रिय से रसना द्वारा रसना योग्य पदार्थ को स्पर्श करके खट्टा, मीठा, चरपरा, कड़वा, कसायला या मिश्रित स्वाद जानना। नासिका इन्द्रिय से गंधयोग्य पदार्थ को छूकर सुगन्ध या दुर्गन्ध जानना। चक्षु इन्द्रिय से बिना स्पर्श किये दूर से किसी पदार्थ को सफेद, लाल, पीला, काला या मिश्रित रंग रूप जानना। कानों से शब्द स्पर्श कर सुरीला व असुरीला शब्द जानना। मन के द्वारा दूर से किसी अपूर्व बात को यकायक जान लेना। इस तरह जो सीधा ज्ञान इन्द्रिय व मन से होता है उसको मतिज्ञान कहते हैं। जितना मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है उतनी ही अधिक मतिज्ञान की शक्ति प्रकट होती है। इसलिये सर्व प्राणियों का मतिज्ञान उकसा नहीं मिलेगा। किसी के कम, किसी के अधिक, किसी के मन्द, किसी के तीव्र। जानी हुई चीज का स्मरण हो जाना व एक दफे इन्द्रयों से व मन से जानी हुई चीज को फिर ग्रहण कर पहचानना कि वही है यह संज्ञा ज्ञान, तथा यह चिन्ता ज्ञान कि जहां जहां धूम होगा वहां वहां आग होगी। जहां जहां सूर्य का प्रकाश होगा कमल प्रफुल्लित होंगे तथा चिन्ह को देखकर या जानकर चिन्हों का जानना, धूम को देखकर अग्नि का जानना यह अनुमान ज्ञान, ये सब भी मतिज्ञान हैं क्योंकि मतिज्ञानावरण कर्म क क्षयोपशम से होते हैं।

श्रुतज्ञान :– मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के द्वारा दूसरे पदार्थ का या विपय का जानना श्रुतज्ञान है। जैसे कान से आत्मा शब्द सुना यह मतिज्ञान

है। आत्मा शब्द से आत्मा के गुण पर्याय आदि का बोध करना श्रुतज्ञान है। इसीलिए शास्त्रज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। हम अक्षरों को देखते हैं या सुनते हैं उनके द्वारा फिर मन से विचार करके शब्दों से जिन जिन पदार्थों का संकेत होता है उनको ठीक ठीक जान लेते हैं यही श्रुतज्ञान है, यह श्रुतज्ञान मनके ही द्वारा होता है। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं :– अक्षरात्मक श्रुतज्ञान, अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान। जो अक्षरों के द्वारा अर्थ विचारने पर हो वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है जैसे शास्त्र द्वारा ज्ञान। जो स्पर्शनादि इन्द्रियों से मतिज्ञान द्वारा पदार्थ को जानकर फिर उस ज्ञान के द्वारा उस पदार्थ में हितरूप या अहितरूप बुद्धि हो सो अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। यह एकेन्द्रियादि सब प्राणियों को होता है। जैसे वृक्ष को कुल्हाड़ी लगाने से कठोर स्पर्श का ज्ञान होना सो मतिज्ञान है, फिर उससे दुःख का बोध होना श्रुतज्ञान है। लट को रसना के द्वारा स्वाद का ज्ञान होना मतिज्ञान है, फिर उसे वह सुखदाई या दुःखदाई भासना श्रुतज्ञान है। चीटी को दूर से सुगन्ध आना मतिज्ञान है फिर सुगंधित पदार्थ की ओर आने की बुद्धि होना श्रुतज्ञान है। पतंग को आंख से दीपक का वर्ण देखकर ज्ञान होना मतिज्ञान है। वह हितकारी भासना श्रुतज्ञान है। कर्ण से कठोर शब्द सुनना मतिज्ञान है, वह अहितकारी भासना श्रुतज्ञान है। मति-श्रुतज्ञान सर्व प्राणियों को सामान्य से होते हैं। एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रिय पर्यंत सबके इन दो ज्ञानों से कम ज्ञान नहीं होते है। इन दो ज्ञानों की शक्ति होती है, परन्तु ये ज्ञान भी क्रम से काम करते हैं।

अवधिज्ञान :– अवधि नाम मर्यादा का है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए पुद्गलों को या पुद्गल सहित अशुद्ध जीवों का वर्णन जानना इस ज्ञान का काम है। द्रव्य से मतलब है कि मोटे पदार्थ को जाने कि सूक्ष्म को जाने, क्षेत्र से मतलब है कि कितनी दूर तक की जाने, एक कोस की या १०० या १००० या १०००० आदि कोस तक की जाने। काल से मतलब है कि कितने समय आगे व पीछे की जाने। १० वर्ष, १०० वर्ष एक भव या अनेक भव को आगे पीछे। भाव से मतलब अवस्था विशेष या स्वभाव विशेष से है। अवधिज्ञान के बहुत से भेद हो सकते हैं, जिसको जितना अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है। उतना कम या अधिक अवधिज्ञान होता है। इस ज्ञान

के होने में मन व इन्द्रियों की जरूरत नहीं है आत्मा स्वयं ही जानता है। देव तथा नारकियों को तो जन्म से ही होता है। पशुओं को व मानवों को सम्यक्त के व तप के प्रभाव से होता है। यह एक प्रकार की ऐसी विशेष शक्ति का प्रकाश है जिससे अवधिज्ञानी किसी मानव को देखकर विचारता हुआ उसके पूर्व जन्म व आगामी जन्म की घटनाओं को जान सकता है। योगी तपस्वी ऐसा अधिक अवधिज्ञान पा सकते हैं कि सैंकड़ों जन्म पूर्व व आगे की बातें जान लेवें। ज्ञान की जितनी निर्मलता होती है उतना ही उसका अधिक प्रकाश होता है।

मनःपर्ययज्ञान :-- दूसरों के मन में पुद्गल व अशुद्ध जीवों के सम्बन्ध में क्या विचार चल रहा है व विचार हो चुका है व विचार होवेगा उस सर्व को जो कोई आत्मा के द्वार जान सके वह मनःपर्ययज्ञान है, यह ज्ञान बहुत सूक्ष्म बातों को जान सकता है। जिसको अवधिज्ञानी भी न जान सकें इसलिये यह ज्ञान अवधिज्ञान से अधिक निर्मल है। यह ज्ञान ध्यानी तपस्वी योगियों के ही होता है -- सम्यग्दृष्टि महात्माओं के ही होता है। मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के कम व अधिक क्षयोपशम के अनुसार किसी को कम या किसी को अधिक होता है।

केवलज्ञान :-- सर्व ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने से अनन्तज्ञान का प्रकाश होना केवलज्ञान है। यही स्वाभाविक पूर्ण ज्ञान है, जो परमात्मा अरहंत तथा सिद्ध में सदा व्यक्ति रूप से चमकता रहता है संसारी जीवों में शक्ति रूप से रहता है उस पर ज्ञानावरण का पर्दा पड़ा रहता है। जब शुक्ल ध्यान के प्रभाव से सर्व ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो जाता है तब ही यह ज्ञान तेरहवें गुणस्थान में संयोग केवली जिनको प्रगट होता है। एक दफे प्रकाश होने पर फिर वह मलीन नहीं होता है, सदा ही शुद्ध स्वभाव में प्रगट रहता है। पांच ज्ञानों में मति, श्रुति परोक्ष हैं क्योंकि इन्द्रिय व मन से होते हैं परन्तु तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं -- आत्मा से ही होते हैं।

श्रुतज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है :-- इन चार ज्ञानों में श्रुतज्ञान ही ऐसा ज्ञान है जिससे शास्त्र ज्ञान होकर आत्मा का भेदविज्ञान होता है कि यह आत्मा भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि व नौकर्म शरीरादि से

भिन्न है, सिद्धसम शुद्ध है । जिसको आत्मानुभव हो जाता है वही भाव श्रुत-ज्ञान को पा लेता है । यही आत्मानुभव ही केवलज्ञान को प्रकाश कर देता है । किसी योगी को अवधिज्ञान व मन:पर्ययज्ञान भी हो तो भी श्रुतज्ञान के बल से केवलज्ञान हो सकता है । अवधि मन:पर्ययज्ञान का विषय ही शुद्धात्मा नहीं है, ये तो रूपी पदार्थ को ही जानते हैं जब कि श्रुतज्ञान अरूपी पदार्थों को भी जान सकता है इसलिये श्रुतज्ञान प्रधान है । हम लोगों को उचित है कि हम शास्त्र-ज्ञान का विशेष अभ्यास करते रहें जिससे आत्मानुभव मिले । यही सहज सुख का साधन है व यही केवलज्ञान का प्रकाशक है ।

चार दर्शनोपयोग :— पहले हम बता चुके हैं कि जीव के पहिचानने के आठ ज्ञान व चार दर्शन साधन हैं । दर्शन और ज्ञान में यह अन्तर है कि ज्ञान साकार है, दर्शन निराकार हैं । दर्शन में पदार्थ का बोध नहीं होता है । जब बोध होने लगता है तब उसे ज्ञान कहते हैं । जिस समय आत्मा का उपयोग किसी पदार्थ के जानने की तैयारी करता है तब ही दर्शन होता है, उसके पीछे जो कुछ ग्रहण में आता है वह ज्ञान है । कर्ण में शब्द आते ही जब उपयोग उधर गया और शब्द को जाना नहीं तब दर्शन है । जब जान लिया कि शब्द है तब ज्ञान कहा जाता है । अल्पज्ञानियों के दर्शन पूर्वक मतिज्ञान होता है, मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है । सम्यग्दृष्टि महात्माओं को अवधि दर्शन पूर्वक अवधिज्ञान होता है । केवलज्ञानी को केवलदर्शन, केवलज्ञान के साथ २ होता है । चक्षु इन्द्रिय द्वारा जो दर्शन हो वह चक्षुदर्शन है । जैसे आँख ने घड़ी को जाना यह मतिज्ञान है । इसी तरह चक्षु इन्द्रिय के सिवाय चार इन्द्रिय और मन से जो दर्शन होता है वह अचक्षुदर्शन है । अवधिदर्शन सम्यक्त्वी ज्ञानियों को आत्मा से होता है । केवलदर्शन सर्वदर्शी है, वह दर्शनावरण कर्म के सर्वथा क्षय से प्रगट होता है ।

निश्चय और व्यवहारनय :— प्रमाण जब वस्तु को सर्वांग ग्रहण करता है तब नय वस्तु के एक अंश को ग्रहण करता है व बताता है । पहले कहे गये पांचों ज्ञान प्रमाण हैं व तीन कुज्ञान प्रमाणाभास हैं । जैसे कोई मानव व्यापारी है और मजिस्ट्रेट भी है, प्रमाणज्ञान दोनों बातों को एक साथ जानता है । नय की अपेक्षा किसी समय वह व्यापारी कहा जायेगा तब मजिस्ट्रेटपना गौण

रहेगा व कभी मजिस्ट्रेट कहा जायेगा तब व्यापारीपना गौण रहेगा । अध्यात्म शास्त्रों में निश्चयनय और व्यवहारनय का उपयोग बहुत मिलता है । स्वाश्रयः निश्चयः पराश्रयः व्यवहारः जो नय एक ही वस्तु को उसी को पर की अपेक्षा बिना वर्णन करे वह निश्चयनय है । जो किसी वस्तु को परकी अपेक्षा से और का और कहे वह व्यवहारनय है । एक खड़ग सोने की म्यान के भीतर है, उसमें खड़ग को खड़ग और म्यान को म्यान कहना निश्चयनय का काम है तथा सोने को खड़ग कहना व्यवहार नय का काम है । लोक में ऐसा व्यवहार चलता है कि परके संयोग से उस वस्तु को अनेक तरह से कहा जाता है ।

जैसे दो खड़ग रक्खी हैं, एक चांदी के म्यान में है और एक सोने के म्यान में है । किसी को इनमें से एक ही खड़ग चाहिये थी, वह इतना लम्बा वाक्य नहीं कहता है कि सोने की म्यान में रखी हुई खड़ग लाओ; किन्तु छोटा वाक्य कह देता है कि सोने की खड़ग लाओ । तब यह वचन व्यवहार में असत्य नहीं है किन्तु निश्चय से असत्य है; क्योंकि वह भ्रम पैदा कर सकता है कि खड़ग सोने की है जबकि खड़ग सोने की नहीं है । इसी तरह हमारी आत्मा मनुष्य आयु व गति के उदय से मनुष्य के शरीर में है, आत्मा भिन्न है । तैजस कार्माण और औदारिक शरीर भिन्न हैं । निश्चयनय से आत्मा को आत्मा ही कहा जायेगा । व्यवहारनय से आत्मा को मनुष्य कहने का लोक व्यवहार है क्योंकि मनुष्य शरीर में वह विद्यमान है । आत्मा को मनुष्य कहना व्यवहार से सत्य है तो भी निश्चय नय से असत्य है, क्योंकि आत्मा मनुष्य नहीं है, उसका कर्म मनुष्य है, उसका देह मनुष्य है ।

निश्चयनय को भूतार्थ, सत्यार्थ, यथार्थ, वास्तविक, असल मूल कहते हैं । व्यवहारनय को असत्यार्थ, अभूतार्थ, अयथार्थ, अवास्तविक कहते हैं । संसारी आत्मा को समझने के लिए व पर के संयोग में प्राप्त किसी भी वस्तु को समझने के लिये दोनों नयों की आवश्यकता पड़ती है । कपड़ा मलीन है उसको शुद्ध करने के लिये दोनों नयों के ज्ञान की जरूरत है । निश्चयनय से कपड़ा उज्ज्वल है, रूई का बना है व्यवहारनय से मैला कहाता है, क्योंकि मैल का संयोग है । यदि एक ही नय या अपेक्षा को समझें तो कपड़ा कभी स्वच्छ नहीं हो सकता है । यदि ऐसा मानलें कि कपड़ा सर्वथा शुद्ध ही है तब भी वह

शुद्ध नही किया जायेगा । यदि मानले कि मैला ही है तब भी वह शुद्ध नही किया जायेगा । शुद्ध तब ही किया जायेगा जब यह माना जायेगा कि असल मे मूल मे तो यह शुद्ध है परन्तु मैल के सयोग से वर्तमान मे इसका स्वरूप मैला हो रहा है । मैल पर है छुडाया जा सकता है ऐसा निश्चय होने पर ही कपडा साफ किया जायेगा । इसी तरह निश्चयनय कहता है कि आत्मा शुद्ध है । व्यवहारनय कहता है कि आत्मा अशुद्ध है, कर्मो से बद्ध है दोनो बातो को जानने पर ही कर्मों को काटने का पुरुषार्थ किया जायेगा ।

निश्चयनय के भी दो भेद अध्यात्म शास्त्रो मे लिये गये हैं — एक शुद्ध निश्चयनय, दूसरा अशुद्ध निश्चयनय । जिसका लक्ष्य केवल शुद्ध गुण पर्याय व द्रव्य पर हो वह शुद्ध निश्चयनय है व जिसका लक्ष्य उसी एक द्रव्य क अशुद्ध द्रव्य, गुण पर्याय पर हो वह अशुद्ध निश्चय है जैसे जीव सिद्धसम शुद्ध है यह वाक्य शुद्ध निश्चयनय से कहा जाता है । यह जीव रागी द्वेषी है यह वाक्य अशुद्ध निश्चयनय से कहा जाता है । राग द्वेष जीव के ही नैमित्तिक व औपाधिक भाव है । उन भावो मे मोहनीय कर्म का सयोग पा रहा है इसलिये वे भाव शुद्ध नही है, अशुद्ध भाव है । इन अशुद्ध भावो को आत्मा के भाव कहना अशुद्ध निश्चयनय से ठीक है, जबकि शुद्ध निश्चयनय से ठीक नही है । ये दोनो नय एक ही द्रव्य पर लक्ष्य रखते है ।

व्यवहारनय के कई भेद है -- **अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय** । यह वह नय है कि पर वस्तु का किसी मे सयोग होते हुए ही पर को उसका कहना । जैसे यह घी का घडा है । इसमे घी का सयोग है इसलिये घडे को घी का घडा कहते है । यह जीव पापी है, पुण्यात्मा है । यह जीव मानव है, पशु है । यह गोरा है, यह काला है । ये सब वाक्य इस नय से ठीक है, क्योकि कार्माण व औदारिक शरीर का सयोग है इसलिये अनुपचरित है परन्तु है आत्मा के मूल स्वरूप से भिन्न इसलिये असद्भूत है । बिल्कुल भिन्न वस्तु को किसी की कहना **उपचरित असद्भूत व्यवहारनय** है । जैसे यह दुकान रामलाल की है, यह टोपी बालक की है, यह स्त्री रामलाल की है, यह गाय फतहचन्द की है, ये कपड मेरे है, ये आभूषण मेरे है, यह देश मेरा है ।

निश्चयनय का विषय जब वस्तु को अभेद रूप से अखण्ड रूप से ग्रहण करना है तब उसी को खण्डरूप से ग्रहण करना सद्भूत व्यवहारनय का विषय है । ऐसा भी शास्त्रों में विवेचन है । जैसे आत्मा को अभेद एक ज्ञायक मात्र ग्रहण करना निश्चयनय का अभिप्राय है तब आत्मा को ज्ञानरूप, दर्शनरूप, चारित्ररूप इस तरह गुण व गुणी भेद करके कहना सद्भूत व्यवहारनय का विषय है । कहीं कही इस सद्भूत व्यवहार को भी निश्चयनय में गर्भित करके कथन किया गया है क्योंकि यह सद्भूत व्यवहार भी एक ही द्रव्य की तरफ भेदरूप से लक्ष्य रखता है, परकी तरफ लक्ष्य नही है । जहां परकी तरफ लक्ष्य करके पर का कथन है वह असद्भूत व्यवहारनय है या सामान्य से ही व्यवहारनय है ।

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय :— जो नय या अपेक्षा केवल द्रव्य को लक्ष्य में लेकर वस्तु को कहे वह द्रव्यार्थिक है । जो द्रव्य की किसी पर्याय को लक्ष्य में लेकर कहे वह पर्यायार्थिक है । जैसे द्रव्यार्थिकनय से हर एक आत्मा समानरूप से शुद्ध है, निज स्वरूप में है । पर्यायार्थिकनय से आत्मा सिद्ध है, संसारी है, पशु है, मानव है, वृक्ष है इत्यादि । यह आत्मा नित्य है द्रव्यार्थिकनय का वाक्य है । यह आत्मा संसारी अनित्य है, यह पर्यायार्थिकनय का वाक्य है; क्योंकि द्रव्य कभी नाश नही होता है, पर्याय क्षण में बदलती है ।

नैगमादि सप्तनय :-- जगत में अपेक्षावाद के बिना व्यवहार नहीं हो सकता है । भिन्न भिन्न अपेक्षा से वाक्य सत्य माने जाते हैं । उन अपेक्षाओं को या नयों को बताने के लिये जिनसे लोक में व्यवहार होता है, जैन सिद्धांत में सात नय प्रसिद्ध है — नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत । इनमें पहले तीन नय द्रव्यार्थिक में गर्भित हैं क्योंकि इनकी दृष्टि द्रव्य पर रहती है, शेष चार नय पर्यायार्थिक में गर्भित है क्योंकि उनकी दृष्टि पर्याय पर ही रहती है तथा अन्त के तीन नयों की दृष्टि शब्द पर रहती है, इसलिये वे शब्दनय है । शेष चार की दृष्टि पदार्थ पर मुख्यता से रहती है इससे वे अर्थनय है ।

नैगमनय :-- जिसमें सकल्प किया जावे नैगमनय है । भूतकाल की बात को वर्तमान में सकल्प करना यह भूतनैगमनय है । जैसे कार्तिक सुदी १४ को

कहना कि आज श्री वर्द्धमानस्वामी का निर्वाण दिवस है। भावी नैगमनय भविष्य की बात को वर्तमान में कहता है जैसे अर्हन्त अवस्था में विराजित किसी केवली को सिद्ध कहना। वर्तमान नैगमनय वह है जो वर्तमान की अधूरी बात को पूरी कहे जैसे कोई लकड़ी काट रहा है, उससे किसी ने पूछा क्या कर रहे हो ? उसने कहा किवाड़ बना रहा हूं। क्योंकि उसका उद्देश्य लकड़ी काटने में किवाड़ ही बनाने का है।

संग्रहनय :-- जो एक जाति के बहुत से द्रव्यों को एक साथ बतावे वह संग्रहनय है। जैसे कहना कि सत् द्रव्य का लक्षण है। यह वाक्य सर्व द्रव्यों को सत् बताता है। जीव का उपयोग लक्षण है। यह वाक्य सब जीवों का लक्षण उपयोग सिद्ध करता है।

व्यवहारनय :-- जिस अपेक्षा से संग्रहनय से ग्रहीत पदार्थों का भेद करते चले जावें वह व्यवहारनय है। जैसे कहना कि द्रव्य छः हैं जीव संसारी और सिद्ध है – संसारी स्थावर व त्रस हैं, स्थावर पृथ्वी आदि पांच प्रकार के है इत्यादि।

ऋजुसूत्रनय :– जो सूक्ष्म तथा स्थूल पर्याय मात्र को जो वर्तमान में है उसी को ग्रहण करे वह ऋजुसूत्रनय है। जैसे स्त्री को स्त्री, पुरुष को पुरुष, श्वान को श्वान, अश्व को अश्व, क्रोध पर्याय सहित को क्रोधी, दया भाव सहित को दयावान कहना।

शब्दनय :-- व्याकरण व साहित्य के नियमों की अपेक्षा से शब्दों को व्यवहार करना शब्दनय है। उसमें लिंग, वचन, कारक, काल आदि का दोष झलकता हो तो भी उसे नही गिनना सो शब्दनय है। जैसे स्त्री को संस्कृत में दारा, भार्या, कलत्र कहते हैं। यहां दारा शब्द पुल्लिग है, कलत्र नपुंसक लिग है तो भी ठीक है। कोई महान पुरुष आ रहा है उसे प्रतिष्ठावाचक शब्द में कहते है – वे आ रहे हैं। यह वाक्य यद्यपि बहुवचन का प्रयोग एकवचन में है तथापि शब्दनय से ठीक है। कहीं की कथा का वर्णन करते हुए भूतकाल में वर्तमान का प्रयोग कर देते हैं जैसा सेना लड़ रही है, तोपें चल रही हैं, रुधिर की धारा बह रही है, मृतकों के मुण्ड लोट रहे है ये सब वाक्य भूतकाल के

वर्तमान काल में प्रयोग करना शब्दनय से ठीक है । शब्द नय में शब्दों पर ही दृष्टि है कि शब्द भाषा साहित्य के अनुसार व्यवहार किया जावे ।

समभिरूढ़ नय :– एक शब्द के अनेक अर्थ प्रसिद्ध हैं । उनमें से एक अर्थ को लेकर किसी के लिये व्यवहार करना समभिरूढ़ नय है । जैसे गो शब्द के अर्थ, नक्षत्र, आकाश, बिजली, पृथ्वी, वाणी आदि हैं, तो भी गाय के लिये भी व्यवहार करना समभिरूढ़नय से ठीक है । यद्यपि गो शब्द के अर्थ जाननेवाले के हैं । तथापि सोई, बैठी हरएक दशा में गाय पशु को गो कहना समभिरूढ़ नय से ठीक है या एक पदार्थ के अनेक शब्द नियत करना, चाहे उनके अर्थों में भेद हो, यह भी समभिरूढ़ नय से है । जैसे स्त्री को स्त्री, अबला, नारी आदि कहना । अथवा इन्द्र को शक्र, पुरन्दर, इन्द्र, सहस्राक्षी आदि कहना । यहां इन शब्दों के भिन्न २ अर्थ हैं तो भी एक व्यक्ति के लिये व्यवहार करना समभिरूढ़ नय से ठीक है ।

एवंभूत :– जिस शब्द का जो वास्तविक अर्थ हो उसी समान क्रिया करते हुए को उसी शब्द से व्यवहार करना एवंभूतनय है । जैसे वैद्यक करते हुए वैद्य को वैद्य कहना, दुर्बल स्त्री को ही अबला कहना, पूजन करते को पुजारी कहना, राज्य करते हुए न्याय करते हुए को राजा कहना । लोक व्यव-हार में इन नयों की बड़ी उपयोगिता है ।

स्याद्वादनय या सप्तभंगवाणी :– पदार्थ में अनेक स्वभाव रहते हैं जो साधारण रूप से विचारने में विरोधरूप भासते हैं परन्तु वे सब भिन्न २ अपेक्षा से पदार्थ रूप से पाए जाते हैं उनको समझाने का उपाय स्याद्वाद या सप्त-भंग है ।

हर एक पदार्थ में अस्ति या भावपना, नास्ति या अभावपना ये दो विरोधी स्वभाव हैं । नित्यपना तथा अनित्यपना ये भी दो विरोधी स्वभाव हैं । एकपना और अनेकपना ये भी दो विरोधी स्वभाव हैं । एक ही समय में एक ही स्वभाव को वचन द्वारा कहा जाता है तब दूसरा स्वभाव यद्यपि कहा नहीं जाता है । तो भी पदार्थ में रहता अवश्य है, इसी बात को जताने के लिये स्याद्वाद है ।

स्यात् अथवा कथंचित् अर्थात् किसी अपेक्षा से वाद अर्थात् कहना सो स्याद्वाद है। जैसे एक पुरुष पिता भी है पुत्र भी है उसको जब किसी को समभावेंगे तब कहेंगे कि स्यात् पिता अस्ति। किसी अपेक्षा से (अपने पुत्र की अपेक्षा से) पिता है। यहां स्यात् शब्द बताता है कि वह कुछ और भी है। फिर कहेंगे स्यात् पुत्रः अस्ति – किसी अपेक्षा से (अपने पिता की अपेक्षा से) पुत्र है। वह पुरुष पिता व पुत्र दोनों है। ऐसा दृढ़ करने के लिये तीसरा भंग कहा जाता है 'स्यात् पिता पुत्रश्च'।

किसी अपेक्षा से यदि दोनों को विचार करें तो वह पिता भी है पुत्र भी है। वह पिता व पुत्र तो एक ही समय में है परन्तु शब्दों में यह शक्ति नहीं है कि दोनों स्वभावों को एक साथ कहा जा सके। अतएव कहते हैं चौथा भंग-स्यात् अवक्तव्य। किसी अपेक्षा से यह वस्तु अवक्तव्य है, कथनगोचर नहीं है। यद्यपि यह पिता व पुत्र दोनों एक समय में है, परन्तु कहा नहीं जा सकता। सर्वथा अवक्तव्य नहीं है इसी बात को दृढ़ करने के लिये शेष तीन भंग हैं। स्यात् पिता अवक्तव्यं च। किसी अपेक्षा से अवक्तव्य होने पर भी पिता है, स्यात् पुत्रः अवक्तव्यं च। किसी अपेक्षा अवक्तव्य होने पर भी पुत्र है। स्यात् पिता पुत्रश्च अवक्तव्यं च किसी अपेक्षा अवक्तव्य होने पर भी पिता व पुत्र दोनों है। इस तरह दो विरोधी स्वभावों को समझाने के लिये सात भंग शिष्यों को दृढ़ ज्ञान कराने के हेतु किये जाते हैं। वास्तव में उस पुरुष में तीन स्वभाव हैं – पिता पना, पुत्र पना व अवक्तव्य पना इसी के सात भंग ही हो सकते हैं न छः न आठ। जैसे १ पिता, २ पुत्र, ३ पिता पुत्र, ४ अवक्तव्य, ५ पिता अवक्तव्य, ६ पुत्र अवक्तव्य, ७ पिता पुत्र अवक्तव्य।

यदि किसी को सफेद, काला, पीला, तीन रंग दिये जावें और कहा जावे कि इसके भिन्न २ रंग बनाओ तो वह नीचे प्रमाण सात ही बना देगा।

१ सफेद, २ काला, ३ पीला, ४ सफेद काला, ५ सफेद पीला, ६ काला पीला, ७ सफेद काला पीला। इससे कम व अधिक नही बन सकते हैं।

आत्मा के स्वभाव को समझने के लिये इस स्याद्वाद की बड़ी जरूरत है। आत्मा में अस्तित्व या भावपना अपने अखंड द्रव्य, अपने असंख्यात प्रदेश रूप क्षेत्र, अपनी स्वाभाविक पर्यायरूप काल व अपने शुद्ध ज्ञानानन्द मय भाव

की अपेक्षा है उसी समय इस अपने आत्मा में सम्पूर्ण अन्य आत्माओं के, सर्व पुद्गलों के, धर्म, अधर्म, आकाश व काल के द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव का नास्तिपना या अभाव भी है। अस्तित्व के साथ नास्तित्व न हो तो यह आत्मा है। यह भी श्री महावीर स्वामी का आत्मा है अन्य नहीं है यह बोध ही न हो। आत्मा में आत्मापना तो है परन्तु आत्मा में भाव कर्म रागादि, द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि, नौकर्म शरीरादि इनका तथा अन्य सर्व द्रव्यों का नास्तित्व है या अभाव है ऐसा जानने पर आत्मा का भेदविज्ञान होगा, आत्मानुभव हो सकेगा। इसी को सात तरह से कहेंगे –

१ स्यात् अस्ति आत्मा, २ स्यात् नास्ति आत्मा, ३ स्यात् अस्ति नास्ति आत्मा, ४ स्यात् अवक्तव्यं, ५ स्यात् अस्ति आत्मा अवक्तव्यं च, ६ स्यात् नास्ति आत्मा अवक्तव्यं च, ७ स्यात् अस्ति नास्ति आत्मा अवक्तव्यं च। इसी तरह यह आत्मा अपने द्रव्य व स्वभाव की अपेक्षा ध्रुव है नित्य है तब ही पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। इस तरह एक ही समय में आत्मा में नित्यपना तथा अनित्यपना दोनों स्वभाव हैं इसी को सात भंगों द्वारा समझाया जा सकता है।

१ स्यात् नित्यं, २ स्यात् अनित्यं, ३ स्यात् नित्यं अनित्यं, ४ स्यात् अवक्तव्यं, ५ स्यात् नित्यं अवक्तव्यं च, ६ स्यात् अनित्य अववतव्यं च, ७ स्यात् नित्यं अनित्यं अवक्तव्यं च।

इसी तरह आत्मा अनंत गुणों का अभेद पिंड है, इसलिये एक रूप है। वही आत्मा उसी समय ज्ञान गुण की अपेक्षा ज्ञानरूप है, सम्यक्त गुण की अपेक्षा सम्यक्त रूप है, चारित्र गुण की अपेक्षा चारित्र रूप है, वीर्यगुण की अपेक्षा वीर्यरूप है। जितने गुण आत्मा में हैं वे सर्व आत्मा में व्यापक हैं। इस लिये उनकी अपेक्षा आत्मा अनेक रूप है। इसी के सप्तभग इस तरह करेगे – स्यात् एकः, स्यात् अनेकः, स्यात् एकः अनेकश्च, स्यात् अवक्तव्यं, स्यात् एकः अवक्तव्यं च, स्यात् अनेकः अवक्तव्यं च, स्यात् एकः अनेकः अवक्तव्यं च।

यह संसारी आत्मा स्वभाव की अपेक्षा शुद्ध है, उसी समय कर्म संयोग की अपेक्षा अशुद्ध है। इसके भी सात भंग बनेंगे। स्यात् शुद्धः, स्यात् अशुद्धः, स्यात् शुद्धः अशुद्धः, स्यात् अवक्तव्यं, स्यात् शुद्धः अवक्तव्यं च, स्यात् अशुद्धः अवक्तव्यं च, स्यात् शुद्धः अशुद्धः अवक्तव्यं च।

स्याद्वाद के बिना किसी पदार्थ के अनेक स्वभावों का ज्ञान अज्ञानी शिष्य को न होगा। इसलिये यह बहुत आवश्यक सिद्धान्त है, आत्मा के भेद विज्ञान के लिये तो बहुत ही जरूरी है तथा यह स्याद्वाद का सिद्धांत अनेक एकान्त मत के धारियो का एकान्त हठ छुड़ाकर उनमें प्रेम व ऐक्य स्थापन करने का भी साधन है।

जैसे दूर से किसी का मकान पाँच आदमियों को दिखाई दिया, वह मकान भिन्न भिन्न स्थानो पर पांच तरह के रंगों से रंगा है। जिसकी दृष्टि सफेदी पर पड़ी वह कहता है (मकान सफेद है), जिसकी दृष्टि लाल रंग पर पड़ी वह कहता है, मकान लाल है, जिसकी दृष्टि पीले रंग पर पड़ी वह कहता है, मकान पीला है, जिसकी दृष्टि नीले रंग पर पड़ी वह कहता है, मकान नीला है, जिसकी दृष्टि काले रंग पर पड़ी वह कहता है, मकान काला है। इस तरह आपस में झगडते थे, तब एक समझदार ने कहा कि क्यों झगड़ते हो, तुम सब एकांत से सच्चे हो परन्तु पूर्ण सत्य नहीं हो। यह मकान पांच रंग का है, ऐसा समझो। जब पांचों ने यह बात समझली तब उन सबका एकांत हट गया तब सबको बड़ा आनंद हुआ। इसी तरह अनेकान्तमय – अनेक स्वभाव वाले पदार्थ को अनेक स्वभाववाला बताने को स्याद्वाद दर्पण के समान है व परस्पर विरोध मेटने को एक अटल न्यायाधीश के समान है। सहज सुख साधन के लिये तो बहुत ही उपयोगी है। कल्पित इन्द्रिय सुख को त्यागने योग्य व अतीन्द्रिय सुख को ग्रहण योग्य बताने वाला है।

सम्यग्ज्ञान का फल :– निश्चयनय से आत्मा को आत्मारूप ही जानना सम्यग्ज्ञान है। जैसे सूर्य पर मेघों के आ जाने से प्रकाश अत्यल्प प्रगट है तो भी समझदार जानता है कि सूर्य का प्रकाश उतना ही नही है, वह तो दोपहर के समय मेघ रहित जैसा पूर्ण प्रकाशमान रहता है वैसा ही है मेघों के कारण कम प्रकाश है। सूर्य का स्वभाव ऐसा नहीं है। ऐसा जो सूर्य के असली प्रकाश को-पूर्ण प्रकाश को भली प्रकार बिना किसी संशय के जानता है वही सम्यग्ज्ञानी है, इसी तरह अपने आत्मा पर ज्ञानावरणादि कर्मो के मेघ होने पर ज्ञान का प्रकाश कम व मलीन हो रहा है। रागी द्वेपी अज्ञानमय हो रहा है तो भी यह

आत्मा वास्तव में सर्वज्ञ वीतराग है, पूर्ण ज्ञानानंद है ऐसा जो संशय रहित, विपरीतता रहित, अनध्यवसाय (आलस्य) रहित जानना है वही सम्यग्ज्ञानी है।

आत्मा द्रव्य चाहे वह वृक्ष में हो चाहे वह कीट में, पतंग में, श्वान में, अश्व में, मानव में, नीच में, ऊंच में, राजा में, रंक में, निरोगी में, रोगी में, कुरूप में, सुरूप में, वृद्ध में, बाल में, युवा में, किसी भी सजीव प्राणी में हो, सबका आत्मा एक समान शुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख आदि गुणों का धारी, भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नो कर्म शरीरादि रहित परमात्मा के समान है। ऐसा पर्याय ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। रुई के (१००) सौ वस्त्र सौ प्रकार के रंगों से रंगे हुए रक्खे हैं। जो उन सबको एकरूप सफेद रुई के वस्त्र देखता है और भिन्न २ रंगों को उनसे भिन्न देखता है, वही ज्ञानी है। इसी तरह पुद्गल के संयोग से विचित्र रूप दिखने वाले नाना प्रकार आत्माओं को जो एक समान शुद्ध ज्ञानानन्दमय देखता है और पुद्गल को भिन्न देखता है वही सम्यग्ज्ञानी है।

इस सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से राग, द्वेष, मोह मिटता है, समताभाव जागृत होता है, आत्मा में रमण करने का उत्साह बढ़ता है, सहजसुख का साधन बन जाता है, स्वानुभव जागृत हो जाता है, जिसके प्रताप से सुख शांति का लाभ होता है। आत्मबल बढ़ता है, कर्म का मैल कटता है, परम धैर्य प्रकाशित होता है, यह जीवन परम सुन्दर सुवर्णमय हो जाता है। अतएव हर एक स्व-हित वांछक को जिनेन्द्र प्रणीत परमागम के अभ्यास से आत्मज्ञान रूप निश्चय सम्यग्ज्ञान का लाभ लेकर सदा सुखी रहना चाहिये।

आगे सम्यग्ज्ञान के महात्म्य व स्वरूप के सम्बन्ध में जैनाचार्यों के वाक्यों को पाठकगण मनन करके आनन्द उठावें —

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार में कहते हैं :—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१-१॥

भावार्थ :— केवल ज्ञान में परिणमन करते हुए सर्वज्ञ वीतराग अरहंत परमात्मा को सर्व द्रव्य तथा उनकी सर्व पर्यायें प्रत्यक्ष रूप से प्रगट हो जाती हैं

जैसे स्फटिक मरिए के अन्दर तथा बाहर में प्रगट पदार्थ दीखते हैं उसी तरह भगवान को सब प्रत्यक्ष है । वे भगवान उन द्रव्य व पर्यायों को अवग्रह ईहा आदि मतिज्ञान द्वारा परकी सहायता से व क्रम पूर्वक नहीं जानते हैं, एक समय में सबको जानते हैं ।

णत्थि परोक्खं किंचिवि, समन्त सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीदस्स सदा, सयमेव हि णाणजादस्स ॥२२-१॥

भावार्थ :– उन केवली भगवान के कोई भी पदार्थ परोक्ष नहीं है । एक ही समय सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों को प्रत्यक्ष जानते हैं व भगवान इन्द्रियों से अतीत हैं, इन्द्रियों से नहीं जानते हैं । सर्व इन्द्रियों के विषयों को क्रम क्रम से जाना जाता है, उसको वे एकदम सब जानते है तथा यह ज्ञान स्वयं ही केवली का प्रकाशित है । यह स्वाभाविक है, परजन्य नहीं है ।

णाणं अप्पत्ति मदं, वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं ।
तम्हा णाणं अप्पा, अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥२८-१॥

भावार्थ :– ज्ञान गुण आत्मा रूप ही कहा गया है । आत्मा को छोड़-कर ज्ञानगुण और कहीं नहीं रहता है इसलिये ज्ञान गुण जीव रूप है और जीव ज्ञान स्वरूप है तो भी गुण गुणी के भेद की अपेक्षा से नामादि भेद से ज्ञान अन्य है आत्मा अन्य है परन्तु प्रदेश भेद नहीं है । जहां आत्मा है वहीं ज्ञान सर्वांग व्यापक है ।

णाणी णाणसहावो अत्था णेयापगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं, णेव णोण्णेसु वट्टंति ॥२९-१॥

भावार्थ :– ज्ञानी आत्मा ज्ञान स्वभाव को रखने वाला है तथा सर्व पदार्थ उस ज्ञानी द्वारा ज्ञेयरूप है, जानने योग्य है । यह ज्ञानी ज्ञेयों को इसी तरह जानते है । जिस तरह आंख रूपी पदार्थों को जानती है । आंख पदार्थो में नहीं जाती, पदार्थ आंख में नहीं प्रवेश करते हैं उसी तरह केवलज्ञानी का ज्ञान ज्ञेय पदार्थों में नहीं जाता और ज्ञेय पदार्थ ज्ञान में आकर प्रवेश नहीं कर जाते हैं । आत्मा अपने स्थान पर है, पदार्थ अपने स्थान पर रहते हैं । ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध से आत्मा का शुद्ध ज्ञान सर्व ज्ञेयों को जान लेता है ।

गेण्हदि णेव ण मुंचदि, ण परं परिणमदि केवली भगवं ।
पेच्छदि समंतदो सो, जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥३२-१॥

भावार्थ :– केवलज्ञानी सर्वज्ञ देव ज्ञेय रूप पर पदार्थों को न तो ग्रहण करते हैं न छोड़ते हैं और न उन रूप बदलकर होते हैं । वे भगवान सर्व पदार्थों को सर्वांग पूर्ण रूप से मात्र देखते व जानते हैं । किसी पर रागद्वेष नहीं करते हैं । जैसे आंख देखती मात्र है किसी को ग्रहण नहीं करती है और न कुछ त्यागती है । भगवान सर्वज्ञ वीतरागता पूर्वक सर्व को जानते देखते हैं ।

तक्कालिगेव सव्वे, सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टंते ते णाणे, विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७-१॥

भावार्थ :– उन प्रसिद्ध जीवादि द्रव्य जातियों की वे सर्व विद्यमान तथा अविद्यमान पर्यायें निश्चय से ज्ञान में भिन्न २ भेद लिये वर्तमान काल सम्बन्धी पर्यायों की तरह वर्तती हैं या झलकती है ।

जदि पच्चक्खमजादं, पज्जायं पलयिदं च णाणस्य ।
ण हवदि वा तं णाणं, दिव्वंत्ति हि के परूविंति ॥३९-१॥

भावार्थ :– यदि केवलज्ञान के भीतर द्रव्यों की भावी पर्यायें और भूतकाल की पर्यायें प्रत्यक्ष प्रगट न होवें उस ज्ञान को उत्कृष्ट या प्रशंसनीय निश्चय से कौन कहता ? केवलज्ञान की यही अनुपम अद्भुत महिमा है जो त्रिकाल गोचर पर्यायें हस्त रेखावत् झलकती है ।

ज तक्कालियमिदरं, जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं ।
अत्थं विचित्तविसमं, तं णाणं खाइयं भणियं ॥४७-१॥

भावार्थ :– केवलज्ञान को क्षायिक ज्ञान इसीलिए कहा है कि वहां कोई अज्ञान नहीं रहा तथा वह ज्ञान वर्तमान काल सम्बन्धी व भूत भावी काल सम्बन्धी सर्व पर्यायों को सर्वांग व अनेक प्रकार मूर्तिक व अमूर्तिक पदार्थों को एक ही समय में जानता है । कोई भी विषय केवलज्ञान से बाहर नही है ।

जो ण विजाणदि जुगवं, अत्थे ते कालिके तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा ॥४८-१॥

भावार्थ :– जो पुरुष तीन लोक में स्थित अतीत अनागत वर्तमान इन तीन काल सम्बन्धी पदार्थों को एक ही समय में नहीं जानता है उस पुरुष के

अनन्त पर्यायों के साथ एक द्रव्यों को भी जानने की शक्ति नहीं हो सकती है। जो अपने आत्मा के द्रव्य गुण व अनन्त पर्यायों को जान सकता है वह ज्ञान सर्व द्रव्यों की भी अनन्त पर्यायों को जान सकता है।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं :--

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्भगदो।
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्भे जहा कणयं ॥२२९॥

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्भगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्भे जहा लोहं ॥२३०॥

भावार्थ :-- सम्यग्ज्ञानी आत्मा कर्मवर्गणाओं के मध्य पड़ा हुआ भी शरीरादि सर्व पर द्रव्यों में राग, द्वेष, मोह नहीं करता हुआ उसी तरह कर्म रज से नहीं बँधता है जिस तरह सुवर्ण कीचड़ में पड़ा हुआ नहीं बिगड़ता है – सोने में जंग नहीं लगती। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी कर्मो के मध्य पड़ा हुआ सर्व पर द्रव्यों में रागभाव करता हुआ कर्म रज से बँध जाता है जैसे लोहा कीचड़ में पड़ा हुआ बिगड़ जाता है। आत्मज्ञान की बड़ी महिमा है वह अपने स्वभाव को ही अपना समझता है, इसको परमाणु मात्र भी ममत्व परभाव से नहीं है, सराग सम्यक्ती के यदि कुछ कर्म बंध होता भी है वह रज ऊपर पड़ने के समान है जो शीघ्र झड जाने वाला है, अनंतानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व से ही भव भ्रमण कारी कर्मबंध होता है, अन्य कषायों से बहुत अल्प बंध होता है जो बाधक नहीं है।

णिव्वेदसमावण्णो णाणी कम्मफलं वियाणादि।
महुरं कडुवं बहुविहमवेदको तेण पण्णत्तो ॥३३९॥

भावार्थ :-- संसार शरीर भोगों से वैराग्य रखने वाले महात्मा कर्म के नाना प्रकार मीठे व कड़वे फल को – साताकारी व असाताकारी उदय को जानता मात्र है। उनमें रजायमान नही होता है इसलिये वह अभोक्ता कहा गया है।

णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहु पयाराइ।
जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥३४०॥

भावार्थ :-- सम्यग्ज्ञानी महात्मा नाना प्रकार के कर्मों को तन्मय होकर नहीं करता है, न कर्मों को बांधता है और न कर्मों के सुख दुःख रूप फल को तन्मय होकर भोगता है, वह अपने ज्ञानबल से मात्र जानता है, यह कर्मों का फल हुआ, यह बंध है, यह पुण्य है, यह पाप है । कर्मों के उदय से नाना प्रकार की मन, वचन काय की अवस्थाएँ होती हैं उन सबको ज्ञाता होकर जानता है । शरीर में रोग हुआ सो भी जानता है । शरीर ने भोजन किया यह भी जानता है । ज्ञानी केवल मात्र अपने ज्ञान भाव का कर्त्ता व भोक्ता है, पर का कर्त्ता भोक्ता नहीं होता है । मन, वचन, काय का जो कुछ परिणमन होता है उसे कर्मोदय का विकार जानकर ज्ञाता दृष्टा साक्षीभूत रहता है ।

दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणदिय बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ।।३४१।।

भावार्थ :-- जैसे आंख की दृष्टि अग्नि को देखती मात्र है, न अग्नि को बनाती है न अग्नि का ताप भोगती है, वैसे ज्ञानी महात्मा न तो कर्मों को करते हैं न भोगते हैं, केवल मात्र बंध, मोक्ष, कर्मों का उदय और कर्मो की निर्जरा को जानते ही हैं । ज्ञानी मन, वचन, काय, आठ कर्म सबको भिन्न जानता है । उनकी जो कुछ भी अवस्थाएं होती हैं उनको अपने आत्मा की नहीं जानता है, उनको परकी समझकर उनमें रागी नहीं होता है, उदासीन भाव से जानता रहता है कि कर्म क्या क्या नाटक खेलते हैं -- वह ससार नाटक को दृष्टा होकर देखता मात्र है, उनका स्वामी व कर्ता व भोक्ता नही बनता है । निश्चय से वह बिल्कुल अपना सम्बन्ध उनसे नहीं जोड़ता है । उसका आत्म-रसिकपन उसे अलिप्त रखता है ।

सत्थं णाणं ण हवदि जह्मा सत्थं ण याणदे किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बिंति ।।४१२।।

अज्झवसाणं णाणं ण हवदि जह्मा अचेदणं णिच्चं ।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ।।४२४।।

जह्मा जाणदि णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणगो णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ।।४२५।।

भावार्थ :— शास्त्र जो पुद्गलमय ताड़पत्र या कागज, स्याही आदि है या वाणी रूपी द्रव्यश्रुत है सो ज्ञान नहीं है, क्योंकि पुद्गल जड़मयी द्रव्य शास्त्र कुछ भी नहीं जानता है । इसलिये शास्त्र अन्य है व जानने वाला ज्ञान अन्य है ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं ।

रागादि कलुष भावरूप अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि वह कर्मों का उदय रूप विपाक सदा ही अचेतन है । इसलिये ज्ञान अन्य है और कलुषरूप अध्यवसान अन्य है । क्योंकि यह नित्य ही जानने वाला है इसलिये जीव ही ज्ञायक है । ज्ञान ज्ञानी से भिन्न नहीं है, उसी का स्वभाव है, ऐसा जानना योग्य है ।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पंचास्तिकाय में कहते हैं :—

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि ।
तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियत्ति णाणीहि ॥४३॥

भावार्थ :— ज्ञानगुण से आत्मा ज्ञानी भिन्न नहीं है, नाना प्रकार जानने योग्य पदार्थों की अपेक्षा ज्ञान अनेक प्रकार का है । ज्ञान विश्वरूप है सर्व को जानता है तब ज्ञानी भी विश्वरूप कहा गया है । जैसे ज्ञान सर्वव्यापक है वैसे ज्ञानी आत्मा भी ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी है अर्थात् ज्ञान सर्व को जानने वाला है ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य बोधपाहुड़ में कहते हैं :—

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स ।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥२०॥

भावार्थ :— संयम से युक्त और ध्यान के योग्य जो मोक्ष का मार्ग है उसका लक्ष्य जो शुद्ध आत्मा का स्वरूप है सो सम्यग्ज्ञान से ही प्राप्त होता है इसलिये ज्ञान का स्वरूप जानना योग्य है ।

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो ।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥२२॥

भावार्थ :— ज्ञान का लाभ पुरुष को होता है परन्तु जो मानव विनय सहित है वही ज्ञान का प्रकाश कर सकता है । ज्ञान के ही मनन से मोक्ष के मार्ग को पहचानता हुआ ध्यान का लक्ष्य जो शुद्ध आत्मा का स्वरूप उसको भली प्रकार समझ लेता है ।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड़ में कहते हैं :—

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ।।९२।।

भावार्थ :— हे मुने ! तू रात दिन निर्मल भाव से भक्ति पूर्वक शास्त्र-रूपी श्रुतज्ञान का मनन कर, जो अनुपम है व जिसे मूल में तीर्थकरों ने कहा है उसको जानकर गणधरों ने भली प्रकार शास्त्र में गूंथा है ।

पाऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का ।
हुंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणि सिद्धा ।।९३।।

भावार्थ :— आत्मज्ञान रूपी जल को पीकर कठिनता से दूर होने योग्य तृष्णा की दाह व जलन को मिटाकर भव्यजीव सिद्ध हो जाते हैं और तीन लोक के शिखर पर सिद्धालय में अनन्तकाल वास करते हैं ।

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण ।
वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ।।१२५।।

भावार्थ :— भव्यजीव भावसहित आत्मज्ञानमयी निर्मल शीतल जल को पीकर व्याधरूप मरण की वेदना की दाह को शमनकर सिद्ध हो जाते हैं ।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड़ में कहते हैं :—

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य ।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवलं णाणं ।।३५।।

भावार्थ :— यह आत्मा ही सिद्ध है, शुद्ध है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है तथा यही केवलज्ञान स्वरूप है ऐसा जानो, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ।

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं ।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेई अन्तोमुहुत्तेण ।।५३।।

भावार्थ :— मिथ्याज्ञानी घोर तप करके जिन कर्मों को बहुत जन्मों में क्षय करता है उन कर्मों को आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि मन, वचन, काय को रोक करके ध्यान के द्वारा एक अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर डालता है ।

सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू ।
सो तेण हु अण्णाणी णाणी एत्तो हु विवरीओ ।।५४।।

भावार्थ :-- शुभ पदार्थों के संयोग होने पर जो कोई साधु राग भाव से पर पदार्थ में प्रीतिभाव करता है वह अज्ञानी है । जो सम्यग्ज्ञानी है वह शुभ संयोग होने पर भी राग नहीं करते हैं समभाव रखते हैं ।

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो ।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥५६॥

भावार्थ :-- तप रहित जो ज्ञान है व सम्यग्ज्ञान रहित जो तप है सो दोनों ही मोक्ष साधन में अकार्यकारी हैं इसलिये जो साधु सम्यग्ज्ञान सहित तप पालते हैं वे ही निर्वाण को पा सकते हैं ।

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

भावार्थ :-- जब तक यह मनुष्य इंद्रियों के विषयों में आसक्त होकर प्रवर्तता है तब तक वह आत्मा को नहीं पहचान सकता है । जो योगी विषयों से विरक्त चित्त होते हैं वे ही आत्मा को जानकर अनुभव कर सकते हैं ।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया ।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥६८॥

भावार्थ :-- जो कोई साधु विषयों से विरक्त होकर आत्मा को जानकर उसकी बार बार भावना करते हैं और तप व मूलगुणों को पालते हैं वे चार गति रूप संसार से मुक्त हो जाते हैं ।

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेवि मोहादो ।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ ॥६६॥

भावार्थ :-- जो कोई मोह से परद्रव्यों में परमाणु मात्र भी रागभाव रखता है वह मूढ़ अज्ञानी है, वह आत्मा के स्वभाव से विपरीत वर्तन करता है । आत्मज्ञानी वही है जो आत्मा को आत्मारूप जाने और अपना मोह किसी भी पर द्रव्य से रंचमात्र भी न करे ।

(७) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार प्रत्याख्यान अधिकार में कहते हैं :--

जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण ।
असबल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ॥७२॥

भावार्थ :– जो साधु जिनवाणी में परम भक्तिवंत हैं तथा जो भक्ति पूर्वक गुरु की आज्ञा को मानते हैं वे मिथ्यात्व से अलग रहते हुए व शुद्ध भावों में रमते हुए संसार से पार हो जाते हैं ।

बालमरणाणि बहुसो बहुयाणि अकामयाणिमरणाणि ।
मरिहंति ते वराया जे जिणवयणं ण जाणंति ॥७३॥

भावार्थ :– जो जिनवाणी के रहस्य को नहीं जानते हैं ऐसे सम्यग्ज्ञान रहित प्राणी बार बार अज्ञान मरण करते हैं, वे बार बार बिना चाहे हुए ही अकाल में मरते हैं । उन विचारों को मरण का दुःख बार-बार सहना पड़ता है ।

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरयणं अमिदभूदं ।
जरमरणवाहिवेयणखयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥६५॥

भावार्थ :– यह जिनवाणी का पठन, पाठन, मनन एक ऐसी औषधि है जो इन्द्रिय विषय के सुख से वैराग्य पैदा कराने वाली है, अतीन्द्रिय सुखरूपी अमृत को पिलाने वाली है, जरा मरण व रोगादि से उत्पन्न होने वाले सर्व दुःखों को क्षय करने वाली है ।

(८) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार के पंचाचार अधिकार में कहते हैं :–

विंजणसुद्धं सुत्तं अत्थविसुद्धं च तदुभयविसुद्धं ।
पयदेण य जप्पंतो णाणविसुद्धो हवइ एसो ॥८८॥

भावार्थ :– जो कोई शास्त्रों के वाक्यों को व शास्त्रों के अर्थ को तथा दोनों को प्रयत्नपूर्वक शुद्ध पढ़ता है उसी को ज्ञान की शुद्धता होती है ।

विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं ।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि ॥८९॥

भावार्थ :– जिसने विनयपूर्वक शास्त्रों को पढ़ा हो और प्रमाद से कालांतर में भूल भी जावे तो भी परभव में शीघ्र याद हो जाता है -- थोड़े परिश्रम से आ जाता है तथा विनय सहित शास्त्र पढ़ने का फल केवलज्ञान होता है ।

णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि ।
णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो ॥१७१॥

भावार्थ :– जो ज्ञानी होकर दूसरों को सिखाता है ज्ञान का पुनः पुनः मनन करता रहता है, ज्ञान से दूसरों को धर्मोपदेश करता है, तथा ज्ञानपूर्वक चारित्र पालता है वही सम्यग्ज्ञान की विनय करता है ।

(९) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार षड़ावश्यक में कहते हैं :-

णाणी गच्छदि णाणी वंचदि णाणी णवं च णादियदि ।
णाणेण कुणदि चरणं तह्मा णाणे हुवे विणग्रो ॥८६॥

भावार्थ :- सम्यग्ज्ञानी ही मोक्ष जाता है, सम्यग्ज्ञानी ही पाप को त्यागता है, सम्यग्ज्ञानी ही नए कर्म नहीं बांधता है । सम्यग्ज्ञान से ही चारित्र होता है इसलिये ज्ञान की विनय करनी योग्य है ।

(१०) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगारभावना में कहते हैं :-

ते लद्धणाणचक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा ।
णिस्संकिदणिव्विदिगिंछादबलपरक्कमा साधू ॥६२॥

भावार्थ :- जो साधु ज्ञान के प्रकाश को रखने वाले हैं वे ज्ञान की ज्योति से परमार्थ जो परमात्म तत्त्व है उसको जानने वाले होते हैं । उनके भीतर जिन भाषित पदार्थों में शंका नही होती है तथा वे ग्लानिरहित होते हैं तथा वे ही आत्मबल से साहस पूर्वक मोक्ष का साधन करते हैं ।

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी ।
णिउणत्थसत्थकुसला परमपयवियाणया समणा ॥६७॥

भावार्थ :- वे ही मुनि मोक्षरूपी परम पद के स्वरूप को जानने वाले होते है जो अपने कानों को शास्त्र रूपी रत्नों से विभूषित रखते हैं अर्थात् जो जिनवाणी को सुरुचि से सुनते हैं, जो प्रमाण और नय के ज्ञाता हैं विशाल बुद्धिशाली हैं तथा सर्व शास्त्र के ज्ञान में कुशल हैं ।

अवगदमाणत्थंभा अणुस्सिदा अगव्विदा अचंडा य ।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्हू विणीदा य ॥६८॥

उवलद्धपुण्णपावा जिणसासणगहिद मुणिदपज्जाला ।
करचरणसंवुडंगा झाणुवजुत्ता मुणी होंति ॥६६॥

भावार्थ :- जो मुनि मान के स्तम्भ से रहित हैं, जाति, कुल आदि के मद से रहित हैं, उद्धतता रहित हैं, शांतपरिणामी हैं, इन्द्रियविजयी है, मार्दव धर्म से युक्त हैं, आत्मा व अनात्मा के ज्ञाता हैं, विनयवान हैं, पुण्य पाप के स्वरूप के ज्ञाता हैं, जिनशासन में दृढ़ श्रद्धानी हैं, द्रव्यपर्यायों के ज्ञाता हैं, तेरह

प्रकार चारित्र से संवरयुक्त हैं अथवा दृढ़ आसन के धारी हैं वे ही साधु ध्यान के लिये उद्यमी रहते हैं ।

(११) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार समयसार अधिकार में कहते हैं :--

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसंपुडो तिगुत्तो य ।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ।।७८।।

भावार्थ :-- शास्त्र स्वाध्याय करने वाले के स्वाध्याय करते हुए पांचों इन्द्रिय वश में होती हैं, मन, वचन, काय स्वाध्याय में रत हो जाते हैं, ध्यान में एकाग्रता होती है, विनय गुण से युक्त होता है, स्वाध्याय परमोपकारी है ।

बारसविधह्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
ण वि अत्थि ण वि य होहदि सज्झायसमं तवोकम्मं ।।७९।।

भावार्थ :-- तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित बाहरी, भीतर बारह प्रकार तप में स्वाध्याय तप के समान कोई तप नहीं है न होवेगा, इसलिये स्वाध्याय सदा करना योग्य है ।

सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण ।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तहा पमाददोसेण ।।८०।।

भावार्थ :-- जैसे सूत के साथ सुई हो तो कभी प्रमाद से भी खोई नहीं जा सकती है वैसे ही शास्त्र अभ्यासी पुरुष प्रमाद के दोष होते हुए भी कभी संसार में पतित नहीं होता है -- अपनी रक्षा करता रहता है । ज्ञान बड़ी अपूर्व वस्तु है ।

(१२) श्री समंतभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं :--

बंधश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतुः बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता । १४।।

भावार्थ :-- हे संभवनाथ भगवान ! आपने अनेकांत वस्तु का स्वरूप स्याद्वाद नय से उपदेश किया है इसीलिये आपके दर्शन में बंधतत्व, मोक्षतत्व, सिद्ध होता है, दोनों का साधन भी ठीक २ सिद्ध होता है । बद्ध व मुक्त आत्मा की भी सिद्धि होती है व मुक्ति का फल भी सिद्ध होता है । परन्तु जो वस्तु को एकान्त मानते हैं उनके यहां ये सब बातें सिद्ध नहीं हो सकती हैं ।

सर्वथा नित्य व सर्वथा अनित्य मानने से ही ये सब बातें नहीं बनेंगी, द्रव्य की अपेक्षा नित्य व पर्याय की अपेक्षा अनित्य मानने से ही बन्ध व मोक्ष सिद्ध हो सकते हैं ।

विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकःस्तुवतोऽस्तु नाथ ।।२५।।

भावार्थ :– हे सुमतिनाथ भगवान ! आपका यह कथन ठीक सिद्ध होता है कि पदार्थ में किसी अपेक्षा से अस्तिपना है व दूसरी किसी अपेक्षा से नास्तिपना है । इनका वर्णन स्याद्वाद द्वारा मुख्य व गौण रूप से किया जाता है । इसी से हमारे द्वारा आप स्तुति योग्य हैं ।

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषमात्मविद्विषाम् ।।१०२।।

भावार्थ :– हे अरहनाथ ! आपके स्याद्वाद न्याय में जो स्यात् शब्द है वह एक स्वभाव को जिसकी ओर वर्णन है यथार्थ प्रकाश करता है, तो भी पदार्थ सर्वथा ऐसा ही है इस एकान्त को निषेध करता है । यही वस्तु का स्वरूप है । जो एकांती स्याद्वाद के ज्ञान से शून्य हैं वे अपने आपके अनिष्ट करने वाले हैं । एकान्त मान के यथार्थ वस्तु स्वरूप को नहीं पाते हैं ।

(१३) श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं :–

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ।।४२।।

भावार्थ :– जो वस्तु के स्वरूप को न कम जाने, न अधिक जाने, न विपरीत जाने, किन्तु जैसा का तैसा सन्देह रहित जाने उसको आगम के ज्ञाता सम्यग्ज्ञान कहते हैं ।

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ।।४३।।

भावार्थ :– प्रथमानुयोग को सम्यग्ज्ञान इस प्रकार जानता है कि इसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थों के साधन का कथन है, जीवन चरित्र है व त्रेसठ महापुरुषों का पुराण है । जिससे पुण्य का आश्रय मिलता है व जिसमें

रत्नत्रय व ध्यान का भंडार है। चौबीस तीर्थंकर बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण को त्रेसठ महापुरुष कहते हैं।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैतिकरणानुयोगं च ॥४४॥

भावार्थ :— करणानुयोग उसको कहते हैं जो लोक और अलोक के विभाग को, काल की पलटन को, चार गति के स्वरूप को दर्पण के समान प्रगट करता है -- सम्यग्ज्ञान ऐसा जानता है।

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५॥

भावार्थ :— जिसमें गृहस्थ और मुनियों के आचरण की उत्पत्ति, वृद्धि व रक्षा का कथन हो वह चरणानुयोग है ऐसा सम्यग्ज्ञान जानता है।

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बंधमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥

भावार्थ :— द्रव्यानुयोग रूपी आगम वह है जो जीव, अजीव तत्वों को, पुण्य व पाप के स्वरूप को, बंध तथा मोक्ष को तथा भावश्रुत के प्रकाश को अर्थात् आत्मज्ञान को प्रगट करे।

(१४) श्री समंतभद्राचार्य आप्तमीमांसा में कहते है :—

तत्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनय संस्कृतम् ॥१०१॥

भावार्थ :— हे जिनेन्द्र ! आपका केवलज्ञान प्रमाण ज्ञान है। इसमें एक ही साथ सर्व पदार्थ झलकते हैं। जो अल्प ज्ञानियों में क्रमवर्ती ज्ञान होता है वह भी प्रमाणीक है, यदि वह ज्ञान स्याद्वाद नय द्वारा संस्कृत हो अर्थात् स्याद्वाद से सिद्ध हो सके।

उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वं वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्य स्वगोचरे ॥१०२॥

भावार्थ :— केवलज्ञान होने का फल वीतराग भावों का होना है। अन्य अल्पज्ञानियों के होने वाले प्रमाण रूप ज्ञान का फल त्यागने योग्य व ग्रहण

योग्य के भीतर विवेक बुद्धि का प्राप्त करना है तथा वीतराग भाव भी है । सर्व ही मतिज्ञान आदि का फल अपने अपने विषय में अज्ञान का नाश है ।

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यम्प्रति विशेषकः ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ।।१०३।।

भावार्थ :– हे जिनेन्द्र ! आपके मत में तथा श्रुत केवलियों के मत में स्याद्वाद में जो स्यात् शब्द हैं वह अव्यय है उसका अर्थ किसी अपेक्षा से है । यह शब्द बताया है कि जो वाक्य कहा गया है उसमें किसी विशेष स्वभाव की तो मुख्यता है, दूसरे स्वभावों की गौणता है । यह वाक्य ही प्रगट करता है कि वस्तु अनेकान्त है, अनेक धर्मो को रखने वाली है जैसे स्यात् अस्ति घटः इस वाक्य में किसी अपेक्षा से घट है ऐसा कहते हुए घट में भावपने की मुख्यता है तब अभावपने की गौणता है, ऐसा स्यात् शब्द बताता है ।

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ।।१०४।।

भावार्थ :– यह स्याद्वाद न्याय है वह किसी अपेक्षा से एक स्वभाव को कहने वाला है तथापि वस्तु सर्वथा ऐसी ही है इस एकांत को निषेध करने वाला है । मुख्य गौण कथन की अपेक्षा उसके सात भंग हो जाते हैं, जैसा पहले बताया जा चुका है ।

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ।।१०५।।

भावार्थ :– जैसे केवलज्ञान सर्व तत्त्वों को प्रकाश करता है वैसे स्याद्वाद नय गर्भित श्रुतज्ञान भी सर्व तत्वों को प्रकाश करता है । इन दोनों में भेद इतना ही है कि केवलज्ञान जब प्रत्यक्ष जानता है तब श्रुतज्ञान परोक्ष जानता है । इनके सिवाय जो कुछ ज्ञान है वह वस्तु का स्वरूप यथार्थ नहीं है ।

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ।।५७।।

भावार्थ :– वस्तु द्रव्य की अपेक्षा न उत्पन्न होती है और न व्यय होती है वह बराबर नित्य प्रगटरूप से बनी रहती है तथापि पर्याय की अपेक्षा उपजती विनशती है । आपके सिद्धांत में जो सत् पदार्थ है वह एक ही समय में

उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है । अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा नित्य है उसी समय पर्याय की अपेक्षा अनित्य है ।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।।५९।।

भावार्थ :– वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है इसी का दृष्टांत है कि कोई मानव सुवर्ण के घट को तोड़कर मुकुट बना रहा था उसी समय तीन आदमी आए, जो सुवर्ण के घट को लेना चाहता था, वह घट को तोड़ते हुए देखकर शोक में हो जाता है । जो मुकुट का अर्थी है वह हर्षित होता है परन्तु जो केवल स्वर्ण को ही लेना चाहता है वह उदासीन है । क्योंकि सुवर्ण द्रव्य घटरूप से नष्ट होकर मुकुट रूप में बदल रहा है तथापि सुवर्ण वही है ।

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ।।६०।।

भावार्थ :– दूसरा दृष्टांत है कि कहीं पर दही और दूध दोनों रक्खे थे । जिस किसी को दही का त्याग या दूध का त्याग न था वह दूध को पीता है । जिसे दूध का त्याग था दही का त्याग न था वह दही को पीता है । परन्तु जिसे गोरस का ही त्याग था वह दोनों को नहीं खाता है । दूध की पर्याय पलट कर दही बना तथापि गोरसपना दोनों में है । इसलिये हर एक वस्तु सदा ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है, नित्य अनित्यरूप है जिसकी सिद्धि स्याद्वाद से भली प्रकार की जाती है ।

(१५) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं :–

णिउणं विउलं सुद्धं, णिकाचिदमणुत्तरं च सव्वहिदं ।
जिणवयणं कलुसहरं, अहो य रत्ति य पठिदव्वं ।।१०१।।

भावार्थ :– हे आत्मन् ! इस जिनवाणी को रात्रि दिन पढ़ना चाहिये । यह जिनेन्द्र का वचन प्रमाण के अनुकूल पदार्थों को कहने वाला है, इससे निपुण है तथा बहुत विस्तारवाला है, पूर्वापर विरोध से रहित दोषरहित शुद्ध है, अत्यन्त दृढ़ है अनुपम है तथा सर्व प्राणी मात्र का हितकारी है और रागादि मैल को हरने वाला है ।

आदहिदपरिण्णाणभा, वसंवरोणवणवो अ संवेगी ।
णिक्कंपदा तवोभावणा, य परदेसिगत्तं च ॥१०२॥

भावार्थ :-- जिनवाणी के पढ़ने से आत्महित का ज्ञान होता है, सम्यक्त आदि भावसंवर की दृढ़ता होती है, नवीन नवीन धर्मानुराग बढ़ता है, धर्म में निश्चलता होती है, तप करने की भावना होती है और पर को उपदेश देने की योग्यता आती है ।

छट्ठट्ठमदसमदुवावसेहिं अण्णाणियस्स जा सोधी ।
तत्तो बहुगुणदरिया, होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥१११॥

भावार्थ :-- शास्त्रज्ञान के मनन बिना जो अज्ञानी को बेला, तेला, चौला आदि उपवास के करने से शुद्धता होती है उससे बहुतगुणी शुद्धता सम्यग्ज्ञानी को आत्मज्ञान को मनन करते हुए जीमते रहने पर भी होती है ।

अक्खेविणी कहा सा, विज्जाचरण उवदिस्सदेजत्थ ।
ससमयपरसमयगदा, कहा हु विक्खेविणी णाम ॥६५६॥

सवेयणी पुण कहा, णाणचरित्ततवविरियइड्ढिगदा ।
णिव्वेयणी पुण कहा, सरीरभोगे भउघेए ॥६६०॥

भावार्थ :-- सुकथा चार प्रकार की होती है :-- (१) **आक्षेपिणी** :-- जो ज्ञान का, चारित्र का स्वरूप बताकर दृढ़ता कराने वाली हो । (२) **विक्षेपिणी** :-- जो अनेकांत मत की पोषक व एकांत मत को खंडन करने वाली हो । (३) **संवेगिनी कथा** :-- जो ज्ञान चारित्र तप वीर्य में प्रेम बढ़ाने वाली व धर्मानुराग कराने वाली कथा हो । (४) **निर्वेदिनी** :-- जो संसार शरीर भोगों से वैराग्य बढ़ाने वाली हो ।

णाणोपओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं ।
णाणं अंकुसभूदं, मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ॥७६३॥

भावार्थ :-- ज्ञान का उपयोग सदा करना चाहिये । जो शास्त्रज्ञान का मनन नही करते वे चित्त को रोक नहीं सकते । मनरूपी मदोन्मत्त हाथी के लिये ज्ञान ही अंकुश है ।

उवसमइ किण्हसप्पो, जह मंतेण विधिणा पउत्तेण ।
तह हिदयकिण्हसप्पो, सुट्ठुवउत्तेण णाणेण ॥७६५॥

भावार्थ :-- जैसे विधि से प्रयोग किये हुये मंत्र से काला सांप भी शांत हो जाता है वैसे भली प्रकार मनन किये हुए ज्ञान के द्वारा मनरूपी काला सांप शांत हो जाता है ।

णाणपदीवो पज्जलइ जस्स हियए वि सुद्धलेसस्स ।
जिणदिट्ठमोक्खमग्गे, पणासयभयं ण तस्सत्थि ।।७७०।।

भावार्थ :-- जिस शुद्ध लेश्या या भावों के धारी के हृदय में सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक जलता है उसको जिनेन्द्रकथित मोक्षमार्ग में चलते हुए कभी भी भ्रष्ट होने का व कुमार्ग में जाने का भय नहीं है ।

णाणुज्जोएण विणा, जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतुं ।
गंतुं कडिल्लमिच्छदि, अंधलयो अंधयारम्मि ।।७७४।।

भावार्थ :-- जो कोई सम्यग्ज्ञान के प्रकार के बिना मोक्षमार्ग में जाना चाहता है वह अंधा होकर महान अंधकार में अति दुर्गम स्थान में जाना चाहता है ।

भावे सगविसयत्थे, सूरो जुगवं जहा पयासेइ ।
सव्वं वि तधा जुगवं केवलणाणं पयासेदि ।।२१३८।।

भावार्थ :-- जैसे सूर्य अपने विषय में निष्ठते हुए सर्व पदार्थो को एक साथ प्रकाश करता है वैसे केवलज्ञान समस्त पदार्थो को प्रकाश करता है ।

(१६) श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश में कहते है :--

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
वेहादि यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ।।२३ ।

भावार्थ :-- अज्ञान स्वरूप शरीरादि की या अज्ञानी गुरु की या मिथ्या शास्त्र की आराधना करने से मोह भ्रम से देहादि अज्ञान की प्राप्ति होगी किंतु ज्ञान स्वभावी आत्मा की या सम्यग्ज्ञानी गुरु की या सम्यक् शास्त्र की आराधना करने से आत्मज्ञान व आत्मानुभव की प्राप्ति होगी ।

(१७) श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक में कहते हैं :--

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः ।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ।।३७।।

भावार्थ :— अविद्या या मिथ्याज्ञान के अभ्यास से यह मन अपने वश में न रहकर अवश्य आकुलित होगा, पर पदार्थ में रमेगा, वही मन सम्यग्ज्ञान के अभ्यास के बल से स्वयं ही आत्मतत्त्व के रमण में ठहर जायेगा ।

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

भावार्थ :— ज्ञानी को उचित है कि आत्मज्ञान के सिवाय और कार्य को बुद्धि में चिरकाल धारण न करे । प्रयोजनवश कुछ दूसरा काम करना पड़े तो वचन व काय से करले, मन को उसमें आसक्त न करे ।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥

भावार्थ :— जो कोई अव्रती हो वह व्रती होकर आत्मज्ञान के अभ्यास में लीन हो । जिसको परमात्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और वह इसी का अनुभव करता है वह अवश्य परमात्मा हो जाता है ।

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥९४॥

भावार्थ :— जो देह में आत्मा की बुद्धि रखता है ऐसा बहिरात्मा अज्ञानी जीव सर्व शास्त्रों को पढ़ चुका है तथा जाग रहा है तो भी वह कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता है किन्तु जो आत्मज्ञानी है वह सोते हुए है व कदाचित् उन्मत्त है — गृहस्थ में फँसा है तो भी कभी न कभी मुक्त हो जायेगा ।

(१८) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं :—

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते
वचः पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते ।
समुत्तुङ्गे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ॥१७०॥

भावार्थ :— बुद्धिमान का कर्तव्य है कि वह इस मनरूपी बंदर को शास्त्र रूपी वृक्ष में प्रतिदिन रमावें । इस शास्त्र रूपी वृक्ष में अनेकांत स्वरूप अनेक स्वभाव व गुण व पर्याय रूपी फलफूल हैं उनसे यह नम्रीभूत है । यह वृक्ष वचन रूपी पत्रों से व्याप्त है । सैंकड़ों महान नयों या अपेक्षाओं की शाखाओं से शोभित

है, तथा इस शास्त्ररूपी वृक्ष का बहुत बड़ा विस्तार है तथा इसका मूल प्रखर मतिज्ञान है ।

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः ।
अंगारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ॥१७६॥

भावार्थ :– जैसे रत्न अग्नि में पड़कर विशुद्ध हो जाता है व शोभता है वैसे भव्यजीव रुचिवान शास्त्र में रमण करता हुआ विशुद्ध होकर मुक्त हो जाता है । परन्तु जैसे अंगारा अग्नि में पड़कर कोयला हो जाता है या राख हो जाता है वैसे दुष्ट मानव शास्त्र को पढ़ता हुआ भी रागीद्वेषी होकर कर्मों से मैला हो जाता है ।

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥१७७॥

भावार्थ :– अध्यात्म का ज्ञाता मुनि बारबार सम्यग्ज्ञान को फैलाकर जैसे पदार्थों का स्वरूप है वैसा उनको देखता हुआ राग व द्वेष को दूर करके आत्मा को ध्याता है ।

(१९) श्री योगेन्द्राचार्य योगसार में कहते है :–

सत्थं पढंतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति ।
तिह कारण ऐ जीव फुडु ण हु णिव्वाण लहंति ॥५२॥

भावार्थ :– जो कोई शास्त्रों को पढ़ते हैं परन्तु आत्मा को नही जानते हैं वे जीव कभी भी निर्वाण को नही पा सकते है ।

जह लोयम्मिय णियडहा तह सुणाम्मिय जाणि ।
जे सुह असुह परिच्चयहि ते वि हवंति हु णाणि ॥७१॥

भावार्थ :– वे ही ज्ञानी है जो पुण्य पाप को सुवर्ण की तथा लोहे की बेड़ी जानते हैं दोनों को बन्धन मानते हैं ।

सव्वे जीवा णाणमया जो समभाव मुणेइ ।
सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ ॥९८॥

भावार्थ :– सर्व ही जीव शुद्ध ज्ञानमयी हैं ऐसा जो जानता है वही समभाव का धारी है इसी को सामायिक जानो ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं ।

(२०) श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासन में कहते हैं :–

श्रुतज्ञानमुदासीनं यथार्थमति निश्चलं ।
स्वर्गापवर्गफलदं ध्यानामांतर्मुहूर्ततः ॥६६॥

भावार्थ :– आत्मध्यान श्रुतज्ञान का ध्यान है। द्वादशांग वाणी का सार आत्मज्ञान है। उसी का अनुभव श्रुतज्ञान का अनुभव है तथा वही ध्यान है। यह वीतराग रूप, यथार्थ, अति निश्चल एक अन्तर्मुहूर्त तक रह सकता है जिसका फल स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति है।

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।
ततः स्थिरं मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्त्विकं ॥६८॥

भावार्थ :– क्योंकि योगीगण मन द्वारा श्रुतज्ञान के बल से ध्यान करते हैं, इसीलिये स्थिर मन ही ध्यान है, यही निश्चय तत्त्वरूप श्रुतज्ञान है।

ज्ञानवर्यातरादात्मा तस्माज्ज्ञानं न चान्यतः ।
एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्तितं ॥६९॥

भावार्थ :– ज्ञान कहो चाहे आत्मा कहो दोनों एक ही बात है क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण है, आत्मा से ही होता है, किसी अन्य द्रव्य से नहीं होता है। यह ज्ञानगुण जो बराबर पूर्वापर चला आ रहा है वही आत्मा है ऐसा कहा गया है।

स्वरूपं सर्वजीवानां स्वपरस्य प्रकाशनं ।
भानुमंडलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनं ॥२३५॥

भावार्थ :– सर्व जीवों का स्वभाव अपने को व पर को एक साथ उसी तरह प्रकाश करता है जैसा सूर्य मंडल अपने को तथा पर को प्रकाश करता है। उन जीवों में ज्ञान का प्रकाश स्वाभाविक है, दूसरे पदार्थ से नहीं है जैसे सूर्य स्वयं प्रकाश रूप है।

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पौरुषः ।
यथा मणिस्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके मले ॥२३६॥

भावार्थ :– जब सर्व कर्म का क्षय हो जाता है तब यह आत्मा अपने स्वरूप में ही ठहर जाता है, और एक समय में ही स्वपर को जानता है। जैसे

योग्य कारणों से संसर्ग में आया हुआ मल निकल जाने पर मणि स्वभाव से चमक उठती है ।

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति ।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वस्थः प्रतिक्षणं ।।२३७।।

भावार्थ :-- अरहंत व सिद्ध परमात्मा घातिया कर्मों के क्षय होने पर न तो किसी पर मोह करते हैं, न संशय किसी बात में करते हैं, न उनके भीतर अनध्यवसाय (ज्ञान में प्रमाद) है न राग करते हैं न द्वेष करते हैं । किन्तु सदा ही प्रतिक्षण ही अपने ही शुद्ध स्वरूप में स्थित हैं ।

त्रिकालविषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं ।
जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ।।२३८।।

भावार्थ :-- वे केवलज्ञानी परमात्मा अपने आत्मा को तथा तीन काल के ज्ञेय पदार्थों को जैसा उनका स्वरूप है वैसा पूर्ण रूप से जानते हुए वीतरागी रहते हैं ।

(२१) श्री अमृतचन्द्र आचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहते है :--

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ।।५।।

भावार्थ :-- निश्चयनय वह है जो सत्यार्थ मूल पदार्थ को कहे । व्यवहारनय वह है जो असत्यार्थ पदार्थ को कहे । प्रायः सर्व ही संसारी प्राणी निश्चयनय से कथन योग्य सत्यार्थ वस्तु के ज्ञान से बाहर हो रहे है ।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ।।८।।

भावार्थ :-- जो कोई व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों को जानकर मध्यस्थ हो जाता है वही शिष्य जिनवाणी के उपदेश का पूर्ण फल पाता है ।

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः ।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ।।३३।।

भावार्थ :-- जिनेन्द्र भगवन्तों ने सम्यग्ज्ञान को कार्य तथा सम्यग्दर्शन को कारण कहा है । इसलिये सम्यग्दर्शन के पीछे ज्ञान की आराधना करना उचित है ।

कारणकार्य विधानं समकालं जायमानयोरपि हि ।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्व ज्ञानयोः सुघटम् ।।३४।।

भावार्थ :-- यद्यपि सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी तरह जैसे दीपक से प्रकाश होता है तो भी जैसे दीपक कारण है, प्रकाश कार्य है, वैसे सम्यग्दर्शन कारण है, सम्यग्ज्ञान कार्य है ।

कर्तव्योऽध्यवसायः सदनेकांतात्मकेषु तत्त्वेषु ।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तात्मात्मरूपं तत् ।।३५।।

भावार्थ :-- व्यवहार नय से सत्‌रूप व अनेक धर्म स्वरूप तत्त्वों को संशय विपर्यय व अनध्यवसाय रहित जानना चाहिये । यही सम्यग्ज्ञान है । निश्चयनय से यह सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है ।

ग्रंथार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च ।
बहुमानेन समन्वितमनिन्हवं ज्ञानमाराध्यम् ।।३६।।

भावार्थ :-- सम्यग्ज्ञान को आठ अंग सहित सेवन करना चाहिये । (१) ग्रन्थशुद्धि-शुद्ध पढ़ना (२) अर्थ शुद्धि-अर्थ शुद्ध करना, (३) उभय शुद्धि-शब्द व अर्थ शुद्ध पढ़ना, (४) कालाध्ययन--ठीक समय पर पढ़ना, (५) विनय, (६) उपधान--धारणा सहित पढ़ना, (७) बहुमानेन समन्वित-बहुत मान से पढ़ना, (८) अनिन्हव-गुरु को व ज्ञान को न छिपाना ।

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।२१३।।

भावार्थ :-- जितने अंश किसी के परिणाम में सम्यग्ज्ञान होता है उतने अंश से कर्म का बन्ध नहीं होता है किन्तु जितने अंश राग होता है उतने अंश कर्म का बन्ध होता है । सम्यग्ज्ञान बन्ध का कारण नहीं है, बन्ध का कारण औदयिक भाव रागद्वेष मोह हैं ।

(२२) श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्त्वार्थसार में कहते हैं :--

वाचनापृच्छनाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना ।
अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्यायः पंचधा जिनैः ।।१६-७।।
वाचना सा परिज्ञेया यत्पात्रे प्रतिपादनम् ।
ग्रन्थस्य वाथ पद्यस्य तत्त्वार्थस्योभयस्य वा ।।१७-७।।

तत्संशयापनोदाय तन्निश्चयबलाय वा ।
परं प्रत्यनुयोगाय प्रच्छनां तद्विदुर्जिनाः ॥१८-७॥
आम्नायः कथ्यते घोषो विशुद्धं परिवर्तनम् ।
कथाधर्माद्यनुष्ठानं विज्ञेया धर्मदेशना ॥१६-७॥
साधोरधिगतार्थस्य योऽभ्यासो मनसा भवेत् ।
अनुप्रेक्षिति निर्दिष्टः स्वाध्यायः स जिनेशिभिः ॥२०-७॥

भावार्थ :-- शास्त्रों का स्वाध्याय व्यवहार सम्यग्ज्ञान है, सो स्वाध्याय पांच प्रकार का जिनेन्द्रों ने कहा है । वाचना, पृच्छना, आम्नाय, धर्मदेशना, अनुप्रेक्षा । किसी ग्रन्थ का व उसके पद्य का तथा उसके अर्थ का या दोनों का दूसरे पात्र को सुनाना या स्वयं पढ़ना, वांचना है । संशय दूर करने को, पदार्थ के निश्चय करने को व दूसरों को समझाने के लिये जो पूछना उसे जिनों ने पृच्छना कहा है । शुद्ध-शब्द व अर्थ को घोखकर कंठ करना आम्नाय कहा जाता है । धर्म कथा आदि का उपदेश करना धर्मदेशना है । भली प्रकार जाने हुए पदार्थ का मन से बार-बार अभ्यास करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय है ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है ।

ज्ञानस्य ग्रहणाभ्यासस्मरणादीनि कुर्वतः ।
बहुमानादिभिः सार्द्धं ज्ञानस्य विनयो भवेत् ॥३२-७॥

भावार्थ :-- ज्ञान को बहुत मान व आदर से ग्रहण करना व स्मरण करना, मनन करना आदि ज्ञान की विनय कही जाती है ।

(२३) श्री अमृतचन्द्राचार्य श्री समयसार कलश में कहते हैं :--

उभयनय विरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥४॥

भावार्थ :-- निश्चय नय और व्यवहार नय के विरोध को मेटने वाली स्याद्वाद रूप जिनवाणी में जो रमण करते हैं, उनका मिथ्यात्व भाव स्वयं गल जाता है । तब वे शीघ्र ही अतिशय करके परम ज्योति स्वरूप, प्राचीन, किसी भी खोटी युक्ति से अखंडित शुद्ध आतमा का अनुभव कर ही लेते हैं ।

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिःप्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥१३॥

भावार्थ :— शुद्ध निश्चय नय के द्वारा जो शुद्ध आत्मा का अनुभव है वहीं निश्चय सम्यग्ज्ञान अनुभव है ऐसा जानकर जब कोई अपने आत्मा को अपने आत्मा में निश्चल रूप से धारण करता है तब वहां सर्व तरफ से नित्य ही एक ज्ञानघन आत्मा ही स्वाद में आता है ।

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परमात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषं ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥१४-३॥

भावार्थ :— ज्ञान के ही प्रताप से आत्मा और पर का भेद विज्ञान जाना जाता है । जैसे दूध पानी अलग अलग हैं । ज्ञानी अपनी निश्चल चैतन्य धातुमयी मूर्ति में सदा दृढ़ निश्चय रखता हुआ जानता ही है, कुछ भी कर्त्ता नहीं है ।

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥१५-३॥

भावार्थ :— ज्ञान के ही प्रताप से गर्म पानी में यह झलकता है कि पानी का स्वभाव शीतल है तथा उष्णता अग्नि की है । ज्ञानी के ही प्रताप से किसी बने हुए साग में साग का स्वाद अलग और लवण का स्वाद अलग भासता है । यह ज्ञान का ही प्रभाव है जिससे क्रोध का मैं कर्त्ता हूं, इस अज्ञान का नाश होकर ऐसा झलकता है कि मैं क्रोधादिकी कलुषता से भिन्न अपने आत्मिक रस से नित्य भरा हुआ चैतन्य धातुमय आत्मा मात्र हूँ ।

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्सर्वरागरसवर्ज्जनशीलः ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्म्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥१७-७॥

भावार्थ :– सम्यग्ज्ञानी अपने स्वभाव से ही सर्व रागादि भावों से भिन्न अपने को अनुभव करता है। इसलिये कर्मों के मध्य पड़े रहने पर भी कर्म बंध से नहीं बँधता है। यह आत्मज्ञान की महिमा है।

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां।
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥५-१०॥

भावार्थ :– अज्ञानी सदा ही कर्म की प्रकृतियों के स्वभावों में अर्थात् जैसा कर्म का उदय होता है उसमें लीन होकर सुख-दुःख का भोक्ता हो जाता है। ज्ञानी प्रकृति के स्वभाव से अर्थात् कर्मों के उदय से विरक्त रहता है, इसलिये कभी भी भोक्ता नहीं होता है, वह ज्ञाता रहता है। ऐसा नियम समझकर अज्ञानपना त्याग देना चाहिये और शुद्ध एक आत्मा की निश्चल ज्योति में थिर होकर ज्ञानभाव का सेवन करना चाहिये।

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः।
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२२-१०॥

भावार्थ :– जो शुद्ध द्रव्य के विचार में है और तत्त्व को देखनेवाला है उसके मत में एक द्रव्य के भीतर दूसरा द्रव्य कभी भी प्रवेश नहीं कर सकता है। जो शुद्ध आत्मा का ज्ञान सर्व ज्ञेय या जानने योग्य पदार्थों को जानता है सो यह उस ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है तब फिर अज्ञानी जन आत्मा को छोड़कर पर द्रव्य के ग्रहण के लिए आकुल व्याकुल होकर आत्म तत्त्व के अनुभव से क्यों पतन कर रहे हैं ? ज्ञान में कोई पदार्थ आता नहीं, ज्ञान किसी पदार्थ में जाता नहीं, तो भी ज्ञान सर्व ज्ञेयों को अपने स्वभाव से जानता है। यह ज्ञान के प्रकाश का महात्म्य है।

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥६-१२॥

भावार्थ :– स्याद्वाद के द्वारा मेरे भीतर आत्म तेज का प्रकाश हो गया है। जब मेरे में शुद्ध स्वभाव की महिमा प्रगट हो रही है तब वहां बंध मार्ग व मोक्ष मार्ग सम्बन्धी भावों से क्या प्रयोजन रहा ? कुछ भी नहीं। इसलिए सदा ही यह मेरा उत्कृष्ट स्वभाव मेरे में प्रकाशमान रहो। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा सदा ही एकाएक शुद्ध अनुभव में आता है। वहां बंध व मोक्ष के विचार की कोई जगह नहीं है।

(२४) श्री अमितिगति महाराज तत्त्वभावना में कहते हैं :–

येषां ज्ञानकृशानुरुज्ज्वलतरः सम्यक्त्ववातेरितो।
विस्पष्टीकृतसर्वतत्त्वसमितिर्दग्धे विपापैधसि॥
दत्तोत्तप्तिमनस्तमस्ततिहृतेर्दैदीप्यते सर्वदा।
नाश्चर्यं रचयंति चित्रचरिताश्चारित्रिणाः कस्य ते॥९५॥

भावार्थ :– जिनके भीतर सम्यक्दर्शन की पवन से प्रेरित सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि की तीव्र ज्वाला सर्व तत्त्वों को स्पष्ट दिखाती हुई, पापरूपी ईंधन को जलाती हुई, मन के अन्धकार के प्रसार को दूर करती हुई सदा जलती है वे नाना प्रकार चारित्र का पालन करते हैं। जिनको देखकर किसको आश्चर्य न आयेगा ? अर्थात् वे अद्भुत चारित्र का पालन करते हैं।

ये लोकोत्तरतां च दर्शनपरां दूतीं विमुक्तिश्रिये।
रोचन्ते जिनभारतीमनुपमां जल्पंति शृण्वंति च॥
लोके भूरिकषायदोषमलिने ते सज्जना दुर्लभाः।
ये कुर्वंति तदर्थमुत्तमधियस्तेषां किमत्रोच्यते॥१०५॥

भावार्थ :– जो कोई परमार्थ स्वरूप को बताने वाली, उत्कृष्ट सम्यक्दर्शन को देने वाली, मोक्षरूपी लक्ष्मी की दूती के समान अनुपम जिनवाणी को पढ़ते हैं, सुनते हैं व उस पर रुचि करते हैं ऐसे सज्जन इन कषायों के दोषों से मलीन लोक में दुर्लभ हैं – कठिनता से मिलते हैं और जो उस जिनवाणी के अनुसार आचरण करने की उत्तम वृद्धि करते हैं उनकी बात क्या कही जावे ? वे तो महान दुर्लभ हैं। ऐसी परोपकारिणी जिनवाणी को समझकर उसके अनुसार यथाशक्ति चलना हमारा कर्तव्य है।

सर्वज्ञः सर्वदर्शी भवमरणजरातंकशोकव्यतीतो ।
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलमलः शश्वदात्मानपायः ।।
दक्षैः संकोचिताक्षैर्भवमृतिचकितैर्लोकयात्रानपेक्षैः ।
नष्टाबाधात्मलीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये चिंतनीयः ।।१२०।।

भावार्थ :-- परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, जन्म, मरण, जरा, रोग व शोकादि दोषों से रहित है, अपने स्वभाव से पूर्ण है, सर्व कर्म मलरहित है, नाशरहित नित्य है । जो लोग चतुर हैं, इन्द्रियों के विजयी हैं, जन्म मरण से भयभीत हैं, संसार की यात्रा को नहीं चाहते हैं उनको ऐसे शुद्ध आत्मा का चिन्तवन बाधा रहित, अतीन्द्रिय, स्थिर व शुद्ध सुख की प्राप्ति के लिए करना योग्य है । निश्चय से अपना आत्मा भी ऐसा ही है । अपने आत्मा को भी परमात्मा के समान जानकर सदा अनुभव करना चाहिये, जिससे सहज सुख का लाभ हो ।

(२५) श्री पद्मनंदि मुनि सिद्धस्तुति में कहते हैं :--

स्याच्छब्दामृतगर्भितागममहारत्नाकरस्नानतो
धौता यस्य मतिः स एव मनुते तत्त्वं विमुक्तात्मनः ।
तत्तस्यैव तदेव याति सुमतेः साक्षादुपादेयतां
भेदेन स्वकृतेन तेन च बिना स्वं रूपमेकं परम् ।।१४।।

भावार्थ :-- जिस पुरुष की मति स्याद्वादरूपी जल के भरे समुद्र में स्नान करने से धोई गई है – निर्मल हो गई है वही शुद्ध व मुक्त आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है, तथा वह उसी स्वरूप को ग्रहण करने योग्य साक्षात् मानता है । व्यवहार से सिद्ध में व संसारी में भेद किया हुआ है । यदि निश्चय से इस भेद को दूर कर दिया जावे तो जो सिद्ध स्वरूप है वही इस अपने आत्मा का स्वभाव है, उसी को ही अनुभव करना योग्य है ।

यः सिद्धे परमात्मनि, प्रविततज्ञानैकमूर्तौ किल
ज्ञानी निश्चयतः स एव सकलप्रज्ञावतामग्रणी ।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रसहितैः किं तत्र शून्यैर्यतो
उद्योगं विदधाति वेध्यविषये तद्बाणमावर्ण्यते ।।२४।।

भावार्थ :-- जो पुरुष विस्तीर्ण ज्ञानाकार श्रीसिद्ध परमात्मा को जानता है वही सर्व बुद्धिमानों में शिरोमणि है । जो सिद्ध परमात्मा के ज्ञान से शून्य

होकर तर्क व्याकरण आदि शास्त्रों को जानता है तो उससे क्या प्रयोजन होगा ? बाण तो उसे ही कहते हैं जो निशाने को वेध सके अन्यथा व्यर्थ है । आत्मज्ञान ही यथार्थज्ञान है, उसके बिना अनेक विद्याएं आत्महितकारी नहीं हैं ।

(२६) श्री पद्मनंदि मुनि सद्बोधचन्द्रोदय में कहते हैं :--

तावदेव मतिवाहिनी सदा धावति श्रुतगता पुरः पुरः ।
यावदत्र परमात्मसंविदा भिद्यते न हृदयं मनीषिणः ।।३६।।

भावार्थ :-- इस जगत में जब तक परमात्मा का ज्ञान मानव के हृदय में नहीं विराजता है तब तक ही बुद्धि रूपी नदी, शास्त्र रूपी समुद्र की तरफ आगे आगे दौड़ती रहती है । आत्मा का अनुभव होते ही बुद्धि स्थिर हो जाती है ।

बाह्य शास्त्रगहने विहारिणी या मतिर्बहुविकल्पधारिणी ।
चित्स्वरूपकुलसद्मनिर्गता सा सती न सदृशी कुयोषिता ।।३८।।

भावार्थ :-- जो बुद्धि अपने चैतन्यरूपी कुल घर से निकलकर बाहरी शास्त्रों के वन में बिहार करती हुई नाना विकल्प करने वाली है वह बुद्धि सती स्त्री के समान पतिव्रता नहीं है किन्तु खोटी स्त्री के समान व्यभिचारिणी है । बुद्धि वही सफल है जो अपने ही आत्मा में रमण करे, कनेक शास्त्रों के विकल्प भी न करे ।

सुप्त एव बहुमोहनिद्रया दीर्घकालमविरामया जनः ।
शास्त्रमेतदधिगम्य सांप्रतं सुप्रबोध इह जायतामिति ।।४६।।

भावार्थ :-- यह मानव दीर्घकाल से लगातार मोहरूपी निद्रा से सो रहा है । अब तो उसे अध्यात्म शास्त्र को जानना चाहिये और आत्मज्ञान को जागृत करना चाहिये ।

(२७) श्री पद्मनंदि मुनि निश्चयपंचाशत में कहते हैं :--

व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः ।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रित किंचित् ।।८।।

भावार्थ :-- व्यवहारनय अज्ञानी को समझाने के लिए है परन्तु शुद्ध निश्चय नय कर्मों के क्षय के लिए है । इसलिए मैं मोक्ष का इच्छुक होकर अपने आत्मा के कल्याण के लिए "उस शुद्ध निश्चय नय के आश्रित ही कुछ कहूँगा ।"

हिंसोज्झित एकाकी सर्वोपद्रवसहो वनस्थोऽपि ।
तरुरिव नरो न सिद्ध्यति सम्यग्बोधादृते जातु ॥१६॥

भावार्थ :– जो मुनि अहिंसा धर्म पालता हुआ, एकाकी सर्व प्रकार के कष्टों को व उपसर्गों को सहता हुआ वन में रहता है परन्तु आत्मज्ञानमयी सम्यग्ज्ञान से शून्य है वह मुक्त नहीं हो सकता। वह वन में वृक्ष के समान ही रहने वाला है।

(२८) श्री पद्मनंदि मुनि परमार्थविंशति में कहते हैं :–

यस्सातं यदसातमङ्गिषु भवेत्तत्कर्मकार्यं तत-
स्तत्कर्मैव तदन्यदात्मन इदं जानन्ति ये योगिनः ।
ईदृग्भेदविभावनाश्रितधियां तेषां कुतोहं सुखी ।
दुःखी चेति विकल्पकल्मषकला कुर्यात्पदं चेतसि ॥१२॥

भावार्थ :– प्राणियों को साता तथा असाता होती है सो कर्मों के उदय का कार्य है। इसलिए वह कार्य भी कर्म्मरूप ही है। वह आत्मा के स्वभाव से भिन्न है ऐसा योगीगण जानते हैं उनके भीतर भेदज्ञान की वृद्धि होती है तब यह विकल्प कि मैं सुखी हूँ या मैं दुःखी हूँ उनके मन में कैसे हो सकता है।

(२९) श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चय में कहते हैं :–

ज्ञानभावनया जीवो लभंते हितमात्मनः ।
विनयाचारसम्पन्नो विषयेषु पराङ्मुखः ॥४॥

भावार्थ :– यह जीव पांचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर विनय और आचार सहित ज्ञान की भावना करने से आत्मा के कल्याण को प्राप्त करता है।

आत्मानं भावयेन्नित्यं ज्ञानेन विनयेन च ।
मा पुर्नाम्रियमाणस्य पश्चात्तापो भविष्यति ॥५॥

भावार्थ :– हे भव्य जीव ! नित्य आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना ज्ञान के साथ विनय पूर्वक करो नहीं तो मरने पर बहुत पश्चात्ताप होगा कि कुछ न कर सके। मरण का समय निश्चित नहीं है इससे आत्मज्ञान की भावना सदा करनी योग्य है।

न जन्मनः फलं सारं यदेतज्ज्ञानसेवनम् ।
अनिगूहितवीर्यस्य संयमस्य च धारणम् ॥७॥

भावार्थ :-- मानव जन्म का यही सार फल है जो सम्यग्ज्ञान की भावना की जावे और अपने वीर्य को न छिपाकर संयम को धारण किया जावे ।

ज्ञानाभ्यासः सदा कार्यो ध्याने चाध्ययने तथा ।
तपसो रक्षणं चैव यदीच्छेद्धितमात्मनः ॥६॥

भावार्थ :-- हे भाई ! यदि अपने आत्मा का हित चाहते हो तो ध्यान तथा स्वाध्याय के द्वारा सदा ही ज्ञान का मनन करो और तप की रक्षा करो ।

ज्ञानादीत्यो हृदिर्यस्य नित्यमुद्योतकारकः ।
तस्य निर्मलतां याति पंचेन्द्रियविगङ्गना ॥१०॥

भावार्थ :-- जिसके हृदय में ज्ञान सूर्य सदा प्रकाशमान रहता है उसकी पांचों इन्द्रियों की दिशारूपी स्त्री निर्मल रहती है । अर्थात् इन्द्रियाँ विकार रहित अपना २ काम ऐसा करती हैं जिससे आत्मा का अहित न हो ।

सर्वद्वन्द्वं परित्यज्य निभृतेनान्तरात्मना ।
ज्ञानामृत सदापेयं चित्ताल्हादमुत्तमम् ॥१२॥

भावार्थ :-- अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि को निश्चिन्त होकर सर्व रागद्वेषादि के झगड़े को छोड़कर चित्त को आनन्द देनेवाले उत्तम आत्मज्ञानरूपी अमृत का पान सदा करना चाहिये ।

ज्ञानं नाम महारत्नं यन्न प्राप्तं कदाचन ।
संसारे भ्रमता भीमे नानादुःखविषायिनि ॥१३॥
अधुना तत्त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनसंयुतम् ।
प्रमादं मा पुनः कार्षीर्विषयास्वादलालसः ॥१४॥

भावार्थ :-- आत्मज्ञानरूपी महा रत्न है उसको अब तक कभी भी तूने इस अनेक दुःखों से भरे हुए भयानक संसार में भ्रमते हुए नहीं पाया । उस महा-रत्न को आज तूने सम्यग्दर्शन सहित प्राप्त कर लिया है अब आत्मज्ञान का अनुभव कर विषयों के स्वाद की लालसा में पड़कर प्रमादी मत बन ।

शुद्धे तपसि सद्वीर्यं ज्ञानं कर्मपरिक्षये ।
उपयोगिधनं पात्रे यस्य याति स पंडितः ॥१८॥

भावार्थ :– वही पंडित है जिसका आत्मा का वीर्य शुद्ध तप में खर्च होता है, जो ज्ञान को कर्मों के क्षय में लगाता है तथा जिसका धन योग्य पात्रों के काम आता है ।

गुरुशुश्रूषया जन्म चित्तं सद्ध्यानचिन्तया ।
श्रुतं यस्य समे याति विनियोगं स पुण्यभाक् ॥१६॥

भावार्थ :– वही पुण्यात्मा है जिसका जन्म गुरु की सेवा करते हुए बीतता है, जिसका मन धर्मध्यान की चिंता में लीन रहता है तथा जिसके शास्त्र का अभ्यास साम्यभाव की प्राप्ति के लिये काम में आता है ।

नियतं प्रशमं याति कामदाहः सुदारुणः ।
ज्ञानोपयोगसामर्थ्याद्विषं मंत्रपदैर्यथा ॥११३॥

भावार्थ :– भयानक भी काम का दाह, आतमध्यान व स्वाध्याय में ज्ञानोपयोग के बल से नियम से शांत हो जाता है जैसे मंत्र के पदों से सर्प का विष उतर जाता है ।

प्रज्ञाङ्गना सदा सेव्या पुरुषेण सुखावहा ।
हेयापादेयतत्वज्ञा या रता सर्वकर्मणि ॥२५८॥

भावार्थ :– प्रज्ञा या भेदविज्ञानमयी विवेक बुद्धि सर्व कार्यों में त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्व को जानने वाली रहती है । इसलिये हर एक पुरुष को उचित है कि इस सुखकारी प्रज्ञारूपी स्त्री की सदा सेवा करें ।

सत्येन शुद्ध्यते वाणी मनो ज्ञाने नशुद्ध्यति ।
गुरुशुश्रूषया कायः शुद्धिरेष सनातनः ॥३१७॥

भावार्थ :– वाणी की शुद्धि सत्य वचन से रहती है, मन सम्यग्ज्ञान से शुद्ध रहता है, गुरु सेवा से शरीर शुद्ध रहता है, यह अनादि से शुद्धि का मार्ग है ।

(३०) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं :–

त्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुताः ।
यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ॥१-७॥

भावार्थ :-- जिसमें तीन काल के गोचर अनन्त गुण पर्याय संयुक्त पदार्थ अतिशय रूप से प्रतिभासित होते हैं उसी को ज्ञानियों ने ज्ञान कहा है । ज्ञान वही है जो सर्व ज्ञेयों को जान सके ।

अनन्तानन्तभागेऽपि यस्य लोकश्चराचरः ।
अलोकश्च स्फुरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिनां मतम् । १०-७॥

भावार्थ :-- केवलज्ञान ज्योति का स्वरूप योगियों ने ऐसा कहा है कि जिस ज्ञान के अनन्तानन्त भाग में ही सर्व चर अचर लोक तथा अलोक प्रतिभासित हो जाता है । ऐसे अनन्त लोक हों तो भी उस ज्ञान में झलक जावें । इतना विशाल व आश्चर्यकारी केवलज्ञान है ।

अगम्यं यन्मृगाङ्कस्य दुर्भेद्यं यद्रवेरपि ।
तद्दुर्बोधोद्धतं ध्वान्तं ज्ञानभेद्यं प्रकीर्तितम् ॥११-७॥

भावार्थ :-- जिस मिथ्यात्व के अंधकार को चन्द्रमा नहीं मेट सकता, सूर्य नहीं भेद सकता उस अज्ञानांधकार को सम्यग्ज्ञान मेट देता है, ऐसा कहा गया है ।

बोध एव दृढः पाशो हृषीकमृगबन्धने ।
गारुडश्च महामंत्रः चित्तभोगिविनिग्रहे ॥१४-७॥

भावार्थ :-- इन्द्रिरूपी मृगों को बांधने लिये सम्यग्ज्ञान ही दृढ़ फांसी है, और चित्तरूपी सर्प को वश करने के लिये सम्यग्ज्ञान ही एक गारुड़ी महामंत्र है ।

अज्ञानपूर्विका चेष्टा यतेर्यस्यात्र भूतले ।
स बध्नात्यात्मनात्मानं कुर्वन्नपि तपश्चिरं ॥१६-७॥

भावार्थ :-- इस पृथ्वी पर जो साधु अज्ञानपूर्वक आचरण पालता है वह दीर्घकाल तक तप करता रहे तो भी अपने को कर्म से बांधेगा । अज्ञानपूर्वक तप बन्ध ही का कारण है ।

ज्ञानपूर्वमनुष्ठान निःशेषं यस्य योगिनः ।
न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे ॥२०-७॥

भावार्थ :-- जिस मुनि का सर्व आचरण ज्ञानपूर्वक होता है उसके कर्मों का बंध किसी भी क्षण में नहीं होता है ।

दुरिततिमिरहंसं मोक्षलक्ष्मीसरोजं ।
मदनभुजगमन्त्रं चित्तमातङ्गसिंहं ।
व्यसनघनसमीरं विश्वतत्त्वैकदीपं ।
विषयशफरजालं ज्ञानमाराधय त्वं ।।२२-७।।

भावार्थ :– हे भव्य जीव ! सम्यग्ज्ञान की आराधना करो । यह सम्यग्ज्ञान पाप रूपी अंधकार के हरने को सूर्य के समान है, मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवास के लिये कमल के समान है, कामरूपी सर्प के कीलने को मंत्र के समान है, मनरूपी हाथी के वश करने को सिंह के समान है, आपदारूपी मेघों को उड़ाने के लिये पवन के समान है, समस्त तत्त्वों को प्रकाश करने के लिये दीपक के समान है, तथा पाँचों इन्द्रियों के विषयों को पकड़ने के लिये जाल के समान है ।

तद्विवेच्य ध्रुवं धीर ज्ञानार्कालोकमाश्रय ।
विशुष्यति च यं प्राप्य रागकल्लोलमालिनी ।।२२-२३।।

भावार्थ :– भली प्रकार विचार करके हे धीर प्राणी ! तू निश्चय से आत्मज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश का आश्रय ले, जिस सूर्य के प्रकाश के होने से रागरूपी नदी सूख जाती है ।

अलब्धपूर्वमासाद्य तदासौ ज्ञान दर्शने ।
वेत्ति पश्यति निःशेषं लोकालोकं यथास्थितम् ।।३१-४२।।
तदा स भगवान् देवः सर्वज्ञः सर्वदोदितः ।
अनन्तसुखवीर्यादिभूतेः स्यादग्रिमं पदम् ।।३२-४२।।

भावार्थ :– केवली भगवान चार घातिय कर्म के नाश होने पर जिनको पहले कभी प्रगट नहीं किया था उन केवलज्ञान व केवलदर्शन गुणों को प्रगट कर सर्व लोक और अलोक यथावत् देखते जानते है तब ही वे भगवान् सर्व काल प्रकाश करने वाले सर्वज्ञ देव होते हैं और अनन्त सुख और अनंत वीर्य आदि विभूति के प्रथम स्वामी होते हैं ।

(३१) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्त्वज्ञानतरंगिणी में कहते हैं :–

अर्थान् यथास्थितान् सर्वान् समं जानाति पश्यति ।
निराकुलो गुणी योऽसौ शुद्धचिद्रूप उच्यते ।।३-१।।

भावार्थ :-- जो सर्व पदार्थों को जैसा उनका स्वरूप है इसी रूप से एक ही साथ देखता है व जानता है तथा जो निराकुल है और गुणों का भण्डार है, उसे शुद्ध चैतन्य प्रभु परमात्मा कहते हैं ।

दुर्लभोऽत्र जगन्मध्ये चिद्रूपरुचिकारकः ।
ततोऽपि दुर्लभं शास्त्रं चिद्रूपप्रतिपादकं ॥८-८॥

ततोऽपि दुर्लभो लोके गुरुस्तदुपदेशकः ।
ततोऽपि दुर्लभं भेदज्ञानं चिंतामणिर्यथा ॥९-८॥

भावार्थ :-- इस लोक में शुद्ध चैतन्य के स्वरूप की रुचि रखने वाला मानव दुर्लभ है, उससे भी कठिन चैतन्य स्वरूप के बताने वाले शास्त्र का मिलना है । उससे भी कठिन उसके उपदेशक गुरु का लाभ होना है । वह भी मिल जाय तो भी चिन्तामणि रत्न के समान भेदविज्ञान का प्राप्त होना दुर्लभ है । यदि कदाचित् भेद विज्ञान हो जाय तो आत्म कल्याण में प्रमाद न करना चाहिये ।

अच्छिन्नधारया भेदबोधनं भावयेत् सुधीः ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै सर्वशास्त्रविशारदः ॥१३-८॥

भावार्थ :-- सर्व शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान को उचित है कि शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के लिये लगातार धारावाही भेदविज्ञान की भावना करे, आत्मा को अनात्मा से भिन्न मनन करे ।

सता वस्तूनि सर्वाणि स्याच्छब्देन वचांसि च ।
चिता जगति व्याप्तानि पश्यन् सद्दृष्टिरुच्यते ॥७-१२॥

भावार्थ :-- वह सम्यग्दृष्टि व सम्यग्ज्ञानी कहा जाता है जिसको विश्वास है कि सर्व वस्तु सत्‌रूप है तथा जो स्यात् शब्द के साथ वाणी बोलता है अर्थात् जो अनेकान्त पदार्थ को समझाने के लिये भिन्न-भिन्न अपेक्षा से एक एक स्वभाव को बढ़ाता है तथा जिसको यह विश्वास है कि ज्ञान अपने विषय की अपेक्षा जगत व्यापी है ।

स्वस्वरूपपरिज्ञानं तज्ज्ञानं निश्चयाद् वरं ।
कर्मरेणूच्चये वातं हेतुं विद्धि शिवश्रियः ॥१२-१२॥

भावार्थ :– अपने शुद्ध आत्म स्वरूप का जानना वह श्रेष्ठ निश्चय सम्यग्ज्ञान है। इस ही से कर्मों का क्षय होता है तथा इसी को मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति का साधन जानो।

यदि चिद्रूपेऽनुभवो मोहाभावे निजेत्सत्वात्।
तत्परमज्ञानं स्याद्बहिरंतरसंगमुक्तस्य ॥१३-१२॥

भावार्थ :– बाहरी भीतरी दोनो प्रकार के परिग्रह से रहित साधु के मोह के अभाव होने पर जो अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनुभव होता है वह उत्कृष्ट निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

शास्त्राद् गुरोः सधर्मादिर्ज्ञानमुत्पाद्य चात्मनः।
तस्यावलंबनं कृत्वा तिष्ठ मुंचान्यसंगतिं ॥१०-१५॥

भावार्थ :– शास्त्र को मननकर, सद् गुरु के उपदेश से व साधर्मी भाइयों की संगति से अपने आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर के उसी का आलम्बन लेकर तिष्ठ, उसी का मनन ध्यान और चिंतवन कर, पर पदार्थो की संगति छोड़।

ज्ञेयावलोकनं ज्ञानं सिद्धानां भविनां भवेत्।
आद्यानां निर्विकल्पं तु परेषां सविकल्पकं ॥८-१७॥

भावार्थ :– जानने योग्य पदार्थों का देखना व जानना सिद्ध और संसारी दोनों को होता है। सिद्धों के वह ज्ञान दर्शन निर्विकल्प है, निराकुल स्वाभाविक समभाव रूप है, जब कि संसारी जीवों के ज्ञान दर्शन सविकल्प है, आकुलता सहित है।

(३२) पं० बनारसीदासजी समयसारनाटक में कहते हैं :–

[सवैया तेईसा]

जोग धरें रहे जोगसु भिन्न, अनंत गुणातम केवलज्ञानी।
तासु हृदे द्रहसों निकसी, सरिता समव्है श्रुत सिंधु समानी॥
याते अनंत नयातम लक्षण, सत्य सरूप सिद्धांत बखानी।
बुद्धि लखे न लखे दुरबुद्धि, सदा जगमाँहि जगे जिनवाणी॥३॥

[सवैया इकतीसा]

निहचे में एक रूप व्यवहार में अनेक,
याही नय विरोध ने जगत भरमायो है।
जग के विवाद नाशिवे को जिनआगम है,
ज्या में स्याद्वाद नाम लक्षण सुहायो है॥
दर्शन मोह जाको गयो है सहजरूप,
आगम प्रमाण ताके हिरदे में आयो है।
अनय सो अखंडित अनूतन अनंत तेज,
ऐसो पद पूरण तुरन्त तिन पायो है॥५॥

परम प्रतीति उपजाय गणधर कीसी,
अंतर अनादि की विभावता विदारी है।
भेदज्ञान दृष्टि सो विवेक को शकति साधि,
चेतन अचेतन की दशा निरवारी है॥
करम को नाशकरि अनुभौ अभ्यास धरि,
हिये में हरखि निज शुद्धता संभारी है।
अंतराय नाश गयो शुद्ध परकाश भयो,
ज्ञान को विलास ताको वंदना हमारी है॥२॥

[कवित्त[

ज्ञेयाकार ज्ञान की परिणति, पै वह ज्ञान ज्ञेय नहिं होय।
ज्ञेयरूप षट् द्रव्य भिन्न पद, ज्ञानरूप आतम पद सोय॥
जाने भेद भाव सुविचक्षण, गुण लक्षण सम्यक् दृग जोय।
मूरख कहे ज्ञान महि आकृति, प्रगट कलंक लखे नहिं कोय॥५२॥

(३३) पं० द्यानतरायजी द्यानतविलास में कहते हैं :-

[सवैया तेईसा]

कर्म सुभासुभ जो उदयागत, आवत हैं जब जानत ज्ञाता।
पूरव भ्रामक भाव किये बहु, सो फल मोहि भयौ दुखदाता॥

सो जड़रूप सरूप नहीं मम, मैं निज सुद्ध सुभावहि राता ।
नाश करौं पल में सबकौं अब, जाय बसौं सिवखेत विख्याता ।।६५।।

सिद्ध हुए अब होंइ जु होंइगे, ते सब ही अनुभौगुनसेती ।
ताविन एक न जीव लहै सिव, घोर करौ किरिया बहु केती ।।
ज्यौं तुषमाहिं नहीं कनलाभ, किये नित उद्यम की विधि जेती ।
यौं लखि आदरिये निजभाव, विभाव विनाश कला शुभ एती ।।६६।।

[सवैया इकतीसा]

चेतन के भाव दोय ग्यान औ अग्यान जोय,
एक निजभाव दूजौ परउतपात है ।
तातैं एक भाव गहौ दूजौ भाव मूल दहौ,
जातैं सिवपद लहौ यही ठीक बात है ।।
भावकौ दुखायौ जीव भाव ही सौं सुखी होय,
भाव ही कौं फेरि फेरैं मोखपुर जात है ।
यह तौ नीकौ प्रसंग लोक कहैं सरवंग,
आगही कौ दाधौ अंग आग ही सिरात है ।।१०७।।

केई केई बार जीव भूपति प्रचंड भयौ,
केई केई बार जीव कीटरूप धरयो है ।
केई केई बार जीव नौ ग्रीवक जाय वस्यौ,
केई बार सात में नरक अवतरयो है ।।
केई केई बार जीव राघौ मच्छ होइ चुक्यौ,
केई बार साधारन तुच्छ काय बरयो है ।
सुख और दुःख दोऊ पावत है जीव सदा,
यह जान ग्यानवान हर्ष सोक हरयौ है ।।११५।।

बार बार कहैं पुनरुक्त दोष लागत है,
जागत न जीव तू तौ सोयौ मोह झगमैं ।
आतमासेती विमुख गहै राग दोषरूप,
पंचइन्द्रीविषैसुखलीन पग पगमें ।।

पावत अनेक कष्ट होत नाहिं अष्ट नष्ट,
महा पद मिष्ट भयौ भमै सिष्ट मगमैं ।
जागि जगवासी तू उदासी व्हैके विषयसौं,
लागि शुद्ध अनुभौ ज्यौ आवै नाहिं जगमैं ।।११७।।

[छप्पय]

तिय मुख देखनि अंध, मूक मिथ्यात मननकौं ।
बधिर दोष पर सुनन, लुंज षटकाय हननकौं ।।
पंगु कुतीरथ चलन, सुन्न हिय लेन धरनकौं ।
आलसि विषयनि मांहि, नांहि बल पाप करनकौं ।।
यह अंगहीन किह कामकौ, करै कहा जग बैठकें ।
द्यानत तातें आठौं पहर, रहै आप घर पैठकें ।।५।।
होनहार सो होय, होय नहिं अन-होना नर ।
हरष सोक क्यों करैं, देख सुख दुःख उदैकर ।।
हाथ कछू नहिं परै, भाव-संसार बढ़ावै ।
मोह करमकौं लियौ, तहां सुख रंच न पावै ।।
यह चाल महा मूरखतनी, रोय रोय आपद सहै ।
ग्यानी विभाव नासन निपुन, ग्यानरूप लखि सिव लहै ।।६।।

[कवित्त]

देव गुरु सुभ धर्म कौं जानियै, सम्यक आनियै मोखनिसानी ।
सिद्धनितैं पहलैं जिन मानियै, पाठ पढैं हूजियै श्रुतग्यानी ।।
सूरज दीपक मानक चंदतैं, जाय न जो तम सो तम हानी ।
द्यानत मोहि कृपाकर दो वर, दो कर जोरि नमौं जिनवानी ।।२०।।

[सवैया तेईसा]

जाहीकौं ध्यावत ध्यान लगावत, पावत हैं रिसि परम पदीकौं ।
जा थुति इन्द फनिंद नरिंद, गनेस करैं सब छांडि मदीकौं ।।
जाहींकौ वेद पुरान बतावत, धारि हरै जमराज वदीकौं ।
द्यानत सो घट माहिं लखौ नित, त्याग अनेक विकल्प नदीकौं ।।३३।।

(३४) भैया भगवतीदासजी ब्रह्मविलास में कहते हैं :—

[सवैया इकतीसा]

जो पैं तोहि तरिबे की इच्छा कछू भई भैया,
तौ तौ वीतरागजू के वच उर धारिये।
भौसमुद्रजल में अनादि ही तैं बूडत हो,
जिननाम नौका मिली चित्ततैं न टारिये ।।
खेवट विचारि शुद्ध थिरतासों ध्यान काज,
सुख के समूह को सुदृष्टिसौ निहारिये।
चलिये जो इह पंथ मिलिये श्यौ मारग में,
जन्मजरामरन के भय को निवारिये ।।८।।

\+ + +

वीतराग वानीकी न जानी बात प्राणी मूढ,
ठानी तैं क्रिया अनेक आपनी हठाहठी।
कर्मन के बंध कौन अन्ध कछू सूझै तोहि,
रागदोष परिणतसों होत जो गठागठी ।।
आतमा के जीत की न रीत कहुँ जानै रंच,
ग्रन्थन के पाठ तू करै कहा पठापठी।
मोहको न कियौ नाश सम्यक न लियो भास,
सूत न कपास करै कोरीसौ लठालठी ।।१०।।

\+ + +

सुन जिनवानी जिहँ प्रानी तज्यो रागद्वेष,
तेई धन्य धन्य जिन आगम में गाये हैं।
अमृत समानी यह जिहँ नाहिं उर आनी,
तेई मूढ़ प्रानी भावभँवरि भ्रमाये हैं ।।
याही जिनवानी को सवाद सुख चाखो जिन,
तेही महाराज भये करम नसाये हैं।

तातें दृग खोल 'भैया' लेहु जिनवानी लखि,
सुख के समूह सब याही में बताये हैं ॥४॥

\+ + +

केवली के ज्ञान में प्रमाण ग्रान सब भासै,
लोक औ अलोकनकी जेती कछु बात है।
अतीत काल भई है अनागत में होयगी,
वर्तमान समैकी विदित यों विख्यात है ॥
चेतन अचेतन के भाव विद्यमान सबै,
एक ही समै में जो अनंत होत जात है।
ऐसी कछु ज्ञान की विशुद्धता विशेष बनी,
ताको धनी यहै हंस कैसें विललात है ॥२५॥

[छप्पय]

ज्ञान उदित गुण उदित, मुदित भई कर्म कषायें।
प्रगटत पर्म स्वरूप, ताहिं निज लेत लखायें ॥
देत परिग्रह त्याग, हेत निहचै नित मानत।
जानत सिद्ध समान, ताहि उर अन्तर ठानत ॥
सो अविनाशी अविचल दरब, सर्व ज्ञेय ज्ञायक परम।
निर्मल विशुद्ध शाश्वत सुथिर, चिदानंद चेतन धरम ॥८॥

[कवित्त]

ग्यारह अंग पढै नव पूरव, मिथ्या बल जिय करहि बखान।
दे उपदेश भव्य समुझावत, ते पावत पदवी निर्वान ॥
अपने उर में मोह गहलता, नहिं उपजै सत्यारथ ज्ञान।
ऐसे दरवश्रुत के पाठी, फिरहि जगत भाखें भगवान ॥[illegible]॥

नवां अध्याय

सम्यक्चारित्र और उसका महात्म्य

यह बात बताई जा चुकी है कि यह संसार असार है, दुःखों का सागर है, शरीर अपवित्र व नाशवंत है, भोग अतृप्तिकारी व आकुलतामय है। अतीन्द्रिय सहज सुख ही ग्रहण करने योग्य सच्चा सुख है। वह सुख आत्मा ही का स्वभाव है। इसलिये सहज सुख का साधन आत्मानुभव है या आत्मध्यान है। इसी आत्मानुभव को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता कहते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का निश्चयनय तथा व्यवहारनय से कुछ स्वरूप कहा जा चुका है। अब इस अध्याय में सम्यक्चारित्र का कुछ संक्षिप्त कथन किया जाता है।

निश्चयनय से सम्यक्चारित्र :- अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिरता प्राप्त करना, रागद्वेष मोह के विकल्पों से रहित हो जाना, निश्चय सम्यक्चारित्र है। आत्मा का स्वभाव यदि विचार किया जावे तो वह शुद्ध अखड ज्ञानानन्दमय द्रव्य है। वही परमात्मा, वही भगवान, वही ईश्वर, वही परब्रह्म, वही परम ज्योतिस्वरूप है। उसका यह स्वभाव कभी मिटा नहीं, मिटता नही, मिटेगा नहीं। उस आत्मा के स्वभाव में न कुछ बंध है जिससे मुक्ति करने की कल्पना हो, न कोई रागादिभाव है जिनको मिटाना हो, न कोई ज्ञानावरणादि कर्म हैं जिनसे छूटना हो, न कोई शरीरादि नौकर्म है जिनकी संगत हटाना हो।

यह आत्मा विकारों से रहित यथार्थ एक ज्ञायक स्वरूप परम शुद्ध समय सार है, स्वसमय है, निराबाध है, अमूर्तिक है। शुद्ध निश्चयनय से उनमें किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। वह सदा ही सहजानंद स्वरूप है। वहां सहज सुख के साधन की कोई कल्पना नहीं है। यह सब द्रव्यार्थिकनय से शुद्ध द्रव्य का विचार है। इस दृष्टि में किसी भी साधन की जरूरत नहीं है।

पर्यायार्थिकनय या पर्याय की दृष्टि देख रही है कि इस संसारी आत्मा के साथ तैजस कार्माण दो सूक्ष्म शरीर प्रवाह रूप से साथ साथ चले आ रहे हैं। इस कार्माण शरीर के ही कारणों से रागद्वेष, मोह आदि भाव कर्म पाये जाते है तथा औदारिक, वैक्रियक, आहारक व अन्य बाहरी सामग्री रूपी नोकर्म का संयोग है। इस अवस्था के कारण ही इस जीव को जन्म मरण करना पड़ता है, दुःख व सुख के जाल में फंसना पड़ता है, बार बार कर्म बंध करके उसका फल भोगते हुए इस ससार में संसरण करना पड़ता है। इसी पर्यायदृष्टि या व्यवहारनय से सहज सुख साधन का विचार है। रत्नत्रय का साधन इसी दृष्टि से करने की जरूरत है, सम्यग्दर्शन से जब आत्मा का सच्चा स्वरूप श्रद्धा में, प्रतीति में, रुचि में जम जाता है, सम्यग्ज्ञान से जब आत्मा का स्वरूप संशयादि रहित परमात्मा के समान ज्ञाता दृष्टा आनंदमय जाना जाता है, तब सम्यक्‌चारित्र से इसी श्रद्धा व ज्ञान सहित शुद्ध आत्मिक भाव में रमण किया जाता है, चला जाता है, परिणमन किया जाता है, तिष्ठा जाता है। यही सम्यक्‌चारित्र है।

इसीलिये चारित्र की बड़ी भारी आवश्यकता है। किसी को मात्र श्रद्धा व ज्ञान करके ही संतोषित न हो जाना चाहिये। किन्तु चारित्र का अभ्यास करना चाहिये। बिना चारित्र के श्रद्धान और ज्ञान अपने अभीष्ट फल को नहीं दे सकते।

एक मनुष्य को श्रद्धान व ज्ञान है कि यह मोती की माला है, पहिनने योग्य है, पहिनने से शोभा होगी परन्तु जब तक वह उसको पहिनेगा नहीं तब तक उसकी शोभा नही हो सकती, बिना पहिने हुए ज्ञान श्रद्धान व्यर्थ है। एक मानव के सामने रसीले पकवान बरफी, पेड़ा, लाडू आदि पदार्थ रक्खे हैं। वह उनका ज्ञान व श्रद्धान रखता है कि ये सेवन योग्य हैं, इसका सेवन लाभकारी है, स्वादिष्ट है, परन्तु जब तक वह उन मिष्ट पदार्थों का सेवन एकाग्र होकर न करेगा तब तक उसका श्रद्धान व ज्ञान कार्यकारी नही है।

एक मानव के सामने पुष्पों का गुच्छा पड़ा हुआ है। वह जानता है व श्रद्धान रखता है कि यह सूंघने योग्य है। सूंघने से शरीर को लाभ होगा परन्तु यदि वह सूंघे नहीं तो उसका ज्ञान व श्रद्धान कुछ भी काम का नही होगा। एक

मानव को श्रद्धान है व ज्ञान है कि बम्बई नगर देखने योग्य है । परन्तु जब तक वह बम्बई में आकर देखेगा नहीं तब तक उसका ज्ञान श्रद्धान सफल न होगा।

एक मानव को श्रद्धान व ज्ञान है कि लाला रतनलाल जी बड़ा ही मनोहर गाना बजाना करते हैं, बहुत अच्छे भजन गाते हैं। जब तक उनको सुनने का प्रबन्ध न किया जाय तब तक यह गाने बजाने का ज्ञान व श्रद्धान उपयोगी नहीं हो सकता है । बिना चारित्र के ज्ञान व श्रद्धान की सफलता नहीं ।

एक मन्दिर पर्वत के शिखर पर है । हमको यह श्रद्धान व ज्ञान है कि उस मन्दिर पर पहुँचना चाहिये व उसका मार्ग इस प्रकार है, इस प्रकार चलेंगे तो अवश्य मन्दिर में पहुँच जावेंगे, परन्तु हम आलसी बने बैठे रहें, चलने का पुरुषार्थ न करें तो हम कभी भी पर्वत के मन्दिर पर पहुँच नही सकते है । जो कोई अयथार्थ तत्वज्ञानी अपने को परमात्मावत् ज्ञाता दृष्टा अकर्त्ता अभोक्ता बन्ध व मोक्ष से रहित मानकर, श्रद्धान कर, जानकर ही सतुष्ट हो जाते है और स्वच्छंद होकर रागद्वेष वर्द्धन कारक कार्यों में प्रवृत्ति रखते रहते हैं कभी भी आत्मानुभव का या आत्मध्यान का साधन नही करते है वे कभी भी अपने श्रद्धान व ज्ञान का फल नहीं पा सकते । वे कभी भी सहज सुख का लाभ नही कर सकते । वे कभी भी कर्मों से मुक्त स्वाधीन नही हो सकते ।

यथार्थ तत्त्वज्ञानी स्वतत्त्व को ही मुख्य सहज सुख का साधन व मुक्ति का मार्ग मानते हैं । यही जैन सिद्धांत का सार है । अतएव निश्चय सम्यक्-चारित्र के लाभ की आवश्यकता है, स्वात्म रमण की जरूरत है, आत्मध्यान करना योग्य है । इसका स्वरूप पहले बताया जा चुका है । आत्मा का यथार्थ ज्ञान व यथार्थ श्रद्धान होते हुए जितने अंश में स्वस्वरूप में थिरता, एकाग्रता, तन्मयता होगी वही निश्चय सम्यक्चारित्र है ।

जैन सिद्धांत ने इसीलिये स्वात्मानुभव की श्रेणियां बताकर अविरत सम्यग्दृष्टि स्वात्मानुभव को दोज का चन्द्रमा कहा है । वही पांचवें देशविरत गुणस्थान में अधिक प्रकाशित होता है । छठे प्रमत्तविरत में इससे अधिक, अप्रमत्त विरत में इससे अधिक-श्रेणी में उससे अधिक, क्षीण मोह गुणस्थान में उससे अधिक, सयोग केवलि परमात्मा के पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान स्वात्मानुभव

प्रकाशित हो जाता है । इसी स्वानुभव को ही धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान कहते हैं । इसी को शुद्ध योग कहते हैं । इसी को कारण समयसार कहते हैं, परमात्मा के स्वानुभव को कार्य समयसार कहते हैं । इसी को सहज सुख साधन कहते हैं । परमात्मा के स्वानुभव पूर्ण अनंतसुख को सहज सुख साध्य कहते हैं ।

वास्तव में मन, वचन, कार्यों की चंचलता रागद्वेष मोह से या कषायों के रंग से रंगी हुई स्वात्मानुभव में बाधक है । जितनी २ यह चंचलता मिटती जाती है उतनी उतनी ही स्वात्मानुभव की कला अधिक अधिक चमकती जाती है । जैसे पवन के झोंकों से समुद्र क्षोभित होकर थिर नहीं रहता है, जितना २ पवन का झोंका कम होता जाता है उतना २ क्षोभपना भी कम हो जाता है । जब पवन का संचार बिलकुल नही रहता है तब समुद्र बिलकुल थिर हो जाता है उसी तरह रागद्वेष या कषायों के झकोरे जितने अधिक होते हैं उतना ही आत्मा का उपयोग रूपी जल क्षोभित व चंचल रहता है । जितना २ कषायों का उदय घटता जाता है, चंचलता कम होती जाती है, कषायों का अभाव शुद्धात्मचर्या को निष्कम्प प्राप्त करा देता है ।

निश्चय सम्यक्चारित्र या आत्मानुभव की प्राप्ति का एक सहज उपाय यह है कि विश्व को व स्वपर को व्यवहार नय से देखना बंद करके निश्चयनय से देखा जावे । निश्चयनय की दृष्टि में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छहों द्रव्य पृथक् २ अपने मूल स्वभाव में ही दिखलाई पड़ेंगे । धर्म, अधर्म, काल, आकाश तो सदा ही स्वभाव में रहते है, वे वैसे ही दिख पड़ेंगे । पुद्गल रूप शुद्ध परमाणु रूप दिखलाई देंगे । उनकी शोभनीक व अशोभनीक मकान मन्दिर महल वस्त्र आभूषण बर्तन आदि की अवस्थाएं बिलकुल नहीं दिखलाई देंगी तथा जितने जीव हैं सब शुद्ध परमात्मा के समान दिखलाई पड़ेंगे । आप भी परमात्मा रूप अपने को मालूम पड़ेगा । इस दृष्टि से देखते हुए रागद्वेष की उत्पत्ति के सब कारण हट जावेंगे । छोटे बड़े ऊंच, नीच की, स्वामी सेवक की, मित्र शत्रु की, बंधु अबंधु की, स्त्री पुरुष की, मानव या पशु-की सर्व कल्पनाएँ दूर हो जायेंगी । सिद्ध संसारी का भेद भी मिट जायेगा । अशुचि व शुचि पदार्थ की कल्पना भी चली जायेगी । फल यह होगा कि परम समताभाव जागृत हो जायेगा, समभावरूपी सामायिक का उदय हो जायेगा ।

यह स्वात्मानुभव की प्राप्ति की सीढ़ी है । फिर वह समदृष्टि ज्ञाता आत्मा केवल अपने ही आत्मा की तरह उपयुक्त हो जाता है । कुछ देर के पीछे निर्विकल्पता आ जाती है, स्वरूप में स्थिरता हो जाती है, स्वानुभव हो जाता है, यही निश्चय सम्यक्चारित्र है । निश्चय सम्यक्चारित्र स्वात्मानुभवरूप ही है । न यहां मन का चिन्तवन है न वचन का जल्प या मनन है, न काय का हलन चलन है – मन, वचन. काय की क्रिया से अगोचर है । वास्तव में स्वात्मानुभव होते हुए मन का मरण ही हो जाता है या लोप ही हो जाता है या अस्त ही हो जाता है । मन, वचन, काय के विकारों के मध्य में पड़ा हुआ निर्विकार आत्मा आत्मारूप से झलक जाता है, विकार सब मिट जाते हैं ।

सम्यक्चारित्र बड़ा ही उपकारी है । इसी का अभ्यास वीतराग विज्ञानमय भाव की उन्नति करता है व सराग व अज्ञानमय भाव को दूर करता है । यह बात साधक को बराबर ध्यान में रखनी चाहिये कि जब तक आत्मानुभव न हो तब तक निश्चय सम्यक्चारित्र का उदय नहीं हुआ । जैसे व्यापारी को हर एक व्यापार करते हुए धनागम पर लक्ष्य है, कुटुम्ब के भीतर सर्व प्राणियों का परिश्रम करते हुए, मकान में अन्नादि सामग्री एकत्र करते हुए, बर्तनादि व लकड़ी जमा करते हुए, रसोई का प्रबंध करते हुए, यही लक्ष्य रहता है कि हमारा सबका क्षुधारोग मिटे । इसी तरह साधक का लक्ष्य स्वात्मानुभव रहना चाहिये । सम्यक्चारित्र जितने अंश है वह एक अपूर्व आत्मिक भाव का झलकाव है जिसमें सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान भी गर्भित है ।

वास्तव में उपयोगात्मक या भाव निक्षेपरूप सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान वहीं होते है जहां सम्यक्चारित्र होता है । जब स्वानुभव में एकाग्रता होती है वहीं सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों की एकता है, वही मोक्षमार्ग है, वही कर्मों के संवर करने का उपाय है, वहीं ध्यान की अग्नि है जो पूर्व बद्ध कर्मों को दग्ध करती है । जैसे अग्नि की ज्वाला जलती हुई किसी चूल्हे में एक साथ दाहक, पाचक, प्रकाशक का काम कर रही है, वैसे स्वात्मानुभव की ज्योति जलती हुई सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमयी परिणमन करती हुई अपना काम कर रही है ।

अग्नि की ज्वाला एक साथ लकड़ी को जला रही है, भोजन को पका रही है, अंधकार को नाश कर रही है। इसी तरह स्वात्मानुभवरूप सम्यक्-चारित्र से एक साथ ही कर्म जलते हैं, आत्मबल बढ़ते हुए आत्मानन्द का स्वाद आता है तथा आत्मज्ञान की निर्मलता होती है, अज्ञान का अंधकार मिटता जाता है। इसी सम्यक्चारित्र से धारावाही अभ्यास से मोहकर्मदग्ध हो जाता है। फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अंतराय कर्म जल जाते हैं। अनंत बल, अनंत सुख का प्रकाश हो जाता है, अनंत दर्शन व अनंत ज्ञान झलक जाता है, आत्मा परमात्मा हो जाता है। सम्यक्चारित्र ही जीव को संसारी से सिद्ध अवस्था में बदल देता है।

निश्चय सम्यक्चारित्र की तरफ प्रेमभाव, प्रतिष्ठाभाव, उपादेयभाव, भक्तिभाव, आराधकभाव, तीव्र रुचिभाव रहना चाहिये, तब ही इसकी वृद्धि होती जायेगी। यह भी याद रखना चाहिये कि निश्चय सम्यक्चारित्र आत्मा के पूर्ण थिरतारूप चारित्र का उपादान कारण है — मूल कारण है। जैसे सुवर्ण की थोड़ी शुद्धता अधिक शुद्धता का उपादान कारण है। जैसे सुवर्ण की शुद्धता के लिये मसाले की व अग्नि की सहायता की जरूरत है, केवल सुवर्ण अपने आप ही शुद्ध नही हो सकता। हर एक कार्य के लिये उपादान तथा निमित्त दो कारणों की आवश्यकता है। उपादान कारण कार्यरूप वस्तु स्वयं हुआ करती है, निमित्तकारण बहुत से सहकारी कारण होते हैं। गेहूँ से रोटी अपने ही उपादान कारण से पलटती हुई बनी है परन्तु निमित्त कारण चक्की बेलन, तवा, अग्नि आदि मिले है। इसी तरह निश्चय सम्यक्चारित्र के लिये कितने ही निमित्तों की जरूरत है, जिससे उपयोग, निश्चिन्त होकर — निराकुल होकर स्वरूप रमण कर सके। ऐसे निमित्तों को मिलाने के लिये व्यवहार सम्यक्चारित्र की आवश्यकता है।

व्यवहार सम्यक्चारित्र की सहायता से जितना जितना मन व इन्द्रियों पर विजय लाभ किया जायेगा, जितना जितना मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोका जायेगा, जितना जितना इच्छा को घटाया जायेगा, जितना जितना जगत के चेतन व अचेतन पदार्थों से सम्पर्क या संयोग दूर किया जायेगा, जितना जितना ममता का घटाव किया जायेगा, जितना जितना समता का बढ़ाव किया

जायेगा, उतना उतना निश्चय सम्यक्चारित्र के प्रकाश का साधन बनता जायेगा। इसीलिये व्यवहार सम्यक्चारित्र की आवश्यकता है।

व्यवहार सम्यक्चारित्र :– जो असली चारित्र तो न हो परन्तु चारित्र के प्रकाश में सहायक हो उसको ही व्यवहार चारित्र कहते हैं। यदि कोई व्यवहारचारित्र पाले परन्तु उसके द्वारा निश्चय सम्यक्चारित्र का लाभ न कर सके तो वह व्यवहारचारित्र यथार्थ नहीं कहा जायेगा, सम्यक् नहीं कहा जायेगा। जैसे कोई व्यापार वाणिज्य तो बहुत करे परन्तु धन का लाभ नहीं कर सके तो उस व्यापार को यथार्थ व्यापार नहीं कहा जायेगा।

जैसे कोई भोजनादि सामग्री तो एकत्र करे परन्तु रसोई बनाकर पेट में भोजन न पहुंचा सके तो उसका आरम्भ यथार्थ नही कहा जायेगा। निश्चय सम्यक्चारित्र रूप स्वात्मानुभव पर लक्ष्य है, उसी की खोज है, उसी के रमण का प्रेम है और तब उसमें निमित्त साधनों का संग्रह किया जाता है तो उसको व्यवहार सम्यक्चारित्र कहा जायेगा। व्यवहार सम्यक्चारित्र दो प्रकार का है – एक अनगार या साधुचारित्र दूसरा सागार या श्रावकचारित्र।

अनगार या साधुचारित्र :– यहां सक्षेप से सामान्य कथन किया जाता है। यह प्राणी क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों के वशीभूत होकर रागी, द्वेषी होता हुआ अपने स्वार्थ साधन के लिये पाँच प्रकार के पापकर्म किया करता है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह (धन धान्यादि में मूर्च्छा) इन्हीं का पूर्ण त्याग करना साधु का चारित्र है। इन्ही के पूर्ण त्याग को महाव्रत कहते हैं, इन्ही की दृढ़ता के लिये पांच समिति तथा तीन गुप्ति का पालन किया जाता है। अतएव तेरह प्रकार का व्यवहारचारित्र साधु का धर्म कहलाता है। इनमें पांच महाव्रत मुख्य है :–

पांच अहिंसादि महाव्रत :– अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग, ये पांच महाव्रत है। यद्यपि ये पांच हैं तथापि एक अहिंसा महाव्रत में शेष चार गर्भित हैं, असत्य बोलने से, चोरी करने से, कुशील भाव से, परिग्रह की तृष्णा से आत्मा के गुणों का घात होता है। अतएव ये सब हिंसा के ही भेद हैं। जहां हिंसा का सर्वथा त्याग है वहां इनका भी त्याग हो जाता है। शिष्य को खुलासा करने के लिये इनका विस्तार इस प्रकार है :–

अहिंसा का बहुत साधारण स्वरूप तो यह है कि जो बात हम अपने लिये नहीं चाहते हैं वह बात हम दूसरों के लिये न चाहें, हम नहीं चाहते हैं कि हमारे सम्बन्ध में कोई बुरा विचार करे, कोई हमें झूठ बोल के व अन्य तरह से ठगे, हमें अपशब्द कहे, हमें मारे पीटे व हमारी जान लेवे व हमारी स्त्री पर कोई कुदृष्टि करे, वैसे उनको भी दूसरों का बुरा न विचारना चाहिये। दूसरों को असत्य बोलकर व अन्य तरह न ठगना चाहिये, अपशब्द न कहना चाहिये, न दूसरों को मारना पीटना चाहिये, न प्राण हरण करना चाहिये, न पर की स्त्री पर कुभाव करना चाहिये।

इन सब बुरे कामों की प्रेरणा भीतर अशुद्ध भावों से होती है। इसलिये जिन रागद्वेष या क्रोध, मान, माया, लोभादि या प्रमाद भाव से आत्मा के शुद्ध शांतभाव का घात होता है उन भावों को "भावहिंसा" कहते हैं तथा अपने व दूसरों के द्रव्य प्राणों का घात करना "द्रव्य हिंसा" है। द्रव्य प्राणों का स्वरूप जीव द्रव्य के वर्णन में हो चुका है। भावहिंसा द्रव्यहिंसा का कारण है। जिस समय क्रोध भाव उठता है वह उस आत्मा के शांतभाव का घात कर देता है। क्रोधी के मन, वचन, काय आदि द्रव्य प्राणों में भी निर्बलता हो जाती है। पीछे जब वह क्रोधवश किसी को मारता पीटता है व हानि पहुंचाता है तब दूसरे के भाव प्राणों की व द्रव्य प्राणों की हिंसा होती है। जब सब जीव सुख शांति चाहते हैं व जीते रहना चाहते हैं। तब अहिंसा महाव्रत ही सबकी इस भावना को सिद्ध कर सकता है जो पूर्ण अहिंसा को पालेगा, वह अपने भावों में क्रोधादि न आने देगा, वह ऐसा बर्ताव करेगा जिससे कोई भी स्थावर व त्रस प्राणी के प्राण न घाते जावें।

यही साधुओं का परम धर्म है जो अनेक प्रकार कष्ट दिये जाने पर भी कष्टदाता पर क्रोधभाव नहीं लाते हैं, जो भूमि निरखकर चलते हैं व वृक्ष की एक पत्ती भी नहीं तोड़ते हैं। हिंसा दो प्रकार की होती है – "संकल्पी और आरंभी"। जो प्राण घात हिंसा के संकल्प से किया जावे वह संकल्पी हिंसा है, जैसे धर्म के नाम से पशुबलि करना, शिकार खेलना, मांसाहार के लिये पशुओं को कटवाना आदि।

आरंभी :– हिंसा वह है जो गृहस्थी को आवश्यक संसारी कामों में करनी पड़ती है। वहां हिंसा करने का संकल्प नहीं होता है किन्तु संकल्प अन्य आवश्यक आरम्भ का होता है, परन्तु उनमें हिंसा हो जाती है। इस हिंसा को आरम्भी हिंसा कहते हैं। इस हिंसा के तीन भेद हैं :–

(१) उद्यमी :– जो आजीविका साधन के हेतु असिकर्म (शस्त्र कर्म), मसिकर्म (लिखना), कृषिकर्म, वाणिज्यकर्म, शिल्पकर्म और विद्याकर्म इन छः प्रकार के कामों को करते हुए होती है।

(२) गृहारंभी :– जो गृह में आहार पान के प्रबन्धार्थ, मकान बनाने, कूप खुदाने, बाग लगाने आदि में होती है।

(३) विरोधी :– जो दुष्टों के द्वारा व शत्रुओं के द्वारा आक्रमण किये जाने पर उनसे अपनी, अपने कुटुम्ब की, अपने माल की, अपने देश की रक्षार्थ और कोई उपाय न होने पर उनको मारकर भगाने में होती है।

अहिंसा महाव्रती इस संकल्पी और आरंभी दोनों ही प्रकार की हिसा को त्याग कर देते हैं। त्रस व स्थावर सर्व की रक्षा करते हैं, भावों में अहिंसात्मक भाव को पालते हैं, कषाय भावों से अपनी रक्षा करते हैं।

सत्य महाव्रत :– में चार तरह का असत्य नहीं कहते हैं :– (१) जो वस्तु हो उसको नही है ऐसा कहना। (२) जो वस्तु न हो उसको है ऐसा कहना। (३) वस्तु कुछ हो कहना कुछ और (४) गर्हित, अप्रिय व सावद्य वचन जैसे कठोर, निंदनीक, गाली के शब्द व हिंसामयी आरंभ बढ़ाने वाले वचन। महाव्रती साधु सदा हितमित मिष्ट वचन शास्त्रोक्त ही बोलते हैं।

अचौर्य महाव्रत :– में बिना दिये हुए किसी की कोई वस्तु नहीं ग्रहण करते हैं, जल मिट्टी भी व जंगल की पत्ती भी बिना दी नहीं लेते है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत :– में मन, वचन, काय कृत कारित अनुमोदना से कभी भी कुशील का सेवन नहीं करते हैं। काम भाव से अपने परिणामों की रक्षा करते हैं।

परिग्रह त्याग महाव्रत :– में मूर्च्छा भाव का त्याग करते हैं, चौबीस प्रकार परिग्रह को त्यागते हैं। चौदह अंतरंग विभाव भाव जैसे मिथ्यादर्शन,

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद नपुंसकवेद । दस प्रकार बाहरी, परिग्रह जैसे क्षेत्र, मकान, चाँदी, सोना, धन (गो आदि), धान्य, दासी, दास, कपड़े, बर्तन ।

पांच समिति :— इन पांच महाव्रतों की रक्षा के हेतु पांच समिति पालते हैं । प्रमाद रहित बर्ताव को समिति कहते हैं ।

ईर्या समिति :— जंतु रहित प्राशुक व रौंदी भूमि पर दिन के प्रकाश में चार हाथ आगे देखकर चलना ।

भाषा समिति :— शुद्ध, मिष्ट, हितकारी, भाषा बोलना ।

एषणा समिति :— शुद्ध भोजन भिक्षा वृत्ति से लेना जो साधु के उद्देश्य से न बनाया गया हो ।

आदान निक्षेपण समिति :— कोई वस्तु को देखकर रखना व उठाना ।

प्रतिष्ठापना या उत्सर्ग समिति :— मलमूत्र निर्जंतु भूमि पर देखकर करना ।

तीन गुप्ति :— मन को वश रख के धर्मध्यान में जोड़ना **मनोगुप्ति** है । मौन रहना या शास्त्रोक्त वचन कहना **वचन गुप्ति** है — एकासन से बैठना व ध्यान स्वाध्याय में काय को लगाना **कायगुप्ति** है, यह तेरह प्रकार साधु का चारित्र है । साधु निरंतर ध्यान व स्वाध्याय में लीन रहते हैं । इन पांच महाव्रतों की दृढ़ता के लिये एक एक व्रत की ५-५ भावनाएं हैं जिन पर व्रती ध्यान रखते हैं ।

(१) अहिंसाव्रत की पांच भावनाएं :— (१) वचनगुप्ति, (२) मनोगुप्ति, (३) ईर्या समिति, (४) आदान निक्षेपण समिति, (५) आलोकित पान भोजन — भोजन देखभाल कर करना ।

(२) सत्यव्रत की पांच भावनाएं :— (१) क्रोध का त्याग, (२) लोभ का त्याग, (३) भय का त्याग, (४) हास्य का त्याग । क्योंकि इन्हीं चारों के वश असत्य बोला जाता है, (५) अनुवीची भाषण, शस्त्रोक्त बचन कहना ।

(३) अचौर्यव्रत की पांच भावनाएं :— शून्यागार —सूने स्थान में ठहरना, **(२) विमोचिता वास** — छोड़े हुए-उजड़े हुए स्थान पर ठहरना **(३) परो-**

परोपाकरण आप जहां हो दूसरा आवे तो मना न करना व जहां कोई मना करे वहां न ठहरना, **(४) भैक्ष्यशुद्धि** – भिक्षा शुद्ध अंतराय व दोष टालकर लेना **(५) साधर्मी अविसंवाद** – साधर्मी धर्मात्माओं से विसम्वाद या झगड़ा न न करना ।

(४) ब्रह्मचर्य व्रत की पांच भावनाएं :– (१) स्त्री राग कथा श्रवरा त्याग -- स्त्रियों के राग बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने का त्याग (२) तन्मोह-रांगनिरीक्षरा त्याग -- स्त्रियों के मनोहर अंगों के देखने का त्याग (३) पूर्व-रतानुस्मरण – पहले किये हुए भोगों का त्याग (४) वृष्टेष्टरस त्याग -- कामो-द्दीपक पुष्ट रस का त्याग, (५) स्वशरीर संस्कार त्याग -- अपने शरीर के शृंगार का त्याग ।

(५) परिग्रह त्याग व्रत की पांच भावनाएं :-- मनोज्ञ व अमनोज्ञ पांचों इन्द्रियों के पदार्थों को पाकर रागद्वेष न रखकर संतोष पालना । साधुओं का कर्तव्य है कि दशलाक्षणी धर्म की, बारह अनुप्रेक्षाओं की भावना भावे, बाईस परीषहों को जीते, पांच प्रकार चारित्र को बढ़ावे तथा बारह प्रकार तप का साधन करे । उनका संक्षिप्त स्वरूप यह है --

दशलाक्षणी धर्म :– कषायों को पूर्णपने निग्रह करके दश धर्मों को पूर्ण-पने पालें । कष्ट पाने पर भी उनकी विराधना न करें । (१) उत्तम क्षमा, (२) उत्तम मार्दव – मान का अभाव, (३) उत्तम आर्जव – माया चार का अभाव, (४) उत्तम सत्य, (५) उत्तम शौच -- लोभ का अभाव (६) उत्तम संयम – मन इन्द्रियों पर विजय व छः काय के प्राणियों पर दया । (७) उत्तम तप – इच्छानिरोध करके तप पालना, (८) उत्तम त्याग -- ज्ञानदान व अभय-दान देना, (९) उत्तम आकिंचन्य – सर्व से ममता छोड़कर एकाकी स्वरूप को ही अपना मानना, (१०) उत्तम ब्रह्मचर्य ।

बारह भावनाएं :– (१) अनित्य -- धन, धान्य, स्त्री, पुत्र शरीरादि सर्व क्षणभंगुर हैं, नाशवंत हैं, (२) अशरण – मरण से व तीव्र कर्मोदय से कोई बचाने वाला नहीं, (३) संसार -- चार गतिरूप संसार दुःखों का भंडार है, (४) एकत्व -- यह जीव अकेला है । अपनी करणी का आप ही मालिक

है, (५) अन्यत्व – इस जीव से शरीरादि सब पर हैं, (६) अशुचि – यह शरीर अपवित्र है, (७) आश्रव – इन इन भावों से कर्म आते हैं, (८) संवर- इन इन भावों से कर्म रुकते हैं, (९) निर्जरा – तप से कर्म झड़ते हैं, (१०) लोक यह जगत अनादि अनंत अकृत्रिम है, छः द्रव्यों का समूह है, द्रव्यापेक्षा नित्य व पर्यायापेक्षा अनित्य है। (११) बोधिदुर्लभ – रत्नत्रय का लाभ बहुत कठिन है, (१२) धर्म – आत्मा का स्वभाव धर्म है, यही परम हितकारी है।

बाईस परीषह जय :– नीचे लिखी बाईस परीषहों के पड़ने पर शांति से सहना [१] क्षुधा, [२] तृषा, [३] शीत, [४] उष्ण, [५] दंशमशक- डांस मच्छरादि पशु बाधा, [६] नग्नता,]७] अरति, [८[स्त्री, [९] चर्या- चलने की, [१०] निषद्या-बैठने की, [११] शय्या, [१२] आक्रोश-गाली, [१३] वध, [१४] याचना, मांगने के अवसर पर भी न मांगना, [१५] अलाभ-भोजन अन्तराय पर संतोष, [१६] रोग, [१७] तृण स्पर्श, [१८] मल, [१९] सत्कार पुरस्कार-आदर निरादर, [२०] प्रज्ञा-ज्ञान का मद न करना, [२१] अज्ञान-अज्ञान पर खेद न करना, [२२] अदर्शन-श्रद्धा न बिगाड़ना।

चारित्र पांच प्रकार :– (१) सामायिक :– समभाव रखना (२) छेदोपस्थापना :– सामायिक से गिरने पर फिर सामायिक में स्थिर होना (३) परिहार विशुद्धि :– ऐसा आचरण जिसमें विशेष हिंसा का त्याग हो (४) सूक्ष्म सांपराय :– दशवें गुणस्थानवर्ती का चारित्र, जहां मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय है, (५) यथाख्यात :– पूर्ण वीतराग चारित्र।

बारह तप :– छः बाहरी [१] अनशन :– उपवास खाद्य, स्वाद्य लेह्य, [चाटने की] पेय चार प्रकार आहार का त्याग, [२] ऊनोदर :– भूख से कम खाना, दो भाग अन्नादि से एक भाग जल से एक भाग खाली रखना। [३] वृत्तिपरिसंख्यान :– भिक्षा को जाते हुए कोई प्रतिज्ञा लेना, पूर्ण होने पर ही आहार लेना। [४] रसपरित्याग :– मीठा, लवण, दूध, घी, दही, तेल इन छः रसों में से एक व अनेक का त्याग। [५] विविक्त शय्यासन :– एकांत में

शयन व आसन रखना। [६] कायक्लेश :— शरीर का सुखियापन मेटने को कठिन कठिन स्थानों पर जाकर तप करना। छः अन्तरंग [७] प्रायश्चित्त :— कोई दोष लगने पर दंड लेकर शुद्ध होना। [८] विनय :— धर्म व धर्मात्माओं की प्रतिष्ठा। [९] वैय्यावृत्य :— धर्मात्माओं की सेवा करनी। [१०] स्वाध्याय :— शास्त्रों का पठन पाठन व मनन। [११] व्युत्सर्ग :— शरीरादि से ममता त्याग। [१२] ध्यान :— धर्मध्यान व शुक्लध्यान करना।

साधुओं का कर्तव्य है कि इन पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह जय, बारह प्रकार तप से मन, वचन, काय को ऐसा स्वाधीन करें जिससे निश्चय सम्यक्चारित्र का लाभ कर सकें। स्वरूप में रमण ही सामायिक चारित्र है। गृहस्थ का कारावास चिन्ताओं का स्रोत है। अतएव निराकुल होने के लिये गृहस्थ त्यागकर साधुवृत्ति में रहकर विशेष सहज सुख का साधन कर्तव्य है।

सागार या श्रावक का एक देश चारित्र :— अनगार का चारित्र जैसे पांच महाव्रत हैं वैसे सागार का एक देश चारित्र पांच अणुव्रत पालन है। महाव्रत व अणुव्रत का अंतर इस तरह जानना योग्य है कि यदि १०० एक सौ अंश महाव्रत के करें उनमें से १ अंश से लेकर ९९ अंश तक अणुव्रत हैं १०० अंश महाव्रत हैं।

पांच अणुव्रत :— जहां संकल्पी हिंसा का त्याग हो, आरंभी हिंसा का त्याग न हो वह अहिंसा अणुव्रत है। अहिंसा अणुव्रत धारी राज्य कार्य, राज्य प्रबन्ध, देश रक्षार्थ युद्ध, सज्जन पालन, दुर्जन दमन, कृषि, वाणिज्य, शिल्पादि सर्व आवश्यक गृहस्थ के कर्म कर सकता है। समुद्र यात्रा, विदेश गमन आदि भी कर सकता है। वह संकल्पी हिंसा से बचे, शिकार न खेले, मांस न खाए, मांस के लिये पशुवध न करावे। जिस असत्य से राज्यदंड हो जो दूसरों के ठगने के लिये, विश्वासघात के लिये कहा जावे ऐसा असत्य वचन न कहना, तथा प्रिय हितकारी सज्जनों के योग्य वचन कहना सत्य अणुव्रत है। ऐसा श्रावक जिस सत्य वचन से कलह हो जावे, हिंसा की प्रवृत्ति हो जावे, परका

बुरा हो जावे उस सत्य बचन को भी नहीं बोलता है । न्याय व धर्म की प्रवृत्ति में हानि न आवे व वृथा किसी प्राणी का वध न हो, उसको कष्ट न पहुँचे इस बात को विचार कर मुख से वचन निकालता है ।

गिरी, पड़ी, भूली किसी की वस्तु को नहीं लेना अचौर्य अणुव्रत है । विश्वासघात करके, छिप करके, धमकी देकर के, वध करके किसी की सम्पत्ति को श्रावक नहीं हरता है । न्यायपूर्वक अल्प धन में संतोष रखता है । अन्याय से संग्रहीत विपुल धन की इच्छा नहीं करता है । जिस वस्तु की राज्य से व प्रजा से मनाही नहीं है केवल उन्हीं वस्तुओं को बिना पूछे लेता है । जैसे नदी का जल, हाथ धोने को मिट्टी, जंगल के फल व लकड़ी आदि । यदि मनाई हो तो वह ग्रहण नहीं करेगा ।

अपनी विवाहिता स्त्री में संतोष रखकर सर्व पर स्त्रियों को बड़ी को माता समान, बराबर वाली को बहिन के समान, छोटी को पुत्री के समान जो समझता है वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत को पालता है । श्रावक वीर्य को शरीर का राजा समझकर स्वस्त्री में परिमित संतोष के साथ उपभोग करता है जिससे निर्बलता न हो ।

दश प्रकार के परिग्रह का जो अपनी आवश्यकता, योग्यता व इच्छा के अनुकूल जन्मपर्यंत के लिये प्रमाण कर लेना उससे अधिक की लालसा त्याग देना सो परिग्रह प्रमाण अणुव्रत है । जितनी सम्पत्ति का प्रमाण किया हो उस प्रमाण के पूरा हो जाने पर वह श्रावक व्यापारादि बन्द कर देता है फिर संतोष से अपना समय धर्म साधन व परोपकार में व्यतीत करता है । इन पांच अणुव्रतों के मूल्य को बढ़ाने के लिये श्रावक सात शील, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत भी पालता है ।

तीन गुणव्रत :– जो पाँच अणुव्रतों का मूल्य गुणन करे बढ़ादे उनको गुणव्रत कहते हैं जैसे ४ को ४ से गुणा करने से १६ और १६ को १६ से गुणा करने से २५६ होते हैं ।

दिग्विरति :– जन्म पर्यन्त के लिये लौकिक प्रयोजन के हेतु दश दिशाओं में जाने का व व्यापारादि करने का नियम कर लेना उससे अधिक में जाने की

व व्यापार की लालसा को त्याग देना दिग्विरति है । इससे फल यह होता है कि श्रावक नियम किये हुए क्षेत्र के भीतर ही प्रारम्भ करेगा उसके बाहर प्रारंभी हिंसा भी नहीं करेगा ।

देशविरति :– जन्म पर्यन्त के लिये जो प्रमाण किया था उसमें से घटाकर एक दिन, दो दिन, एक सप्ताह के लिये जाने का व्यवहार करने का नियम करना देशविरति है । इससे इतना अधिक लाभ होगा कि वह नियमित काल के लिये नियमित क्षेत्र ही में आरम्भ करेगा, उसके बाहर प्रारंभी हिंसा से बचेगा ।

अनर्थदंड विरति :– नियमित क्षेत्र में भी प्रयोजन भूत कार्य के सिवाय व्यर्थ के आरम्भ करने का त्याग अनर्थदंड विरति है । इसके पांच भेद हैं :– १ 'पापोपदेश' :– दूसरों को पाप करने का उपदेश देना, २ 'हिंसादान' – हिंसाकारी वस्तुएं दूसरों को मांगे देना, ३ 'प्रमादचर्या' – प्रमाद या आलस्य से वृथा वस्तुओं को नष्ट करना, जैसे वृथा वृक्ष के पत्ते तोड़ना, ४ 'दुःश्रुति' – राग द्वेष बढ़ाने वाली, विषय भोगों में फंसाने वाली खोटी कथाओं को पढना सुनना, ५ 'अपध्यान' – दूसरों के अहित का विचार करके हिंसक परिणाम रखना । वृथा पापों के त्याग से व सार्थक काम करने से अणुव्रतों का मूल्य विशेष बढ़ जाता है ।

चार शिक्षाव्रत :– जिन व्रतों के अभ्यास से साधुपद में चारित्र पालने की शिक्षा मिले उनको शिक्षा व्रत कहते हैं । (१) सामायिक :– एकांत में बैठकर रागद्वेष छोड़कर समता भाव रखकर आत्मध्यान का अभ्यास करना प्रातःकाल, मध्यान्हकाल या सायंकाल यथासंभव ध्यान करना सामायिक है ।

(२) प्रोषधोपवास :– एक मास में दो अष्टमी, दो चौदस प्रोषध दिन हैं । उनमें उपवास या एकासन करके धर्मध्यान में समय को बिताना प्रोषधोपवास है ।

(३) भोगोपभोग परिमाण :– जो एक दफे भोगने में आवे सो भोग है । जो बार बार भोगने में आवे सो उपभोग हैं । ऐसे पांचों इन्द्रियों के भोगने योग्य पदार्थों की संख्या प्रतिदिन प्रातःकाल एक दिन रात के लिये संयम की वृद्धि हेतु कर लेना भोगोपभोग परिमाणव्रत है ।

(४) अतिथि संविभाग :-- साधुओं को या अन्य धर्मात्मा पात्रों को भक्तिपूर्वक तथा दुःखित भुखित को करुणापूर्वक दान देकर आहार कराना अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत है। इस तरह एक श्रावक को पांच अणुव्रत और सात शील ऐसे बारह व्रत पालने चाहिये। तथा तेरहवें व्रत की भावना भाना चाहिये। वह है --

(१३) सल्लेखना :-- मरण के समय आत्मसमाधि व शांत भाव से प्राण छूटे ऐसी भावना करनी सल्लेखना या समाधिमरण व्रत है। ज्ञानी श्रावक अपने धर्मात्मा मित्रों का वचन ले लेते हैं कि परस्पर समाधिमरण कराया जावे।

इन तेरह व्रतों को दोष रहित पालने के लिये इनके पांच पांच अति-चार प्रसिद्ध हैं। उनको दूर करना श्रावक का कर्त्तव्य है।

(१) अहिंसा अणुव्रत के पांच अतिचार :-- १. बन्ध :-- कषाय द्वारा किसी को बांधना या बन्धन में डाल देना, ३. वध :-- कषाय से किसी को पीटना, घायल करना, ३. छेद :-- कषाय से किसी के अंग व उपांग छेदकर स्वार्थ साधना, ४. अति भारारोपण :-- मर्यादा से अधिक भार लाद देना, ५. अन्नपान निरोध :-- अपने आधीन मानव या पशुओं का अन्नपान रोक देना।

(२) सत्य अणुव्रत के पांच अतिचार :-- १. मिथ्योपदेश :-- दूसरे को मिथ्या कहने का उपदेश दे देना, २. रहोभ्याख्यान :-- स्त्री पुरुष की एकांत गुप्त बातों का प्रकाश कर देना, ३. कूट लेख क्रिया :-- कपट से असत्य लेख लिखना, ४. न्यासापहार :-- दूसरे की धरोहर को असत्य कहकर कुछ न देना ५. साकार मंत्र भेद :-- किसी की गुप्त सम्मति को अंगों के हलन चलन से जानकर प्रकाश कर देना। इन सब में कषाय भाव हेतु होना चाहिये।

(३) अचौर्य अणुव्रत के पांच अतिचार :-- १. स्तेन प्रयोग :-- दूसरे को चोरी करने का मार्ग बता देना, २. तदाहृतादान :-- चोरी का लाया हुआ माल जानबूझ करके लेना व शंका से लेना, ३. विरुद्ध राज्यातिक्रम :-- राज्य का प्रबन्ध न होने पर मर्यादा को उल्लंघ करके अन्यायपूर्वक लेना देना, ४. हीनाधिकमानोन्मान :-- कमती तौल नाप के देना व बढ़ती तौल नाप के लेना,

५. प्रतिरूपक व्यवहार :-- झूठा सिक्का चलाना व खरी में खोटी मिलाकर खरी कहकर विक्रय करना ।

(४) ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पांच अतिचार :-- १. पर विवाह करण :-- अपने पुत्र पौत्रादि सिवाय दूसरों के सम्बन्ध जोड़ना २. परिग्रहीता इत्वरिका गमन :-- विवाही हुई व्यभिचारिणी स्त्री के पास आना जाना । ३. अपरिग्रहीता इत्वरिका गमन :-- बिना विवाही वेश्यादि के पास आना जाना । ४. अनंगक्रीड़ा :-- काम सेवन के अंग छोड़कर अन्य अंगों से काम सेवन करना, ५. कामतीव्राभिनिवेश :-- काम सेवन की तीव्र लालसा स्व स्त्री में रखना ।

(५) परिग्रह प्रमाण व्रत के पांच अतिचार :-- दस प्रकार के परिग्रह के पांच जोड़े होते हैं जगह मकान, चांदी सोना, धन धान्य, दासी दास, कपड़े बर्तन, इनमें से किसी एक जोड़े में एक को घटाकर दूसरे की मर्यादा बढ़ा लेना ऐसे पांच दोष हैं ।

(६) दिग्विरति के पांच अतिचार :-- १. ऊर्ध्व व्यतिक्रम :-- ऊपर जितनी दूर जाने का प्रमाण किया था उसको किसी कषाय वश उल्लंघकर आगे चले जाना, २. अधः व्यतिक्रम :-- नीचे के प्रमाण को उल्लंघकर आगे चले जाना, ३. तिर्यक व्यतिक्रम :-- अन्य आठ दिशाओं के प्रमाण को उल्लघकर आगे चले जाना, ४. क्षेत्रवृद्धि :-- क्षेत्र की मर्यादा एक तरफ घटाकर दूसरी ओर बढ़ा लेना, ५. स्मृत्यन्तराधानमर्यादा को याद न रखना ।

(७) देशविरति के पांच अतिचार :-- १. आनयन :-- मर्यादा के बाहर से वस्तु मंगाना । २. प्रेष्य प्रयोग :-- मर्यादा के बाहर कुछ भेजना । ३. शब्दानुपात :-- मर्यादा के बाहर बात कर लेना । ४. रूपानुपात :-- मर्यादा के बाहर रूप दिखाकर प्रयोजन बता देना । ५. पुद्गलक्षेप :-- मर्यादा से बाहर पत्र व कंकड़ आदि फेंककर प्रयोजन बता देना ।

(८) अनर्थ दंड विरति के पांच अतिचार :-- १. कन्दर्प :-- भंड वचन असभ्यतापूर्ण बोलना । २. कौत्कुच्य :-- भंड वचनों के साथ साथ काय की कुचेष्टा भी करना । ३. मौखर्य :-- बहुत बकवाद करना । ४. असमीक्ष्य अधिकरण :-- बिना विचारे काम करना । ५. उपभोग परिभोगानर्थक्य :-- भोग व उपभोग के पदार्थ वृथा संग्रह करना ।

(६) **सामायिक के पांच अतिचार** :— १. मनः दुःप्रणिधान :— सामायिक की क्रिया से बाहर मन को चंचल करना। २. वचन दुःप्रणिधान :— सामायिक के पाठादि सिवाय और कोई बात करना। ३. काय दुःप्रणिधान :— शरीर को थिर न रखकर आलस्य मय प्रमादी रखना। ४. अनादर :— सामायिक करने में आदरभाव न रखना। ५. स्मृत्यनुपस्थान :— सामायिक करना या सामायिक का पाठादि भूल जाना।

(१०) **प्रोषधोपवास के पांच अतिचार** :— १. २. ३. अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग, आदान, संस्तरोपक्रमण :— बिना देखे बिना झाड़े मलमूत्रादि करना, उठना व चटाई आदि बिछाना, ४. अनादर :— उपवास में अनादरभाव रखना। ५. स्मृत्यनुपस्थान :— उपवास के दिन धर्मक्रिया को भूल जाना।

(११) **भोगोपभोगपरिमाण व्रत के पांच अतिचार** :— जो कोई श्रावक किसी दिन सचित्त का बिलकुल त्याग करे या कुछ का त्याग करे उसकी अपेक्षा ये पांच अतिचार हैं। १. सचित्त :— त्यागे हुए सचित्त को भूल से खा लेना। २. सचित्त संबंध :— त्यागे हुए सचित्त से मिली हुई वस्तु को खा लेना। ३. सचित्त सम्मिश्र :— त्यागे हुए सचित्त को अचित्त में मिलाकर खाना। ४. अभिषव :— कामोद्दीपक पौष्टिक रस खाना। ५. दुःपक्वाहार :— कम पका व अधिक पका व न पचने लायक आहार करना।

(१२) **अतिथि संविभाग व्रत के पांच अतिचार** :— साधु को आहार देते हुए ये अतिचार हैं। १. सचित्त निक्षेप :— सचित्त पर रखकर कुछ देना। २. सचित्त अपिधान :— सचित्त से ढकी हुई वस्तु दान करना। ३. परव्यपदेश :— आप दान न देकर दूसरों को दान की आज्ञा करनी। ४. मात्सर्य :— दूसरे दातार से ईर्षाभाव रखकर दान देना। ५. कालातिक्रम :— दान का काल उल्लंघकर अकाल में देना।

(१३) **सल्लेखना के पांच अतिचार** :— १. जीवित आशंसा :— अधिक जीते रहने की इच्छा करनी। २. मरणाशंसा :— जल्दी मरने की इच्छा करना। ३. मित्रानुराग :— लौकिक मित्रों से सांसारिक राग बताना। ४. सुखानुबन्ध :— भोगे हुए इन्द्रिय सुखों की याद करना। ५. निदान :— आगामी विषय भोगों की इच्छा करना।

ये साधारण तेरह व्रत श्रावक के हैं। विशेष यह है कि दि० जैन शास्त्रों में ग्यारह प्रतिमाएं व श्रेणियां श्रावक की बताई हैं जिनको क्रम से पार करते हुए साधुपद की योग्यता आती है। ये ग्यारह श्रेणियां पंचमदेशविरति गुणस्थान में हैं। चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान में यद्यपि चारित्र का नियम नहीं होता है तथापि वह सम्यक्ती अन्याय से बचकर न्यायरूप प्रवृत्ति करता है। पाक्षिक श्रावक के योग्य कुछ स्थूलरूप नियमों को पालता है। वे नियम निम्न प्रकार हैं :—

१. मांस नहीं खाता है, २. मदिरा नहीं पीता है, ३. मधु नहीं खाता है, ४. बरगद का फल नहीं खाता है, ५. पीपल का फल नहीं खाता है, ६. गूलर का फल नहीं खाता है, ७. पाकर का फल नहीं खाता है, ८. अंजीर का फल नहीं खाता है, ९. जुआ नहीं खेलता है, १०. चोरी नही करता है, ११. शिकार नहीं खेलता है, १२. वेश्या का व्यसन नहीं रखता है, १३. परस्त्री सेवन का व्यसन नहीं रखता है। पानी दोहरे कपड़े से छानकर शुद्ध पीता है, रात्रि के भोजन के त्याग का यथाशक्ति उद्योग रखता है। गृहस्थ के निम्न छः कर्म साधता है।

१. देवपूजा :— श्री जिनेन्द्र की भक्ति करता है, २. गुरुभक्ति :— गुरु की सेवा करता है, ३. स्वाध्याय :— शास्त्र नित्य पढ़ता है, ४. तप :— रोज सामायिक प्रतिकमण करता है, ५. संयम :— नियमादि लेकर इन्द्रिय दमन करता है, ६. दान :— लक्ष्मी को आहार, औषधि, विद्या, अभयदान में व परोपकार में लगाता है, दान करके भोजन करता है।

ग्यारह प्रतिमा स्वरूप— ग्यारह श्रेणियों में पहले का चारित्र आगे आगे बढ़ता जाता है। पहले के नियम छूटते नही है।

१. दर्शन प्रतिमा—इस श्रेणी में पाक्षिक श्रावक के योग्य नियम जो ऊपर कहे हैं उनको पालता हुआ सम्यग्दर्शन को निर्मल रखता है, उसको आठ अंग सहित पालता है। निःशंकितादि का वर्णन सम्यग्दर्शन के अध्याय में किया जा चुका है। यहां अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वस्त्रीसंतोष तथा परिग्रह प्रमाण इन पांच अणुव्रतों का अभ्यास करता है, स्थूलपने पालता है, अतिचार नहीं बचा सकता है।

२. व्रत प्रतिमा—इस श्रेणी में पहले के सर्व नियमों को पालता हुआ पाँच अणुव्रतों के पच्चीस अतिचारों को बचाता है तथा सात शीलों को भी पालता है। उनके अतिचार पूरे नहीं टलते हैं अभ्यास करता है। सामायिक शिक्षाव्रत में कमी रागादिक के कारण न भी करे व प्रोषधोपवास में भी कमी न कर सके, तो न करे, एकासन या उपवास शक्ति के अनुसार करे।

३. सामायिक प्रतिमा—इस श्रेणी में पहले के नियम पालता हुआ श्रावक नियम से प्रातःकाल मध्यान्हकाल व सायंकाल सामायिक करता है। दो घड़ी या ४८ मिनट से कम नहीं करता है किसी विशेष कारण के होने पर अंतर्मुहूर्त ४८ मिनट से कुछ कम भी कर सकता है। सामायिक के पांचों अतिचारों को बचाता है।

४. प्रोषधोपवास प्रतिमा—इस श्रेणी में नीचे के नियमों को पालता हुआ नियम से मास में चार दिन प्रोषधपूर्वक उपवास करता है। अतिचारों को बचाता है, धर्मध्यान में समय बिताता है। इसकी दो प्रकार की विधि है। एक तो यह है कि पहले व आगे के दिन एकासन करे, बीच के दिन उपवास करे, १६ प्रहर तक धर्मध्यान करे। यह उत्तम है। मध्यम यह है कि १२ प्रहर का उपवास करे, सप्तमी की संध्या से नौमी के प्रातः काल तक आरंभ छोड़े, धर्म में समय बितावे। जघन्य यह है कि उपवास तो १२ प्रहर तक करे परन्तु लौकिक आरंभ आठ पहर ही छोड़े—अष्टमी को दिन रात।

दूसरी विधि यह है कि उत्तम तो पूर्ववत् १६ प्रहर तक करे। मध्यम यह है कि १६ प्रहर धर्मध्यान करे परन्तु तीन प्रकार के आहार का त्याग करे, आवश्यकतानुसार जल लेवे। जघन्य यह है कि १६ प्रहर धर्मध्यान करे, जल आवश्यकतानुसार लेते हुए बीच में एक भुक्त भी करले। इन दो प्रकार की विधियों में अपनी शक्ति व भाव को देखकर प्रोषधोपवास करे।

५. सचित्त त्याग प्रतिमा—इस श्रेणी में नीचे के नियमों को पालता हुआ सचित्त पदार्थ नहीं खावे। कच्चा पानी, कच्चा साग आदि न खावे, प्राशुक या गर्म पानी पीवे। सूखी, पकी गर्म की हुई व छिन्नभिन्न की हुई वनस्पति लेवे। पानी का रंग लवंगादि डालने से बदल जाता है तब वह पानी प्राशुक हो जाता है। सचित्त के व्यवहार का इसके त्याग नहीं है।

६. रात्रिभोजन त्याग—इस श्रेणी में नीचे के नियमों को पालता हुआ रात्रि को नियम से न तो आप चार प्रकार का आहार करता है न दूसरों को कराता है। मन, वचन, काय से रात्रि भोजन के करने कराने से विरक्त रहता है।

७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा—स्वस्त्री का भी भोग त्याग कर ब्रह्मचारी हो जाता है, सादे वस्त्र पहनता है, सादा भोजन खाता है. घर में एकांत में रहता है या देशाटन भी कर सकता है। पहले के सब नियमों को पालता है।

८. आरंभ त्याग प्रतिमा—पहले के नियमों को पालता हुआ इस श्रेणी में सर्व ही लौकिक आरंभ व्यापार कृषि आदि त्याग देता है। आरंभी हिंसा से विरक्त हो जाता है। देखकर भूमि पर चलता है, वाहनों का उपयोग नहीं करता है, निमंत्रण पाने पर भोजन कर लेता है, परम संतोषी हो जाता है।

९. परिग्रह त्याग—पहले के नियमों को पालता हुआ इस श्रेणी में धनधान्य, रुपया पैसा मकानादि परिग्रह को बांट देता है या दान कर देता है। थोड़े से आवश्यक कपड़े व खान पान के दो तीन बर्तन रख लेता है। घर से बाहर उपवन या नसियों में रहता है। निमंत्रण से भोजन करता है।

१०. अनुमति त्याग प्रतिमा—यह श्रावक यहां से पहले तक लौकिक कार्यों में गुण दोष बताता हुआ सम्मति देता था, अब यहां सांसारिक कार्यों की सम्मति देना भी त्याग देता है। भोजन के समय निमंत्रित होकर जाता है। पहले के सब नियम पालता है।

११. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा—इस श्रेणी में पहले के नियम पालता हुआ निमंत्रण से भोजन नहीं करता है। भिक्षा वृत्ति से जाकर ऐसा भोजन लेता है जो गृहस्थी ने अपने ही कुटुम्ब के लिये तैयार किया हो। उनके उद्देश्य से न बनाया हो। तब ही इस प्रतिमा को उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा कहते हैं।

इसके दो भेद हैं :-- १. क्षुल्लक—जो श्रावक एक लगोट व एक ऐसी चद्दर रक्खें जिससे सर्व अंग न ढका जावे। मस्तक ढका हो तो पग खुला रहे, पग ढके हों तो मस्तक खुला हो जिससे इसको सरदी दंशमशक आदि की बाधा सहने का अभ्यास हो। यह श्रावक नियम से जीवदया के लिये मोर की पिच्छिका रखता है, क्योंकि वे बहुत ही मुलायम होते हैं, उनसे क्षुद्र जन्तु भी नही मरता

है तथा कमंडल शौच के लिये जल के वास्ते रखते हैं । जो कई घरों से एकत्र कर भोजन करते हैं वे एक भोजन का पात्र भी रखते हैं । पांच सात घरों से एकत्र कर अन्तिम घर में जल लेकर भोजन करके अपने बर्तन को साफ कर साथ रख लेते हैं । जो क्षुल्लक एक ही घर में आहार करते हैं वे भिक्षा को जाकर आदर से भोजन दिये जाने पर एक ही घर में थाली में बैठ कर जीम लेते हैं । यह भोजन का पात्र नहीं रखते हैं । ये मुनिपद की क्रियाओं का अभ्यास करते हैं । स्नान नहीं करते हैं । एक दफे ही भोजनपान लेते हैं ।

२. ऐलक—जो चदर भी छोड़ देते हैं, केवल एक लंगोटी ही रखते हैं । ये साधुवत् भिक्षार्थ जाते हैं । एक ही घर में बैठकर हाथ में ग्रास रक्खे जाने पर भोजन करते हैं । ये कमंडल काठ का ही रखते हैं, केशों का लोंच भी ये नियम से करते हैं । अपने हाथों से केश उपाड़ते हैं ।

इस तरह उन ग्यारह श्रेणियों के द्वारा उन्नति करते २ श्रावक व्यवहार चारित्र के आश्रय से निराकुलता को पाकर अधिक २ निश्चय सम्यक्चारित्ररूप स्वानुभव का अभ्यास करता है । पंचम श्रेणी में अनंतानुबन्धी और अप्रत्याख्यान कषायें तो रहती ही नहीं व प्रत्याख्यान कषायों का भी उदय मंद मंद होता जाता है, ग्यारहवीं श्रेणी में अति मंद हो जाता है । जितनी-जितनी कषाय कम होती है वीतरागभाव बढ़ता है उतना-उतना ही निश्चय सम्यक्चारित्र प्रगट होना जाता है । फिर प्रत्याख्यान कषाय के उदय को बिलकुल जीतकर साधुपद में परिग्रह त्याग निर्ग्रंथ होकर स्वानुभव का अभ्यास करते करते गुण स्थान क्रम से अरहंत हो फिर गुणस्थान से बाहर सिद्ध परमात्मा हो जाता है ।

सहज सुख साधन—वास्तव में निश्चय रत्नत्रयमयी आत्मा की एक शुद्ध परिणति ही है । जब ही मन वचन काय के सयोगों को छोड़कर आत्मा आत्मस्थ हो जाता है तब ही सहज सुख का स्वाद पाता है – चारित्र के प्रभाव से आत्मा में थिरता बढ़ती जाती है तब अधिक अधिक सहज सुख अनुभव में आता जाता है । साधु हो या श्रावक सबके लिये स्वानुभव ही सहज सुख का साधन है ।

इसी हेतु को सिद्ध करने के लिये जो कुछ भी प्रयत्न किया जावे वह सहकारी है । वास्तव में सहज सुख आत्मा में ही है । आत्मा में ही रमण करने

से वह प्राप्त होगा । आत्मरमणता का महात्म्य वर्णनातीत है – जीव को सदा सुखदाई बनाने वाला है । इस जैन धर्म का भी यही सार है । प्राचीन काल में व आधुनिक जो जो महात्मा हो गए हैं उन्होंने इसी गुप्त अध्यात्म विद्या का अनुभव किया व इसी ही का उपदेश दिया । इसी ही को अवक्तव्य कहो या सम्यग्दर्शन कहो या सम्यग्ज्ञान कहो या सम्यक्चारित्र कहो या केवल आत्मा कहो, या समयसार कहो, स्वसमय कहो, परमयोग कहो, धर्म ध्यान कहो, शुक्ल ध्यान कहो, सहज सुख साधन कहो सबका एक ही अर्थ है । जो जीवन को सफल करना चाहें उनको अवश्य अवश्य सहज सुख साधन के लिये आत्मविश्वास प्राप्त करके आत्मानुभव का अभ्यास करना चाहिये । जैनाचार्यों के सम्यक्-चारित्र सम्बन्धी वाक्य नीचे प्रकार मनन करने योग्य हैं :–

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार में कहते हैं :–

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो ।।७।।

भावार्थ :– चारित्र ही धर्म है । जो समभाव है, उसको ही धर्म कहा गया है । मोह क्षोभ या रागद्वेष मोह रहित जो आत्मा का परिणाम है वही समभाव है, वही चारित्र है ।

धम्मेण परिणदप्पा, अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसहं, सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ।।११।।

भावार्थ :– धर्म में आचरण करता हुआ आत्मा यदि शुद्ध उपयोग सहित होता है तो निर्वाण के सुख को पाता है । यदि शुभ उपयोग सहित होता है तो स्वर्ग के सुख को पाता है ।

सुविदिदपदत्थसुत्तो, संजमतवसंजुददो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ।।१४।।

भावार्थ :– जो साधु भली प्रकार जीवादि पदार्थों को और सिद्धांत को जानने वाला है, संयम तथा तप से युक्त है, रागरहित है, सुख व दुःख में समान भाव का धारी है वही श्रमण शुद्धोपयोगी कहा गया है ।

जीवो ववगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
विजह जदि रागदोसे, सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ।।८७।।

भावार्थ :– मिथ्यात्व से रहित आत्मा अपने आत्मा के स्वरूप को भली प्रकार जानता हुआ जब रागद्वेष को भी छोड़ देता है तब शुद्ध आत्मा को पाता है ।

जो णिहदमोहदिट्ठी, आगमकुसलो विरागचरियम्मि ।
अब्भुट्ठिदो महप्पा, धम्मोत्ति विसेसिदो समणो ॥६६॥

भावार्थ :– जो दर्शनमोह को नाश करने वाला है, जिनप्रणीत सिद्धांत के ज्ञान में प्रवीण है, वीतराग चारित्र में सावधान है वही महात्मा साधु धर्म-रूप है ऐसा विशेष रूप से कहा गया है ।

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥१०७-२॥

भावार्थ :– जो मोह की गांठ को क्षय करके साधुपद में स्थित होकर रागद्वेष को दूर करता है और दुःख तथा सुख में समभाव का धारी होता है वही अविनाशी सुख को पाता है ।

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता ।
समवट्ठदो सहावे सो अप्पाणं हवदि धादा ॥१०८-२॥

भावार्थ :– जो महात्मा मोहरूप मैल को क्षय करता हुआ तथा पांचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होता हुआ, मन को रोकता हुआ चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता से ठहर जाता है सो ही आत्मा का ध्याता होता है ।

इहलोग णिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥४२-३॥

भावार्थ :– जो मुनि इस लोक में विषयों की अभिलाषा से रहित है व परलोक में भी किसी पद की इच्छा नहीं रखते हैं, योग्य आहार तथा विहार के करने वाले हैं, कषाय रहित हैं वे ही श्रमण हैं ।

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेन्द्रियसंवुडो जिदकसाओ ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥६१-३॥

भावार्थ :– जो महात्मा पांच समितियो को पालते हैं, तीन गुप्ति को रखते हैं, पांचों इन्द्रियों को वश में रखने वाले हैं, कषायों के विजयी हैं तथा

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से पूर्ण हैं, संयम को पालने वाले हैं वे ही श्रमण या साधु हैं ।

समसत्तबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ।।६२-३।।

भावार्थ :– जो शत्रु तथा मित्र वर्ग को समभाव से देखते हैं । जो सुख व दु:ख में समभाव के धारी हैं, जो प्रशंसा तथा निन्दा किये जाने पर समभाव रखते हैं जो सुवर्ण और कंकड़ को एक दृष्टि से देखते हैं, जिनके जीना तथा मरण एक समान है वही श्रमण कहलाते हैं ।

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदोत्ति मदो सामण्णं तस्स परिपुण्णं ।।६३-३।।

भावार्थ :– जो महात्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीन भावों में एक साथ भली प्रकार स्थित होते हैं व एकाग्र हो जाते हैं उन्हीं के साधुपना पूर्ण होता है ।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पंचास्तिकाय में कहते हैं :–

मुणिऊण एतदट्ठं तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो ।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो ।।१०४।।

भावार्थ :– जो कोई जीवादि नव पदार्थों को जानकर उनके अनुसार आचरण करने का उद्यम करता है और मोह का क्षय कर डालता है वही जीव रागद्वेष के नाश होने पर संसार के पार पहुंच जाता है ।

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं ।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ।।१०७।।

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित जो रागद्वेष रहित चारित्र है वही बुद्धि व योग्यता प्राप्त भव्यों के लिये मोक्ष का मार्ग है ।

जो सव्वसंगमुक्को णाण्णमणो अप्पणं सहावेण ।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो ।।१५८।।

भावार्थ :– जो महात्मा सर्व परिग्रह को त्याग कर व एकाग्र होकर अपने आत्मा को शुद्ध स्वभावमय देखता जानता है वही नियम से स्वचारित्र या निश्चय चारित्र का आचरण करता है ।

तह्मा णिव्वुदिकामो रागं सवत्थ कुणदि मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि ॥१७२॥

भावार्थ :— राग मोक्ष मार्ग में बाधक है । ऐसा समझकर सर्व इच्छाओं को दूर करके जो सर्व पदार्थों में किंचित् भी राग नहीं करता है वही भव्य जीव संसारसागर को तर जाता है ।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं :—

आयारादीणाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।
छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो ॥२६४॥
आदा खु मज्झणाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥२६५॥

भावार्थ :— आचारांग आदि शास्त्रों का ज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान है । जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है. छःकाय के प्राणियों की रक्षा व्यवहार सम्यक्चारित्र है । निश्चय से मेरा ही आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र है । मेरा आत्मा ही त्याग है सवर है व ध्यानरूप है ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशभावना में कहते हैं :—

एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं ।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्ते हि ॥६८॥

भावार्थ :— उत्तम सुख के भोक्ता गणधरों ने श्रावक धर्म ग्यारह प्रतिमारूप व मुनि का धर्म दशलक्षण रूप सम्यग्दर्शन पूर्वक कहा है ।

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य ।
बम्हारंभपरिग्गहअणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥६९॥

भावार्थ :— देशविरत नाम पंचम गुणस्थान में ग्यारह प्रतिमाए या श्रेणियां इस प्रकार हैं :— (१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषध, (५) सचित्त त्याग, (६) रात्रि भुक्ति त्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरंभ त्याग, (९) परिग्रह त्याग, (१०) अनुमति त्याग, (११) उद्दिष्ट त्याग ।

उत्तमखमामद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव ।
तवतागमकिंचण्हं बम्हा इदि दसविहं होदि ॥७०॥

भावार्थ :– उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम अकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश प्रकार मुनि धर्म है ।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो ।
मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पां चिंतये णिच्चं ॥८२॥

भावार्थ :– निश्चय से यह जीव श्रावक व मुनि धर्म दोनों से भिन्न है । इसलिये वीतराग भावना से मात्र शुद्धात्मा का नित्य अनुभव करना चाहिये । यही निश्चय सम्यक्चारित्र है ।

मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बारअणुवेक्खं ।
परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ॥८६॥

भावार्थ :– अनादि काल से जितने महापुरुष मोक्ष गए हैं वे अनित्यादि बारह भावनाओं की बारबार भली प्रकार भावना करने से गए हैं, इसलिये इस प्रकार भावनाओ को बार बार नमन करता हूं ।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य चारित्रपाहुड़ में कहते है :–

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥३।

भावार्थ :– जो जानता है सो ज्ञान, जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्दर्शन कहा गया है । सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान के सयोग से चारित्र होता है ।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया ।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं ॥४॥

भावार्थ :– ये तीन ही भाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र जीव के अक्षय और अनंत स्वभाव हैं । इन्हीं की शुद्धता के लिये चारित्र दो प्रकार का – सम्यक्त का आचरण तथा संयम का आचरण कहा गया है ।

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी ।
पावइ अइरेण सुई अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥४३॥

भावार्थ :– जो सम्यग्ज्ञानी महात्मा चारित्रवान हैं वे अपने आत्मा में किसी भी परद्रव्य को नहीं चाहते हैं । अर्थात् किसी भी पर वस्तु में रागद्वेष नहीं करते हैं । वे ही ज्ञानी अनुपम मोक्ष सुख को पाते हैं, ऐसा हे भव्य ! निश्चय से जानो ।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री बोधपाहुड़ में कहते हैं :-

गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीषहा जियकषाया ।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४५॥

भावार्थ :- दीक्षा वह कही गई है जहां गृह व परिग्रह का व मोह का त्याग हो, बाईस परीषहों का सहना हो, कषायों का विजय हो व पापारंभ से विमुक्ति हो ।

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिद्दाअलद्धिलद्धिसमा ।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४७॥

भावार्थ :- जहां शत्रु व मित्र में समभाव है, प्रशंसा, निन्दा, लाभ व अलाभ में समभाव है, तृण व कंचन में समभाव है, वही जैन मुनि दीक्षा कही गई है ।

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा ।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४८॥

भावार्थ :- जहां उत्तम राजमंदिरादि व मध्यम घर-सामान्य मनुष्य आदि का इनमें कोई विशेष नहीं है । जो धनवान व निर्धन की कोई इच्छा नहीं रखते हैं, सर्व जगह भिक्षा लेते हैं वही जैन दीक्षा कही गई है ।

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा ।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४६॥

भावार्थ :- जो निर्ग्रंथ हैं, असंग हैं, मान रहित हैं, आशारहित हैं, ममकार रहित हैं, अहंकार रहित हैं, उन्ही के मुनि दीक्षा कही गई है ।

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा ।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५०॥

भावार्थ :- जो स्नेह रहित हैं, लोभ रहित हैं, मोह रहित हैं, निर्विकार हैं, क्रोधादि कलुषता से रहित हैं, भय रहित हैं, आशा रहित है उन्हीं के जैन दीक्षा कही गई है ।

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसंक्कारवज्जिया रुक्खा ।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५२॥

भावार्थ :-- जो शांतभाव, क्षमा व इन्द्रिय संयम से युक्त हैं, शरीर के शृंगार से रहित हैं, उदासीन हैं, मद व राग व दोष से रहित हैं उन्हीं के जिन दीक्षा कही गई है ।

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं णं कुणइ विकहाओ ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।५७।।

भावार्थ :-- जो महात्मा पशु, स्त्री, नपुंसक की संगति नहीं रखते हैं, व्यभिचारी पुरुषों की संगति नही करते हैं, विकथाएं नहीं कहते हे न सुनते हैं, स्वाध्याय तथा आत्मध्यान में लीन रहते हें, उन्हीं के जिनदीक्षा कही गई है ।

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य ।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।५८।।

भावार्थ :-- जो महात्मा बारह तप, पाँच महाव्रत, मूलगुण व उत्तर-गुणों से शुद्ध है, संयम व सम्यग्दर्शन गुणों से निर्मल है व आत्मिक गुणों से शुद्ध है उन्हीं के शुद्ध दीक्षा कही गई है ।

(७) कुन्दाकुन्दाचर्य भावपाहुड में कहते हैं :--

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो ।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ।।८९।।

भावार्थ :-- जिन महात्माओं के भावों में शुद्धात्मा का अनुभव नही है उनका बाहरी परिग्रह का त्याग, पर्वत गुफा, नदीतट, कंदरा आदि स्थानो में तप करना तथा सर्व ध्यान व आगम का पढ़ना निरर्थक है ।

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स ।।३।।

भावार्थ :-- बाहरी परिग्रह का त्याग भावों की शुद्धता के निमित्त किया जाता है, यदि भीतर परिणामों में कषाय है या ममत्व है तो बाहरी त्याग निष्फल है ।

भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे ।
गहिउज्झियाइ बहुसो बाहिरणिग्गंथरूवाइं ।।७।।

भावार्थ :-- शुद्धोपयोगमयी भाव को न पाकर हे भव्यजीव ! तूने अनादि काल से लगाकर इस अनंत संसार में बहुत बार निर्ग्रन्थरूप धार करके छोड़ा है ।

भावेण होइ लिंगी णहु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ।।४८।।

भावार्थ :– भाव सहित भेषधारी साधु का लिंग हो सकता है, केवल द्रव्यलिंग से या भेषमात्र से साधु नहीं हो सकता। इसलिये भाव रूप साधुपने को या शुद्धोपयोग को धारण कर भाव बिना द्रव्यलिंग कुछ नहीं कर सकता है।

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ।।५६।।

भावार्थ :– जो साधु शरीर आदि की मूर्छा से रहित है, मान कषायादि से पूर्णपने अलग तथा जिसका आत्मा आत्मा में मगन है वही भावलिंगी है।

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ।।६१।।

भावार्थ :– जो भव्य जीव आत्मा के स्वभाव को जानता हुआ आत्मा के स्वभाव की भावना करता है सो जरा मरण का नाश करता है और प्रगटरूप से निर्वाण को पाता है।

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।
न लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ।।७२।।

भावार्थ :– जो केवल द्रव्य से निर्ग्रन्थ हैं भेष साधु का है परन्तु शुद्धोपयोग की भावना से रहित हैं। वे रागी होते हुए इस निर्मल जिन शासन में रत्नत्रय धर्म को व आत्म समाधि को नहीं पा सकते हैं।

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति।
छिंदंति भावसवणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं ।।१२२।।

भावार्थ :– जो कोई भी द्रव्यलिंगी साधु हैं और वे इन्द्रियों के सुखों में आकुल हैं वे संसार के दुःखों को नहीं छेद सकते हैं परन्तु जो भावलिंगी साधु हैं, शुद्धोपयोग की भावना करने वाले हैं वे ध्यानरूपी कुठारता से संसार के दुःखों के मूल कर्मों को छेद डालते हैं।

(८) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड में कहते हैं :–

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ।।२६।।

भावार्थ :– जो कोई महात्मा भयानक संसाररूपी महान समुद्र से निकलना चाहता है उसे उचित है कि कर्मरूपी ईन्धन को जलाने के लिये अपने शुद्ध आत्मा को ध्यावे यही चारित्र है ।

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ।।२८।।

भावार्थ :– मिथ्यादर्शन, अज्ञान, पुण्य व पाप इन सबको मन, वचन काय से त्यागकर योगी योग में स्थित हो, मौनव्रत के साथ आत्मा का ध्यान करे ।

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सदा कुणह ।।३३।।

भावार्थ :– साधु को उचित है कि पाँच महाव्रत, पाँच समिति व तीन गुप्ति इस तरह तेरह प्रकार के चारित्र से युक्त होकर सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र सहित आत्मध्यान तथा शास्त्र पठन इन दो कार्यों में सदा लगा रहे ।

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएहिं ।।४२।।

भावार्थ :– कर्मरहित सर्वज्ञों ने उसे ही निर्विकल्प शुद्धोपयोगरूप चारित्र कहा है जिसको अनुभव करता हुआ योगी पुण्य तथा पाप बंधकारक भावों का त्याग कर देवे ।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ।।४६।।

भावार्थ :– दृढ़ सम्यग्दर्शन से परिपूर्ण योगी दृढ़ चारित्रवान होकर यदि आत्मा को ध्याता है तो वह परमपद को पाता है ।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ।।५०।।

भावार्थ :– आत्मा का धर्म सम्यक्चारित्र है, वह धर्म आत्मा का समभाव है, वही रागद्वेष रहित आत्मा का अपना ही एकाग्र परिणाम है । आत्मस्थ भाव ही समभाव है व वही चारित्र है ।

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो ।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ।।६१।।

भावार्थ :– जो साधु बाहरी लिंग या भेष सहित है परन्तु भीतरी भावलिंग से रहित है, शुद्ध भाव से शून्य है, वह निश्चय सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट है तथा मोक्षमार्ग का नाश करने वाला है।

उड्ढमज्झलोये केई मज्झं ण श्रहयमेगागी।
इयभावणाए जोई पावंति हु सासयं ठाणं ॥८१॥

भावार्थ :– इस ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोक में कोई पदार्थ मेरा नहीं है, मैं एकाकी हूँ। इस भावना से युक्त योगी ही अविनाशी स्थान को पाता है।

णिच्छयणयस्स एवं श्रप्पा श्रप्पम्मि श्रप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

भावार्थ :– निश्चयनय से जो आत्मा अपने आत्मा में अपने आत्मा के लिये मग्न हो जाता है वही योगी सम्यक्चारित्रवान होता हुआ निर्वाण को पाता है।

(९) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार पंचाचार में कहते हैं :–

पाणिवहमुसावादश्रदत्तमेहुणपरिग्गहा विरदी।
एस चरित्ताचारो पंचविहो होदि णादव्वो ॥९१॥

भावार्थ :– प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तग्रहण, मैथुन, परिग्रह इनसे विरक्त होना चारित्राचार पांच तरह का जानना चाहिये।

सरवासेहिं पडंतेहिं जह दिढकवचो ण भिज्जदी सरेहिं।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साहू काएसु इरियंतो ॥१३१॥

भावार्थ :– जैसे संग्राम में दृढ़ कवच पहरे हुए सिपाही सैकड़ों बाणों के पड़ने पर भी बाणों से नहीं भिदता है वैसे साधु ईर्या समिति आदि से कार्य सावधानी से करता हुआ पापों से लिप्त नहीं होता है।

खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया श्रहव होइ पायारो।
तह पावस्स णिरोहो ताश्रो गुत्तीउ साहुस्स ॥१३७॥

भावार्थ :– जैसे खेत की रक्षा को बाड़ होती है व नगर की रक्षा को खाई व कोट होता है, वैसे साधु के तीन गुप्तियां पापों से बचाने वाली हैं।

(१०) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार षड़ावश्यक में कहते हैं :–

सामाइयम्हि दु कदे समणो इर सावम्रो हवदि जह्मा ।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइय कुज्जा ।।३४।।

भावार्थ :– सामायिक ही करने से वास्तव में साधु या श्रावक होता है इसीलिये सामायिक को बहुत बार करना चाहिये ।

पोराणय कम्मरयं चरिया रित्तं करेदि जदमाणो ।
णवकम्मं ण य बंधदि चरित्तविणओत्ति णादव्वो ।।६०।।

भावार्थ :– जो सम्यक्चारित्र पालने का उद्यम करता है उसके पुराने कर्म झड़ते जाते हैं व नए कर्म नहीं बनते हैं । चारित्र का प्रेम से पालन ही चारित्र विनय है ।

(११) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगारभावना में कहते है :--

वसुधम्मि वि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई ।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु ।।३२।।

भावार्थ :-- साधुजन पृथ्वी में विहार करते हुए किसी को भी कभी भी पीड़ा नहीं देते हैं । वे सर्व जीवों पर ऐसी दया रखते हैं, जैसे माता का प्रेम पुत्र पुत्री आदि पर होता है ।

देहे विराचियक्त्ता अप्पाणं वसरुई दमेमाणा ।
धिदिपग्गहपग्गहिदा छिंदंति भवस्स मूलाइं ।।४३।।

भावार्थ :– साधुजन शरीर में ममत्व न रखते हुए, इन्द्रियों को निग्रह करते हुए, अपने आत्मा को वश में रखते हुए, धैर्य को धारते हुए, संसार के मूल कर्मों का छेदन करते हैं ।

अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं ।
पाणं धम्मणिमित्तं धम्मं पि चरंति मोक्खट्ठं ।।४६।।

भावार्थ :– जैसे गाड़ी के पहिये में तेल देकर रक्षा की जाती है वैसे मुनिगण प्राणों की रक्षार्थ भोजन करते हैं, प्राणों को धर्म के निमित्त रखते हैं, धर्म को मोक्ष के अर्थ आचरण करते हैं ।

पंचमहव्वयधारी पंचसु समिदीसु संजदा धीरा ।
पंचिंदियत्थविरदा पंचमगइमग्गया सवणा ।।१०५।।

भावार्थ :– जो साधु पांच महाव्रत के पालने वाले हैं, पांच समितियों में प्रवर्तने वाले हैं, धीर वीर हैं, पांचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त हैं वे ही पंचमगति जो मोक्ष उसके अधिकारी हैं।

(१२) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार समयसार में कहते हैं :–

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू जंप।
दुक्खं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहि सुट्ठु वेरग्गं ॥४॥
अव्ववहारी एक्को झाणे एयग्गमणो भव णिरारंभो।
चत्ताकसायपरिग्गह पयत्तचेट्ठो असंगो य ॥५॥

भावार्थ :– आचार्य शिष्यों को चारित्र के पालने का उपदेश देते हैं। भिक्षा से भोजन कर, वन में रह, थोड़ा जीम, दुःखों को सह, निद्रा को जीत, मैत्री और वैराग्यभावना को भले विचार कर, लोक व्यवहार न कर, एकाकी रह, ध्यान में एकाग्रमन हो, आरम्भ मत कर, कषायरूपी परिग्रह का त्याग कर, उद्योगी हो, असंग रह अर्थात् निर्मोह रह या आत्मस्थ रह।

थोवह्मि सिक्खदे जिणई बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो।
जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण ॥६॥

भावार्थ :– थोड़ा शास्त्रज्ञ हो या बहु शास्त्रज्ञ हो जो चारित्र से पूर्ण है वही संसार को जीतता है। जो चारित्र रहित है, उसके बहुतशास्त्रों के जानने से क्या लाभ है ? मुख्य सच्चे सुख का साधन आत्मानुभव है।

सव्वं पि हु सुदणाणं सुट्ठु सुगुणिदं पि सुट्ठु पढिदं पि।
समणं भट्ठचरित्तं ण हु सक्को सुग्गइं णेदुं ॥१४॥
जदि पडदि दीवहत्थो अवडे किं कुणदि तस्स सो दीवो।
जदि सिक्खिऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलं ॥१५॥

भावार्थ :– जो कोई साधु बहुत शास्त्र को जानता है, बहुत शास्त्रों का अनुभवी हो व बहुत शास्त्रों को पढ़ने वाला हो तो भी यदि वह चारित्र से भ्रष्ट है तो वह सुगति को नहीं पा सकता है। यदि कोई दीप को हाथ में रखकर भी कुमार्ग में जाकर कूप में गिर पड़े तो उसका दीपक रखना निष्फल है वैसे ही जो शास्त्रों को सीखकर भी चारित्र को भंग करता है उसको शिक्षा देने का कोई फल नहीं है।

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयह्मि चेट्ठेदुं ।
तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारवोसरणे ॥६१॥

भावार्थ :– साधुओं को साध्वियों के (आर्यिकाओं के) उपाश्रय में ठहरना उचित नहीं है । न तो उन्हें वहां बैठना चाहिये, न सोना चाहिये, न स्वाध्याय करना चाहिये, न साथ आहार करना चाहिये, न प्रतिक्रमणादि करना चाहिये ।

भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई ।
विसयवणरमलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी ॥१०४॥

भावार्थ :– जो अंतरंग भावों से विरक्त है वही भावलिंगी साधु है । जो केवल बाहरी द्रव्यों से विरक्त है, अन्तरंग रागद्वेषादि का त्यागी नहीं है, उस द्रव्यलिंगी साधु को सुगति कभी नहीं होगी । इसलिये पांचों इन्द्रियों के विषयों में रमने वाले मन रूपी हाथी को सदा बांधकर रखना चाहिये ।

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये ।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण वज्झइ ॥१२२॥
जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो ।
णवं ण वज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥१२३॥

भावार्थ :– हे साधु ! यत्न पूर्वक देखके चल, यत्न से व्रत पाल, यत्न से भूमि शोधकर बैठ, यत्न से शयन कर, यत्न से निर्दोष आहार कर यत्नपूर्वक सत्य वचन बोल, इस तरह वर्तन से तुझे पाप का बन्ध न होगा । जो दयावान साधु यत्नपूर्वक आचरण करता है उसके नए पापकर्म का बन्ध नहीं होता है और पुरातन कर्म झड़ता है ।

(१३) श्री समन्तभद्राचार्य स्वयम्भूस्तोत्र में कहते हैं :–

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं शमधीरवारुणत् ॥४६॥

भावार्थ :– अज्ञानी कितने तपस्वी पुत्र, धन व परलोक की तृष्णा के वश तप करते हैं परन्तु हे शीतलनाथ ! आपने जन्म जरा मरण रोग के दूर करने के लिये मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोककर वीतरागभाव की प्राप्ति की ।

परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी त्वया स्वतृष्णासरिदार्य शोषिता ।
असंगधर्मार्कगभस्तितेजसा परं ततो निर्वृतिधाम तावकम् ॥६८॥

भावार्थ :– हे अनंतनाथ ! आपने असंग धर्म अर्थात् ममत्वरहित वीतराग धर्मरूपी सूर्य के तेज से अपनी तृष्णारूपी नदी को सुखा डाला । इस नदी में आरंभ करने की आकुलतारूप जल भरा है तथा भय की तरंगें उठ रही हैं इसलिये आपका तेज मोक्षरूप है ।

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥८३॥

भावार्थ :– हे कुन्थुनाथ भगवान ! आपने आत्मध्यानरूपी आभ्यंतर तप की वृद्धि के लिये ही उपवास आदि बाहरी तप बहुत ही दुर्धर आचरण किया था तथा आर्तरौद्र दो खोटे ध्यानों को दूर कर आप अतिशय पूर्ण धर्मध्यान और शुक्लध्यान में वर्तन करते हुए ।

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशांतये ॥११५॥

भावार्थ :– हे मुनिसुव्रतनाथ ! आपने अनुपम योगाभ्यास के बल से आठों कर्मों के महा मलीनकलंक को जला डाला तथा आप मोक्षसुख के अधिकारी हो गए । आप मेरे भी संसार के नाश के लिये कारण हो ।

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सातत्रारम्भोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥११६॥

भावार्थ :– सर्व प्राणियों पर अहिंसामयी भाव को ही जगत में परम ब्रह्मभाव कहते हैं । जिसके आश्रम में जरासा भी आरम्भ है वहां अहिंसा नहीं रहती है । इसलिए हे नमिनाथ ! आप बड़े दयालु हैं, आपने अहिंसा ही के लिए भीतरी बाहरी परिग्रह का त्याग कर दिया और आप विकारी भेषों में रत न हुए ।

(१४) श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं :–

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥

भावार्थ :– मिथ्यादर्शन के अन्धकार के मिटने से सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान के लाभ हो जाने पर साधु रागद्वेष को दूर करने के लिये चारित्र को पालते हैं ।

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४६॥

भावार्थ :– पाप कर्म के आने की मोरियां – पांच अशुभकर्म की सेवा है – हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इनका त्याग करना सम्यग्ज्ञानी के चारित्र है ।

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम् ।
अनगाराणां विकलंसागाराणां ससङ्गानाम् ॥५०॥

भावार्थ :– चारित्र दो प्रकार का है – सकल और विकल । सर्व संग से रहित साधुओं के लिये सकल चारित्र है या महाव्रत है । संग सहित गृहस्थों के लिये विकल चारित्र या अणुव्रतरूपचारित्र है ।

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्याणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम् ।
पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासङ्ख्यमाख्यातम् ॥५१॥

भावार्थ :– गृहस्थियों का चारित्र तीन प्रकार का है – पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत ।

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥१३६॥

भावार्थ :– श्री गणधरादि देवों ने श्रावकों के ग्यारह पद (प्रतिमाए) बनाये हैं । हरएक पद में अपने चारित्र के साथ पूर्व के पद का चारित्र क्रम से बढ़ता रहता है । जितना २ आगे पद में जाता है पहला चारित्र रहता है और अधिक बढ़ जाता है ।

(१५) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं :–

बाहिरतवेण होदि हु, सव्वा सुहसीलता परिच्चत्ता ।
सल्लिहिदं च सरीरं, ठविदो अप्पा य संवेगे ॥२४२॥
दंताणि इंदियाणि य, समाधिजोगा य फासिया होंति ।
अणिगूहिदवीरियदा, जीविदतण्हा य वोच्छिण्णा ॥२४३॥

भावार्थ :-- उपवास ऊनोदर आदि बाहरी तप के साधन करने से सुखिया रहने का स्वभाव दूर होता है । शरीर में कृशता होती है । संसार देह भोगों से वैराग्यभाव आत्मा में जमता है । पांचों इन्द्रियां वंश में होती हैं, समाधि -- योगाभ्यास की सिद्धि होती है, अपने आत्मबल का प्रकाश होता है, जीवन की तृष्णा का छेद होता है ।

णत्थि अणूदो अप्पं, आयासादो अणूणयं णत्थि ।
जह तह जाण महल्लं, ण वयमहिंसासयं अत्थि ।।७८७।।

जह पव्वएसु मेरू, उच्चाओ होइ सव्वलोयम्मि ।
तह जाणसु उच्चायं सीलसु वदेसु य अहिंसा ।।७८८।।

भावार्थ :-- जैसे परमाणु से छोटा नहीं है और आकाश से कोई बड़ा नहीं है तैसे अहिंसा के समान महान व्रत नहीं है जैसे लोक में सबसे ऊँचा मेरु पर्वत है वैसे सर्व शीलों में व सर्व व्रतों में अहिंसाव्रत ऊँचा है ।

सव्वग्गंथविमुक्को, सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ।
जं पावइ पीइसुहं, ण चक्कवट्टी वि तं लहदि ।।११८२।।

रागविवागसतण्हा-, इगिद्धिअवितित्ति चक्कवट्टिसुहं ।
णिस्संगणिव्वुसुह-, स्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ।।११८३।।

भावार्थ :-- जो महात्मा सर्व परिग्रह रहित है, शांतचित्त है व प्रसन्न-चित्त है उसको जो सुख और प्रेम प्राप्त होता है उसको चक्रवर्ती भी नहीं पा सकता है । चक्रवर्ती का सुख राग सहित तृष्णा सहित व बहुत गृद्धता सहित है व तृप्ति रहित है जबकि असंग महात्माओं को जो स्वाधीन आत्मिक सुख है उसका अनंतवाँ भाग भी सुख चक्री को नहीं है ।

इंदियकसायवसगो, बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि ।
पक्खी व छिण्णपक्खो, ण उप्पददि इच्छमाणो वि ।।१३४३।।

भावार्थ :-- जो कोई बहुत शास्त्रों का ज्ञाता भी है, परन्तु पांच इन्द्रियों के विषयों के व कषायों के अधीन है वह सम्यक्चारित्र का उद्यम नही कर सकता है । जैसे पंख रहित पक्षी इच्छा करते हुए भी उड़ नही सकता है ।

णासदि व सगं बहुगं, पि णाणमिंदियकसायसम्मिस्सं ।
विससम्मिसिदं दुद्धं, णस्सदि जध सक्कराकढिदं ।।१३४४।।

भावार्थ :-- इन्द्रिय विषय और कषायों से मिला हुआ बहुत बड़ा ज्ञान नाश हो जाता है जैसे मिश्री मिलाकर औटाया हुआ दूध भी विष के मिलने से नष्ट हो जाता है ।

अब्भंतरसोधीए, सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं ।
अब्भंतरदोसेण हु, कुणदि णरो बाहिरं दोसं ॥१३५०॥

भावार्थ :-- अतरंग आत्मा से परिणामों की शुद्धता से बाहरी क्रिया की शुद्धता नियम से होती है । भीतर भावों में दोष होने से मनुष्य बाहर भी दोषो को करता है ।

होइ सुतवो य दीवो, अण्णाणतमंधयारचारिस्स ।
सव्वावत्थासु तवो, वट्टदि य पिदा व पुरिसस्स ॥१४६६॥

भावार्थ :-- अज्ञान रूपी अन्धेरे में चलते हुए उत्तम तप ही दीपक है । सर्व ही अवस्था में यह तप प्राणियों के लिये पिता के समान रक्षा करता है ।

रक्खा भएसु सुतवो, अब्भुदयाणं च आगरो सुतवो ।
णिस्सेणी होइ तवो, अक्खयसोक्खस्स मोक्खस्स ॥१४७१॥

भावार्थ :-- भयों से रक्षा करने वाला एक तप ही है । उत्तम तप सर्व ऐश्वर्यों की खान है । यही आत्मानुभव रूपी तप मोक्ष के अविनाशी सुख पर पहुँचने की सीढ़ी है ।

तं णत्थि जं ण लब्भइ, तवसा सम्मंकएण पुरिसस्स ।
अग्गीव तणं जलिउं, कम्मतणं डहदि य तवग्गी ॥१४७२॥

भावार्थ :-- जगत में ऐसी कोई उत्तम वस्तु नहीं है जो सम्यक् तप करने वाले पुरुष को प्राप्त न होवे जैसे अग्नि तृण को जला देती है वैसे तपरूपी अग्नि कर्मरूपी तृणों को जला देती है ।

जिदरागो जिददोसो जिदिंदिओ जिदभओ जिदकसाओ ।
रदिअरदिमोहमहणो झाणोवगओ सदा होइ ॥१६६९॥

भावार्थ :-- जिसने राग को जीता है, द्वेष को जीता है, इन्द्रियों को जीता है, भय को जीता है, कषायों को जीता है, रति अरति व मोहभाव को जिससे नाश किया है, वही पुरुष सदाकाल ध्यान में उपयुक्त रह सकता है ।

(१६) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक में कहते हैं :--

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः ।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य ना यत्यचला धृतिः ।।७१।।

भावार्थ :-- जिसके चित्त में निष्कम्प आत्मा में थिरता है उसी को मोक्ष का लाभ होता है । जिसके चित्त में ऐसा निश्चल धैर्य नहीं है उसको मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है ।

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ।।७२।।

भावार्थ :-- मानवों से वार्ता करने से मन की चंचलता होती है जिससे मन में अनेक विकल्प रूप व भ्रम पैदा होता है, ऐसा जानकर योगी मानवों की संगति छोड़े ।

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ।।८३।।

भावार्थ :-- हिंसादि पापों से पाप का बन्ध होता है । जीवदया आदि व्रतों से पुण्य बन्ध होता है । मोक्ष तो पुण्य पाप के नाश से होता है । इसलिये मोक्षार्थी जैसे हिसादि पांच अव्रतों को छोड़ता है वैसे वह अहिंसादि पांच व्रतों के पालने का भी विकल्प छोड़ देता है ।

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परमं पदमात्मनः ।।८४।।

भावार्थ :-- ज्ञानी जीव पहले अव्रतों को छोड़कर अहिंसादि व्रतों में अपने को जमाता है । पश्चात् आत्मा का श्रेष्ठ निर्विकल्प पद पाकर व्रतों को भी छोड़ देता है अर्थात् व्रतों के पालने का ममत्व भी उसके छूट जाता है ।

(१७) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं :--

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो ।
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम् ।।
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ।।१८६।।

भावार्थ :– सर्व शास्त्रों को पढ़कर तथा दीर्घ काल तक घोर तप साधन कर यदि तू शास्त्र ज्ञान और तप का फल इस लोक में लाभ बड़ाई आदि चाहता है तो तू विवेक शून्य होकर सुन्दर तपरूपी वृक्ष के फूल को ही तोड़ डालता है। तब तू उस वृक्ष के मोक्षरूपी पक्के फल को कैसे पा सकेगा ? तप का फल मोक्ष है यही भावना कर्तव्य है।

तथा श्रुतमधाष्व शश्वदिहलोकपंक्तिं विना
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः।
कषायविषयद्विषो विजय ते तथा दुर्जयान्
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपः शास्त्रयोः ॥१६०॥

भावार्थ :– हे भव्य ! तू इस लोक में लोगों की संगति बिना शास्त्रों को ऐसा पढ़ व महान कायक्लेश तप से शरीर को भी ऐसा शोष जिससे तू दुर्जय कषाय और विषय रूपी वैरी को विजय कर सके क्योंकि महामुनि तप व शास्त्र का फल शांतभाव को ही मानते हैं।

विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः।
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ॥२२४॥

भावार्थ :– संसार समुद्र का तट निकट होते हुए विवेक पुण्यात्मा जीव को इतनी बातों की प्राप्ति होती है – (१) इन्द्रियों के विषय में विरक्तभाव, (२) परिग्रह का त्याग, (३) कषायों का जीतना, (४) शांतभाव, (५) आजन्म अहिंसादि व्रत पालन, (६) इन्द्रियों का निरोध, (७) तत्व का अभ्यास, (८) तप का उद्यम, (९) मन की वृत्ति का निरोध, (१०) जिनेन्द्र में भक्ति, (११) जीवों पर दया।

निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवर्त्यं तदभावतः।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेवपदमव्ययम् ॥२३६॥

भावार्थ :– जब तक छोड़ने लायक मन वचन काय का सम्बन्ध है तब तक पर से निवृत्ति की या वीतरागता की भावना करनी चाहिये। जब पर पदार्थ से सम्बन्ध न रहा तब वहां न वृत्ति का विकल्प है और न निवृत्ति का विकल्प है, वही आत्मा का अविनाश पद है।

रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् ।
तौ च बाह्यार्थसम्बन्धौ तस्मात्तांश्च परित्यजेत् ॥२३७॥

भावार्थ :-- राग द्वेष होना ही प्रवृत्ति है । उन्हीं का न होना निवृत्ति है । ये रागद्वेष बाहरी पदार्थों के सम्बन्ध से होते हैं, इसलिये बाहरी पदार्थों का त्याग करना योग्य है ।

सुखं दुःखं वास्यादिह विहितकर्मोदयवशात्
कुतः प्रीतिस्तापः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत् ।
उदासीनस्तस्य प्रगलितपुराणं न हि नवं
समारकन्दत्येष स्फुरतिसुविदग्धो मणिरिव ॥२६३॥

भावार्थ :-- अपने ही किये हुए कर्मों के उदय के वश से जब सुख या दुःख होता है तब उनमें हर्ष या विषाद करना किस लिये ? ऐसा विचार कर जो रागद्वेष न करके उदासीन रहते हैं उनके पुरातन कर्म झड़ जाते हैं और नए नहीं बँधते हैं । ऐसे ज्ञानी तपस्वी महामणि की तरह सदा प्रकाशमान रहते हैं ।

(१८) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहते हैं :--

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥३९॥

भावार्थ :-- सर्व पाप सम्बन्धी मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का त्याग व्यवहार सम्यक्चारित्र है । निश्चय सम्यक्चारित्र सर्व कषायों से रहित, वीतरागमय, स्पष्ट आत्मा के स्वरूप का अनुभव है अर्थात् आत्मा रूप ही है ।

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०॥

भावार्थ :-- चारित्र दो प्रकार का है -- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पांच पापों से पूर्णतया विरक्त होना महाव्रतरूप चारित्र है तथा इन पापों से एकदेश विरक्त होना अणुव्रतरूप चारित्र है ।

निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

भावार्थ :-- पांचों पापों से बिलकुल छूट जाने पर जब यह आत्मा समयसार या शुद्धानुभव रूप होता है तब वही यति या साधु है जो इनके एकदेश त्याग में रत है । उसको श्रावक कहते हैं ।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

भावार्थ :– हिंसादि पांचों ही पापों में आत्मा के शुद्ध भावों की हिंसा होती है, इसलिये ये सबही हिंसा में गर्भित हैं । अनृतवचन चोरी आदि चार पापों के नाम उदाहरण रूप शिष्यों के समझाने के लिये हैं ।

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चता भवति सा हिंसा ॥४३॥

भावार्थ :– जो क्रोधादि कषाय सहित मन वचन काय की प्रवृत्ति से भावप्राण और द्रव्यप्राणों का वियोग करना व उनको कष्ट पहुँचाना वास्तव में हिंसा है ।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

भावार्थ :– अपने परिणामों में रागादि भावों का प्रगट न होने देना वही अहिंसा है और उन्हीं का प्रगट होना सो ही हिंसा है । यह जिनागम का सार है ।

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

भावार्थ :– जितने अंश परिणाम में वीतरागरूप चारित्रगुण प्रगट होता है उतने अंश वह गुण बन्ध नहीं करता है । उसी के साथ जितना अंश राग रहता है उतना अंश बन्ध होता है ।

(१६) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसार कलश में कहते हैं :–

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥४-१२॥

भावार्थ :– जो कोई ज्ञानी स्याद्वादनय के ज्ञान में कुशल है और संयम के पालने में निश्चल है और निरंतर अपने आत्मा को तल्लीन होकर ध्याता है वही एक आत्मज्ञान और चारित्र दोनों के साथ परस्पर तीव्र मैत्री करता हुआ इस एक शुद्धोपयोगी भूमि को प्राप्त करता है जो मोक्षमार्ग और कर्मनाशक है ।

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेकमेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोस्मि ।।७-१२।।

भावार्थ :-- यह आत्मा नानाप्रकार की शक्तियों का समुदाय है । यदि इसको एक एक अपेक्षा से खंड रूप देखा जाय तो इसका वास्तविक स्वरूप ही नष्ट हो जाता है । इसलिये भेद रहते हुए भी में अपने को अभेदरूप अखंड एक परम शांत निश्चल चैतन्य ज्योतिरूप अनुभव करता हूँ । यही सम्यक्चारित्र है ।

(२०) श्री अमितगति आचार्य तत्वभावना में कहते हैं :--

कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेषप्रमादादिभिः ।
शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनसः स्थैर्यं यतः क्षिप्यते ।।
काठिन्यं परितापदानचतुरैर्हेम्नो हुताशैरिव ।
त्याज्या ध्यायविधायिभिस्तत इमे कामादयो दूरतः ।।५३।।

भावार्थ :-- क्योंकि काम, क्रोध, विषाद, ईर्ष्या, मद, द्वेष, प्रमाद आदि दोषों के होने पर शुद्ध आत्मध्यान को बढ़ानेवाली मन की स्थिरता बिगड़ जाती है इसलिये जैसे तापकारी अग्नि की ज्वालाओं से सुवर्ण की कठिनता मिटादी जाती है उसी तरह आत्मा के ध्यान करने वालों को उचित है कि वे इन कामादि विकारों को दूर से ही त्याग करें ।

स्वात्मारोपितशीलसंयमभरास्त्यक्तान्यसाहाय्यकाः ।
कायेनापि विलक्षमाणहृदयाः साहायकं कुर्वता ।।
तप्यंते परदुष्करं गुरुतपस्तत्रापि ये निस्पृहा ।
जन्मारण्यमतीत्य भूरिभयदं गच्छंति ते निर्वृतिम् ।।८६।।

भावार्थ :-- जो अपने में शील व सयम के भार को रखते हैं, परपदार्थ की सहायता त्याग चुके हैं, जिनका मन शरीर से भी रागरहित है तथापि उस की सहायता से जो बहुत कठिन तप करते हैं तो भी जिनके भीतर कोई कामना नही है वे ही इस भयभीत संसार वन का उल्लंघकर मोक्ष को चले जाते हैं ।

पूर्वं कर्म करोति दुःखमशुभं सौख्यं शुभं निर्मितम् ।
विज्ञायेत्यशुभं निहंतु मनसो ये पोषयंते तपः ।
जायंते शमसंयमैकनिधयस्ते दुर्लभा योगिनो ।
ये स्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते ।।६०।।

भावार्थ :-- पूर्व बांधा हुआ अशुभकर्म उदय में आकर दुःख पैदा करता है तथा शुभ कर्म सुख को पैदा करता है । ऐसा जानकर जो महात्मा अशुभकर्म को क्षय करने के लिये तप करते हैं वे साम्यभाव व संयम के भंडार योगी इस जगत में दुर्लभ हैं । जिस पर भी जो पुण्य व पाप दोनों ही कर्मों के नाश में तत्पर हैं, ऐसे योगियों के सम्बन्ध में क्या कहा जावे ? उनका मिलना तो बहुत कठिन है ही ।

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रं सताम ।
सूरीणां यवनश्वरीमनुपमां वत्ते तपः संपदम् ।।
तच्चित्रं परमं यदत्र विषयं गृह्णाति हित्वा तपो ।
दत्तेऽसौय यदनेकदुःखमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ ।।६७।।

भावार्थ :-- चक्रवर्ती तप करने के लिये सुदर्शन चक्र का त्याग कर देते हैं । इसमें सज्जनों को कोई आश्चर्य नहीं होता है क्योंकि वह तप वीर साधुओं को अविनाशी अनुपम मोक्ष की संपदा को देता है । परम आश्चर्य तो इस बात में आता है जो कोई तप को छोड़कर इन्द्रिय विषय को ग्रहण कर लेता है, वह इस महान व भयानक संसार समुद्र में पड़कर अनेक दुःखों में अपने को पटक देता है ।

सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयमनघमृते ज्ञानमात्रेण मूढा ।
लंघित्वा जन्मदुर्गं निरुपमितसुखां ये यियासंति सिद्धिः ।।
ते शिश्रीषन्ति नूनं निजपुरमुदधिं बाहुयुग्मेन तीर्त्वा ।
कल्पांतोद्भूतवातक्षुभितजलचरासारकीर्णान्तरालम् ।।६६।।

भावार्थ :-- जो मूढ़ प्राणी निर्मल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमयी मोक्ष-मार्ग को छोड़कर मात्र ज्ञान से ही इस संसार के किले को उल्लघकर अनुपम सुखमयी मुक्ति की इच्छा करते हैं वे मानों कल्पकाल की उड़ी हुई वायु से क्षोभित और जलचरों से भरे हुए इस समुद्र को दोनों भुजाओं से तैरकर अपने नगर में पहुंचना चाहते हैं सो कठिन है ।

क्वचन भजति धर्मं क्वाप्यधर्मं दुरंतम् ।
क्वचिदुभयमनेकं शुद्धबोधोऽपि गेहि ।।
कथमिति गृहवासः शुद्धिकारी मलाना-
मिति विमलमनस्कैस्त्यज्यते स त्रिधापि ।।११६।।

भावार्थ :– शुद्ध आत्मज्ञान धारी गृहस्थी भी घर में रहकर कभी तो धर्म सेवता है, कभी महान अधर्म सेवता है, कभी दोनों को सेवता है, तब बताइये यह गृहवास किस तरह सर्व कर्ममल से शुद्ध करने वाला हो सकता हैं ? ऐसे निर्मल मनधारकों ने विचार कर इस गृहवास को मन वचन काय से त्याग ही किया ।

(२१) श्री पद्मनंदिमुनि पद्मनंदीपच्चीसी के धर्मोपदेशामृत अधिकार में कहते हैं :–

आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरवु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरुच्चैः ।
पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या ।।
तत्वाभ्यासः स्वकीयव्रतिरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं ।
तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः ।।१३।।

भावार्थ :– जिस गृहस्थपने में श्री जिनेन्द्र की आराधना की जावे, गुरुओं की विनय की जावे, पात्रों को भक्तिपूर्वक दान दिया जावे, आपदा से दुःखित दीनों को दया से दान दिया जावे, अपने नियम व्रतों की रक्षा में प्रेम किया जावे तथा निर्मल सम्यग्दर्शन पाला जावे वही गृहस्थपना बुद्धिमानों के द्वारा माननीय है । जहां ये सब बातें नहीं वह गृहस्थपना नहीं है किन्तु दुःखदाई मोह का फंदा है ।

अभ्यस्यतान्तरदृशं किमु लोकभक्त्या मोहं कृशीकुरुत किं वपुषाकृशेन ।
एतद्द्वयं यदि न किं बहुभिर्नियोगैः क्लेशैश्च किं किमपरैः प्रचुरैस्तपोभिः ।।५०।।

भावार्थ :– हे मुने ! अपने भीतर शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप का अभ्यास करो, लोगों के रिझाने से क्या लाभ ? मोह भाव को कृश करो, कम करो, शरीर को दुबला करने से क्या लाभ ? यदि मोह की कमी और आत्मानुभव का अभ्यास ये दो बातें न हों तो बहुत भी नियम, व्रत, संयम से व कायक्लेशरूप भारी तपों से क्या लाभ ?

(२२) श्री पद्मनंदिमुनि पद्मनंदीपच्चीसी के यतिभावना में कहते हैं –

भेदज्ञानविशेषसंहृतमनोवृत्तिः समाधिः परो ।
जायेताद्भुतधाम धन्यशमिनां केषांचिदत्राचलः ।।

वज्रे मूर्ध्नि पतत्यपि त्रिभुवने वन्हिप्रदीप्तेऽपि वा ।
येषां नो विकृतिर्मनागपि भवेत्प्राणेषु नश्यत्स्वपि ॥७॥

भावार्थ :– इस जगत में कितने ही साम्यभाव के धारक धन्य योगीश्वर हैं जिनके भीतर भेदविज्ञान के बल से मन की वृत्ति रुक जाने से उत्तम ध्यान का प्रकाश परम निश्चल हो रहा है जिसको देखकर आश्चर्य होता है । वे ऐसे निश्चल ध्यानी हैं कि कोई प्रकार के उपसर्ग आने पर भी ध्यान से चलायमान नहीं होते । यदि मस्तक पर वज्रपात पड़े या तीन भुवन में अग्नि जल जावे व प्राणों का नाश भी हो जावे तो भी उनके परिणामों में विकार नहीं होता है ।

(२३) श्री पद्मनंदिमुनि पद्मनंदीपच्चीसी उपासक संस्कार में कहते हैं :–

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानञ्चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥७॥

भावार्थ :– देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, सयम, तप और दान ये गृहस्थों के नित्य प्रतिदिन करने के कर्म हैं ।

(२४) श्री पद्मनंदि मुनि निश्चयपंचाशत् में कहते हैं :--

सानुष्ठानविशुद्धे दृग्बोधे जम्भिते कुतो जन्म ।
उदिते गभस्तिमालिनि किं न विनश्यति तमो नैशम् ॥१६॥

भावार्थ :– चारित्र की शुद्धता से जब दर्शन ज्ञान गुण विस्तार को प्राप्त हो जाते हैं तब संसार कहाँ से रहेगा ? अर्थात् नहीं रहता है । जैसे सूर्य के उदय होने पर रात्रि सम्बन्धी अन्धकार का क्या नाश नहीं होगा ? अवश्य होगा ।

(२५) श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चय में कहते हैं :--

छित्वा स्नेहमयान पाशान् भित्वा मोहमहार्गलाम् ।
सच्चारित्रसमायुक्तः शूरो मोक्षपथे स्थितः ॥२०॥

भावार्थ :– वही वीर पुरुष मोक्षमार्ग में चलनेवाला है जो स्नेहमयी जालों को छेद करके व मोह की महान जंजीरों को तोड़ करके सम्यक्चारित्र को धारण करता है ।

विषयोरगदष्टस्य कषायविषमोहितः ।
संयमो हि महामंत्रस्त्राता सर्वत्र देहिनाम् ॥३०॥

भावार्थ :– जो इन्द्रिय विषयरूपी सर्प से डसा हो व जिसको कषायरूप विष से मूर्छा आ गई हो उसके लिये संयम ही महामंत्र है, यही सर्व जगह प्राणियों का रक्षक है ।

उत्तमे जन्मनि प्राप्ते चारित्रं कुरु यत्नतः ।
सद्धर्मे च परां भक्तिं शमे च परमां रतिम् ॥४७॥

भावार्थ :– उत्तम नरजन्म पाया है तो यत्नपूर्वक चारित्र का पालन कर, रत्नत्रय धर्म में दृढ़ भक्ति कर व शांतभाव में श्रेष्ठ प्रीति कर ।

धर्ममाचर यत्नेन मा भवस्त्वं मृतोपमः ।
सद्धर्मचेतसां पुंसां जीवितं सफलं भवेत् ॥६१॥

मृता नैव मृतास्ते तु ये नरा धर्मकारिणः ।
जीवंतोऽपि मृतास्ते वै ये नराः पापकारिणः ॥६२॥

भावार्थ :– हे प्राणी ! तू यत्नपूर्वक धर्म का आचरण कर मृतक के समान मत बन । जिन मानवों के चित्त में सच्चा धर्म है उन्हीं का जीवन सफल है । जो धर्माचरण करने वाले हैं वे मरने पर भी अमर हैं परन्तु जो मानव पाप के मार्ग पर जाने वाले हैं वे जीते हुए भी मृतक के समान हैं ।

चित्तसंदूषकः कामस्तथा सद्गतिनाशनः ।
सद्वृत्तध्वंसनश्चासौ कामोऽनर्थपरम्परा ॥१०३॥

दोषाणामाकरः कामो गुणानां च विनाशकृत् ।
पापस्य च निजो बन्धुः परापदां चैव संगमः ॥१०४॥

तस्मात्कुरुत सद्वृत्तं जिनमार्गरताः सदा ।
ये सत्खंडितां यांति स्मरशल्यं सुदुर्धरम् ॥१०२॥

भावार्थ :– काम भाव मन को दूषित करने वाला है, सद्गति का नाशक है, सम्यक्चारित्र को नष्ट करने वाला है । यह काम परम्परा अनर्थकारी है । काम दोषों का भंडार है, गुणों का नाश करने वाला है, पाप का खास बन्धु है । बड़ी बड़ी आपत्तियों को बुलाने वाला है इसलिये सदा जैन धर्म में लीन होकर सम्यक्चारित्र का पालन करो जिससे अति कठिन काम की शल्य चूर्ण चूर्ण हो जावे ।

उपवासोऽवमोदर्यं रसानां त्यजनं तथा ।
अस्नानसेवनं चैव ताम्बूलस्य च वर्जनम् ॥११५॥
असेवेच्छानिरोधस्तु निरनुस्मरणं तथा ।
एते हि निर्जरोपाया मदनस्य महारिपोः ॥११६॥

भावार्थ :– उपवास करना, भूख से कम खाना, रसों को छोड़ना, स्नान न करना, ताम्बूल को न खाना काम सेवन न करना, काम की इच्छा को रोकना, कामभाव का स्मरण न करना, ये सब कामरूपी महा शत्रु के नाश के उपाय हैं ।

सम्पत्तो विस्मिता नैव विपत्तो नैव दुःखिताः ।
महतां लक्षणं ह्येतन्न तु द्रव्यसमागमः ॥१७०॥

भावार्थ :– महान पुरुषों का यह लक्षण है कि सम्पत्ति होने पर आश्चर्य न माने व विपत्ति पड़ने पर दुःखी न हों, केवल लक्ष्मी का होना ही महापुरुष का लक्षण नहीं है ।

गृहाचारकवासेऽस्मिन् विषयामिषलोभिनः ।
सीदंति नर शार्दूला बद्धा बान्धवबन्धनैः ॥१८३॥

भावार्थ :– नरसिंह के समान मानव भी बंधुजनों के बंधनों में बँधे हुए, इन्द्रिय विषयरूपी मांस के लोभी होकर इस गृहस्थी के कुवास में कष्ट पाते रहते हैं ।

मानस्तंभ दृढं भंक्त्वा लोभाद्रिं च विदार्य वै ।
मायावल्लीं समुत्पाठ्य क्रोधशत्रुं निहत्य च ॥१९४॥
यथाख्यातं हितं प्राप्य चारित्रं ध्यानतत्परः ।
कर्मणां प्रक्षयं कृत्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥१९५॥

भावार्थ :– जो कोई महात्मा दृढ़ मान के खंभ को चूर्ण कर डालता है, लोभरूपी पर्वत के खंड खंड कर देता है, माया की बेल को उखाड़ के फेंक देता है, क्रोध शत्रु को मार डालता है वही ध्यान में लीन होकर परम हितकारी यथाख्यात वीतराग चारित्र को पाकर परमपद को प्राप्त कर लेता है ।

परीषहजये शूराः शूराश्चेन्द्रियनिग्रहे ।
कषायविजये शूरास्ते शूरा गदिता बुधैः ॥२१०॥

भावार्थ :– जो महात्मा परिषहों को जीतने में वीर हैं, इन्द्रियों के निरोध में शूर हैं, कषायों के विजय में पराक्रमी हैं, उन्हीं को बुद्धिमानों ने वीर पुरुष कहा है ।

समता सर्वभूतेषु यः करोति सुमानसः ।
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम् ।।२१३।।

भावार्थ :– जो सज्जन सुमनधारी सर्व प्राणीमात्र में समताभाव रखता है और ममता के भाव को छोड़ देता है वही अविनाशी पद को पाता है ।

रागादिवर्जनं सङ्गं परित्यज्य दृढव्रताः ।
धीरा निर्मलचेतस्काः तपस्यन्ति महाधियः ।।२२३।।

संसारोद्विग्नचित्तानां निःश्रेयससुखैषिणाम् ।
सर्वसंगनिवृत्तानां धन्यं तेषां हि जीवितम् ।।२२४।।

भावार्थ :– जो महाबुद्धिमान रागद्वेषादि भावों को हटाकर, परिग्रहों को त्यागकर, महाव्रतो में दृढ़ होकर निर्मल चित्त से तप करते हैं वे ही धीर हैं, जो संसार से वैराग्यवान हैं, मोक्ष सुख की भावना रखते हैं व सर्व परिग्रह से मुक्त हैं उन्हीं का जीवन धन्य है ।

संगात्संजायते गृद्धिर्गृद्धो वाञ्छति संचयम् ।
संचयाद्वर्धते लोभो लोभाद्दुःखपरंपरा ।।२३२।।

भावार्थ :– परिग्रह से गृद्धता होती है । गृद्धता होने पर धन संचय करना चाहता है । धन के संचय से लोभ बढ़ता है, और लोभ से दुःखों परम्परा बढ़ती जाती है ।

सद्वृत्तः पूज्यते देवैराखण्डलपुरःसरैः ।
असद्वृत्तस्तु लोकेऽस्मिन्निन्द्यतेऽसौ सुरैरपि ।।२७५।।

भावार्थ :– सम्यक्चारित्रवान की पूजा इन्द्रादि देव भी करते हैं, किन्तु जो चारित्रवान नहीं है उसकी इस लोक में देवगण भी निन्दा करते हैं ।

व्रतं शीलतपोदानं संयमोऽर्हत्पूजनम् ।
दुःखविच्छित्तये सर्वं प्रोक्तमेतन्न संशयः ।।३२२।।

भावार्थ :– दुःखों के नाश करने के लिये व्रत, शील, तप, दान संयम व अर्हंत पूजा इन सबको कारणरूप कहा गया है इसमें कोई संशय नहीं है ।

तृणतुल्यं परद्रव्यं परं च स्वशरीरवत् ।
पररामा समा मातुः पश्यन् याति परं पदम् ।।३२३।।

भावार्थ :– जो परके धन को तृण समान, पर के शरीर को अपने शरीर के समान व पर की स्त्री को माता के समान देखता है वही परम पद को पाता है ।

(२६) श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं :–

यद्विशुद्धेः परं धाम यद्योगिजनजीवितम् ।
तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणम् ॥१-८॥

भावार्थ :– जो आत्मा की शुद्धता का उत्कृष्ट धाम है, जो योगीश्वरों का जीवन है, जो सर्व पापों से दूर रखने वाला है वही सम्यक्चारित्र है ।

पञ्चव्रतं समित्पंच गुप्तित्रयपवित्रितम् ।
श्रीवीरवदनोद्गीर्णं चरणं चन्द्र निर्मलम् ॥५-८॥

भावार्थ :– श्री वीर भगवान ने वर्णन किया है कि पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति ये तेरह प्रकार का चारित्र चन्द्रमा के समान निर्मल है ।

निः स्पृहत्वं च नैराश्यं दुष्करं तपः ।
कायक्लेशश्च दानं च हिंसकानामपार्थकम् ॥२०-८॥

भावार्थ :– जो हिंसक पुरुष हैं उनकी निस्पृहता, महत्ता, आशारहित-पना, उनका कठिन तप, कायक्लेश तथा दान ये सर्व धर्मकार्य निष्फल हैं ।

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः ।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥३२-८॥

अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियं ।
अहिंसैव हितं कुर्याद्व्यसनानि निरस्यति ॥३३-८॥

भावार्थ :– अहिसा ही जगत की रक्षिका माता है, अहिसा ही आनंद की संतान बढ़ाने वाली है, अहिंसा ही अविनाशी लक्ष्मी है, अहिंसा से ही उत्तम गति होती है, अहिंसा ही मोक्षसुख को देती है, अहिसा ही स्वर्ग सम्पदा देती है, अहिंसा ही परम हितकारी है, अहिंसा ही सर्व आपदाओं को नाश करती है ।

तपःश्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणां ।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ॥४२-८॥

भावार्थ :-- तपस्या, शास्त्रज्ञान, महाव्रत, आत्मज्ञान, धर्मध्यान, दान आदि शुभकर्म, सत्य, शील, व्रत आदि की माता अहिंसा ही कही गई है। अहिंसा के होते हुये ये सब यथार्थ हैं।

दूयते यस्तृणेनापि स्वशरीरे कदर्थिते।
स निर्दयः परस्याङ्गे कथं शस्त्रं निपातयेत् ॥४८-८॥

भावार्थ :-- जो मनुष्य अपने शरीर में तिनका चुभने पर भी अपने को दुःखी मानता है वह निर्दयी होकर पर के शरीर पर शस्त्रों को चलाता है यही बड़ा अनर्थ है।

अभयं यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम्।
पश्यात्मसदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरम् ॥५२-८॥

भावार्थ :-- सर्व प्राणियों को अभयदान दो, उनके प्राणों की रक्षा करो, सर्व से प्रशंसनीय मित्रता करो। जगत के सर्व स्थावर व त्रस प्राणियों को अपने समान देखो।

व्रतश्रुतयमस्थानं विद्याविनयभूषणम्।
चरणज्ञानयोर्बीजं सत्यसंज्ञं व्रतं मतम् ॥२७-६॥

भावार्थ :-- यह सत्य नाम व्रत सर्व व्रतों का शास्त्रज्ञान का व यम नियम का स्थान है। विद्या व विनय का यही आभूषण है। चारित्र व ज्ञान का यही बीज है।

विषयविरतिमूलं संयमोद्दामशाखम्, यमदलशमपुष्पं ज्ञानलीलाफलाढ्यम्।
विबुधजनशकुन्तैः सेवितं धर्मवृक्षं दहति मुनिरपीह स्तेयतीव्रानलेन ॥२०-१०॥

भावार्थ :-- जिन धर्म वृक्ष की जड़ विषयों से विरक्ति है, जिसकी बड़ी शाखा संयम है, जिसके यम नियमादि पत्र है, व उपशम भाव पुष्प हैं। ज्ञानानन्दरूपी जिसके फल हैं। जो पण्डितरूपी पक्षियों से सेवित हैं ऐसे धर्म वृक्ष को मुनि भी हो तो भी चोरी रूपी तीव्र अग्नि से भस्म कर डालता है।

पर्यन्तविरसं विद्धि दशधान्यच्च मैथुनम्।
योसित्संगाद्विरक्तेन त्याज्यमेव मनीषिणा ॥६-११॥

भावार्थ :-- ब्रह्मचर्य व्रत के पालने वाले को जो स्त्री के संग से विरक्त है, इस प्रकार मैथुन को अवश्य त्यागना चाहिये। इस मैथुन का फल अंत में विरस होता है।

आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम् ।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संगस्तुर्यमिष्यते ॥७-११॥
योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्तितम् ।
तदङ्गवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमं मतम् ॥८-११॥
पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् ।
नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षम् ॥९-११॥

भावार्थ :— दश प्रकार का मैथुन यह है (१) शरीर का शृंगार, (२) पुष्ट रस का सेवन, (३) गीत नृत्य वादित्र का देखना सुनना, (४) स्त्रियों की संगति, (५) स्त्रियों के विषयों का संकल्प करना, (६) स्त्रियों के अंग देखना, (७) देखने का संस्कार मन में रखना, (८) पूर्व के भोगो का स्मरण, (९) काम भोग की भावना करनी, (१०) वीर्य का झड़ना ।

स्मरदहनसुतीव्रानन्तसन्तापविद्धं
भुवनमिति समस्तं वीक्ष्य योगिप्रवीराः ।
विगतविषयसङ्गाः प्रत्यहं संश्रयन्ते
प्रशमजलधितीरं संयमारामरम्यम् ॥४८-११॥

भावार्थ :— इस जगत को काम की अग्नि के प्रचंड और अनन्त संतापों से पीड़ित देखकर विषयों से विरक्त योगीश्वर प्रतिदिन संयमरूपी उपवन में शोभायमान ऐसे शांतिसागर के तट का ही आश्रय लेते हैं । बाहरी काम से विरक्त होकर अंतरंग आत्मानुभव करते हैं ।

सत्संसर्गसुधास्यन्दैः पुंसां हृदि पवित्रिते ।
ज्ञानलक्ष्मीः पदं धत्ते विवेकमुदिता सती ॥१४-१५॥

भावार्थ :— सत्पुरुषों की सत्संगति रूपी अमृत के झरने से पुरुषों का हृदय पवित्र हो जाता है तब उसमें विवेक से प्रसन्न हुई ज्ञानरूपी लक्ष्मी निवास करती है ।

शीतांशुरश्मिसंपर्काद्विसर्पति यथाम्बुधिः ।
तथासद्वृत्तसंसर्गान्नृणां प्रज्ञापयोनिधिः ॥१७-१५॥

भावार्थ :— जैसे चन्द्रमा की किरणों की संगति से समुद्र बढ़ता है, वैसे सम्यक्चारित्र के धारी महात्माओं की संगति से मनुष्यों का प्रज्ञा (भेदविज्ञान) रूपी समुद्र बढ़ता है ।

वृद्धानुजीविनामेव स्युश्चारित्रादिसम्पदः ।
भवत्यपि च निर्लेपं मन क्रोधादिकश्मलम् ।।१६-१५।।

भावार्थ :– अनुभवी सुचारित्रवान वृद्धों की सेवा करने वालों के ही चारित्र आदि सम्पदाएं प्राप्त होती हैं तथा क्रोधादि कषायों से मैलापन भी निर्मल हो जाता है ।

मनोऽभिमतनिःशेषफलसंपादनक्षमं ।
कल्पवृक्षमिवोदारं साहचर्यं महात्मनाम् ।।३७-१५।।

भावार्थ :– महात्माओं की संगति कल्पवृक्ष के समान सर्व प्रकार के मनोवांछित फल देने को समर्थ है अतएव चारित्र की रक्षार्थ महान पुरुषों की सेवा कर्तव्य है ।

वहति दुरितकक्षं कर्मबंधं लुनीते
वितरति यमसिद्धिं भावशुद्धिं तनोति ।
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ।।४१-१५।।

भावार्थ :– वृद्ध महात्माओं की सेवा मानवों के लिये निश्चय से परम कल्याणकारिणी है, पापरूपी वन को जलाती है, कर्मबंध को काटती है, चारित्र को सिद्ध कराती है, भावों को शुद्ध रखती है, संसार के पार पहुँचाती है तथा ज्ञान के राज्य को या केवलज्ञान को देती है ।

विरम विरम संगान्मुञ्च मुञ्च प्रपंचं
विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम् ।
कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं
कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः ।।४२-१५।।

भावार्थ :– हे आत्मन् ! तू परिग्रह से विरक्त हो, जगत के प्रपंच को छोड़ छोड़, मोह को बिदा कर बिदा कर, आत्मतत्व को समझ समझ, चारित्र का अभ्यास कर, अभ्यास कर, अपने आत्मस्वरूप को देख देख तथा मोक्ष के सुख के लिये पुरुषार्थ को बार बार कर ।

अतुलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानबीजं
विलयगतकलंकं शान्तविश्वप्रचारम् ।

गलितसकलशङ्कं विश्वरूपं विशालं
भज विगतविकारं स्वःस्वमनात्मानमेव ॥४३-१५॥

भावार्थ :– हे आत्मन् ! तू अपने ही आत्मा के द्वारा, अनंत सुख समुद्र केवल ज्ञान के बीज कलंक रहित, निर्विकल्प, नि शंक, ज्ञानापेक्ष विश्वव्यापी, महान तथा निर्विकार आत्मा को ही भज उसी का ध्यान कर ।

सर्वसंगविनिर्मुक्तः, संवृताक्षः स्थिराशयः ।
धत्ते ध्यानधुरां धीराः संयमी वीरवर्णितां ॥३३-१६॥

भावार्थ :– जो महात्मा सर्व परिग्रह रहित है, इन्द्रियविजयी है, स्थिर चित्त है वही संयमी मुनि श्री महावीर द्वारा कथित आत्म ध्यान की धुरा को धारण कर सकता है ।

सकलविषयबीजं सर्वसावद्यमूलं
नरकनगरकेतुं वित्तजातं विहाय ।
अनुसर मुनिवृन्दानन्दि सन्तोषराज्य-
मभिलषसि यदि त्वं जन्मबन्धव्यपायम् ॥४०-१६॥

भावार्थ :– हे आत्मन् ! यदि संसार के बन्ध का नाश करना चाहता है तो तू सर्व विषयों का मूल, सर्व पापों का बीज, नरकनगर की ध्वजा रूप परिग्रह के समूह को त्याग कर, मुनियों के समूह को आनन्द देने वाला संतोष-रूपी राज्य को अंगीकार कर ।

आशा जन्मोग्रपङ्काय शिवायाशाविपर्यय ।
इति सम्यक्समालोच्य यद्धितं तत्समाचर ॥१६-१७॥

भावार्थ :– संसार के पदार्थों की आशा संसार रूपी कर्दम में फंसाने वाली है । जबकि आशा का त्याग मोक्ष को देने वाला है, ऐसा भलो प्रकार विचार कर, जिसमें तेरा हित हो वैसा आचरण कर ।

निः शेषक्लेशनिर्मुक्तममूर्तं परमाक्षरम् ।
निष्प्रपञ्चं व्यतीताक्षं पश्य स्वं स्वात्मनि स्थितम् ॥३४-१७॥

भावार्थ :– हे आत्मन् ! तू अपने ही आत्मा में स्थित सर्व क्लेशों से रहित अमूर्तिक, परम उत्कृष्ट, अविनाशी, निर्विकल्प और अतीन्द्रिय अपने ही आत्मस्वरूप का अनुभव कर । उसी को देख । यही निश्चयचारित्र है ।

वयमिह परमात्मध्यानदत्तावधानः
परिकलितपदार्थास्त्यक्तसंसारमार्गाः ।
यदि निकषपरीक्षासु क्षमा नो तदानीं
भजति विफलभावं सर्वथैव प्रयासः ।।४६-१६।।

भावार्थ :-- मुनिराज विचारते हैं कि इस जगत में हम परमात्मा के ध्यान में लीन हैं, पदार्थों के स्वरूप के ज्ञाता हैं, संसार के मार्ग के त्यागी हैं। यदि हम ऐसा होकर के भी उपसर्ग परीषहों की कसौटी से परीक्षा में असफल हो जावें तो हमारा मुनिधर्म धारण का सर्व प्रयास वृथा ही हो जावे। इसलिये हमें कभी शांत भावक त्याग न करना चाहिये, कभी भी क्रोध के वश न होना चाहिये।

स्वसंवित्तिं समायाति यमिनां तत्त्वमुत्तमम् ।
आसमन्ताच्छमं नीते कषायविषमज्वरे ।।७७-१६।।

भावार्थ :-- जब कषायों का विषमज्वर बिल्कुल शांत हो जाता है तब ही संयमी मुनियों के भीतर उत्तम आत्मतत्व स्वसवेदनरूप झलकता है। अर्थात् तब ही वे शुद्धात्मा का अनुभव कर सकते हैं।

रागादिपङ्कविश्लेषात्प्रसन्ने चित्तवारिणि ।
परिस्फुरति निःशेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ।।१७-२३।।

भावार्थ :-- रागद्वेषादि कर्दम के अभाव से जब चित्तरूपी जल प्रसन्न या शुद्ध हो जाता है तब मुनि को सर्व वस्तुओं का स्वरूप स्पष्ट भासता है।

स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते ।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ।।१८-२३।।

भावार्थ :-- वीतरागी साधु के भीतर ऐसा कोई अपूर्व परमानंद पैदा होता है कि जिसके सामने तीन लोक का अचिन्त्य ऐश्वर्य भी तृण के समान भासता है।

निखिलभुवनतत्त्वोद्भासनैकप्रदीपं
निरुपधिमधिरूढं निर्भरानन्दकाष्ठाम् ।
परममुनिमनीषोद्भेदपर्यन्तभूतं
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ।।१०३-३२।।

भावार्थ :-- हे आत्मन् ! तू अपने ही आत्मा के द्वारा सर्व जगत के तत्वों को दिखाने के लिये अनुपम दीपक के समान, उपाधिरहित, परमानंदमय, परममुनियों को भेदविज्ञान से प्रगट ऐसे आत्मा का अनुभव कर ।

(२६) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरंगिणी में कहते हैं :--

संगं विमुच्य विजने वसंति गिरिगह्वरे ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तये ज्ञानिनोऽन्यत्र निस्पृहाः ॥५-३॥

भावार्थ :-- ज्ञानी महात्मा इच्छारहित होकर शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के लिये परिग्रह को त्याग कर एकांत स्थान पर्वत की गुफा आदि में तिष्ठते हैं ।

निर्वृत्तिर्यत्र सावद्यात् प्रवृत्तिः शुभकर्मसु ।
त्रयोदशप्रकारं तच्चारित्रं व्यवहारतः ॥१४-१२॥

भावार्थ :-- जहां पापों से विरक्ति हो व शुभ कामों में प्रवृत्ति हो वह व्यवहारनय से चारित्र मुनियों के वह तेरह प्रकार हैं ।

संगं मुक्त्वा जिनाकारं धृत्वा साम्यं दृशं धियं ।
यः स्मरेत शुद्धचिद्रूपं वृत्तं तस्य किलोत्तमं ॥१६—१२॥

भावार्थ :-- जो कोई परिग्रह को त्यागकर व जिनेन्द्र के समान निर्ग्रंथ-रूप धारण कर समता, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का धारी हो, शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ध्यान करता है, उसी के उत्तम चारित्र होता है ।

शुद्धे स्वे चित्स्वरूपे या स्थितिरनिश्चला ।
तच्चारित्रं परं विद्धि निश्चयात्कर्मनाशकृत् ॥१८ १२॥

भावार्थ :-- निश्चयनय से अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप में जो निश्चलता से स्थिति प्राप्त करना वह कर्मों का नाशक निश्चय सम्यक्चारित्र है ऐसा जानो ।

सत्पूज्यानां स्तुतिनतियजनं षट्कर्मावश्यकानां
वृत्तादीनां दृढतरधरणं सत्तपस्तीर्थयात्रा ।
संगादीनां त्यजनमजननं क्रोधमानादिकाना—
माप्तैरुक्तं वरतरकृपया सर्वमेतद्धि शुद्धयै ॥४—१३॥

भावार्थ :-- श्री अरहंत भगवन्तों ने अत्यन्त कृपा करके बताया है कि ये सब काम आत्मा की शुद्धि के लिये ही करने योग्य हैं -- (१) परमपूज्य

देव, शास्त्र, गुरु की स्तुति, वन्दना व पूजा । (२) सामायिक प्रतिक्रमण आदि छः नित्यकर्मों का तथा सम्यक्चारित्र का दृढ़ता से पालना । (३) उत्तम तप करना, (४) तीर्थयात्रा करनी, (५) परिग्रह आरम्भ आदि का त्यागना, (६) क्रोध मान आदि कषायों का जीतना ।

विशुद्धिसेवनासक्ता वसंति गिरिगह्वरे ।
विमुच्यानुपमं राज्यं सुखानि धनानि च ॥१७ - १३॥

भावार्थ :- जो मनुष्य अपनी आत्मा को शुद्ध करना चाहते हैं वे उसकी सिद्धि के लिये अनुपम राज्य, इन्द्रियसुख तथा धनादि परिग्रह को त्याग कर पर्वत की गुफा में निवास करते हैं ।

विशुद्धिः परमो धर्मः पुंसि सैव सुखाकरः ।
परमाचरणं सैव मुक्तेः पंथाश्च सैव हि ॥१६—१३॥

तस्मात् सैव विधातव्या प्रयत्नेन मनीषिणा ।
प्रतिक्षणं मुनीशेन शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥२०—१३॥

भावार्थ :— आत्मा विशुद्धि ही परम धर्म है, यही आत्मा को सुख की खान है । यही परम चारित्र है, यही मोक्ष मार्ग है । इसलिये बुद्धिमान मुनि का कर्तव्य है कि प्रतिक्षण सदा शुद्ध चैतन्यस्वरूप के मनन से इसी आत्मशुद्धि का अभ्यास करे ।

व्रतानि शास्त्राणि तपांसि निर्जने निवासमंतर्बहिःसंगमोचनं ।
मौनं क्षमातापनयोगधारणं चिच्चिंतयामा कलयन् शिवं श्रयेत् ॥११—१४॥

भावार्थ :— जो कोई महात्मा शुद्ध चैतन्यरूप के मनन के साथ २ व्रतों को पालता है, शास्त्रों को पढ़ता है, तप करता है, निर्जन स्थान में रहता है, बाहरी भीतरी परिग्रह का त्याग करता है मौन धारता है, क्षमा पालता है व आतापनयोग धारता है वही मोक्ष को पाता है ।

शास्त्राद् गुरोः सधर्मादेर्ज्ञानमुत्पाद्य चात्मनः ।
तस्यावलंबनं कृत्वा तिष्ठ मुंचान्यसंगतिं ॥१०—१५॥

भावार्थ :— शास्त्र को पढ़कर, गुरु से समझकर व साधर्मी की संगति से आत्मा के ज्ञान को पाकर उसी का सहारा लेकर बैठ और ध्यान कर, अन्य संगति का त्याग कर ।

संगत्यागो निर्जनस्थानकं च तत्त्वज्ञानं सर्वचिंताविमुक्तिः ।
निर्बाधत्वं योगरोधो मुनीना मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमी निरुक्ताः ।।८—१६।।

भावार्थ :– परिग्रह का त्याग, निर्जन स्थान, तत्वज्ञान, सर्व चिंताओं का त्याग, बाधा रहितपना, मन वचन काय का निरोध, ये ही ध्यान के साधन मोक्ष के प्रयोजन से कहे गए हैं ।

क्षणे क्षणे विमुच्येत शुद्धचिद्रूपचिंतया ।
तदन्यचिंतया नूनं बध्येतैव न संशयः ।।६—१८।।

भावार्थ :– यदि शुद्ध चैतन्य स्वरूप का चिन्तवन किया जावे तो क्षण क्षण में कर्मों से मुक्ति होती चली जायेगी और यदि पर पदार्थों का चिन्तवन होगा तो प्रति समय कर्मों का बन्ध होता ही रहेगा, इसमें कोई संशय नहीं है ।

(२८) पं. बनारसीदासजी बनारसीविलास में कहते हैं :–

[छप्पय]

जिन पूजहु गुरुनमहु, जैन मत वैन बखानहु ।
संघ भक्ति आदरहु, जीव हिंसा नविधानहु ।।
झूठ अदत्त कुशील, त्याग परिग्रह परमानहु ।
क्रोध मान छल लोभ जीत, सज्जनता ठानहु ।।
गुणिसंग करहु इन्द्रिय दमहु, देहु दान तप भावजुत ।
गहि मन विराग इहिविधि चहहु, जो जगमें जीवनमुकत ।।८।।

[सवैया इकतीसा]

सुकत की खान इन्द्र पुरीकी नसैनी जान,
पापरजखंडन को, पौनरासि पेखिये ।
भव दुख पावक बुझायवे को मेघ माला,
कमला मिलायवे को दूती ज्यों विशेखिये ।।
सुगति वधूसों प्रीत पालवे को आलीसम,
कुगति के द्वार दृढ, आगलसी देखिये ।
ऐसी दया कीजै चित; तिहुंलोकप्राणीहित,
और करतूत काहू; लेखे में न लेखिये ।।२५।।

जाके आदरत महा रिद्धिसों मिलाप होय,
मदन अव्याप होय कर्म बन दाहिये ।
विघ्न विनास होय गीरबाण दास होय,
ज्ञान को प्रकाश होय भो समुद्र थाहिये ।।
देवपद खेल होय मंगलसों मेल होय,
इन्द्रिनि की जेल होय मोक्षपंथ गाहिये ।
जाकी ऐसी महिमा प्रगट कहै कौंरपाल,
तिहुँलोक तिहुँकाल सो तप सराहिये ।।८२।।
पूरब करम दहै; सरवज्ञ पद लहै;
गहै पुण्यपंथ फिर पाप में न आवना ।
करुना की कला जागै कठिन कषाय भागै;
लागै दानशील तप सफल सुहावना ।।
पावै भवसिंधु तट खोलै मोक्षद्वार पट,
शर्म साध धर्म की धरा में करै धावना ।
एते सब काज करै अलख को अंग धरै;
चेरी चिदानंद की अकेली एक भावना ।।८६।।

[सवैया तेईसा]

धीरज तात क्षमा जननी परमारथ मीत महा रुचि भासी ।
ज्ञान सुपुत्र सुता करुणा मति, पुत्रवधू समता प्रतिभासी ।।
उद्यम दास विवेक सहोदर, बुद्धि कलत्र महोदयदासी ।
भाव कुटुम्ब सदा जिनके ढिग, यों मुनि को कहिये गृहवासी ।।७।।
(२६) पं. बनारसीदासजी नाटक समयसार में कहते हैं :—

[सवैया इकतीसा]

लज्जावंत दयावंत प्रसन्न प्रतीतवंत,
पर दोष कों ढकैया पर उपकारी है ।
सौम्यदृष्टि गुणग्राही गरिष्ट सबकों इष्ट,
सिष्ट पक्षी मिष्टवादी दीरघ विचारी है ।।

विशेषज्ञ रसज्ञ कृतज्ञ तज्ञ धरमज्ञ,
न दीन न अभिमानी मध्य व्यवहारी ।
सहज विनीत पाप क्रियासों अतीत ऐसो,
श्रावक पुनीत इकवीस गुणधारी ।।५५।।

कोई क्रूर कष्ट सहे तपसों शरीर दहे,
धूम्रपान करे अधो मुख व्हैके झूले हैं ।
केई महाव्रत गहे क्रिया में मगन रहे,
वहे मुनिभार पै पयार कैसे पूले हैं ।।
इत्यादिक जीवनि को सर्वथा मुकुति नांहि,
फिरे जगमांहि ज्यों बयार के वघूले हैं ।
जिन्हके हिये में ज्ञान तिन्हही को निरवाण,
करम के करतार भरम में भूले हैं ।।२०।।

ज्ञान भान भासत प्रमाण ज्ञानवंत कहे,
करुणा निधान अमलान मेरा रूप है ।
कालसों अतीत कर्म चालसों अभीत जोग,
जालसों अजीत जाकी महिमा अनूप है ।।
मोह को विलास यह जगतको वास मै तो,
जगत सों शून्य पाप पुण्य अंध कूप है ।
पाप किने किये कोन करे करि है सो कौन,
क्रिया को विचार सुपने की दोर धूप है ।।६१।।

भेष में न ज्ञान नहि ज्ञान गुरु वर्तन में,
मंत्रजंत्र गुरुतंत्र में न ज्ञान की कहानी है ।
ग्रन्थ में न ज्ञान नहीं ज्ञान कवि चातुरी में,
बातनि में ज्ञान नहीं ज्ञान कहा वानी है ।।
तातें भेष गुरुता कवित्त ग्रन्थ मंत्र बात,
इनीते अतीत ज्ञान चेतना निशानी है ।
ज्ञान ही में ज्ञान नहीं ज्ञान और ठोर कहूं,
जाके घट ज्ञान सोही ज्ञान की निदानी है ।।१११।।

हांसी में विषाद बसे विद्या में विवाद बसे,
काया में मरण गुरु वर्तन में हीनता ।
शुचि में गिलानि बसे प्रापती में हानि बसे,
जय में हारि सुन्दर दशा में छबि छीनता ।।
रोग बसे भोग में संयोग में वियोग बसे,
गुण में गरव बसे सेवा मांहि दीनता ।
और जग रीत जेती गर्भित असाता तेति,
साता की सहेली है अकेली उदासीनता ।।६।।

जे जीव दरवरूप तथा परयाय रूप,
दोऊ नै प्रमाण वस्तु शुद्धता गहत है ।
जे अशुद्ध भावनि के त्यागी भये सरवथा,
विषैसों विमुख ह्वै विरागता चहत है ।।
जे जे ग्राह्य भाव त्याज्यभाव दोउ भावनिकों,
अनुभौ अभ्यास विषें एकता करत है ।
तेई ज्ञान क्रिया के आराधक सहज मोक्ष,
मारग के साधक अबाधक महत है ।।३५।।

(३०) पं. द्यानतरायजी द्यानतविलास में कहते हैं :–

[सवैया इकतीस]

काहूसौं ना बोलैं बैना जो बोलैं तौ साता दैना,
देखैं नाहीं नैना सेती रागी दोषी होइ कैं ।
आसा दासी जानैं पाखैं माया मिथ्या दूर नाखैं,
राधा हीयेमांहीं राखैं सूधी दृष्टी जोइ कैं ।।
इन्द्री कोई दौरे नाहीं आपा जानै आपा माहीं,
तेई पावैं मोख ठांही कर्म मैले धोइकैं ।
ऐसे साधू बंदौ प्रानी हीया वाचा काया ठानी,
जातैं कीजै आपा ज्ञानी भर्मं बुद्धी खोइकै ।।२०।।

[छप्पय]

एक दया उर धरौ, करौ हिंसा कछु नाहीं।
जति श्रावक श्राचरौ, मरौ मति श्रव्रतमाहीं।।
रतनत्रै श्रनुसरौ, हरौ मिथ्यात श्रन्धेरा।
दसलच्छन गुन वरौ, तरौ दुख-नीर सबेरा।।
इक सुद्ध भाव जल घट भरौ, डरौ न सु-पर-विचार में।
ए धर्म पंच पालौ नरौ, परौ न फिरि संसार में।।११।।

[सवैया इकतीसा]

श्रावके बरस घनै ताके दिन केई गनै,
दिन में श्रनेक स्वास स्वासमाहिं श्रावली।
ताके बहु समै धार तामें दोष हैं श्रपार,
जीव भाव के विकार जे जे वात वावली।।
ताको दंड श्रब कहा लैन जोग शक्ति महा,
हौं तौ बलहीन जरा श्रावति उतावली।
द्यानत प्रनाम करै चित्तमाहिं प्रीत धरै,
नासियै दया प्रकास दास को भवावली।।११।।

[सवैया तेईसा]

भौतन-भोग तज्यों गहि जोग, संजोग वियोग समान निहारैं।
चन्दन लावत सर्प कटावत, पुष्प चढ़ावत खर्ग प्रहारैं।।
देहसौं भिन्न लखैं निज चिन्न, न खिन्न परीसह में सुख धारे।
द्यानत साध समाधि श्राराधिकै, मोह निवारिकैं जोति विथारैं।।१६।।
श्राठ धरैं गुनमूल दुश्रादश, वृत्त गहैं तप द्वादस साधैं।
चारि हु दान पिबैं जल छान, न राति भखैं-समता रस लाधैं।।
ग्यारह भेद लहैं प्रतिमा सुभ, दर्सन ग्यान चरित्त श्रराधैं।
द्यानत त्रेपन भेद क्रिया यह, पालत टालत कर्म उपाधैं।।१८।।
लोगनिसौं मिलनौं हमको दुःख, साहनिसौं मिलनौं दुःख भारी।
भूपति सौं मिलनौं मरनै सम, एक दसा मोहि लागत प्यारी।।

चाह की दाह जलैं जिय मूरख, वेपरवाह महा सुखकारी।
द्यानत याहीतें ग्यानी अबंछक, कर्म की चाल सबै जिन टारी ।।२७।।
निंदक नाहीं क्षमा उरमाहीं, दुखी लखि भाव दयाल करैं हैं।
जीवकौ घात न झूठ की बात न, लैंहि अदात न सील धरैं है ।।
गर्व गयौ गल नाहिं कहू छल, मोम सुभावसौं जोम हरैं हैं।
देहसौं छीन हैं ग्यान में लीन हैं, द्यानत ते सिवनारि वरैं हैं ।।४६।।

[सवैया इकतीसा]

वृच्छ फलैं पर-काज नदी और के इलाज,
गाय-दूध संत-धन लोक-सुखकार है।
चंदन घसाइ देखौ कंचन तपाई देखौ,
अगर जलाई देखौ शोभा विसतार है ।।
सुधा होत चंदमाहिं जैसे छांह तरु माहिं,
पाले में सहज सीत आतप निवार है।
तैसें साधलोग सब लोगनि को सुखकारी,
तिनहीकौ जीवन जगत माहि सार है ।।८।।

[सवैया]

क्रोध सुई जु करै करमौ पर, मान सुई दिढ़ भक्ति बढ़ावै।
माया सुई परकष्ट निवारत, लोभ सुई तपसौं तन तावै ।।
राग सुई गुरु देवपै कीजिये, दोष सुई न विषै सुख भावै।
मोह सुई जु लखै सब आपसे, द्यानत सज्जन सो कहिलावै ।।११।।
पीर सुई पर पीर विढारत, धीर सुई जु कषायसौं जूझै।
नीति सुई जो अनीति निवारत, मीत सुई अघसौं न अरुझै ।।
औगुन सो गुन दोष विचारत, जो गुन सो समतारस बूझै।
मंजन सो जु करे मन मंजन, अंजन सो जु निरंजन सूझै ।।१२।।

(३१) भैया भगवतीदासजी ब्रह्मविलास में कहते हैं :—

[सवैया इकतीसा]

दहिकें करम-अघ लहिकें परम मग,
गहिकें धरम ध्यान ज्ञान की लगन है।

शुद्ध निजरूप धरै परसों न प्रीति करै,
बसत शरीर पै आलिप्त ज्यों गगन है ।।
निश्चै परिणाम साधि अपने गुणें अराधि,
अपनी समाधिध्य अपनी जगन है ।
शुद्ध उपयोगी मुनि रागद्वेष भये शून्य,
परसों लगन नाहिं आप में मगन है ।।६।।
मिथ्यामतरीत टारी, भयो अणुव्रतधारी,
एकादश भेदभारी हिरदै बहतु है ।
सेवा जिनराज की है, यहै सिरताज की है,
भक्ति मुनिराज की है चित्त में चहतु है ।।
वीसद्वै निवारी राति भोजन न अक्षप्रीति,
इन्द्रिन को जीति चित्त थिरता गहतु है ।
दयाभाव सदा धरै, मित्रता प्रगट करै,
पापमलपंक हरै मुनि यों कहतु है ।।७।।
आतम सरूप ध्रुव निर्मल तत्त्व जानि,
महाव्रतधारी वन मांहि जाहि बसे हैं ।
मोहनी जनित जे जे विकलप जाल हुते,
तिनको मिटाइ निज अंतरग बसे है ।।
मनरूप पवनसों अचल भयो है ज्ञान,
ध्यान लाइ ताही के आनन्द रस रसे हैं ।
तजि सबसंग भए गिरि ज्यों अडोल अंग,
तेई मुनि जयवंत जगत में लसे हैं ।।७।।
परमाणु मात्र पर वस्तुसों न रागभाव,
विषय कषाय जिन्हें कबही न छाय हैं ।
मन वच काय के विकारकी न छाया रही,
पाया शुद्ध पद तहां थिरभाव थाय हैं ।।
जिनके विलास में विनास दीसें बंध हीको,
सहज प्रकाश होई मोक्ष को मिलाप है ।

धर्म के जहाज मुनिराज गुन के समाज,
अपने स्वरूप में बिराजि है आप हैं ।।५।।

[सवैया तेईसा]

पंथ वहै सरवज्ञ जहां प्रभु, जीव अजीव के भेद बतैये ।
पंथ वहै जु निर्ग्रन्थ महामुनि, देखत रूप महासुख पैये ।।
पंथ वहै जहँ ग्रन्थ विरोध न, आदि औ अंतलौ एक लखैये ।
पंथ वहै जहां जीवदयावृष, कर्म खपाइकें सिद्ध में जेये ।।२३।।
पंथ वहै जहँ साधु चलै, सब चेतन की चरचा चित लैये ।
पंथ वहै जहँ आप विराजत, लोक अलोक के ईश जु गैये ।।
पंथ वहै परमान चिदानंद, जाके चलै भव भूल न ऐये ।
पंथ वहै जहँ मोक्ष को मारग, सूधे चले शिवलोक में जैये ।।२४।।

[सवैया इकतीसा]

नरदेह पाये कहा पंडित कहाये कहा,
तीरथ के न्हाये कहा तीर तो न जैहै रे ।
लच्छिके कमाये कहा अच्छ के अघाये कहा,
छत्र के धराये कहा छीनता न ऐहै रे ।।
केश के मुंडाये कहा भेष के बनाये कहा,
जोवन के आये कहा, जराहू न खैहै रे ।
भ्रम कों विलास कहा दुर्जन में वास कहा,
आतम प्रकाश विन पीछें पछितैहै रे ।।६।।

जाके होय क्रोध ताके बोध को न लेश कहूं,
जाके उर मान ताके गुरु को न ज्ञान है ।
जाके मुख माया वसै ताके पाप केई लसै,
लोभ के धरैया ताको आरत को ध्यान है ।।
चारों ये कषाय सु तौ दुर्गति ले जाय,
'भैया' इहां न वसाय कछु जोर बलप्रान है ।
आतम अधार एक सम्यक प्रकार लसै,
याही तै आधार निज थान दरम्यान है ।।

[छप्पय]

जो अरहंत सुजीव, जीव सब सिद्ध भरिगज्जे ।
आचारज पुन जीव, जीव उवझाय गरिगज्जे ।।
साधु पुरुष सब जीव, जीव चेतन पद राजै ।
सो तेरे घट निकट, देख निज शुद्ध बिराजै ।।
सब जीव द्रव्य नय एक से, केवलज्ञान स्वरूप मय ।
तस ध्यान करहु हो भव्यजन, जो पावहु पदवी अखय ।।११।।

[सवैया]

जो जिनदेव की सेव करै जग, ता जिनदेव सो आप निहारै ।
जो शिवलोक वसै परमातम, तासम आसम शुद्ध विचारै ।।
आप में आप लखै अपनो पद, पापरु पुण्य दुहूँ निरवारै ।
सो जिनदेव को सेवक है जिय, जो इहि भांति क्रिया करतारै ।।१२।।

[सवैया इकतीसा]

एक जीव द्रव्य में अनंत गुण विद्यमान,
एक एक गुण में अनंत शक्ति देखिये ।
ज्ञान को निहारिये तो पार याको कहुं नाहि,
लोक औ अलोक सब याही में विशेखिये ।।
दर्शन की ओर जो विलोकिये तो वही जोर,
छहों द्रव्य भिन्न भिन्न विद्यमान पेखिये ।
चारित सों थिरता अनंत काल थिररूप,
ऐसे ही अनंत गुण भैया सब लेखिये ।।१३।।
महा मंत्र यहै सार पंच पर्म नमस्कार,
भो जल उतारै पार भव्य को अधार है ।
विघ्न को विनाश करैं, पापकर्म नाश करै,
आतम प्रकाश करै पूरब को सार है ।।
दुख चकचूर करै, दूर्जन को दूर करै,
सुख भरपूर करै परम उदार है ।
तिहूँ लोक तारन को आत्मा सुधारन को,
ज्ञान विस्तारन को यहै नमस्कार है ।।५।।

[छप्पय]

दुविधि परिग्रह त्याग, त्याग पुनि प्रकृति पंच दश ।
गर्हहिं महाव्रत भार, लहहिं निज सार शुद्ध रस ।
धरहिं सुध्यान प्रधान, ज्ञान अमृत रस चक्खहिं ।
सहहिं परीषह जोर, व्रत निज नीके रक्खहिं ।।
पुनि चढहिं श्रेणी गुण थान पथ, केवल पद प्रापति करहिं ।
सत चरण कमल वंदत करत, पाप पुंज पंकति हरहिं ।।११।।

[सवैया इकतीसा]

भरम की रीति भानी परमसों प्रीति ठानि,
धरम की बात जानी ध्यावत घरी घरी ।
जिनकी बखानी बानी सोई उर नीके आनी,
निहचै ठहरानी दृढ ह्वैकें खरी खरी ।।
निज निधि पहचानी तब भयौ ब्रह्म ज्ञानी,
शिवलोक की निशानी आपमें धरी धरी ।
भौ थिति बिलानी अरि सत्ता जुहठानी,
तब भयो शुद्ध प्रानी जिन वैसी जे करी करी ।।१२।।

अन्तिम मंगल और प्रशस्ति

मंगल श्री अरहंत पद, मंगल सिद्ध महान ।
मंगल श्री आचार्य हैं, मंगल पाठक जान ।। १ ।।
मंगल श्री जिन साधु हैं, पंच परम पद मान ।
भक्ति करें गुण हिय धरें, पावें नित कल्याण ।। २ ।।
सहज समाधि दशा भई, है आतम अविकार ।
ज्ञान देश सुख वीर्य मय, परम ब्रह्म सुखकार ।। ३ ।।
नहीं कर्म आठों जहाँ, नहीं शरीर मलीन ।
राग द्वेष मोहादिकी, नहीं व्यथा नहिं हीन ।। ४ ।।
परमातम परमेश जिन, परम ब्रह्म भगवान ।
आतमराम सदा सुखी, गुण अनन्त अमलान ।। ५ ।।

जो जाने निज द्रव्य को शुद्ध सिद्ध सम सार ।
करै रमण होवै मगन, पावै गुण अधिकार ।। ६ ।।
आतम ज्ञान विलास से, सुखी होय यह जीव ।
भव दुख सुख में सम रहे, समता लहै सदीव ।। ७ ।।
गृही होय या साधु हो, जो जानै अध्यात्म ।
नरभव सफल करै वही, चाखै रस निज आत्म ।। ८ ।।
आतम ज्ञान विचार से, जग नाटक का खेल ।
देखत है ज्ञानी सदा, करत न तासें मेल ।। ९ ।।
निर्धन हो या हो धनिक, सेवक स्वामी होय ।
सदा सुखी अध्यात्म से, दुखी न कबहूं होय ।। १० ।।
जगत जीव जानै सभी, निज सम भ्रात समान ।
मैत्री भाव सदा करै, हो सहाय सुख मान ।। ११ ।।
दुखित भुखित रोगी जगत, तापै करुणा धार ।
मदद करै दुख सब हरै, धरै विनय हर बार ।। १२ ।।
गुणिजन धर्मी तत्ववित्, देख प्रसन्न अपार ।
गुणग्राही सज्जन सदा, शुद्ध भावना सार ।। १३ ।।
विनय रहित हठ जो करें, धरै उपेक्षा भाव ।
द्वेष भाव चित्त न धरै, है सम्यक्त स्वभाव ।। १४ ।।
पर उपकार स्वभाव से, करै वृक्ष सम सार ।
अथवा सरिता जल समा, करै दान उपकार ।। १५ ।।
लक्ष्मी बल अधिकार सब, पर हित आवे काज ।
यही वान सम्यक्तकी, धरें सजन तज लाज ।। १६ ।।
राष्ट्र जाति जन जगत हित करै, धरै नहिं चाह ।
महिमा सम्यक् ज्ञान की, प्रगटे हृदय अथाह ।। १७ ।।
लाभ हानि में सम रहे, जीवन मरण समान ।
सम्यक्ती सम भाव से, करै कर्म की हान ।। १८ ।।
सहज परम सुख आप गुण, आपी में हर आन ।
जो आपा को जानता, पावै सुख अघ हान ।। १९ ।।

ताके साधन कथन को, लिखा ग्रन्थ मन लाय ।
रुचि धारी अध्यात्म के, पढ़ो सुनो हरखाय ।। २० ।।
आपी साधन साध्य है, आपी शिव मग जाय ।
आपी शिवमय होत है, आपी आप समाय ।। २१ ।।
धर्म आप माहीं बसे, आपी धर्मी जान ।
जो धर्मी सो मुक्तिपथ, वही मुक्त सुख खान ।। २२ ।।
इसी तत्व को जानकर, रहिये ज्ञानी होय ।
सम दमसे निज ध्यानकर, बँधे कर्म सब खोय ।। २३ ।।
होय निरंजन सिद्ध प्रभु, परमातम यति नाथ ।
नित्य सुखी बाधा रहित, मूरत विन जगनाथ ।। २४ ।।
श्रीमद् रायचन्द्र कवि, शत अवधान कराय ।
गुर्जर भू भूषित कियो, परम बुद्धि प्रगटाय ।। २५ ।।
जैन शास्त्र बहु देखकर, अध्यातम रुचि धार ।
निश्चय नय के मनन से, उपजो सम्यक् सार ।। २६ ।।
सहजानन्द विलास में, रत्नत्रय को पाय ।
सफल जन्म कवि ने किया, चारित्र पंथ बढ़ाय ।। २७ ।।
दिव्य ज्योति निज तत्व की, प्रगट भई उमगाय ।
वाणी सरस सुहावनी, बुधजन प्रेम बढ़ाय ।। २८ ।।
व्यवहारी कितने हुते, क्रियाकांड में लीन ।
आतम तत्व लखे नहीं, कहैं साधु संगहीन ।। २९ ।।
निज को तत्व दिखाइयो, भए सत्य पथ धार ।
निजानन्द को पायके, उमगे अधिक अपार ।। ३० ।।
थानक धारी साधुवर, बहु व्यवहार प्रवीण ।
निश्चय पथ ज्ञाता नहीं, बाहर तप में लीन ।। ३१ ।।
सो श्रीमद् परसाद से, पायो तत्त्व असंग ।
परम शिष्य उनके भए, श्री लघुराज अभंग ।। ३२ ।।
श्रीमद् के पश्चात् बहु, किया प्रकाश स्वतत्व ।
बहु जन शिव मारग लखो, तजा स्वकल्पित तत्व ।। ३३ ।।
निकटानन्द अगास में, आश्रम रम्य बनाय ।
नाम सनातन जैन का, दियो सकल सुखदाय ।। ३४ ।।

श्री जिन मंदिर तहँ लसैं, उभय जु एकी थान ।
दिगम्बरी श्वेतांबरी, करें भक्ति सब श्रान ।। ३५ ।।
सर्व धर्म पुस्तक मिलै, अध्यातम रस पोष ।
पढें बहुत नरनारि तहँ, जानें मारग मोष ।। ३६ ।।
नितप्रति धर्म उपदेश की, वर्षा करत महान ।
श्री लघुराज दयालु हो, सुनें भव्य दे कान ।। ३७ ।।
बहुत बार संगति मिली, महाराज लघुराज ।
अध्यातम चर्चा चली, भयो सु आतम काज ।। ३८ ।।
सहज सुख साधन निमित्त, जैन रिषिन के वाक्य ।
जो संग्रह हो जांय तो, पढ़ें भविक ते वाक्य ।। ३९ ।।
ऐसी इच्छा पाय के, लिखा ग्रन्थ यह सार ।
भूलचूक कुछ होय तो, विद्वन् लेहु सम्हार ।। ४० ।।
लेखक नाम निक्षेप से, है सीतलपरसाद ।
लक्ष्मणपुर वासी सही, भ्रमत हरत परमाद ।। ४१ ।।
ब्रह्मचारि श्रावक कहें लोग भेष को देख ।
प्रेम कछुक वर्तै सही, श्री जिन आगम पेख ।। ४२ ।।
छप्पन वय अनुमान में, अमरावतिपुर आय ।
वर्षाकाल विताइयो, बहु श्रावक संग पाय ।। ४३ ।।
सिंहई पन्नालालजी, प्रोफेसर हीरालाल ।
श्री जमनापरसाद हैं, सब-जज चित्त रसाल ।। ४४ ।।
साधर्मी जन संग में, सुख से काल बिताय ।
लिख्यो ग्रन्थ निज हेतु ही, ज्ञान ध्यान मन लाय ।। ४५ ।।
आश्विन सुदि अष्टम दिना, मंगल दिन शुभ पूर्ण ।
वीर मुकत सम्वत् तभी, चौविस साठ अपूर्ण ।। ४६ ।।
विक्रत उन्निस इक्यानवे, सन् उन्निस चौतीस ।
सोलह अक्टूबर सुभग, वंदहुँ वीर मुनीश ।। ४७ ।।
जगजन भाव बढ़ाय के, पढें सुनें यह सार ।
मनन करें धारण करें, लहैं तत्त्व अविकार ।। ४८ ।।